ॐ

भागवतस्तुतिसंग्रह

भाषानुवाद,
कथाप्रसङ्ग,
और
शब्दकोष-
सहित



संग्रहकर्ता तथा अनुवादक

पं० नित्यानन्द पाण्डेय, B. A., LL. B.

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रथम बार ३२५० सं० १९९४ वि०

मूल्य २।) सवा दो रुपया

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीहरिः

विषय-सूची

चित्र-सूची

श्रीहरिः

भूमिका

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते ।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥*

(उदयनाचार्य)

भागवत-स्तुति-संग्रह पढ़ते समय कुतार्किकोंके विचारोंसे दूषित चित्तवाले पुरुषोंके मनमें अनेकों प्रश्न उठते हैं । यथा—

(१) ईश्वरके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ? ईश्वर ही जब सिद्ध नहीं है तब उसकी स्तुति वन्ध्या-पुत्रके गुणवर्णनके समान व्यर्थ है।

(२) थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि ईश्वर सिद्ध है तथापि उसके स्वरूपविषयक वर्णनोंमें जो श्रुतियोंमें प्राप्त हैं एवं जो श्रुतियोंके आधारपर दार्शनिकोंके द्वारा किये गये हैं, एकता नहीं है, अतएव उसके स्वरूपका वर्णन असंगत एवं मिथ्या है ।

(३) यथाकथञ्चित् ईश्वरका स्वरूप संगत हो भी जाय, तथापि जिन कारणोंसे वह जगत्को अथवा अपने स्वरूपको प्रकट करता है उनमें कहींपर भी समानता नहीं देखी जाती है अतएव वे मिथ्या हैं ।

---

* प्रायः जिन्होंने भगवान्का दर्शन नहीं किया है, वे अपने आत्माकी उपलब्धिमें भी समर्थ नहीं होते अर्थात् भगवत्सत्ताको सिद्ध न करनेवाले प्रमाण अपनेको भी प्रमाणित नहीं कर सकते। इस प्रकारके स्वयं अप्रमाणित प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा भगवान् ग्राह्य ही नहीं हैं अर्थात् इनकी पकड़में आ ही नहीं सकते तब विरोध करनेकी बात तो दूर ही रही। उन सम्पूर्ण प्रमाणोंको प्रमाणित करनेवाले, सबके प्रेरक, अपनी अनुपम तथा स्वच्छन्द लीलामें विहार करनेवाले एवं देवाधिदेव भगवान्की हम अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न होकर शरण ग्रहण करते हैं ।

(कुसुमाञ्जलि तृ० स्त० २३)

(४) कदाचित् उन कारणोंमें समानता प्रतीत हो भी जाय तो भी व्यापक ईश्वरका परिच्छिन्न रूपमें प्रकट होना असम्भव है। जैसे व्यापक होनेसे आकाश परिच्छिन्न नहीं हो सकता वैसे ही ईश्वर भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। व्यापक पदार्थका स्वभाव ही है कि वह परिच्छिन्न न हो। ऐसी परिस्थितिमें उस परिच्छिन्नरूपकी स्तुति करना निरर्थक ही है।

(५) कदाचित् ईश्वर परिच्छिन्नरूपमें प्रकट हो भी जाय तो भी भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णचरित्र वास्तविक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वह आदिसे अन्ततक रूपक-ही-रूपक है। यथा, कृष्णचन्द्र–कृष्णपक्षका चन्द्रमा, (कृष्णपक्षकी अष्टमीको १२ बजे उसका उदय होता ही है)। गोपी–तारे, (रासक्रीड़ामें तारोंका चन्द्रमाके चारों ओर रहना); कालिय—भाद्रपद कृष्णपक्षमें चन्द्रमाके पास प्रकट हुआ काला मेघ, यमुना नदीके जलके समान दिखायी देनेवाला नीला आकाश, कंस–बड़ा मेघ इत्यादि। ऐसे रूपकोंको महत्त्व देना उचित नहीं है।

(६) थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि यह रूपक नहीं है, सचमुच ही भगवान्‌का कृष्णरूपसे अवतार हुआ था, तथापि भागवतमें जो वर्णन मिलता है उसके सत्य होनेमें क्या प्रमाण है क्योंकि भागवतका निर्माता कोई अभ्रान्त पुरुष था इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विरुद्ध भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंसे युक्त हमारे सदृश संसारी पुरुष वोपदेवकी वह कृति है, ऐसे लेख उपलब्ध होते हैं।

(७) यदि यह भी मान लिया जाय कि भागवतके रचयिता वोपदेव नहीं थे अपितु व्यास ही हैं, तो भी भागवतके कर्ता व्यास तथा ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास–कृष्णद्वैपायन अभिन्न व्यक्ति थे इसमें कोई प्रमाण नहीं है। व्यास नामके अनेक ग्रन्थकार हुए हैं।

(८) यदि ईश्वर सगुण अवतार लेता है और मनुष्यके समान ही आचरण करता है तो मनुष्य और ईश्वरके अवतारमें भेद ही क्या रहा ? यदि ईश्वरकी स्तुति करना उचित है तो मनुष्यकी स्तुति क्यों न की जाय ?

(९) ईश्वर पशु आदिमें अवतार क्यों लेता है ? कौन-सा अलौकिक काम ईश्वरने पश्वादिमें अवतार लेकर सिद्ध किया ?

(१०) भागवत अष्टादश पुराणोंके अन्तर्गत न होनेसे न व्यास-रचित कहा जा सकता है और न महापुराण ही हो सकता है। क्योंकि—

"अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ।"

इस वचनसे प्रतीत होता है कि अठारह पुराण ही व्यासजीने बनाये हैं। भागवत तो भारतके अनन्तर बना था अतएव वह व्यासकृत नहीं है।

(११) एक और शंका यह होती है कि स्तुतियोंको इतना महत्त्व क्यों दिया जाय, क्योंकि स्तुति प्रायः सत्य अर्थका बोध करानेवाली होती ही नहीं, वह तो अर्थवाद है । अतएव ऐसी स्तुतियोंका विचार करना ही व्यर्थ है।

(१२) श्रीमद्भागवतको इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है कि उसमेंसे स्तुतियाँ चुन-चुनकर पृथक् की जायँ और उनका व्याख्यान किया जाय ? और-और पुराणोंमें भी बहुत स्तुतियाँ हैं । उनको क्यों न परिष्कृत किया जाय ?

अस्तु, इन सब शंकाओंका जबतक ठीक-ठीक समाधान न होगा तबतक श्रीमद्भागवत ग्रन्थके भीतरी विषयोंका विचार करना व्यर्थ-सा ही है, क्योंकि जबतक चित्त निर्मल न हो जाय तबतक ग्रन्थके निर्दोष रहनेपर भी उसमें दोष ज्ञात होते हैं। इसी अभिप्राय-से कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें पहले ही कहा है—

न चातीव प्रकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

अतः हम इन शंकाओंका क्रमसे यथाशक्ति समाधान करेंगे। तदनन्तर श्रीमद्भागवतके स्तुतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले भीतरी विषयोंपर विचार करेंगे।

(१)

जगत्के कारणविषयक जिज्ञासा।

विशाल तथा सर्वथा अवितर्क्य जगत्में मनुष्य सुखप्राप्तिके लिये कार्य आरम्भ करता है किन्तु उसको सुखके बदले बराबर दुःख ही होता है। जो कुछ थोड़ा-सा सुख मिलता है वह भी दुःखसे परिपूर्ण होनेके कारण त्याज्य-सा ही प्रतीत होता है। मनुष्य सुखप्राप्तिकी इच्छासे विषयोंकी ओर अग्रसर होता है। परन्तु विषय नाशशील हैं अतएव उससे उत्पन्न हुआ सुख भी नश्वर है। यह जब अनुभवसे सिद्ध होता है तब विचार होने लगता है कि क्या हम केवल दुःखका ही अनुभव करनेके लिये और एक दिन मृत्युके आधीन हो जानेके लिये उत्पन्न हुए हैं? क्या हम शरीरके साथ ही मर जाते हैं या शरीरसे पृथक् रहनेवाला कोई तत्त्व है[1]? जब प्राणी विशाल पृथ्वीकी ओर देखता है तो मनमें सोचने लगता है—"यह कहाँसे प्रकट हुई? इसको कौन धारण करता है? इस बातको ठीक रीतिसे कौन जानता है[2]? इस जगत्के पूर्व सत् था या असत्? या कुछ भी नहीं था[3]? यह प्रजा कहाँसे प्रकट होती है[4]? हमलोग कैसे उत्पन्न हुए, कैसे जीवित रहते हैं, और कहाँ हमारी स्थिति होगी[5]?" ऐसे अनेक विचार सृष्टिके प्रारम्भसे ही विचारशील मनुष्यके हृदयमें उठा करते हैं। ऐसी अवस्थामें वह यथासम्भव अपनी बुद्धिहीसे काम लेता है और सर्वत्र अज्ञात स्थलोंमें भी जैसा देखा है उसके अनुसार ही कुछ कारणकी कल्पना करता है। अन्तमें खोजनेपर भी कारण नहीं मिलता और बुद्धिकी गति रुक जाती है। ऐसे स्थलोंमें, "पदार्थका स्वभाव-धर्म हो ऐसा है" यह मानकर सन्तोष

१. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। (कठ० १। १। २०)

२. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। ....अथा को वेद यत आबभूव। (तैत्ति० ब्रा० द्वि० ६)

३. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (तैत्ति० ब्रा० द्वि० का० १)

४. भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति (प्र० उ० १। ३)

५. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। (श्वे० उ०)

कर लेता है। परन्तु सत्त्वशील अन्तःकरणवाले विचारशील मनुष्यका समाधान वस्तु-स्वभाव माननेसे ही नहीं होता; क्योंकि जगत्में ऐसे अनेक कार्य होते रहते हैं जिनमें पर्याप्त बुद्धिव्यय करनेपर भी कोई परिणाम स्थिर नहीं होता। जैसे वर्षा, आँधी, भूकम्प, मनुष्यका जन्म-मरण इत्यादि। इनपर मनुष्यको विचार करते-करते, यह निश्चय हो जाता है कि इस जगत्के पीछे सर्वसमर्थ और शक्तिशाली कोई तत्त्व विद्यमान है जो अपने इच्छानुसार सभी कार्य करता रहता है। हमारे प्राचीन पूज्य महर्षि, यह निश्चय करनेके अनन्तर, उसकी प्राप्तिका मार्ग ढूँढ़नेमें प्रवृत्त हुए थे। उनको यह पूरा निश्चय हो गया था कि विषयोंकी ओर आकृष्ट होनेवाले मनुष्यको अपनी इच्छाके अनुसार चलानेवाले तत्त्वका ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। उक्त तत्त्वके अन्वेषणमें प्रवृत्त न होकर संसारके विषयोंमें प्रवृत्त होनेवालोंकी सब शक्तियाँ यों ही क्षीण हो जाती हैं, उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता[1]। ऐसा विचार करके उन्होंने अन्तःकरणशुद्धिके अनन्तर ध्यानयोगसे परमात्माकी शक्तिका तथा ईश्वरका साक्षात्कार किया[2]। संसारमें ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसमें ईश्वरकी सत्ता किसी-न-किसी प्रकार न मानी गयी हो। जगत्का कार्य अपने इच्छानुसार चलानेवाली एक शक्ति है—ऐसा अवश्य ही मानना पड़ता है।

प्रसिद्ध तार्किक श्रीउदयनाचार्यजीने बड़ी सुन्दर युक्तियोंसे ईश्वरकी सिद्धि की है। यदि उनमेंसे कुछ युक्तियाँ यहाँ प्रदर्शित की जायँ तो अनुचित न होगा। पृथ्वी इत्यादिकी ओर देखनेसे यह विचार मनमें आता है

तर्कसे ईश्वरकी सिद्धि।

१. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। (कठ० १।१।२६)
और, न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। (कठ० १।२।६)

२. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। (श्वे० उ०)
तथा—
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठ० २।१।१)

कि इन कार्योंका कर्ता अवश्य ही कोई होगा। क्योंकि कार्यका कर्ता अवश्य होता है। पृथ्वी आदि भी कार्य हैं, क्योंकि वे भाव होकर विनाशशील हैं। जो भाव होकर विनाशशील होता है वह अवश्य ही कार्य होता है जैसे घट, पट आदि[1]। यहाँपर हमारे मनमें एक शंका हो सकती है कि पृथ्वी, परमाणु द्व्यणुक इत्यादि क्रमसे उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्तिमें कर्ताकी क्या आवश्यकता है ? इस शंकाका उत्तर यह है कि द्व्यणुकको उत्पन्न करनेवाली परमाणुगत क्रिया, कर्त्ताके विना अनुपपन्न है; क्योंकि जहाँ क्रिया होती है वहाँ कर्ता अवश्य ही रहता है। यदि हम क्रियाको स्वाभाविक कहें, तो उसे सदा होना चाहिये, परन्तु ऐसी क्रिया लोकमें कहीं भी नहीं देखी जाती। अतएव सृष्टिके प्रारम्भमें द्व्यणुकजनक परमाणुगत क्रियाका जो कोई कर्ता होगा वही ईश्वर है। और आकाशमें पक्षियोंसे पकड़े गये काष्ठके समान पृथिवी स्थिर है, कभी गिरती नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पृथिवीको धारण करके स्थिर करनेवाला कोई चेतन अवश्य है[2]। तथा भूचालमें पर्वत पृथिव्यादिका जो नाश होता है वह कर्ताके विना नहीं हो सकता है। क्योंकि संसारमें जहाँ-जहाँ नाश होता है वहाँ-वहाँ नाशका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य ही होता है। अतएव ऐसे नाशोंका कर्ता परमेश्वरके सिवा और कौन हो सकता है ? यद्यपि ऐसे स्थलोंमें भूचालको ही पर्वतनाशका कर्ता माननेसे ईश्वरके माननेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती तो भी भूचालके नाशका कर्ता किसीको अवश्य मानना पड़ेगा। उसका कर्ता परमेश्वरके सिवा

---

१. प्राचीन मन्त्रद्रष्टा महर्षि देखते हुए स्पष्टरूपसे कहते हैं कि ईश्वर ही सृष्टिका कर्ता है—

'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।' (ऋग्वेद)

२. उपासनासे शुद्धान्तःकरण ऋषियोंको विदित हुआ कि ईश्वरके अतिरिक्त कोई धारण करनेवाला नहीं है ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् । (यजु० १३।४) सत्येनोत्तभिता भूमिः । (अथर्व० १४।१।१) तथा अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् । (अथर्व० ४ । ११ । १)

और कौन हो सकता है[1] ? संसारमें हम पटादि शब्दोंसे पटादि अर्थको जानते हैं। यह व्यवहार हमने अपने पिता आदिसे सीखा है। उन्होंने अपने पिता आदिसे सीखा था। अन्तमें सबके पहले इस व्यवहारको प्रवृत्त करनेवाला ईश्वरके सिवा और कौन हो सकता है[2] ? तथा वेद वाक्यरूप होनेसे पुरुषनिर्मित हैं। महाभारतादिके समान जो-जो वाक्य रहता है वह पुरुषोंहीसे प्रकट किया हुआ कहा जाता है। अतः ऐसे अलौकिक तथा सर्वथा प्रामाणिक अर्थका बोध करानेवाले वाक्यरूप वेदको ईश्वरके सिवा और कौन प्रकट कर सकता है[3] ?

परमात्माके साक्षात्कारके उपाय

इस प्रकार जब ईश्वरका अस्तित्व अवश्य ही मानना पड़ता है तब यह विचार मनमें आता है कि ईश्वरका स्वरूप कैसा है, और उसके स्वरूपको ठीक जाननेके लिये कौन-सा उपाय है? प्राचीन पूज्य ऋषियोंने यह ठीक समझ लिया था कि जगत्का कोई एक समर्थ और सर्वकारण अवश्य है। तब उसे खोजनेके लिये उन्होंने प्रयत्न करना आरम्भ किया। उनको इस बातका भलीभाँति अनुभव हो गया था कि विषयी पुरुष विषयोंका सेवन करते हुए परमेश्वरका पता ठीक-ठीक नहीं लगा सकते जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको इष्टस्थानमें नहीं पहुँचा सकता[4]। इस परिणामको पहुँचकर उन्होंने चित्त

१. देखिये महर्षियोंने अपना अनुभव स्पष्टरूपसे कहा है:—
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति (तै० ३।१।१) त्वमेव केवलं हर्तासि।
(ग० अ० उ०)

२. ईश्वर ही आदि जीवको पैदा करके सब भाषाओंका मूलभूत वेद पढ़ाता है। महर्षियोंने अपना यह अनुभव इस वैदिक मन्त्रमें लिखा है:—
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वे० उ० ६।१८)

३. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः। (बृ० २।४।१०)

४. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ०१।२।५)

तथा—न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। (कठ०१।२।६)

निर्मल करके ध्यानयोगसे परमात्माका साक्षात्कार किया[1]।

(२)

ईश्वरके स्वरूपका वर्णन

ईश्वरके स्वरूपका अनुभव महर्षियोंको जिस प्रकार हुआ उसका वर्णन वेदादिमें अनेक प्रकारसे मिलता है। उनमेंसे कुछ वर्णन यहाँ दिया जाता है। ऋग्वेदमें भगवद्-स्वरूपके विषयमें यों वर्णन देखा जाता है—"वह विराट् पुरुष हजार मस्तक, हजार नेत्र तथा हजार पादवाला है। और वह भूमिको सब प्रकारसे व्याप्त करके स्थित है[2]।" यजुर्वेदमें—"वह परमात्मा व्यापक, शुद्ध, सूक्ष्म, स्थूल और कारण-शरीर-रहित, धर्माधर्मादिरहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और सनातन है[3]।" "वह परमात्मा सत्य, ज्ञानरूप और आनन्दरूप है[4]।" इत्यादि अनेक स्थलोंमें ईश्वरका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन उपलब्ध होता है। दर्शनकारोंने भी श्रुतियोंके आधारपर ईश्वरका वर्णन किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक रामानुजके मतमें ईश्वरका वर्णन इस प्रकार मिलता है—ईश्वर जीवोंका नियमन करनेवाला, जीवान्तर्यामी तथा जीवोंसे भिन्न है। जीव और जड यह ईश्वरका शरीर है। जीवोंके कर्मोंका फलदाता ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय भी है। ईश्वर जगत्का निमित्तकारण, उपादानकारण तथा सहकारीकारण है। इस विषयमें नैयायिकोंका मत यह है—"ईश्वर जगत्का उपादानकारण नहीं किन्तु निमित्तकारण है।

---

१. ऋषियोंने प्राचीनोंका अनुभव इस मन्त्रमें स्पष्टरूपसे बतलाया है:—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।(श्वे० १।३)

२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋग्वेद ८।४।१७)

३. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। (यजु० ४०।८)

४. 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
(तै० ३।६।१)

ईश्वरकृत जगदुत्पत्तिमें कर्म सहकारीकारण है। कर्मफलदाता ईश्वर ही है और वह जीवकी अपेक्षा भिन्न है।" इससे मिलता-जुलता ही मत वैशेषिकों, माध्वों तथा कुछ माहेश्वरोंका भी है । श्रीशङ्कराचार्य प्रभृतिके मतसे परब्रह्मका स्वरूप ऐसा है--"वह निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुण, अद्वितीय और सर्वदा सत्य है। वह वास्तवमें जगत्का निमित्त तथा उपादानकारण नहीं है। जगत्की पारमार्थिक सत्ता नहीं अपितु व्यावहारिक सत्ता है। वह मायाका आश्रय लेकर इस जगत्का उपादान तथा निमित्तकारण है । यही मायोपाधिक ब्रह्म शांकरमतमें 'ईश्वर' कहा जाता है।"

ईश्वरके स्वरूपके विषयमें इस प्रकारके अनन्त भेद दार्शनिकोंके दृष्टिभेदसे हैं, जो श्रुतियोंके आधारपर स्थिर किये गये हैं, और सभी सत्य हैं, तनिक भी मिथ्या नहीं हैं ।

ईश्वरके अनन्त स्वरूपोंका विरोध-परिहार

यहाँ एक शंका होती है कि ईश्वर यदि है तो उसको एक ही प्रकारका होना चाहिये और उसका अनुभव भी सभीको एक ही प्रकारका होना आवश्यक है। इन अनेक भिन्न-भिन्न अनुभवोंसे यही प्रतीत होता है कि वस्तुतः ईश्वर है ही नहीं; जिसको जैसा भ्रम हुआ है उसने वैसा लिख दिया। परन्तु ईश्वरके विषयमें ऐसी शंका करना उचित न होगा। क्योंकि जब ध्यानयोगसे उसकी प्रतीति ऋषियोंको हुई है— जैसा स्पष्टरूपसे वे कहते हैं–तो साधनोंमें भेद होनेसे अनेक प्रकारके दर्शन हो सकते हैं। इस विषयको एक दृष्टान्त देकर समाप्त करते हैं। किन्हीं तीन पुरुषोंमेंसे एकने पर्वतराज हिमालयका वर्णन दूरसे देखकर किया, दूसरेने उसके एक देशमें रहकर किया और तीसरेने उसपर सर्वत्र घूमकर किया। जैसे ये तीनों वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हुए भी सत्य हैं, मिथ्या नहीं, इसी प्रकार ईश्वरका वर्णन अनेक प्रकारसे हो सकता है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह है ही नहीं। दार्ष्टान्तमें यह और ध्यान रखनेकी बात है कि जो सर्वथा अचिन्त्य, अवितर्क्य और जगदादिका कारण है उस परमात्माका ठीक ज्ञान, जितना ही सत्त्व निर्मल होगा और उस परमात्माका दर्शन करनेका जितना ही अभ्यास बढ़ाया जायेगा

उतना ही विस्तृत होने लगेगा। परन्तु जो हुआ है वह असत्य नहीं है, अस्तु।

(३)

सगुण ईश्वरके अवतार लेनेमें अनेक कारण

अब ईश्वर इस जगत्‌को क्यों बनाता है? तथा अवतार क्यों धारण करता है? इसका विचार करना आवश्यक है। वेदादिसे पुराणपर्यन्त ग्रन्थ देखे जायँ तो उनमें अनेक कारण ईश्वरके अवतार लेनेके मिलते हैं। उन सबको दिखलाकर ईश्वरके अवतार लेनेका वास्तविक कारण क्या है इस बातका विचार किया जायगा।

गीतामें कहा है—"जिस समय धर्मकी अवनति तथा अधर्मकी उन्नति होती है उस समय परमात्मा अवतीर्ण होते हैं।" यह भी कहा है कि "साधुओंका संरक्षण, दुष्टोंका विनाश तथा धर्मसंस्थापनके लिये परमात्मा अवतार लेता है[1]।" श्रीमद्भागवतके मतसे परमात्मा भक्तोंके कल्याणके लिये ही सगुण अवतार लेता है। यदि परमात्मा सगुणरूपको धारण न करे तो भक्त किस प्रकार उसका पूजन करेगा[2]? किसीका मत है कि ऋषियोंने परमात्माको जो शाप दिया था उससे प्रेरित होकर परमात्मा सगुणरूप लेता है। किसीका मत है कि परमात्माका ईक्षण-ज्ञान ही अवतारका कारण है; क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है—उसने देखा कि मैं बहुत हो जाऊँ और लोकोंको उत्पन्न करूँ[3]। कोई यह कहते हैं कि परमात्माकी रमण करनेकी इच्छा ही अवतार लेनेमें कारण है क्योंकि श्रुतियोंमें यह लिखा है कि वह अकेला आनन्दित नहीं होता, उसने दूसरेकी इच्छा की[4]। तथा दूसरे कोई कहते हैं—परमात्माके अवतारमें उसकी मुख्य शक्ति ही कारण है। गीतामें

१. देखिये गीता ४। ७-८ तथा भाग० ८। २४। ५ तथा भाग० १०। २। २९; १०। १४। १०

२. भाग० १०। २। ३४ तथा १। ८। ३५

३. 'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' इति।

४. 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।'

लिखा है—परमात्मा अज, अव्यय तथा भूतोंका ईश्वर होनेपर भी प्रकृतिको अधीन करके मायाशक्ति[1]से प्रकट होता है[2]।

इन सभी कारणोंका विचार किया जाय तो सभी कारणोंका जिसमें अन्तर्भाव होता है ऐसी एक ईश्वरकी अचिन्त्य इच्छाशक्ति ही अवतारका कारण है, ऐसा निश्चित होता है।

अवतार लेनेमें श्रुत अनेक कारणोंका एकमें अन्तर्भाव

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस श्रुतिसे परमात्माकी शक्ति ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति इन नामोंसे तीन प्रकारकी ज्ञात होती है। इनमें इच्छाशक्ति अवतारका कारण है। इच्छाका कोई-न-कोई विषय अवश्य रहा करता है, निर्विषय इच्छा कभी नहीं होती। कभी उसका विषय 'रमण' हो जाता है। परमात्माका रमण भी जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारभेदोंसे अनेक प्रकारका होता है। और रमणेच्छासे जगदुत्पादन करनेमें ईक्षण करना पड़ता है। ईक्षण (विचार) भी परमात्माका रमणविशेष ही है, जगदुत्पत्तिके अनन्तर जगद्रक्षणरूप रमण कभी-कभी दुष्टोंके नाशपूर्वक साधुओंका रक्षणरूप होता है। कभी-कभी धर्मसंस्थापनरूप और कदाचित् भक्तोंके कल्याणके निमित्त अनेक रूप धारण कर लीला करना भी कारण हो सकता है। ऋषियोंका शाप भी परमात्माकी रमणेच्छासे ही कारण हो सकता है। परमात्माकी इस प्रकार रमण करनेकी इच्छा है, ऐसा माननेसे रमणेच्छामें ही सब गतार्थ हो जाता है।

लिङ्गपुराणमें स्पष्टरूपसे कहा है कि सभी अवतारोंमें अपनी इच्छासे ही विष्णु प्रकट होते हैं। भगवान् ऋषियोंके शापसे अवतीर्ण होते हैं यह भी मान लिया जाय तो उसमें भी उनकी इच्छा ही कारण है[3]। विष्णुपुराणमें स्पष्टरूपसे कहा है—

---

१. मायाशब्दः क्वचिच्छास्त्रे हरिसामर्थ्यवाचकः ॥ (तत्त्वदीपिका)

२. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (गीता ४ । ६)

३. सर्वावर्तेषु वै विष्णोर्जननं स्वेच्छयैव तु।
जरकास्त्रच्छलेनैव स्वेच्छया गमनं हरेः ॥
द्विजशापच्छलेनैवमवतीर्णोऽपि लीलया । (लिङ्गपुराण)

'लीला जगत्पतेस्तस्यच्छन्दतः सम्प्रवर्तते ।'

तथा भोजराजने परमेश्वरके सृष्टि-स्थिति-संहार-निरोध और तिरोभाव[१] ये पाँच प्रकारके कार्य बतलाये हैं। परमेश्वर केवल अपनी इच्छासे ही जगत्को बनाता है तथा अवतार भी अपनी इच्छासे ही लेता है। परन्तु कहीं-कहीं भगवान्के अवतार लेनेमें भक्तोंकी इच्छा भी सहकारी कारण होती है, इस बातका विचार आगे किया जायगा।

(४)

व्यापकस्वरूप ईश्वरका परिच्छिन्नरूपसे परिणत होनेमें प्राप्त शंकाका निराकरण

यहाँपर पूर्वप्रदर्शित शंका उत्पन्न होती है कि ईश्वर यदि आकाशके समान व्यापक है तो वह परिच्छिन्न रूप कैसे धारण कर सकता है? अब इस प्रश्नका विचार करना आवश्यक है। ईश्वरका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारोंने 'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परम्' इत्यादि कहकर यद्यपि अनेक स्थलोंमें ईश्वरको आकाशकी उपमा दी है तथापि सभी अंशोंमें ईश्वर आकाशके समान है यह ग्रन्थकारोंका तात्पर्य नहीं है। उपमास्थलमें उपमान और उपमेयका सादृश्य सम्पूर्ण अंशोंसे कभी रहता ही नहीं। प्रकृत स्थलमें सम्पूर्ण अंशोंमें आकाशके समान ही यदि परमात्मा माना जाय, तो उसको (परमात्माको) मानना ही व्यर्थ होगा; क्योंकि सृष्टि आदि सत्कार्य कर्ताके विना अनुपपन्न होकर कर्ताका अनुमापक होता है। यदि ईश्वरको सर्वथा आकाशके समान मानें तो जब आकाश पृथिवी आदिका कर्ता नहीं है और अचेतन है तो ईश्वर भी अकर्ता और अचेतन होगा। एवं ईश्वरको मानना ही वृथा होगा।

इसलिये ऋषियोंको ध्यानयोगसे ईश्वरका जैसा स्वरूप ज्ञात हुआ वैसा ही उसका स्वरूप समझना उचित है। ऋषियोंने ईश्वरको जैसा अनेक विभिन्न धर्मोंका आश्रय देखा वैसा ही उसका वर्णन

१. पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारनिरोधतिरोभावाः।

(शैवदर्शन)

किया है। वह परमात्मा अणुकी तुलनामें अणु और महान्‌से भी महान् है[1]; ह्रस्व, वामन ईश्वरको तथा महान् और वृद्ध ईश्वरको प्रणाम है[2]। इसलिये सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा कहीं अपने दिव्य आकारको प्रकट कर देते हैं और कहीं सर्वव्यापक होकर ही रहते हैं। वह दिव्य आकार एक देशमें रहता है, इसमें कुछ विरोध प्रतीत नहीं होता। जैसे पृथिवीकी अपेक्षा व्यापक वायु एक स्थानमें जोरसे बहनेपर भी अन्य देशमें भी रहती है। यदि वायु अन्यत्र न रहे तो उस देशके प्राणी जीवित ही न रहें। वैसे ही ईश्वर व्यापक रहनेपर भी अपनी इच्छासे एक देशमें सगुण रूपको प्रकट कर देता है। परमात्माने अपने अवतारोंमें प्रधानतया एक देशमें रहकर भी अन्यान्य स्थानोंमें अनेक रूप दिखाये हैं, यह वर्णन भागवतमें अनेक जगह मिलता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्णने रथमें अपने सगुण रूपके रहते हुए अक्रूरजीको जलमें दिव्य रूप दिखलाया था[3]। गोपियोंको रासलीलामें अनेक रूप दिखाये थे[4]। ब्रह्माको नाना प्रकारके आकार तथा रूप दिखाये[5]। भौमासुरके गृहमें स्थित कन्याओंके साथ अनेक रूप धारण करके एक ही समय विवाह किया[6]। यशोदाको अपने मुखमें ही अपनेको तथा औरोंको दिखाया।[7] कहनेका तात्पर्य यह है कि सृष्ट्यादिके कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्माको मानना ही पड़ता है और ऋषियोंने परमात्माका जैसा साक्षात्कार किया वैसे ही परमात्माको समझना चाहिये। सर्वशक्तिमान् रहनेसे परमात्मा अपनी इच्छासे स्वयं व्यापक रहनेपर भी एक देशमें अवतार (स्वरूप)

---

१. अणोरणीयान् महतो महीयान्।

२. नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च।

(यजु० सं० अ० १६। ३)

३. भा० १०। ३९। ४१।

४. भा० १०। ३३। ३।

५. भा० १०। १३। १८।

६. भा० १०। ८। ३९।

७. भा० १०। ५९। ४२।

धारण करके प्रकट होता है इस बातको सत्य माननेमें कोई आपत्ति नहीं होती।

(५)

अब 'श्रीकृष्णके चरित्रका श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें जो वर्णन उपलब्ध होता है वह सब रूपक है वस्तुतः श्रीकृष्णचन्द्र नामका कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ ही नहीं' इस शंकापर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

श्रीकृष्णचन्द्रजीका वर्णन रूपक नहीं सत्य है।

श्रीकृष्णचरित्रसे अनेक प्रकारके आधिभौतिक या आध्यात्मिक अर्थकी भी यदि कल्पना की जाय तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। वह वक्ताओंकी अपनी-अपनी बुद्धिका विलास है। परन्तु 'श्रीकृष्ण नामक कोई प्रसिद्ध पुरुष हुआ ही नहीं' यह कल्पना निर्मूल है।

श्रीकृष्णजीका सम्पूर्ण चरित्र यदि रूपक ही मान लिया जाय तो सर्वत्र ठीक उपपत्ति नहीं हो सकेगी। श्रीकृष्णचन्द्रजी यदि काल्पनिक हैं तो गीताका अर्जुनको उपदेश किसने किया? यदि अर्जुन भी मनका नाम है अतएव काल्पनिक है और व्यासजीने गीताकी स्वयं रचनाकर उसे काल्पनिक अर्जुन-श्रीकृष्णके संवादका रूप दिया है तो मथुरा, वृन्दावन इत्यादि अनेक स्थलोंमें श्रीकृष्ण-चन्द्रजीके अवतार-कृत्यके विषयभूत गोवर्धन पर्वत, यमुना नदी इत्यादि अनन्त चिह्न विद्यमान हैं, उनकी व्यवस्था कैसे होगी? अतएव कदापि काल्पनिक नहीं हो सकते। यदि केवल रूपक ही है तो उनके मन्दिर आदि कहाँसे आये ? दुनियामें काल्पनिक व्यक्तियोंके मन्दिर तथा यात्रादि उत्सव प्रचलित नहीं होते। भव-भूतिका मालतीमाधव नाटक या शूद्रकका मृच्छकटिक नाटक बहुतेरे देशोंमें प्रसिद्ध हुआ था परन्तु कहीं भी मालतीमाधव और चारुदत्तका मन्दिर नहीं दिखायी देता। कहा जा सकता है कि उनकी पूज्यरूपसे भावना नहीं हुई थी इसलिये मन्दिर नहीं बने, किन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है। जब श्रीकृष्णजीके वंश-के तथा यादव-वंशके लोग विद्यमान हैं तो क्या यह कहना उचित

समझा जायगा कि वे काल्पनिक श्रीकृष्णसे पैदा हुए थे ? पाण्डवों-के वंशके क्षत्रिय उपलब्ध हैं तो अर्जुनादि तथा परीक्षित आदि सभी काल्पनिक थे, यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? परीक्षितके लड़के जनमेजयका उल्लेख अत्यन्त प्राचीन ऐतरेय ब्राह्मणादिकमें मिलता है और कुछ मन्त्रोंका नाम परीक्षितऋचा है[1]। श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका पाणिनिके सूत्रमें उल्लेख मिलता है, वहाँ उनके क्षत्रियत्वका विचार करके निर्णय किया है कि यह परमात्माकी संज्ञा है[2]। अतः इनको काल्पनिक व्यक्ति कहना साहस-मात्र है। प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि श्रीकृष्ण-चन्द्र काल्पनिक हैं और ऐसी असम्बद्ध कल्पना यदि प्रामाणिक मानी जाय तो दुनियामें सभी वंशोंके प्रसिद्ध मूल पुरुष काल्पनिक ही ठहरेंगे। अस्तु, सिद्धान्तभूत सारांश यह है कि श्रीकृष्ण, बलराम, वसुदेव, कंस, गोपी इत्यादि सभी हमलोगोंके समान एक समय इस पृथिवीपर विराजमान थे और क्रीडा करते थे। ये लोग काल्पनिक कदापि नहीं कहे जा सकते।

(६)

भागवतवर्णित श्रीकृष्ण-चरित्रकी सत्यता और 'भागवत बोपदेवकृत है' इस मतका निराकरण।

अब जो लोग यह कहते हैं कि 'भागवतमें जो श्रीकृष्णका वर्णन है उसकी सत्यतामें कोई प्रमाण नहीं मिलता। भागवतका रचयिता कोई विशिष्ट ज्ञानी था इसमें भी प्रमाण नहीं तथा भागवत बोपदेवकी कृति है ऐसा प्रसिद्ध है।' उनके आक्षेपोंपर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। बोपदेवने भागवत बनाया

१ देखिये ऐ० ब्राह्मण ६। ३२ और सांख्यायन ब्रा० ३०। ५ और गोपथ ब्रा० २। ६। १२।

२. 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (अष्टा० २। ३। ९८) किमर्थं वासुदेव-शब्दाद् वुन् विधीयते। 'न गोत्र क्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञित्येव सिद्धम्।'...... इदं तर्हि प्रयोजनम्, वासुदेवशब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामीति' अथवा नैषा क्षत्रियाख्या संज्ञैषा तत्र भवतः (पा० महाभाष्य)। यहाँ अर्जुन शब्दके साथ वासुदेव शब्दका प्रयोग है तो वह वासुदेव याने प्रसिद्ध श्रीकृष्ण ही मानना पड़ेगा। और वह क्षत्रिय था। अतः भाष्यकारने पहले क्षत्रियत्व स्वीकारकर सूत्र-का विचार किया है और अन्तमें कह दिया है कि यह भगवान्का नाम है।

है कि नहीं, इस बातका विचार करनेके पहले यह विचार लेना उचित होगा कि भागवतमें जो वर्णन है वह सत्य है कि नहीं।

कृष्णके चरित्रका वर्णन मन्त्रभागवत ग्रन्थमें तथा ऋग्वेदादि ऋचाओंमें भी उपलब्ध होता है। यह बात ऋचाओंका व्याख्यान करके मन्त्रभागवतमें दिखलायी गयी है[1]। अनेक उपनिषदोंमें भी ऐसा वर्णन आता है[2]। श्रीकृष्ण देवकीसे उत्पन्न हुए लड़कोंमें आठवें थे। उनका जन्म मथुरामें कंसके कारागृहमें हुआ, यह वर्णन अनेक पुराणोंमें मिलता है[3]। श्रीकृष्णके जन्मसमयका वर्णन ब्रह्माण्ड और वायुपुराणमें भी मिलता है[4]। केवल देवकीके ही नहीं किन्तु वसुदेवकी सभी स्त्रियोंके पुत्र कंसने मार डाले यह वर्णन भी वायुपुराणमें मिलता है[5]। नारदजीने नन्दका सब वृत्तान्त कंससे कह दिया था ऐसा वर्णन देवीभागवतमें मिलता है[6]। गर्गसंहिता, जैमिनीयाश्वमेधपर्व, पद्मपुराण इत्यादि अनेक ग्रन्थोंमें श्रीकृष्णका वर्णन न्यूनाधिक अंशमें उपलब्ध होता है। ऐसी स्थितिमें वैसा ही वर्णन जब भागवतमें भी उपलब्ध होता है तो उसे असत्य कैसे कह सकते हैं? उसे सर्वथा सत्य ही कहना उचित होगा। सब लोगोंद्वारा प्रमाणतया स्वीकृत महाभारतमें श्रीकृष्ण तथा गोपियोंकी चर्चा की गयी है और पाण्डवोंके सम्बन्धी तथा द्वारकास्थ श्रीकृष्णके बचपनमें

---

१. इसके लिये 'जज्ञात एव व्यबाधत स्पृधः' तथा कृष्णं तम एव रुशतः। (ऋ० ३।५।७) 'सद्योजातस्य ददृशान' (ऋ० ३।४।१) तथा 'ऋतस्य हि धेनवो वावशानः' (ऋ० सं० १।५।१२) 'यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे' (ऋ० सं० म० १० सू० १३५।१) इत्यादि मन्त्र तथा उनका भाष्य देखने योग्य है।

२. देखिये महानारायण उपनिषद् ४।५, वासुदेव उ० २, गोपी उ० ५, कृष्णोपनिषद् ८, मुक्तिकोपनिषद् १।३९ इत्यादि।

३. विष्णुपुराण ४।१५।५।३, ब्रह्मवैवर्त० ४।७।७४, गरुड० १।१३९, कूर्म० १।२४, अग्नि पु० १२।७, हरिवंश० १।३५, २।४।

४. देखिये ब्रह्माण्डपुराण ३।७१।२०६, वायु० २।३४।२०१।

५. देखिये वायुपुराण २।३४।१७३, १७८।

६. देखिये देवीभागवत ४।२४, १।५।

किये हुए प्रायः सभी चरित्रोंका वर्णन संक्षेपसे मिलता है[1]। संक्षेपसे मिलनेका कारण यह है कि भारत तो मुख्यतया भरतकुलोत्पन्न कौरव-पाण्डवोंका वर्णन करनेके लिये रचा गया है। उसमें श्रीकृष्ण-का वर्णन संक्षेपसे मिलना उचित ही है। व्यासजी भागवतमें श्रीकृष्ण-का वर्णन करनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं अतः उसमें श्रीकृष्णका वर्णन विस्तारसे मिलता है। कोई-कोई ग्रन्थकार महाभारतमें गोपियोंका नाम तथा वृन्दावनस्थ श्रीकृष्णके वृत्तान्तके वर्णनको जो राजसूय-यज्ञके प्रसंगमें शिशुपालके मुखमें आया है, प्रक्षिप्त कहते हैं। परन्तु प्रक्षिप्त कहनेमें कल्पनाके अतिरिक्त कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं दिखाया गया है। इन सभी ग्रन्थोंका उल्लेख करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि इन सभीमें श्रीकृष्णचरित्र उपलब्ध होता है और वही श्रीमद्भागवतमें भी विस्तारसे है तो वह असत्य कैसे हो सकता है ? तथा यह भी कैसे कह सकते हैं कि भागवतके कर्ता व्यासजी ज्ञानी नहीं थे ?

भागवतके भीतरी प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है कि व्यासजी अद्वितीय ज्ञानी थे[2]। उन्होंने नियमपूर्वक व्रत धारण करके वेद, गुरु और अग्निकी सेवा की और उनकी आज्ञाका निष्कपट भावसे पालन किया। भारतके बहाने वेदार्थका वर्णन किया[3]। भागवत बनानेके पहले व्यासजीके पवित्र हृदयका सूतजीने इस प्रकार वर्णन किया है—"अपने आश्रममें बैठकर व्यासजीने भक्तियोगकी अच्छी रीतिसे अपना मन स्वच्छ किया, उन्होंने ध्यानमें पूर्ण पुरुषको देखा और सात्वत-संहिता भागवत बनायी[4]।" जिसने सर्वथा इन्द्रिय-दमनपूर्वक व्रत धारण करके समाधि-अवस्थामें परमेश्वरके दर्शन किये वह अज्ञानी कैसे हो सकता है ?

अब बोपदेवने भागवत बनाया है, इस प्रश्नपर विचार किया जाता है। श्रीदयानन्द सरस्वतीजीने अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा

१. देखिये महाभारत सभापर्वमें शिशुपालका भाषण, तथा वस्त्रहरणप्रसंगमें द्रौपदीने 'कृष्ण गोपीजनप्रिय' ऐसा वाक्य कहा है।

२. देखिये भागवत १। ४। १८

३. देखिये भागवत १। ४। २८

४. देखिये भागवत १। ७। ३, ४, ६

है कि वोपदेव भागवतके रचयिता हैं। तथा कोलब्रुक आदि पाश्चात्य पण्डित भी ऐसा ही समझते हैं। ईसवी सन्‌की तेरहवीं शताब्दीके शेष भागमें वोपदेव देवगिरिमें वर्तमान थे । उनके भागवतके ऊपर 'मुक्ताफल', 'भागवतानुक्रमणिका' (हरिलीलामृत) और भागवतसारबोधक मुकुट नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थोंसे यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि इनके रचयिता वोपदेव थे। यदि भागवत भी उनकी कृति होती तो ऐसा लिखा हुआ होता किन्तु भागवतके प्रथम स्कन्धमें यह स्पष्ट लिखा है कि इस संहिताको व्यासजीने रचा था और शुकने इसको उनसे पढ़ा था[1]।

फिर यह बात भी है कि वोपदेवके आश्रयदाता हेमाद्रिने चतुर्वर्गचिन्तामणिमें भागवतके वचन उद्धृत किये हैं। तथा दानखण्डमें हेमाद्रिने अनेक पुराणोंके दान-वाक्य-प्रसंगमें भागवतके भी दानवाक्य उद्‌धृत किये हैं[2]। यदि भागवत हेमाद्रिके समयका बना हुआ होता तो वह अपनी पुस्तकोंमें अपने समकालीन भागवतको प्राचीन पुराणोंके समान महत्त्व न देते। श्रीमध्वाचार्यजीने अपने भागवततात्पर्यनिर्णय ग्रन्थमें यह स्पष्ट निर्देश किया है कि श्रीमद्भागवतकी टीकाएँ श्रीशंकराचार्य, श्रीचित्सुखाचार्य तथा हनुमान्‌जीकी बनायी हुई थीं[3]। लक्ष्मणसेनकृत अद्भुतसागर ग्रन्थमें भी भागवतके वचन उपलब्ध होते हैं और पद्मपुराणस्थ वासुदेवसहस्रनामपर शंकराचार्यजीके भाष्यमें प्रथम शतकस्थ पाँचवें नामपर टीका करते समय स्पष्टतया भागवतका निर्देश किया है[4]। और प्रथम शतकस्थ पचपनवें नामपर भाष्य करते हुए आचार्यने भागवतके श्लोकका उल्लेख किया है[5]। इसके अतिरिक्त स्वरचित चतुर्दशमतविवेक ग्रन्थमें श्रीशंकराचार्यजीने भागवतका उल्लेख किया है[6]। श्रीशंकराचार्यजीके परमगुरु श्रीगौडपादाचार्यजीने

१. देखिये भागवत १ । ३ । ४०-४१

२. देखिये दानखण्ड प्र० ७

३. देखिये 'पुराणनिरीक्षण' (प्र० २ पृ० ७९)

४. स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः । इति भागवते ।

५. पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा । इत्यादि भागवते ।

६. परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः ।

पञ्चीकरणकी टीकामें[1] और उत्तरगीताकी टीकामें भागवतका उल्लेख किया है[2]। जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीमद्भागवतका उल्लेख मिलता है[3]। शौनकके ऋग्विधान ग्रन्थमें भी भागवतका उल्लेख मिलता है[4] और गर्गसंहितामें भी अठारह पुराणों तथा भागवतका वर्णन मिलता है। यहाँ इस बातके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि ये उपर्युक्त पुराण तथा श्रीशंकराचार्य और उनके परम गुरु श्रीगौडपादाचार्यजीका समय बोपदेवसे बहुत पहलेका है; क्योंकि श्रीशंकराचार्यका समय आधुनिक गणनानुसार सातवीं या आठवीं शताब्दी है[5] और शाङ्करमठस्थ प्राचीन लेखोंके अनुसार बाईस सौ वर्षसे अधिक होता है। जब श्रीशंकराचार्य इतने प्राचीन हैं तो पुराणोंकी प्राचीनताके विषयमें कहना ही क्या है ? जब भागवतपुराण बोपदेवके जन्मसे बहुत पहले विद्यमान था तब यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि उसे बोपदेवने बनाया ? इसलिये भागवततात्पर्यनिर्णयकारने लिखा है—

बोपदेवकृतत्वे च बोपदेवपुराभवैः ।
कथं टीकाः कृताः संस्युर्हनुमच्चित्सुखादिभिः ॥

(७)

भागवत वेदव्यास कृष्ण-द्वैपायनने बनाया है, महाभारत तथा ब्रह्मसूत्र भी उन्हींका बनाया है ।

अब क्रमप्राप्त इस शंकाका समाधान करते हैं कि भागवतके कर्ता व्यास और ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इस विषयमें कोई शंका नहीं है कि व्यास अनेक हुए हैं; क्योंकि विष्णु, वायु, स्कन्द, देवीभागवत और लिंगपुराणमें अनेक व्यासोंके अस्तित्वका उल्लेख मिलता है।

---

१. जगृहे पौरुषं रूपमिति भागवतमुपन्यस्तम् ।

२. तदुक्तं भागवते—श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलमात्मलब्धये······। भागवतभूषण भी देखिये ।

३. देखिये जै० अ० अ० ५८। ९५

४. अस्य यामा ऋचं जप्त्वा त्रिवारं विष्णुमन्दिरे ।
फलं भागवतं तस्य लभते नात्र संशयः ॥

५. देखिये ब्रह्मसूत्रकी भूमिका पृ० २३–२८ (अच्युतग्रन्थमाला) भूमिकालेखक म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज ।

कुल मिलाकर २८ व्यास हुए हैं। व्यास शब्दकी व्याख्या महाभारत आदिपर्वमें (अ० ६४। १३०)—

विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः ।

—इस प्रकार की गयी है। इन वेदव्यासोंके कार्य तथा उनके उत्पत्तिकाल और नाम विष्णुपुराणमें दिये हैं[1]।

जब यह निश्चित हो गया कि भागवतके कर्ता व्यास हैं तब कोई भी व्यास हो वह वेदका विभाग करनेवाला अवश्य होता ही है तो यह शंका उठ ही नहीं सकती है कि वह ज्ञानी है या नहीं परन्तु हमको यह निश्चय करना है कि ब्रह्मसूत्र, महाभारत, गीता तथा भागवतका कर्ता एक ही है और वही सत्यवती तथा पराशरके पुत्र कृष्ण-द्वैपायन व्यास हैं। इस स्थलमें हम अति संक्षेपसे विचार करेंगे क्योंकि यह विषयान्तर-सा प्रतीत होगा।

भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें—

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

इस श्लोकार्धके व्याख्यानमें ब्रह्मसूत्रपदके 'हेतुमद्' और 'विनिश्चित' ये दो विशेषण हैं। ये विशेषण तभी चरितार्थ होंगे जब कि ब्रह्मसूत्र पदका अर्थ व्यासरचित ब्रह्मसूत्र लिया जायगा। यदि 'ब्रह्मप्रतिपादक औपनिषद वाक्य' ऐसा अर्थ स्वीकार किया जाय तो विशेषण व्यर्थ हो जायँगे। ऐसा ही अर्थ आनन्दगिरि, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि आचार्योंने भी किया है। ब्रह्मसूत्रोंमें भी गीताका उल्लेख है। यह कथन निर्मूल नहीं है, क्योंकि 'स्मृतेश्च' (ब्र० सू० १।२।६) 'अपि च स्मर्यते' (ब्र० सू० १।३।४५) इत्यादि स्थलोंपर शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य आदि आचार्य 'स्मृति' पदसे गीताका ही उल्लेख करते हैं। एवं ब्रह्मसूत्रमें गीताका उल्लेख और गीतामें ब्रह्मसूत्रका उल्लेख तभी संगत होगा जब गीता और ब्रह्मसूत्रका काल और कर्ता एक माना जाय। गीता और महाभारतका कर्ता एक है ही, कारण दोनों ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंमें शब्द-सादृश्य

---

१. देखिये विष्णुपुराण ३। ३। १९-२०

तथा अर्थ-सादृश्य मिलता है[१]। भागवत, गीता तथा महाभारतका शब्द-सादृश्य तो बहुत ही कम स्थानोंमें उपलब्ध होता है यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा, परन्तु अर्थ-सादृश्य अवश्य बहुत जगह उपलब्ध होता है। प्राचीन ग्रन्थ-कारोंको भी दोनोंके एककर्तृकत्वमें सम्मति है।

(८)

ईश्वरकी लीला मनुष्यके समान कुछ अंशमें रहनेपर भी उसमें अलौकिकता है इसलिये ईश्वरकी स्तुति करना योग्य है।

अब 'ईश्वर अवतार लेता है और मनुष्यके समान ही आचरण करता है तो मनुष्यके और ईश्वरके अवतारोंमें क्या भेद रहा? ऐसी स्थितिमें यदि ईश्वरकी स्तुति करना उचित है तो मनुष्यकी क्यों न की जाय?' इस प्रश्नपर विचार किया जाता है।

ईश्वरका चरित्र जीवके समान कुछ अंशोंमें रहनेपर भी विलक्षण ही है। पहले तो परमात्माके प्रकट होनेमें ही जीवकी अपेक्षा विलक्षणता प्रतीत होती है। जैसे श्रीकृष्णजीने जन्मसमयमें ही किरीट, कुण्डलादिभूषित चतुर्भुजमूर्ति दिखलायी[२]। और श्रीकृष्णके गर्भमें आते ही देवकीका तेज विलक्षणरूपसे प्रकट होने लगा और वह कंससे नहीं सहा गया[३]। बचपनमें श्रीकृष्णचन्द्र-जीका प्रत्येक चरित्र विलक्षण और अद्भुत रसमें भरा हुआ दिखायी देता है। जीवोंके समान श्रीकृष्णजी पैरोंसे चलते तथा मुँहसे बोलते थे, हाथसे वस्तुओंका ग्रहण करते थे, इन सब धर्मोंके समान रहनेपर भी उनके एक-एक कृत्यमें जो विलक्षणता थी वह जीवोंके चरित्रमें कभी देखनेमें नहीं आती। श्रीकृष्णचन्द्रजीने और बालकोंके समान ही मुखसे पूतनाका स्तनपान किया, परन्तु उनमें जो अद्भुतता थी वह और व्रजके बालकोंमें नहीं थी अतएव सब बालक मर गये तथा श्रीकृष्णचन्द्रजीने विषैला दुग्ध पीकर अन्तमें

---

१. देखिये गीतारहस्य 'गीता तथा महाभारतप्रकरण'

२. भागवत १० । ३ । ९-१०

३. भागवत १० । २ । २०

उसके प्राण भी खींच लिये[1]। ऐसी विचित्रता उनके सभी कार्योंमें दीख पड़ती है। एक बात और है कि परमेश्वरके स्वयं आनन्दरूप होनेसे उसके सान्निध्यसे ही जीवोंमें विलक्षण आनन्दका प्रादुर्भाव होता है। श्रुतियोंने भी परमेश्वरके आनन्दका वर्णन किया है तथा जीवोंमें जो आनन्द दीखता है वह परमेश्वरके आनन्दका एक अंशमात्र है यह बात बतायी है[2]। यह बात परमेश्वरके सगुण अवतारमें दीखती है और कहीं नहीं। एवं आनन्दरूप होनेसे परमात्माके अवतारोंमें विलक्षण आनन्दकी पराकाष्ठा दीखती है। वृक्ष, पशु, पाषाणादि भी आनन्दसागरमें डूब जाते हैं, चेतनकी तो बात ही क्या है? ये बातें जीवोंके अनेक कार्योंमें भी नहीं दीखतीं। भागवतमें तथा पद्मपुराणादिमें अनेक जगह इसका वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें इस माधुर्यका, वशीकरणका तथा लतावृक्षादिकोंके वशीभूत एवं आकृष्ट हो जानेका वर्णन मिलता है[3]। मूल ग्रन्थमें अनेक स्तुतियोंके प्रसंगमें देखनेसे यह बात स्पष्ट मालूम होगी। यह प्रसंग जीवोंमें चाहे वे कितने भी उन्नत हों कभी देखनेमें नहीं मिलेगा। अतएव स्तुति करनेके योग्य ईश्वर ही है।

(९)

अब इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक है कि यदि ईश्वर मनुष्योंमें अवतार लेकर कुछ अलौकिक कार्य करता है तो उस अवतारसे मनुष्योंको अपने आचरण सुधारनेमें उपदेश मिलता है, परन्तु पश्वादिकोंमें अवतार लेकर जो कार्य करता है उनसे मनुष्योंको क्या लाभ? परमेश्वरके भागवतमें वर्णित कच्छ, मत्स्य, वराह आदि अवतार असत्य हैं इत्यादि।

ईश्वरके पश्वादिकोंमें जो अवतार हैं उनसे मनुष्यों-को रक्षण इत्यादि अनेक लाभ हैं।

---

१. भागवत १० । ६ । १०

२. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। तै० २ । ९ । एतस्यैवानन्दस्य सर्वाणि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ० ४ । ३ । ३२)

३. भागवत १० । २१ । १३, १४, १९

ऐसे अवतार प्रायः भक्तोंके रक्षणके लिये ही हुए हैं, उपदेश देनेके लिये नहीं हैं। ईश्वर जो अवतार लेता है उसमें उसकी अचिन्त्य शक्ति ही एक मुख्य कारण है और भक्तोंकी प्रार्थना और समयादि सहकारी कारण हैं। पश्वादि अवतार मत्स्य, वराह आदि हैं। ये अवतार उस समय हुए जब सृष्टिकी पूर्णतया स्थिति नहीं थी। भक्तोंका अभिप्राय उस समय केवल यही था कि हमारी संकटसे रक्षा हो। यह इच्छा उनकी नहीं थी कि वे परमात्माका कोई लावण्यमय रूप या लीला देखें। अतः ये अवतार केवल भक्तोंके संरक्षण करनेवाले होते हैं न कि अपने आचरणसे उपदेश देनेवाले। इन अवतारोंमें कहीं सहकारी कारण प्रत्यक्ष होते हैं और कहीं नहीं। इसको हम दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं।

देव-दानवोंने मिलकर अमृतप्राप्तिके लिये समुद्रका मन्थन आरम्भ किया तब मन्दरपर्वत मन्थन-दण्ड बनाया गया और वासुकि सर्पसे रस्सीका काम लिया गया। समुद्रमें जब पर्वत छोड़ा गया तो किसी आधारके न रहनेसे वह समुद्रमें डूब गया। तब देवताओं तथा दानवोंको चिन्ता हुई कि हमारा सारा पौरुष नष्ट हो गया। देवता मनमें बहुत ही खिन्न हो गये क्योंकि उन्होंने दैत्योंके साथ सन्धि और समुद्र-मथनका उद्योग इत्यादि श्रीविष्णुके कथनानुसार किया था[1]। परमात्माका भक्तोंका रक्षण करना व्रत है[2]। देवता भी उस समय यह चाहते थे कि मथनरूप कार्यमें जो यह मन्थन-दण्डका डूब जानारूप संकट प्राप्त हुआ है उसे किसी प्रकार भगवान् दूर कर दें। उनकी और कोई भी इच्छा नहीं थी। अतएव परमात्माने उनका कार्य करनेके लिये कछुएका रूप धारण करके उनको संकटसे बचा दिया[3]। मत्स्यावतारमें परमात्माने भक्तोंके ऊपर संकट प्राप्त होनेके पहले ही अवतार धारणकर भक्तोंके सम्मुख प्रकट हो प्रलयरूप संकटसे उनको बचाया। यहाँपर भी परमात्माकी लीला देखनेकी भक्तोंको कुछ इच्छा नहीं थी प्रत्युत उनको

---

१. भागवत ८। ६। २०

२. न मे भक्तः प्रणश्यति (गीता)

३. भागवत ८। ७। ८

अवतारके पूर्वसमय परमात्मा अवतार लें ऐसी कुछ आवश्यकता नहीं थी। परन्तु थोड़े ही दिनोंमें आनेवाले संकटसे बचानेके लिये परमात्माकी अवश्य प्रार्थना करते, यह सब विचार करके परमात्माने स्वयं मत्स्यावतार लिया और सत्यव्रतको सब आगे आनेवाले संकटका हाल बता दिया तथा संकटसमयमें उसके साथ सप्तर्षि और सब ओषधि-बीजादिकोंकी भी रक्षा की[1]।

कदाचित् राजा परीक्षितको भी यह शंका हो कि ईश्वर पशु आदिमें क्यों अवतार लेता है तथा ऐसे अवतारोंसे परमात्माका महत्त्व बढ़ता नहीं अपितु घटता है; ऐसा मनमें विचारकर श्रीशुकदेवजीने इस प्रकरणके पहले यह उत्तर दिया कि गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु आदिकी रक्षा करनेके लिये परमेश्वर अनेक प्रकारके रूप धारण करता है। परन्तु नीच तथा महान् भूतमात्रमें वायुके समान प्रकट होनेपर भी परमात्मामें उच्च-नीच भाव नहीं होता क्योंकि वह निर्गुण है[2]।

अब वराह अवतारके विषयमें देखिये। उस अवतारके पहले ऐसा वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा जब सृष्टि करने लगा तब आधार न होनेके कारण सब सृष्टि जलमें डूब गयी तब उसने विचार किया कि अब क्या करना चाहिये। ब्रह्माकी उस समय केवल एकमात्र यही इच्छा थी कि परमात्मा कोई भी अवतार लेकर आवे और इस पृथ्वीको जलके ऊपर उठा दे। उनके इस ध्यानके अनुसार परमात्माने जलसे पृथ्वीको ऊपर उठानेमें समर्थ वराहरूप धारण किया और पृथ्वीको जलके ऊपर रख दिया[3]। एक और उदाहरण देखिये—जिस समय कौरवोंकी सभामें पाण्डव द्यूतक्रीडामें अपना सर्वस्व हार चुके थे, द्रौपदी भी दासी बन गयी थी, उसको दुःशासन खींचकर सभामें ले आया और उसका वस्त्र खींचने लगा, उस समय द्रौपदीके अन्तःकरणमें क्या इच्छा हुई, इसका अनुमान करना चाहिये। द्रौपदी क्षत्रिय-पुत्री थी और अपने सतीत्वका उसे पूर्ण अभिमान था। उसके हृदयमें यह इच्छा नहीं आयी कि

---

१. भागवत ८। २४। १२, ३२

२. भागवत ८। २४। ५-६

३. भागवत ८। १३। ३३ तथा ३। १८। ८

पृथ्वी फट जाय और मैं उसके भीतर चली जाऊँ। उसको अभी राज्यका उपभोग करनेकी तीव्र इच्छा थी। उसने यही चाहा कि परमात्मा मेरी नग्न होनेके संकटसे रक्षा करे। परमात्माने उस समय वस्त्ररूपमें प्रकट होकर द्रौपदीकी लज्जा रखी[1]। इन दृष्टान्तों-से यह बात सिद्ध हो गयी जिस समय भक्त संकटापन्न होकर भगवान्‌को पुकारता है या भगवान् स्वयं उसे विपद्‌ग्रस्त देखते हैं उस समय वे केवल उसकी रक्षामात्र करनेके उद्देश्यसे कोई भी रूप धारणकर उपस्थित हो जाते हैं। उस रूपका उद्देश्य लोक-शिक्षाका आदर्श उपस्थित करना आदि नहीं होता। इस स्थितिमें भक्तका संकट दूर करना ही एकमात्र कार्य रहता है; और कार्यके अनुरूप, ईश्वर चेतन पशु आदिके रूपमें तथा जड़ वस्त्रादि रूपमें प्रकट होकर भक्तोंका संरक्षण करते हैं।

इस विषयमें एक बात अवश्य ध्यान रखनेयोग्य है कि भगवान्‌के अवतार लेनेमें मुख्य कारण उनकी इच्छा ही है। यदि परमात्मा-की इच्छा भक्तके संकटहरणके लिये अवतार लेकर अनेक क्रीडा करनेकी होती है तब परमात्मा अनेक क्रीडाएँ भी करता है। ऐसी क्रीडाओंसे मनुष्योंको धर्मकी शिक्षा मिलती है। जैसे रामावतारमें परमात्माने देवताओंके इच्छानुसार रावणको मारकर अपनी इच्छासे अनेक प्रकारकी लीलाएँ कर अनेक उपदेश दिये। अस्तु—

यदि अनेक भक्तोंकी परस्पर विभिन्न इच्छा होती है और परमात्मा एक ही अवतारमें सभी इच्छाएँ सिद्ध करना चाहता है तो परमात्माको विलक्षण अवतार धारण करना पड़ता है। दृष्टान्त-के लिये नृसिंह-अवतारके कार्योंपर दृष्टिपात करना पर्याप्त है। देवताओंकी इच्छा थी कि परमात्मा हिरण्यकशिपुको मारकर हमें संकटसे छुड़ावें। स्वयं हिरण्यकशिपु भी विरोधभावसे परमात्माकी भक्ति करनेवाला था। उसकी ऐसी इच्छा थी कि मेरी मृत्यु घरके भीतर या बाहर, दिनमें या रातमें, मनुष्यसे

१. महाभारत सभापर्व अ० ९० । ५३

अथवा पशुओंसे, जडसे अथवा चेतनसे न हो[1]। प्रह्लादसे जब हिरण्यकशिपुने प्रश्न किया कि तुम्हारा विष्णु इस खम्भेमें भी है? तब अङ्गीकारात्मक[2] उत्तर मिलनेपर उसने उस खम्भेपर प्रहार किया। उस समय प्रह्लादकी अवश्य यह इच्छा रही होगी कि सर्वव्यापी परमात्मा इस खम्भेसे प्रकट हों, इत्यादि इच्छाओंको एक ही समय और एक ही अवतारमें पूर्ण करनेकी परमात्माकी इच्छा थी। उसके अनुसार परमात्मा खम्भेसे अद्भुतरूपमें (मनुष्य तथा सिंहके मिश्रितरूपमें) प्रकट हुए और देवताओंके इच्छानुसार हिरण्यकशिपुको मारकर उन्हें संकटसे छुड़ाया। वह सन्ध्याका समय था और हिरण्यकशिपुका वध ठीक दरवाजेपर हुआ। इस प्रकार सभी इच्छाएँ पूर्ण हुईं।

परमात्माके अनेक पश्वादि अवतारोंमें जो थोड़ी-बहुत भी लीलाएँ होती हैं उनमें अद्भुतता अवश्य रहती है। जिसे देखने या सुननेवालोंके हृदयमें अवतार-स्वरूपोंमें साक्षात् परमेश्वर-भावना सुदृढ़ हो जाती है। जब परमात्मा मनुष्यरूप धारण करके लोगोंके समान लीलाएँ करते हैं तब परमात्माका ईश्वर-भाव छिपा रहता है और समयविशेषपर प्रकट हो जाता है। उससे एक विलक्षण माधुर्य प्रकट होता है। यह माधुर्य प्रकट करनेमें भगवान्का एकमात्र यही तात्पर्य रहता है कि मनुष्य इसको देख-सुनकर संसार-सागरसे तर जाय

(१०)

भागवतपुराण अष्टादश पुराणोंके भीतर ही है तथा महापुराण है।

अब इस शंकापर विचार करना है कि भागवत अष्टादश पुराणोंके अन्तर्गत है ही नहीं, क्योंकि 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः' इस वाक्यसे अठारह पुराण व्यासकर्तृक हैं और वे ही महापुराण हैं। भागवतपुराण तो अठारह पुराण तथा भारतके अनन्तर बनाया गया था यह बात श्रीमद्भागवतसे ही स्पष्ट प्रतीत होती है। भागवतमें लिखा है कि व्यासजीने वेदोंके चार विभाग किये और उन विभागोंको धारण करनेके लिये पैलादि

---

१. पद्मपुराण उ० २। ३८

२. भागवत ७। ८। १३

शिष्योंको नियुक्त किया। तथा पुराण और इतिहास बनाकर उनको धारण करनेके लिये रोमहर्षणको नियुक्त किया। यद्यपि स्त्री-शूद्रादिकोंके लिये भारत बनाया तो भी उनके अन्तःकरणको शान्ति नहीं मिली[1]। तब नारदजीके उपदेशसे श्रीमद्भागवत बनाया। स्कन्धपुराण तथा मत्स्य और भविष्यपुराणके वचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि भारतग्रन्थ[2] भगवान् व्यासने अठारह पुराण बनानेके अनन्तर बनाया। भागवतके वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि महाभारतके बाद श्रीमद्भागवत बनाया गया। इसीलिये भागवत महापुराणोंमें नहीं आता तथा उसके व्यासकर्तृकत्वमें शंका होती है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि यह किसीने लिखकर व्यासजीके नामपर प्रसिद्ध कर दिया है।—

इस शंकामेंसे भागवत व्यासजीरचित है या नहीं इत्यादि अंशका विचार तो प्रायः पहले किया जा चुका है। परन्तु नये ढंगसे पुनः वही आक्षेप प्रश्न किया गया है अतएव सभी अंशोंका विचार किया जाता है—

'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः।'

इस वचनसे अठारहसे अधिक पुराणोंके कर्त्ता व्यासजी नहीं हैं यह बात सिद्ध नहीं होती। श्रीमद्भागवतके वचनोंसे भारतकी रचनाके अनन्तर भागवतकी रचना हुई, यह सिद्ध होता है, और यही अंश मुख्यरूपसे विचारणीय है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने इस विषयमें अनेक विचार प्रकट किये हैं। उनका विचार थोड़ेमें आगे किया जायगा। इस विषयमें हमारा मत यह है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीव्यासजीने अपने चित्तकी अस्वस्थताका जो कारण दर्शाया है वह यह है —

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः॥

---

१. भा० १।७।६

२. अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदूपबृंहितम्॥ (स्कं० म० पु०)
तथा—
अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च।
ज्ञात्वा सत्यवतीसूनुश्चक्रे भारतसंहिताम्॥ (भ० पु० १)

इस वचनके देखनेसे प्रतीत होता है कि पहले व्यासजीने कुछ भागवत धर्मोंका वर्णन तो किया था परन्तु वे बहुत थोड़े थे, नहींके बराबर थे। यह अर्थ श्लोकस्थ 'प्रायेण' पदसे व्यक्त होता है। फिर व्यासजीने नारदजीके कथनानुसार पूर्वरचित ग्रन्थमें ही भागवत धर्म जोड़ दिये। अतएव आगे प्रथम स्कन्धके सप्तमाध्यायमें—

ससंहितां सात्वतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम् ॥

इस श्लोकमें 'अनुक्रम्य' यह पद दिया है। अनुक्रम्य अर्थात् बनाकर। 'अनुक्रम' बनाना तभी संगत होता है जब कि ग्रन्थमें कुछ अंश जोड़नेसे कुछ उलट-फेर हो जाय। पहले तो सभी पुराण रोमहर्षणको पढ़ाये थे। इस ग्रन्थका जब विस्तार अलौकिक हो गया तब पारमहंसप्रिय भागवत धर्म लिखे गये। तदनन्तर योग्य अधिकारी और निवृत्तिनिरत शुकको व्यासजीने भागवत पढ़ाया और उसका नाम भागवतसंहिता या भगवत्-संहिता रक्खा गया। पहले तो यह सामान्य पुराण था और श्रुतिके तुल्य होनेसे उसका बारह हजार श्लोकात्मक श्रुतिशब्दसे व्यवहार भी लोगोंमें होने लगा[1]। फिर अठारह हजार श्लोकात्मक हो गया। भविष्यपुराणके प्रथमाध्यायमें कहा है कि पहले सभी पुराण बारह[2] हजारके थे। एवं भारतके पहले बारह हजारका भागवतपुराण था। उसमें सामान्यरूपसे परमात्माका चरित्र और कथाएँ थीं। वह पुराण रोमहर्षणको पढ़ाया था, तदनन्तर भारत बनाया गया। इतनेपर भी जब व्यासजीके चित्तका समाधान नहीं हुआ तब नारदजीके कथनानुसार परमात्माके विशेष वर्णनके छः हजार श्लोक उसी ग्रन्थमें बढ़ाये और उनका ठीक अनुक्रम बनाकर योग्य अधिकारी शुकको उसकी शिक्षा दी। ऐसा माननेमें कोई असंगति नहीं रहती है। अतएव सूतजीने इस अपूर्व भागवतको उस समय उपस्थित होकर सुना जब शुक परीक्षितको भागवत सुनाते थे[3]।

१. भा० १ । ४ । ७
२. भविष्यपुराण अ० १
३. भा० १ । ३

यह कथन भी संगत होता है। किसीका मत यह है कि व्यासजीने श्रीमद्भागवत बनानेके पहले जो भारत बनाया था वह आख्यानोंसे रहित २४ हजार श्लोकोंका था। उसके पश्चात् भागवत बनाया। तदनन्तर अनेक आख्यानोंके साथ महाभारतकी रचना की। इसलिये 'भारताख्यानमखिलं' इस श्लोकमें स्थित 'अखिल' पद भी संगत होता है। यदि एक ही प्रकारका भारत होता तो अखिल विशेषण देना व्यर्थ ही हो जाता। श्रीमद्भागवतके विषयमें जो आपत्ति दी जाती है वे ही मार्कण्डेयपुराण और अग्निपुराणके विषयोंमें भी दी जा सकती हैं। मार्कण्डेयपुराणके पहले अध्यायमें व्यासजीने जो भारत कहा है उसको तत्त्वतः जाननेकी इच्छासे मैं आपकी शरण आया हूँ। अब देखिये अठारह पुराण बनानेके पश्चात् यदि विद्यमान भारत बनाया गया होता तो मार्कण्डेयपुराणकी युक्ति कैसे संगत होती। वैसे ही अग्निपुराणमें 'गीतासारं प्रवक्ष्यामि' 'कृष्णोऽयमर्जुनायाह' ऐसा उपक्रम करके 'दैवी ह्येषा गुणमयी' 'यस्यां जाग्रति भूतानि' इत्यादि गीतोक्त कुछ श्लोक लिख दिये हैं। यदि आख्यानसहित विद्यमान भारतके पहले अग्निपुराण बनाया होता तो यह वचन व्यर्थ और असंगत-सा ही मालूम पड़ता है। इसलिये यही कल्पना उचित है कि चौबीस हजारका भारत व्यासजीने बनाया और उसके अनन्तर अठारह पुराण बनाये, पश्चात् व्याख्यानसहित महाभारत बनाया। इसमें असंगति भी कुछ नहीं है। अब अष्टादश पुराणोंके भीतर श्रीमद्भागवत नहीं आता, इस कथनमें कोई विशेष बल नहीं है। किसीका कथन यह है कि अष्टादश पुराणोंमें देवी-भागवत है और श्रीमद्भागवत अठारह पुराणोंके अतिरिक्त व्यास-रचित वैष्णवतन्त्ररूप एक ग्रन्थ है। अब पूर्वोक्त शंकाके इस अंशका विचार करना आवश्यक है। मत्स्यपुराण, नारदपुराण तथा पद्मपुराण ये तीन पुराण श्रीमद्भागवतको ही महापुराण कहते हैं[1]।

---

१. पद्मपुराण (१८९। १५) 'तत्र प्रथमे स्कन्धे'''। व्यासस्य चरितं पुण्यं'''। (नारदपु०) यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। (मत्स्यपु०)

शिवपुराण, देवीभागवत तथा देवीयामल आदि ग्रन्थोंके अनुसार महापुराणोंमें जो भागवत परिगणित है वह देवीभागवत ही है[1]। परन्तु इस विषयमें विचार किया जाय तो देवीभागवत स्वयं अपनी महापुराणोंमें गणनाकर उपपुराणोंमें भी एक भागवत है ऐसा कहता है। भागवतमें महापुराणोंके नाम दिये गये हैं और सामान्यतः उपपुराणोंका भी उसमें निर्देश किया गया है[2]। दोनोंमेंके इन स्थलोंको देखनेसे यह ज्ञात होता है कि देवीभागवतके समय एक भागवत नामका पुराण विद्यमान था। देवीपुराणके पहले अठारह पुराण विद्यमान नहीं थे, सत्रह ही थे क्योंकि देवीभागवत अपनी गिनती महापुराणमें करके अठारह संख्या पूर्ण करता है। परन्तु यहाँ पक्षपातरहित बुद्धिसे विचार करनेपर यह निश्चय हो जाता है कि देवीपुराणके पहले जो भागवत नामसे प्रसिद्ध पुराण था उसको उन्होंने उपपुराणमें रक्खा है और स्वयं पञ्चम महापुराण हो गया है। भागवतपुराणमें जो पुराणवर्णनके श्लोक आये हैं उन्हें देखनेसे श्रीवैष्णवभागवतके पूर्व देवीभागवतका कुछ आभास भी नहीं मिलता। अतएव उस समय लोगोंमें वही भागवत पुराणपदसे प्रसिद्ध था, अनन्तर देवीपुराणके समयमें देवीपुराणने अपनेको महापुराण कहा। और पूर्वप्रसिद्ध भागवतपुराणको उपपुराण कहा। अस्तु। यह सिद्ध हो जाता है कि देवीपुराणके पहले जो विद्यमान भागवतपुराण था वही महापुराणान्तर्गत है और वह वैष्णव भागवत ही है।

---

१. भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतं प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्॥ (शिव पु० उ०)

तथा—श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसंमितम्।······ यत्र देव्यवताराश्च बहवः प्रतिपादिताः॥ (देवीयामल)

तथा—माहेश्वरं भागवतं वासिष्ठं च सविस्तरम्। (देवीभा० स्कं० १ अ० ३)

२. भा० १२। ७। १०, २२। मी० सू० १। २। १०

(११)

'स्तुति सर्वदा सत्य अर्थका बोधन करनेवाली होती ही नहीं, वह तो अर्थवादस्वरूप है' तो ऐसी स्तुतियोंका विचार करना व्यर्थ है इत्यादि शंकापर अब विचार किया जाता है। उस स्तुतिको अर्थवाद कहते हैं जिसका कोई लक्ष्य न हो, परन्तु भागवतमें जो स्तुतियाँ आती हैं वे सर्वदा सत्यरूप ही हैं। अचिन्त्य अपरिमित शक्तिशाली परमात्मा उनका विषय है। उसके सब गुणोंकी स्तुति करना प्रत्येक स्तावककी शक्तिके बाहरकी बात है। तथापि उसकी जिस प्रकार स्तुति की जाय वह उसमें अच्छी रीतिसे घटती है। अतएव भागवतमें की हुई परमात्माकी स्तुतियाँ सत्य हैं अतएव विचारणीय तथा मनन करनेयोग्य अवश्य ही हैं।

परमेश्वरकी स्तुति व्यर्थ नहीं है, जो जो परमेश्वरकी स्तुति की जाय वह परमात्मामें घटती ही है।

(१२)

श्रीमद्भागवतकी स्तुतियोंका विषयभूत जो परमात्मा है उसकी सामर्थ्य तथा स्वरूप और अवतार लेनेका विचार इन प्रकरणोंमें किया गया है। इससे और कुछ आनेवाली शंकाएँ गतार्थ होती हैं। अस्तु।

भागवतका महत्त्व

अब इस श्रीमद्भागवतका थोड़ा-सा महत्त्व वर्णन करके यह बहिरंग निरीक्षण समाप्त करेंगे। श्रीमद्भागवत सर्ववेदान्तका सार है। इससे जो तृप्त हो गये हैं उनकी अन्यत्र कहीं भी अभिलाषा नहीं होती है[1]। पद्मपुराणमें भागवतका महत्त्व इस प्रकार वर्णित है—भागवत-कथाका मनुष्यको सदा सेवन करना चाहिये। इसकी कथाके श्रवणसे मनुष्यके हृदयमें श्रीहरिका प्रवेश हो जाता है। पुराणोंमें श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है क्योंकि उसके पद-पदमें विष्णुगाथा गायी है। श्रीमद्भागवत-पुराण, ब्रह्मसूत्रोंके तथा भारतके अर्थका निर्णायक है। गायत्रीका भाष्यरूप तथा वेदार्थयुक्त श्रीमद्भागवत पुराण है[2]। पद्मपुराणके

१. भा० १२।१३।१५
२. भा० १२।१३।२५

भागवतमाहात्म्यमें लिखा है कि यह साक्षात् कृष्णकी मूर्ति है, श्रीकृष्णने अपना तेज भागवतमें रक्खा[1] है। अस्तु। इस प्रकारसे पूर्वोक्त प्रायः सभी शंकाओंका समाधान हो जायगा।

भागवतकार व्यासजीका चरित्र

श्रीमद्भागवतके कर्ता भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीके संक्षिप्त चरित्रका इस स्थलपर उल्लेख करना अनुचित न होगा। कृष्णद्वैपायन व्यासका जन्म पराशर ऋषि तथा सत्यवतीसे यमुनाजीके क्षेत्रमें हुआ था[2]। इसलिये इनको द्वैपायन कहते हैं। ये वर्णसे काले थे इसलिये कृष्णद्वैपायनके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये पाराशर पाराशर्य बादरायण-पुराणप्रवक्ता इत्यादि नामसे भी प्रख्यात हैं[3]। ये वैवस्वत नामक मन्वन्तरमें २८वें व्यास हैं। अथवा यह कहना भी ठीक होगा कि व्यासजी विष्णु हैं क्योंकि ये अंशावताररूपसे प्रकट हुए[4]। एक दिन यह सरस्वती नदीके तटपर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रममें बैठे थे, उस समय उनका चित्त चिन्तित एवं असंतुष्ट-सा हो रहा था। बैठे-बैठे उनके मनमें यह विचार हुआ कि मैंने दुखी लोगोंके उद्धारार्थ पुराण तथा भारत बनाया, वनस्थ रहकर गुरुओंकी आज्ञाका पालन भी किया, वेद भी पढ़े परन्तु मेरा चित्त व्याकुल क्यों हो रहा है। कुछ कारण समझमें नहीं आता है, शायद मैंने परमात्मा नारायणका यशगान विशेषरूपसे नहीं किया है इसीसे मेरा चित्त व्याकुल हो रहा हो। इतनेमें नारदजी वहाँ आये। यथायोग्य पूजा-सत्कार करनेके अनन्तर नारदजीने व्यासजीके चित्तकी व्याकुलता देखकर कहा कि तुमने चित्तके दोषोंको हटानेवाला परमेश्वरका चरित्रगान नहीं किया है इसीलिये तुम्हारा चित्त अशान्त है। अब तुम भगवान्के गुणोंका गान करो तब तुम्हें शान्ति मिलेगी। नारदजी अपने अनेक पूर्वजन्मोंका इतिहास तथा परमेश्वरके अनुग्रहका वर्णनकर चले गये। इसके अनन्तर व्यासजीको भी समाधिमें परमेश्वरके स्वरूपका

---

१. पद्मपुराण अ० ३ भाग० १ । १ । ३ । १ । ४ । ४१ ।

२. महाभारत आदिपर्व ६४, १२६

३. वायुपुराण १ । १, ६० ११, २१ और विष्णुधर्मोत्तर १ । ७४

४. मत्स्यपुराण ५२, ३ । ११ लिंगपुराण १ । २४

साक्षात्कार हुआ।[1] तब इन्होंने सात्वतसंहिता (भागवत) बनाकर अपने आत्माराम तथा निवृत्तिनिरत पुत्र शुकजीको उसे पढ़ाया।[1] इन्होंने सूतजीको पुराणोंका उपदेश दिया।[2] तथा जातुकर्ण्यसे धर्म पढ़कर भारत बनाया, वेदोंकी शाखाएँ और अठारह पुराण बनाये[3] तथा ब्राह्म, ऐन्द्र, पाद्म, रौद्र, वायव्य, वारुण, सावित्र और वैष्णव इस प्रकारसे आठ व्याकरण बनाये[4]।

व्यासजीको जब गृहस्थाश्रम करनेकी इच्छा हुई तब इन्होंने जाबाल ऋषिकी वाटिका नामक कन्याके साथ व्याह कर लिया और उससे इनके शुक नामका पुत्र हुआ[5]। वायुपुराणमें अरणीमें शुककी उत्पत्ति लिखी है[6]। शुकदेवजी पूर्ण ज्ञानी थे। वे जब सदेह स्वर्गको गये तब ये बहुत शोक करने लगे। श्रीशंकरजीने आकर उनका समाधान किया और कहा कि तुमको शुककी छाया सर्वत्र दिखायी देगी[7]। इन्होंने अपनी माता सत्यवतीकी आज्ञानुसार विचित्रवीर्यकी स्त्रियों और दासीमें क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये[8]। व्यासजीका महाभारतमें पाण्डवोंके साथ अनेकों बार वर्णन मिलता है। व्यासजीमें मृत मनुष्यका स्पष्ट रूप दिखानेकी शक्ति थी। उन्होंने धृतराष्ट्रादिकोंको सब मृत पुत्रोंका दर्शन कराया था[9]। इन्होंने ही औपनिषद ज्ञानका समन्वय करनेके लिये ब्रह्मसूत्र बनाये थे। जब व्यास काशीमें रहते थे तब इन्होंने एक स्मृति बनायी थी[10]। अस्तु।

---

१. भा० १ । ४ । २६ से लेकर १ । ७ । २८ तक
२. देवीभा० १, ३, भारत आदिपर्व ६४ । १३१
३. वायुपु० १ । १, ब्रह्मपु० २६
४. भविष्यपु० ब्रह्मपर्व १ । ६०
५. स्कन्दपुराण नागरखण्ड अ० १४७
६. देखिये २ । १० । ८५
७. महाभारत शां० पर्व अ० ३४१
८. महा० आ० प० ६३ । ५४
९. महा० आश्रमवासिक पर्व ३०
१०. देखिये, आनन्द-आश्रम-ग्रन्थालयमें मुद्रित स्मृतिसमुच्चय ।

श्रीमद्भागवतको बहिरंग शंकाओंका समाधान करके अब हम इसके स्तुतिभागके गूढ़ विषयोंपर विचार करना चाहते हैं। सबसे पहले श्रीकृष्णस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि भागवतमें प्रायः सभी स्तुतियाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी ही हैं।

कृष्णस्वरूपविचार

श्रीकृष्णतत्त्व मत्स्यादि अनेक अवतारोंमें मुख्य कारणभूत परमानन्ददायक और वैकुण्ठादि लोकोंमें नित्य क्रीडारत तत्त्व है। श्रीकृष्णका क्रीडारहित जो स्वरूप है वही वेदान्तके मतमें परब्रह्म है। उसीको योगीलोग सहस्रशीर्षा नारायण-देव कहते हैं, सात्वतलोग भगवान् कहते हैं तथा वही ह्लादिनी इत्यादि अनेक शक्तियोंका आधार है। कृष्ण परमदेव हैं। गोविन्दस्वरूप श्रीकृष्णसे मृत्यु भी डरता है[1]। वे गोलोकादि स्थानोंमें अपने भक्तोंके साथ सर्वदा नित्यक्रीडा करते हैं और अनेक ब्रह्माण्डों-को धारण करते हैं। वे एक हैं और सबको अपने अधीन रखनेवाले तथा सर्वव्यापक हैं[2]। श्रीकृष्णतत्त्व एक होनेपर भी अनेक प्रकारसे भासता है। वह विज्ञान, आनन्दरूप, कर्मफलदाता, रसरूप[3] और अचिन्त्य योगमायासम्पन्न परमात्मा है। नित्यसुख और ज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही यह तुच्छ जगत् मायासे उत्पन्न होता है और सत्के समान भासता है[4]। परमात्मा एक पुराणपुरुष, स्वयंज्योति, अनन्त, नित्य, नाशरहित, निरन्तर सुखयुक्त, पूर्ण, सब उपाधियोंसे निर्मुक्त तथा सब आत्माओंका आत्मा है। वह अपनी अचिन्त्य शक्तिसे जगत्-का हित करनेके लिये स्वरूप धारण करता है। सम्पूर्ण चर-अचर जगत्में उसीका स्वरूप व्याप्त है। जिन्होंने श्रीकृष्णके पदकमलकी शरण ली है उनको वह संसारसागरसे पार कर देता है[5]। गोकुल,

१. गो० पू० उ० १

२. गो० पू० उ०

३. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० उ० ३। ९। २९) 'रातिर्दातुः परायणम्' (सिद्धान्तरत्न) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३। ६) 'रसो वै सः' (तै० २। ७)

४. भा० १०। १४। २२-२३

५. देखिये भा० १०। १४। ५५, ५६, ५८

परमव्योम वैकुण्ठादि अनेक स्थानोंमें तीन रूपोंसे श्रीकृष्ण विलास करते हैं[1]। तथा विलास और स्वांशभेदसे उसका तदेकात्मरूप दो प्रकारका है[2]। अस्तु, थोड़े शब्दोंमें–अचिन्त्य तथा अनन्त शक्तिसे भरा हुआ तथा सब कारणोंका भी कारण और नित्यक्रीडारत तत्त्व ही श्रीकृष्ण हैं ऐसा श्रीकृष्णतत्त्वका वर्णन हो सकता है।

श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं

श्रीमद्भागवत पढ़ने-सुननेवालोंके मनमें श्रीकृष्णचन्द्रके विषयमें प्रायः यह शंका होती है कि श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णावतार हैं या अंशावतार? क्योंकि श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णचन्द्रजीका दोनों प्रकारोंसे वर्णन मिलता है 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' (भा० १०।१।२) इत्यादि उनके अंशावतारके परिपोषक हैं तथा 'एते[3] चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादि वचन पूर्णावतारकी पुष्टि करते हैं।

वास्तवमें तो परमात्माके अवतारोंमें कोई भी अवतार अंशावतार या कलावतार होता ही नहीं है, परमात्मभावकी दृष्टिसे भगवान्के सभी अवतार पूर्णावतार ही होते हैं। परन्तु कार्यको देखकर उनमें पूर्णावतार या अंशावतारकी कल्पना की जाती है। जो अवतार थोड़े ही उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये आविर्भूत होता है तथा उन उद्देश्योंको पूर्ण करके तिरोहित हो जाता है, वह अंशावतार या कलावतार कहलाता है। जो अवतार अनन्त प्रयोजनोंकी पूर्तिके लिये होता है और अनेक प्रकारकी लीलाएँ करके तिरोहित होता है वह पूर्णावतार कहलाता है। इन दोनों प्रकारके अवतारोंके उदाहरण दिये जाते हैं—मत्स्य, कच्छ, वाराह इत्यादि अंशावतार हैं और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र इत्यादि पूर्णावतार हैं। मत्स्य, कच्छ आदि अंशावतारोंमें परमात्माने प्रलयकालमें मनु, वेद, ऋषि आदिकी रक्षा करना, समुद्र-मन्थनके समयमें डूबते हुए मन्दराचल पर्वतके आधारकी व्यवस्था करना, तथा रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको ऊपर लाकर स्थिर करना आदि स्वल्प उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये ही अवतार

१. देखिये लघुभागवतामृत ११
२. देखिये लघुभागवतामृत १४
३. भा० १।३।२८

लिये थे, उन सबको पूर्ण करके परमात्मा अन्तर्हित हो गये । इन अवतारोंमें परमात्माने अनेक राक्षसोंका भी नाश किया है । जैसे मत्स्यावतारमें वेदोंके हरण करनेवाले राक्षसोंका तथा वाराह अवतारमें हिरण्याक्षका वध किया । तथापि परमात्माका उस अवतारमें यह भी एक कर्तव्य था क्योंकि दूसरे भक्तोंने परमात्माकी इन कार्योंके लिये भी प्रार्थना की थी, अस्तु ।

अब पूर्णावतारोंके चरित्रकी तरफ देखिये । श्रीरामचन्द्रने लोगोंकी दृष्टिसे अनेक कष्ट सहन करके भी वेदादि शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन किया और उन्होंने पुत्र-मर्यादा, भ्रातृ-मर्यादा, ब्रह्मचर्य-मर्यादा, सत्य-मर्यादा, राज-मर्यादा तथा शरणागतपालन-मर्यादा आदि अनेकानेक मर्यादाओंको दिखलाते हुए अनेकों लीलाएँ कीं । इसीलिये परमात्मा श्रीरामचन्द्रको मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं ।

श्रीकृष्णचन्द्रजीके अवतारमें तो इतनी अधिक लीलाएँ हुई हैं कि उनका संक्षेप वर्णन करनेसे भी बहुत बड़ा ग्रन्थ हो सकता है । प्रकृत ग्रन्थमें जो स्तुतियाँ आयी हैं और उनके पूर्वमें जो प्रस्तावनाएँ दी गयी हैं उनसे पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं । श्रीकृष्णचन्द्रजीके अवतारके विषयमें जो अंशावतार तथा पूर्णावतार दोनों प्रकारके अवतारोंके पोषक वाक्य मिलते हैं उनकी शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार श्रीश्रीधर स्वामीजीने तथा सुबोधिनीकारने व्यवस्था की है । हम संक्षेपसे उनका अभिप्राय कह देते हैं—एक ही ग्रन्थमें जब अनेक प्रकारके वर्णन मिलते हैं और परस्पर विरोधका आभास होता है तो ऐसे स्थलोंमें जो वचन सम्पूर्णतः अभिधेय अर्थको न माननेपर व्यर्थ होने लगे ऐसे वचनका अर्थ मुख्य माना जाता है और जो अन्यान्य अर्थके भी बोधक होते हैं उन वचनोंका संकुचित अर्थ किया जाता है । प्रकृत विषयमें 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह वचन चौबीस अवतारोंके वर्णनके अनन्तर आया है । इस श्लोकके पहले ऋषि आदिको अंशावतार-कलावतार कहकर इस श्लोकसे श्रीकृष्णको पूर्णावतार कहा है । यहाँ इस बातका विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यास भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार मानते हैं या अंशावतार । अनेक अवतारोंका वर्णन तथा उनमेंसे किसीको अंशावतार और

किसीको कलावतार कहनेके अनन्तर यह श्लोक आता है, अतएव यह पूर्णत्वका बोधक है और व्यासजीको श्रीकृष्णचन्द्रजीको पूर्णावतार कहना ही इष्ट[1] है। अतएव भिन्न प्रकरणोंमें आये हुए अंशावतारके बोधक वचनोंके अर्थमें संकोच करना ही आवश्यक है।

यहाँपर यह शंका हो सकती है कि अंशत्वबोधक वचनोंको मुख्य मानकर पूर्णत्वबोधक वचनोंको ही गौण क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर प्रायः पहले ही दे दिया गया है कि यह पूर्णत्वबोधक वचन अनेक अवतारोंको अंशावतार और कलावतार बतानेके अनन्तर आया है, अतएव श्रीकृष्णजीका पूर्णत्व बोधन करना ही इस वचनका अर्थ मानना उचित है। तथा अंशबोधक वचन भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें आये हैं अतएव उनका वह मुख्यतया प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है, यही मानना विरोध हटानेके लिये आवश्यक है, प्रामाणिक ग्रन्थकारोंने ऐसा ही अर्थ किया है, पाठक स्वयं तत्तत्स्थानपर देख लें। इस प्रकार व्यासजी भी श्रीकृष्णको पूर्णावतार ही मानते हैं।

किसी-किसीका मत है कि जो अवतार ज्ञान, इच्छा, क्रिया, वैराग्य आदि गुणोंसे पूर्णतया युक्त रहता है वह पूर्णावतार है और जो उक्त गुणोंके थोड़े-थोड़े अंशोंसे युक्त रहता है वह अंशावतार या कलावतार कहा जाता है[2]। पूर्ण, कला, अंश तथा विभूतिका अर्थ सात्वततन्त्रमें देखिये[3]।

इस रीतिसे यह स्पष्ट हो गया कि श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णावतार हैं। अब उनकी लीलाओंपर विचार किया जाता है—

कात्यायनीव्रतस्थ गोपी-सम्बन्धी विचार

जब श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णचरित्रके विषयमें यह सुना या पढ़ा जाता है कि श्रीकृष्णने जलमें नग्न स्नान करती हुई गोपियोंको देखा और उनके वस्त्र लेकर कदम्ब वृक्षपर चढ़ गये; फिर गोपियाँ जब वस्त्र माँगने लगीं तब श्रीकृष्णने उनको जलसे नग्न

१. भा० ९। २४। ५५; १०। १। ३

२. सात्वतसं० प० ३

३. सात्वततन्त्र तृ० प० ९

बाहर आनेके लिये बाध्य किया; तब मनमें श्रीकृष्णके अवतार होनेमें सन्देह होता है और अनेक विकल्प पैदा होने लगते हैं। कभी तो यह निश्चय-सा हो जाता है कि यदि भगवान्‌ने अवतार भी लिया हो तो भी इस चरित्रका कुछ तत्त्व समझमें आता ही नहीं। ऐसी शंकाएँ बड़े-बड़े विद्वानोंके हृदयमें भी उदित होती हैं। विचारपूर्वक देखा जाय तो उनकी ये शंकाएँ वृथा हैं। इस विषयमें शास्त्रकारोंका निर्णय देखनेके पहले यह ध्यान रखना चाहिये कि इन अवतार-चरित्रोंमें जो-जो व्यक्ति परमात्माके साथ लीलाएँ करते हैं वे हम-लोगोंके समान प्राकृत नहीं हैं। परमात्माका अवतार जब भक्तकी इच्छारूप सहकारी कारणसे होता है तब परमात्मा केवल भक्तका संरक्षण करके संकटसे उनका उद्धार करता है किन्तु प्राकृत मनुष्यके समान उनके साथ क्रीडा नहीं करता। जिन अवतारोंमें परमात्मा लोगोंके साथ बिलकुल साधारण मनुष्यके समान क्रीड़ा करते हैं वे मनुष्य यद्यपि हमारी दृष्टिमें प्राकृत-से प्रतीत होते हैं तो भी वे वस्तुतः प्राकृत नहीं हैं, केवल परमात्माकी इच्छासे ही वे उसके साथ क्रीडा करनेके लिये प्रकट होते हैं। दिव्य अनेक अचिन्त्य शक्तियोंसे युक्त परमात्मा अपने अंशधारियोंके साथ ही क्रीडा करता है। उन लीलाओंमें हमारी दृष्टिसे कुछ दोष भले ही दिखायी पड़ें किन्तु वस्तुतः वे दोष नहीं हैं, क्योंकि हम अपने हस्तपादादि अंशोंके साथ अनेक प्रकारके व्यवहार करते हैं, उसमें निन्दनीयता-की कुछ भी गन्ध हमें प्रतीत नहीं होती, इसी प्रकार परमात्मा लीला करनेकी इच्छासे अपनी शक्तिसे अपने ही अनेक रूप बनाकर उनके साथ क्रीडा करता है, उसे निन्दनीय समझकर उसमें दोष-दृष्टि करना बड़ा अनर्थ है। मार्कण्डेयपुराणस्थित सप्तशतीमें ऐसा ही एक प्रसंग है—जब शुम्भ दैत्यने दुर्गासे कहा कि 'तू अनेक देवियोंके बलपर मेरे साथ लड़ रही है,' तब देवीने कहा, 'ये सब मेरी ही मूर्तियाँ हैं, देख, मेरे शरीरमें सब लीन हो जाती हैं।' ऐसा कहकर देवी-ने सब देवियोंका अपने शरीरमें लय कर दिया। ब्रह्माजीको भी गोप और गायोंको गुफामें छिपानेके प्रसंगमें यही अनुभव हुआ। श्रुतियों-

१. भा० १० । १३ । ४६

ने भी यही वर्णन किया है कि परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि रूपसे स्थित है[1]। सात्वततन्त्रमें इसका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है कि सब परमात्माके अवतार हैं[2]। इस प्रकार अपनी इच्छा तथा शक्तिसे प्रकट किये गये गोप-गोपीरूप अंशोंके साथ यदि परमात्माकी अनेक प्रकारकी क्रीडा होती है, जैसा कि प्रामाणिक ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है, तो अचिन्त्य शक्तिशाली भगवान्‌की लीलामें प्राकृतलोगोंके नियमोंका परिपालन होना चाहिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ और असंगत है।

इस प्रकारके अवतारचरित्रसे हमें उतना ही उपदेश लेना चाहिये जितना लोकानुकूल तथा धर्मानुकूल हो। इसी अभिप्रायसे परमात्माके अवतारभूत व्यासजीने पुराणोंमें उनका ग्रन्थन किया है। जहाँ हमारी समझमें न आनेवाला लोकविरुद्ध-सा आचरण है, उसका निषेध तत्तत्स्थलमें साक्षात् किया ही है[3]। ऐसी लीला करनेमें परमात्माका यह भी उद्देश्य रहता है कि जो भक्त साधनों-का अनुष्ठान करते-करते परमात्माकी नित्य लीलामें प्रवेश करनेकी योग्यता रखते हैं उनको नित्यलीलामें सम्मिलित किया जाय। शाण्डिल्य-संहितामें लिखा है कि निर्गुण भक्ति करनेवाले भक्त परमात्माकी नित्यलीलामें प्रविष्ट होते हैं और दिव्य इन्द्रियोंसे नित्यलीलाका अनुभव करते हैं[4]। नित्यलीला देखनेके अधिकारी भक्त तो शरीर छोड़नेके अनन्तर नित्यशरीर धारण करके परमात्माकी नित्य दिव्य लीला देखते ही हैं; परन्तु परमात्माकी यह बड़ी दया है कि वह ऐसे भक्तोंके लिये स्वयं अवतार लेकर उनके शरीर छोड़नेके पहले ही उनको अलौकिक दिव्यलीलाका

---

१. त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम् (ग० अ० शी० २) एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० सौ० सू०)

२. सा० तं० १३

३. देखिये—गोपियोंके प्रकरणके ऊपर श्रीपरीक्षितजीकी शंका और शुकदेव-जीका उत्तर—भा० १० । ३३ । २७—३१

४. शा० सं० भ० खं० अं० १, ६, २७

अनुभव करा देते हैं। जैसे नन्दजीने पूर्वजन्ममें अत्यन्त कठिन तपश्चर्या करके परमात्मामें पुत्ररूपसे प्रेम किया था, और जब वे दिव्यलीलाके अधिकारी बन गये तब परमात्माने स्वयं उनका पुत्र होकर उनको अनेक दिव्य लीलाएँ दिखायीं[1]। अस्तु, अब पुनः पूर्वोक्त प्रश्नपर ही विचार करते हैं कि श्रीकृष्णने नग्न गोपियोंके वस्त्र ले जाकर उन्हें नग्नभावसे ही जलसे बाहर निकलनेके लिये क्यों बाध्य किया? ऐसा प्रश्न साधारणरूपसे वे लोग करते हैं जो गोपियोंको परमात्माकी शक्तिसे प्रकट हुई विभूति नहीं मानते। श्रीकृष्णचन्द्रजीका विलक्षण अलौकिक मधुर रूप देखकर गोप-कन्याओंका तथा अनेक गोपियोंका चित्त आकृष्ट हुआ था[2]। उनमेंसे गोपकन्याओंने हेमन्तऋतुमें श्रीकृष्णचन्द्रकी प्राप्तिके लिये हविष्यान्न भोजन करके कात्यायनीदेवीका पूजनरूप व्रताचरण किया था। व्रतके अन्तमें वे देवीसे यही वर माँगती थीं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे पति हों[3]। अनन्तर एक दिन जब वे यमुनाजीमें स्नान करनेके लिये गयीं और वस्त्र बाहर रखकर नग्न हो भीतर स्नान करने लगीं तब सर्वान्तर्यामी भगवान् उनकी भक्तिकी परीक्षा करनेकी इच्छासे जहाँ गोपियाँ स्नान करती थीं वहाँ पहुँचे। भगवान्‌ने देखा कि गोपियाँ व्रताचरणके विरुद्ध नग्न स्नान कर रही हैं, और व्रतानुष्ठानका सम्पूर्ण पुण्यफल खो रही हैं; तब भगवान्‌ने उनको शिक्षा देनेकी इच्छासे सब वस्त्र उठाये और कदम्ब-वृक्षपर बैठ गये। "उस समय गोपियाँ नंगी ही जलसे बाहर आकर वस्त्र पहिनें, यह परमात्माकी दृढ़ इच्छा नहीं थी" ऐसा निम्न-लिखित वाक्यसे स्पष्टतया ज्ञात होता है। 'हसद्भिः प्रहसन्बालैः परिहासमुवाच ह।' 'परिहासमुवाच ह' ये शब्द परमात्माके भावके द्योतक हैं। जब गोपी वस्त्र माँगने लगीं तब परमात्माने कहा कि एक-एक या सब मिलकर अपना वस्त्र ले लो। किन्तु जब परमात्माने उनके लौकिक व्यवहारके ऊपर प्रेम तथा साक्षात्

---

१. भा० १० । ९ । ५० से ५२ तक

२. भा० १० । २१ । २०

३. भा० १० । २२ । ४

परमात्माके कथनका तिरस्कार देखा तब उनके पूर्णभावको समझानेके लिये परमात्मा और हठ करने लगे। आखिर परमात्माके लिये व्यवहारमें सर्वस्वभूत लज्जाका भी त्याग कर गोपियाँ परमात्माकी शरणमें गयीं। परमात्मा उनका यह भाव देखकर प्रसन्न हुए। अपने हृदयस्थ सर्व व्यावहारिक भावोंको परमात्माके लिये समर्पण करना ही भगवदनुग्रहका परम साधन है। कात्यायनीव्रतका अनुष्ठान करनेसे गोपियोंका चित्त स्वच्छ हुआ ही था तथा परमात्माने साक्षात् आकर स्त्रियोंके लिये, प्राणत्यागकी अपेक्षा भी अत्यन्त कठिन लज्जाका त्याग कराना चाहा तब गोपकन्याओंने अपनी सर्वस्वभूत लज्जाका त्याग किया और सर्वात्मनिवेदनरूप अन्तिम नवम भक्तिका अनुष्ठान किया। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें सूचित श्रीशुककी कथा ध्यान रखने योग्य है। श्रीशुकाचार्य नंगे स्नान करनेवाली स्त्रियोंके पाससे चले गये किन्तु उन नग्न स्त्रियोंको लज्जा न हुई किन्तु जब अतिवृद्ध व्यासजी उन नग्न स्त्रियोंके समीपसे जाने लगे तब उन्होंने मारे लज्जाके वस्त्र पहन लिये। इसका निष्कर्ष यह है कि वस्त्रादि हृदयस्थ भेदादिके सूचक हैं। सब भेद हटानेके अभिप्रायसे परमात्माने वस्त्र छीन लिये और नग्न बाहर आनेके लिये हठ किया। परमात्माने उनका शुद्ध भाव देखकर उनकी पतिरूपसे श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी इच्छाको स्वीकार किया। परमात्माका यह स्वभाव ही है जो जिस प्रकारसे उनकी प्रार्थना करे उसे उसी प्रकारसे प्राप्त हों[2]। इस प्रकरणमें यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि कात्यायनीका व्रत करनेवाली कन्याएँ अविवाहिता थीं। यह बात इस प्रकरणमें आये हुए 'दारिकाः' 'कुमारिकाः' इत्यादि पदोंसे स्पष्ट हो जाती है—जिन्होंने श्रीकृष्ण हमारे पति हों ऐसी प्रार्थना की थी उनको यदि कृष्णका कुछ भी कार्य अनिष्ट मालूम होता तो वे अवश्य ही उनके ऊपर क्रोध करके वहाँसे चली जातीं परन्तु वे वस्त्र पहनकर भी वहाँसे जाना नहीं चाहती थीं।

---

१. भा० १०।२२

२. गी० ४।११

गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः ।

(भा० १० । २२ । २३)

यह सब देखकर श्रीकृष्णने कहा 'तुम्हारा संकल्प सत्य होगा, जैसे भुने हुए या उबाले हुए धान अंकुरोत्पत्ति करनेमें समर्थ नहीं होते[1]।' वैसे ही जिनका चित्त मुझमें लगा है उनका काम कामके लिये नहीं होता है। इस विषयमें कदाचित् ऐसी एक शंका हो सकती है कि भक्त चाहे जिन विषयोंकी इच्छा करें सर्वज्ञ परमात्मा उनमेंसे उचितको सफल करें किन्तु अनुचित इच्छाओंको वे क्यों सफल करते हैं? ऐसी शंका उन्हींके मनमें उदित होती है जिनके हृदयमें परमात्मविषयक कुछ भी भक्ति नहीं है। वे केवल परमात्माकी तरफ इसी भावसे देखते हैं कि मानो परमात्मा भी हमारे समान अनेक लौकिक-व्यावहारिक नियमोंसे जकड़े हुए हैं। परन्तु जब हम परमात्माको अनेक ब्रह्माण्डोंका नियामक कहते हैं तो ऐसे परमात्मा एक ब्रह्माण्डके कहीं किसी कोनेमें रहनेवाले हमलोगोंके नियमोंसे कैसे बाँधा जा सकता है। यदि हमारे संतोषके लिये परमात्मा हमारे नियमोंसे क्रिया करें तो दूसरे ब्रह्माण्डके लोक कहेंगे कि परमात्माने हमारे नियमोंके अनुसार क्रिया क्यों नहीं की, अतएव परमात्माको हमारे नियमोंसे बर्ताव करना चाहिये, यह कहना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

अब यह देखना चाहिये कि परमात्मा उन नियमोंके अनुसार बर्ताव करते हैं या नहीं जो उन्होंने ब्रह्माण्डस्थ मनुष्योंके साथ बर्तनेके लिये बनाये हैं। परमात्माका नियम है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' ।

बस, उस नियमके अनुसार यदि देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि परमात्माका आचरण ठीक हुआ है। नन्द और यशोदाने पूर्वजन्ममें परमात्माको पुत्ररूपसे प्राप्त करनेके लिये कठिन तपश्चर्या की थी। परमात्माने उनका वही मनोरथ पूर्ण किया। हिरण्यकशिपुने वर माँगते समय अपने मारनेवालेके विषयमें जो शर्तें लगा रक्खी थीं उन शर्तोंके अनुसार नरसिंहके सिवा और कोई दूसरा रूप हो ही नहीं

---

१. भा० १० । २२ । २७

सकता था। वैसा ही रूप लेकर परमात्माने उसका विनाश किया। अब गोपियोंने यदि परमात्माको स्वात्मनिवेदन कर परमात्मासे 'आप हमारे पति हों' यह वर माँगा और उन्होंने वह पूर्ण किया, तब तो परमात्माने जो भक्तोंके साथ व्यवहार करनेके नियम बनाये हैं उनके अनुसार कोई विरोध नहीं आता है। पति-भावसे हमारे मनमें इन्द्रियसेव्य विषयके सिवा और कुछ भाव आता ही नहीं क्योंकि हमलोगोंका और कुछ ध्येय है ही नहीं परन्तु अचिन्त्य शक्तिशाली परमात्मामें ऐसी बात नहीं है। गोपियोंके पति होते हुए भी उनमें कोई भी कामना स्वप्नमें भी नहीं थी क्योंकि वे पूर्ण-काम आत्मक्रीड और आत्ममिथुन हैं। प्रत्युत परमात्माके विषयमें जिन्होंने पतिभावकी प्रार्थना की उनमें भी काम कामके लिये होता ही नहीं यह परमात्माने स्पष्टरूपसे कहा है[1]। जहाँ भक्त सर्वस्व समर्पणपूर्वक परमात्माकी शरण नहीं जाता है वहाँ परमात्मा उसको

यज्ञकर्ता ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके चरित्रसे प्रसंग-का स्पष्टीकरण।

स्वीकार न करके उसे लौकिक व्यवहारमें अच्छी रीतिसे सम्मानपूर्वक व्यवहार करानेका ही उपदेश देते हैं और रास्ता दिखा देते हैं। यह बात यज्ञस्थ ब्राह्मणस्त्रियोंके वृत्तान्तसे निश्चित हो जाती है। वे स्त्रियाँ राम-कृष्ण-दर्शन करनेकी उत्कण्ठासे राम-कृष्णके पास अच्छा-अच्छा अन्न बनाकर ले आयीं, उस समय उन्हें पति आदि सभीने रोका था परन्तु उन्होंने किसीकी न मानी। अनन्तर उनका स्वागतकर श्रीकृष्णने कहा—'तुम मेरा दर्शन करनेकी इच्छासे आयी हो अब तुम चली जाओ।' तुम्हारे पति तुम्हारे साथ यज्ञ करेंगे। स्त्रियोंने कहा—'हम पति आदिकी आज्ञाका उल्लंघनकर तुम्हारे पास आयी हैं अतएव अब वे हमें ग्रहण नहीं करेंगे।' परमात्माने उनका भाव देखा कि वे अपने घरमें पति आदिके पास मनसे जाना चाहती हैं परन्तु पति आदिकी आज्ञाका उल्लंघन किया है इस बातका उनको डर लगता है; तब परमात्माने उनके पति आदिका भय वारण करके उनको यज्ञमण्डपमें पतियोंके पास भेज दिया और कहा कि मेरी प्राप्ति चाहो तो स्मरणकीर्तनादिपूर्वक मुझमें भावबृद्धि करो[2]।

---

१. भा० १०। २२। २७।

२. भा० १०। २३। १८, २०, २२, २८, ३० से ३२ तक

अब रासपञ्चाध्यायीके ऐसे ही एक प्रसंगको देखिये, परमात्माने गोपियोंसे घर जानेके लिये कहा, तथा पति आदिका महत्त्व उन्हें समझा दिया परन्तु यह सुनकर वे अत्यन्त दुःखी हुई और कहने लगीं परमात्मन् ! ऐसा कठोर भाषण मत करो, सर्वविषयोंको छोड़कर हम तुम्हारे पास आयी हैं। पति-पुत्र आदिका जो तुमने महत्त्व वर्णन किया वह सब आपमें है ही क्योंकि आप ही हमारे सर्वस्व हैं, हम नित्य आपहीमें प्रेम करती हैं, पीड़ा देनेवाले इन पुत्रादिसे हमें क्या प्रयोजन ? तुम प्रसन्न हो जाओ, तुम्हारे लिये हृदयमें रक्खी हुई हमारी आशाओंका छेदन मत करो। हमारा चित्त तुमने हर लिया है। अब वह गृह-कार्यमें लगता ही नहीं। हमारे पैर आपके पाससे किञ्चित् दूर भी नहीं चल सकते, तब व्रजमें हम कैसे जायँ ? और वहाँ जाकर करेंगी ही क्या ? हमको अंगीकार करो नहीं तो हम आपका सतत ध्यान करती हुई विरहाग्निसे जलकर आपके परमधामको प्राप्त हो जायँगी। इस गोपीचरित्रमें और यज्ञीय ब्राह्मण-पत्नियोंके चरित्रमें बहुत अन्तर है। वे पति आदिसे तथा लौकिक व्यवहारसे डरती थीं अतएव जाना नहीं चाहती थीं, परन्तु वास्तवमें वे जाना चाहती थीं। उनके जानेमें बाधक था लौकिक व्यवहारका भय। गोपियोंको कुछ भी भय नहीं हुआ प्रत्युत उन्होंने कहा 'परमात्मन् ! व्रजमें जानेके लिये हमारे पैर ही तैयार नहीं हैं ऐसी अवस्थामें हम वहाँ जाकर करेंगी ही क्या ? आप हमें अंगीकार न करोगे तो हम यहीं आपका ध्यान करती-करती मर जायँगी।' गोपियोंके हृदयमें परमात्माके अतिरिक्त अन्यान्य लौकिक भावोंकी तनिक भी गन्ध न थी। वे केवल परमात्माको देखती थीं। तब आत्माराम योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजीने मुसकाकर उनके साथ रासक्रीडा की[1]।

रासपञ्चाध्यायीस्थ प्रसंगका वर्णन।

इस प्रसंगमें श्रीशुकदेवजीने 'योगेश्वर' तथा 'आत्माराम' दो शब्द महत्त्वके रक्खे हैं। परन्तु इनपर कुछ भी ध्यान न देकर अज्ञानवश हम यही समझते हैं कि परमात्माने सामान्य पुरुषके समान इन्द्रियतृप्तिके लिये रासक्रीडा की, यह समझना सर्वथा गलत

१. भा० १० । २९ । २९ इत्यादि

है क्योंकि वे आत्माराम तथा योगेश्वर थे। उधरके गोपियोंके हृदयमें परमात्मभावके सिवा अभिमानादि अन्य कोई भी भाव न था। जब उनके हृदयमें परमात्माके विरोधी अभिमानकी वृत्ति उदित हुई तब परमात्मा उनसे अन्तर्हित (गुप्त) हो गये[1]।

अब इस प्रकरणमें यह विचार करना आवश्यक है कि गोपियाँ श्रीकृष्णजीके पास पहले कामेच्छासे गयी थीं तो अन्ततक उनकी क्या यही इच्छा बनी रही अथवा उनका काम रागरूपमें परिणत हो गया? परमात्मामें परम अनुराग तो भक्तिका स्वरूप ही है[2]। पहले गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रजीका अलौकिक सुन्दर रूप देखती थीं पश्चात् उनका सुन्दर रूप देखते-देखते उनकी वृत्तियाँ कृष्णाकार होने लगी थीं। पहले-पहले आरुरुक्षु अवस्थामें श्रीकृष्णचन्द्रविषयक अनेक कार्य, जैसे सर्वदा श्रीकृष्णके दर्शनमें तत्पर रहना, उनका ही सर्वदा नाम-स्मरण, नामोच्चारण आदि करती थीं। उस अवस्थामें उनका संसार भी चलता था तथा श्रीकृष्णचन्द्रजीका अलौकिक रूप देखकर उन्हें पतिरूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा थी। इसी इच्छासे उन्होंने कुमारिका अवस्थामें ही कात्यायनीव्रतका अनुष्ठान किया था और श्रीकृष्णने उनको वर भी दिया था। फिर आगे जब वे श्रीकृष्णचन्द्रजीके पास रात्रिमें वंशीकी ध्वनि सुनकर अरण्यमें चली गयीं तब उनकी कुछ आरुरुक्षु अवस्था थी और अन्तमें आरूढ़-अवस्था प्राप्त हो गयी थी।

आरुरुक्षु गोपी आरूढ़ हो गयीं।

आरूढ़-अवस्थाका अस्तित्व हो जानेसे वे श्रीकृष्णचन्द्रजीके लिये प्राणार्पण करनेके लिये तैयार थीं। ऐसे प्रसंगमें आरूढ़ अवस्थाका ही आधिक्य दिखलायी पड़ता है। परमात्माने पहले उनको बहुत समझाया परन्तु अन्तमें जब उनका आत्यन्तिक आत्मसमर्पण और अत्यन्त अनुराग देखा, तथा यह देखा कि आरुरुक्षुत्व बिल्कुल नष्ट हो गया है और आरूढ़त्व स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है, तब भगवान्‌ने आलोचना करके स्वयं योगेश्वर आत्माराम होते हुए भी उनके साथ दिव्य आत्मक्रीडा की। कितनी गोपियोंमें पहले आरुरुक्षु-

१. भा० १० । २९ । ४७-४८ ।

२. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शां० भ० सू० २

अवस्थामें कुछ कामना थी परन्तु आरूढ़-अवस्थामें समस्त कामना पूर्ण दिव्य अनुरागरूपमें परिणत हो गयी । अतएव गोपियोंकी कुछ थोड़ी निन्दा और विशेष स्तुति भी उपलब्ध होती है । उनकी आरूढ़-अवस्थाके अनुराग-अंशको देखकर ही 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः' इत्यादि वचन मिलते हैं । परमात्माके अन्तर्भूत होनेतक गोपियोंके हृदयमें कुछ अभिमान तथा कामनाकी वृत्ति देखी जाती थी । परन्तु आगे जब परमात्मा छिप गये और खोजनेपर भी न मिले, उस समय वे परमात्माको खोजती-खोजती बिल्कुल तद्रूप हो गयी थीं और अपनेको परमात्मा समझती थीं । आखिर जब उन्होंने देखा कि हमसे कुछ भी परमात्माका पता नहीं लगता है और परमात्माके बिना तो एक क्षण भी नहीं रहा जाता तब वे अहङ्कार, कामना आदि सबको भूलकर सर्वथैव परमात्माकी शरणमें जाकर रोने लगीं । तदनन्तर सर्वत्र व्यापक परमात्माने गोपियोंकी शुद्ध भक्तिसे आकृष्ट होकर उन्हें दर्शन दिया । इसके अनन्तर जब गोपियोंने परमात्मासे प्रेमगर्भित कुपित होकर कुछ वक्र प्रश्न किये कि एक तो सेवन करनेवालोंकी सेवा करता है इत्यादि तब परमात्माने अनुरागको प्रधान दिखलाते हुए कहा कि जो आत्माराम हैं वे भजनेवालोंका भी सेवन नहीं करते । हे सखियो ! मैं तो भजते हुएको भी नहीं भजता । मेरे लिये जिन्होंने अखिल लौकिक-वैदिक स्वार्थ छोड़ दिये हैं उनको मैं प्राप्त होता हूँ । इससे यह स्पष्ट है कि परमात्माने अनुरागको प्रधान कहकर गोपियोंको समझाया[1] ।

अलौकिक रासलीला

इसके अनन्तर गोपियोंका शुद्ध अनुराग ही केवल रह गया था, कामना और अहङ्कार नष्ट हो चुका था और वे आरूढ़-अवस्थावाली परमात्माकी एकनिष्ठ भक्त हो गयी थीं । उस अवस्थामें जब उनके साथ भगवान्ने रासक्रीडा की है तब रसरूप परमात्माका विलक्षण प्रकर्ष प्रकट हो गया । क्योंकि वहाँ रसरूप परमात्मा और उसके अनुकूल शुद्ध अनुरागस्वरूप ही गोपियाँ थीं । तब विलक्षण परमानन्द प्रकट हो गया और देवोंको भी ऐसा देखनेका अवसर कभी नहीं मिला था । ऐसे

१. भा० १० । ३२ । १६ से २१ तक

आनन्दकी उपमा देनेयोग्य संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है। रासक्रीडामें लौकिक काम-सम्बन्ध-रहित दिव्यानुराग तथा दिव्यानन्दका ही बोध करनेके लिये शुकदेवजीने बीच-बीचमें 'योगेश्वरेण कृष्णेन' 'आत्मारामोऽपि लीलया' 'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इत्यादि पद रखे हैं। जब रासक्रीडा होती थी तब देवता ऊपरसे पुष्पवृष्टि करते थे[1]। ऐसी अवस्थामें परमात्मा तथा गोपियोंके हृदयमें बिलकुल लौकिक कामकी गन्ध भी न थी। परमात्मा स्वयं आनन्दरूप हैं और गोपियाँ स्वयं उस आनन्दका अनुभव करके परम ज्ञानको प्राप्त भी हो गयी थीं। वे सर्वदा सब सांसारिक काम करते हुए भी परमात्माको अन्तःकरणमें विराजमान देखती थीं। अतः परमात्मा जब मथुरामें चले गये तब उन्होंने परमात्माके साथ मथुराकी यात्रा नहीं की। परमात्माने भी एक दिन अपनी भक्त गोपियोंकी भक्तिका वृत्त जाननेकी इच्छासे परम भागवत उद्धवजीको भेजा। उद्धवजी गोकुलमें पहुँचकर नन्दादिकोंसे मिलनेके अनन्तर जब गोपियोंसे मिले और उनकी वृत्तियाँ कृष्णमें लीन देखीं तब उन्होंने गोपियोंकी भक्तिकी स्तुति की[2]। उनको श्रीकृष्णजीका ज्ञानमय सन्देश सुनाया जिसके अन्तमें यह कह भेजा था कि तुमको मालूम ही है कि जो गोपियाँ रासक्रीडामें घरमें पति आदिद्वारा बाँधी जानेके कारण नहीं आ सकीं वे मेरा चिन्तन करते-करते मुझको प्राप्त हो गयीं[3]। ऐसे ही तुम भी मुझमें मन लगाकर सम्पूर्ण वृत्तियोंको हटाकर मुझे नित्य स्मरण करते-करते मुझे अवश्य ही प्राप्त हो जाओगी[4]। इस प्रकार गोपियोंको संदेशा देकर उद्धव मथुरामें भगवान्‌के पास चला आया।

रासलीलाके परम आनन्दका वर्णन।

रासलीलामें गोपियोंको जो परमानन्द प्राप्त हुआ अब उसकी आलोचना करना आवश्यक है। परमात्मा स्वयं आनन्दरूप हैं, उसीके ही आनन्दके एक अंश-

१. भा० १० । ३३ । २४

२. भा० १० । ४७ । २५

३. भा० १० । ४७ । ३०

४. भा० १० । ४७ । ३६

से जीव संसारमें सर्वत्र आनन्द भोगते हैं[1]। आनन्दसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं[2]। उस परमात्माकी आनन्दकी मीमांसा तैत्तिरीय शाखाके ब्रह्मविद् उपनिषद्में मिलती है। उस मीमांसामें कहा गया है कि जगत्में सर्वश्रेष्ठ पुरुषको जो आनन्द मिलता है, गन्धर्वोंका आनन्द उससे सौगुना अधिक है, इस प्रकार वर्णन करते हुए अन्तमें यह कहा है कि सर्वश्रेष्ठ जो प्रजापतिका आनन्द है वह परमात्माके एक अंशका आनन्द है[3]। ऐसे सर्व विलक्षण और आनन्द-पूर्ण परमात्मा ही जहाँ स्वयं प्रकट हो गया है वहाँ परमात्माकी छवि या मनमोहन मूर्ति देखते ही जड़ वृक्षोंके भी रोंगटे यदि खड़े हो जायँ तो यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। थोड़ा-सा ही परमात्माका आनन्द प्राप्त होते ही मनुष्य गाने-नाचने लगता है यह कथा भृगुउपनिषद्में भृगुके वर्णनसे स्पष्ट है[4]। जहाँ साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् स्वयं अवतार लेकर लीला करने लगे वहाँ आनन्द-समुद्र बहने लगे तो कौन बड़ी बात है। रासलीलामें ऐसे ही आनन्द-समुद्रका प्रवाह बहता रहा। आनन्दरूप परमात्मा ही अपने आनन्दका अनुभव अनेक रूप लेकर करेगा तो उसका वर्णन शेष भी अपने हजारों मुखोंसे नहीं कर सकते हैं। परमात्मा जब अकेले थे तब पाषाण-वृक्षादि भी आनन्दसे स्तम्भित होते थे। मुरलीकी ध्वनि सुनकर तथा परमात्मरूप देखकर देवस्त्रियाँ भी मोहित होकर अपनेको भूल जाती थीं। ऐसे परमात्मा रास-लीलामें स्वयं अनेक बने तथा परमात्माके आनन्दको बढ़ानेवाली वेदरूप, देवतारूप और ऋषिरूप गोपियाँ प्रकट हो गयीं और परमात्मा उनके संग सुर-तालसे नाचने लगे। उस समय ब्रह्माण्डोंका एक-एक परमाणु आनन्द-सागरमें गोते खाने लगा। ऐसे आनन्दके स्वरूपका वर्णन ठीक-ठीक कौन किन शब्दोंसे कर सकता है? परमात्माके सामान्य स्वरूपका वर्णन तो वाणीसे

---

१. बृ० उ० ४।३।३२

२. तै० उ० ३।६

३. तै० उ० २।७

४. एतत्सामगायन् आस्ते। (तै० उ०)

हो ही नहीं सकता[1]। फिर जहाँ परमात्मा अनन्त रूप धारणकर और स्वयं प्रयत्नशील होकर लीलाएँ करें तो उस माधुर्यका साक्षात् आस्वादन करनेका सौभाग्य गोपियोंके सिवा और किन भक्तोंको मिल सकता है। देवताओंको भी इस प्रकारके आनन्दका अनुभव कभी नहीं मिलता था। उस समय आकाशमें विमानोंकी भीड़ हो गयी, देवता बड़े आनन्दसे परमात्माके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे तथा दुन्दुभि बजाने लगे। गन्धर्व अपनी स्त्रियोंके साथ नाचने लगे। ऐसे परमात्माके आनन्द-सागरमें लीन होनेवाली गोपियोंकी पाद-धूलि हजार वर्षतक तपश्चर्या करनेपर भी ब्रह्माजीको नहीं मिली। यह बृहद्वामनपुराणीय ब्रह्माजीकी उक्ति सर्वथा सत्य ही है[2]। उद्धवजीने भी वृन्दावनमें स्तुति की–'मैं गोपियोंके चरण-रजको नमस्कार करता हुआ लता आदिमेंसे एक-आध हो जाऊँ तो भी अच्छा है[3]।' अतएव प्राचीन परमाचार्य पुराणोंमें भागवतको श्रेष्ठ कहते हैं। तथा भागवतमें दशम स्कन्धको और उसमें भी रासपञ्चाध्यायीको अधिक महत्त्व देते हैं। यह सर्वथा योग्य ही है।

भक्तितत्त्वके रसरूपत्व-का विचार

मनुष्य जब श्रीमद्भागवतके भक्तिमाहात्म्यबोधक वचनों[4]की ओर दृष्टिपात करता है तब उसको यह सिद्धान्त निश्चित-सा होता है कि परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला भक्तिके सिवा और कोई साधन है ही नहीं। ऐसे परम महत्त्वपूर्ण भक्तिरूप साधनका संक्षेपसे निर्णय करना आवश्यक है।

भक्तिको कोई भाव कहते हैं तथा कोई रस कहते हैं। भाव, गुण और क्रियाओंमेंसे एक है, और अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित परमात्मवस्त्वाकारस्वरूप जो स्थायी भाव है वही विभावादिकोंसे

१. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। (तै० उ० २।९)
२. (बृ० वामनपु० उ० खिल)
३. भा० १०।४७।६१
४. भा० २।२

प्रकट होता है, वही रस है[1]। भक्तिको गुणरूप माननेवाले लोग परमात्माका आराध्यरूपसे ज्ञान अथवा श्रवणादि इन्द्रियोंसे परमात्मविषयक विशेष ज्ञान अथवा छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि[2] उपनिषदोंमें बतायी हुई विविध प्रकारकी उपासना या ईश्वर-विषयक इच्छाविशेषको भक्ति कहते हैं। ऐसी स्थितिमें ज्ञानविशेष या इच्छाविशेषको भक्ति कहनेसे ज्ञानका तथा इच्छाका क्षणिक स्वभाव रहनेके कारण तथा मनका अणुरूप होनेसे अन्तःकरण-परिणामरूप स्थायीभाव सिद्ध ही नहीं होता है।

भक्तिको क्रियारूप माननेवालोंके कीर्तन, नामोच्चारणादि तो इन्द्रियोंकी क्रिया है, अतः अन्तःकरणका परिणामरूप भक्ति नहीं सिद्ध होती। कोई-कोई भक्तिको स्नेह कहते हैं परन्तु स्नेह इच्छाविशेष ही है और उससे भिन्न स्नेह शब्दका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। तथा कोई भक्तिको रसरूप मानकर स्वतन्त्र रस न कहते हुए शृंगाररसमें उसका अन्तर्भाव करके केवल प्राकृत शृंगाररस कहते हैं। अब इन सब मतोंका आलोचन करके यह दिखलाना आवश्यक है कि भक्तिको रस कहनेवाले ग्रन्थकार उसे किस प्रकार रस कहते हैं। सर्व फलकी इच्छा छोड़कर परमात्मामें मन लगाना[3], ऐसा भक्ति शब्दका अर्थ गोपालतापिनीय उपनिषद्में मिलता है। इसीका नारदपाञ्चरात्रमें स्नेहशब्दसे व्यवहार किया है[4]। शाण्डिल्य-ने इसीका परानुरक्तिशब्दसे व्यवहार किया है[5]। स्नेहके पर्याय-वाची शब्द ग्रन्थोंमें अनुराग, प्रेम आदि मिलते हैं। अतः स्नेहको इच्छाविशेष कहना अनुचित है। मरे हुए लड़केके प्रति स्नेह होता है परन्तु इच्छा नहीं होती, क्योंकि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

१. भ० भ० र० १। ९।

२. बृ० १। ४। ७ तथा १५। छां० उ० ७। २५। २

३. भक्तिरस्य भजनम्, एतदिहामुत्रोपाधिनैराश्ये नामुष्मन्मनःकल्पनम्। (गो० पू० उ०)

४. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

५. सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शां० भ० सू० २)

'मृतं पुत्रं स्निह्यामि न त्विच्छामि तस्य प्राप्तेरशक्यत्वात्'

इस प्रकारके अनुभवसे देखा जाय तो स्नेहको इच्छाविशेष कहना सर्वथा अनुचित है। नैयायिकोंको तथा वैशेषिकोंको छोड़कर सब चित्तको देहके परिणामानुरूप मानते हैं, एवञ्च चित्तका स्थायी परिणाम होनेमें कुछ आपत्ति नहीं है, उसी स्थायीभावका ग्रन्थोंमें अनेक शब्दोंसे व्यवहार होता है[1]। भक्तिको ज्ञानविशेष कहना भी उपर्युक्त 'अधुना मृतं पुत्रं न जानामि परन्तु स्निह्यामि (इस समय मृत पुत्रको नहीं जानता परन्तु प्रेम तो करता हूँ) इत्यादि' अनुभवसे अनुचित प्रतीत होता है। भक्तिको केवल प्राकृत शृंगाररस कहना भी अनुचित है। क्योंकि शृंगाररस प्राकृत स्त्रीपुरुषसम्बन्धी होता है। उसके आलम्बन नायक तथा नायिका माने जाते हैं। परन्तु अवैध भक्तिके वर्णनोंमें स्त्रियोंके समान पुरुष भी सुने जाते हैं[2]। एवञ्च भक्तिको केवल प्राकृत शृंगाररस कहना ठीक नहीं है। चित्तकी द्रुति-अवस्थामें प्रतिबिम्बित वस्तुके आकारको स्थायीभाव कहते हैं तथा विभावादिके दर्शनसे उसीका रसरूपसे प्रकट होना ही रस है। उस रसको कोई नवरसोंसे अतिरिक्त मानते हैं। कोई परमात्मविषयक नवरसोंमेंसे प्रत्येकको भक्ति कहते हैं तथा कोई सम्मिलित नवरसोंको परमात्मविषयक भक्ति कहते हैं[3]।

कीर्तनादि क्रियाओंमेंसे भक्ति शब्दका प्रयोग गौण है। अथवा भक्तिशब्दके दो वाच्यार्थ हैं। एक तो जैसे ऊपर कहा है और दूसरा भज्यते अनया इति भक्तिः ऐसे व्युत्पत्तिसे पूर्वोक्त भक्तिके साधन जो कीर्तनादि हैं वे भी भक्ति कहे जाते हैं[4]। अस्तु।

रसशब्दसे रसशास्त्रवेत्ताओंकी दृष्टिसे परमात्मा ही विवक्षित हैं। क्योंकि 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० उ० २ । ७) इत्यादि श्रुतिमें स्पष्टरूपसे रसशब्दका

१. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना । इत्यादि भ० र० १ । ६
२. भागवत ७ । १ । ३०
३. भ० र० १ तथा मुक्ताफल अध्याय एकादशकी टीका देखिये ।
४. देखिये भक्तिरसायन पृ० ८

प्रकट होता है, वही रस है[1]। भक्तिको गुणरूप माननेवाले लोग परमात्माका आराध्यरूपसे ज्ञान अथवा श्रवणादि इन्द्रियोंसे परमात्मविषयक विशेष ज्ञान अथवा छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि[2] उपनिषदोंमें बतायी हुई विविध प्रकारकी उपासना या ईश्वर-विषयक इच्छाविशेषको भक्ति कहते हैं। ऐसी स्थितिमें ज्ञानविशेष या इच्छाविशेषको भक्ति कहनेसे ज्ञानका तथा इच्छाका क्षणिक स्वभाव रहनेके कारण तथा मनका अणुरूप होनेसे अन्तःकरण-परिणामरूप स्थायीभाव सिद्ध ही नहीं होता है।

भक्तिको क्रियारूप माननेवालोंके कीर्तन, नामोच्चारणादि तो इन्द्रियोंकी क्रिया है, अतः अन्तःकरणका परिणामरूप भक्ति नहीं सिद्ध होती। कोई-कोई भक्तिको स्नेह कहते हैं परन्तु स्नेह इच्छाविशेष ही है और उससे भिन्न स्नेह शब्दका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। तथा कोई भक्तिको रसरूप मानकर स्वतन्त्र रस न कहते हुए शृंगाररसमें उसका अन्तर्भाव करके केवल प्राकृत शृंगाररस कहते हैं। अब इन सब मतोंका आलोचन करके यह दिखलाना आवश्यक है कि भक्तिको रस कहनेवाले ग्रन्थकार उसे किस प्रकार रस कहते हैं। सर्व फलकी इच्छा छोड़कर परमात्मामें मन लगाना[3], ऐसा भक्ति शब्दका अर्थ गोपालतापिनीय उपनिषद्में मिलता है। इसीका नारदपाञ्चरात्रमें स्नेहशब्दसे व्यवहार किया है[4]। शाण्डिल्य-ने इसीका परानुरक्तिशब्दसे व्यवहार किया है[5]। स्नेहके पर्याय-वाची शब्द ग्रन्थोंमें अनुराग, प्रेम आदि मिलते हैं। अतः स्नेहको इच्छाविशेष कहना अनुचित है। मरे हुए लड़केके प्रति स्नेह होता है परन्तु इच्छा नहीं होती, क्योंकि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

---

१. भ० भ० र० १। ९।

२. बृ० १। ४। ७ तथा १५। छां० उ० ७। २५। २

३. भक्तिरस्य भजनम्, एतदिहामुत्रोपाधिनैराश्ये नामुष्मन्मनःकल्पनम्। (गो० पू० उ०)

४. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

५. सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शां० भ० सू० २)

'मृतं पुत्रं स्निह्यामि न त्विच्छामि तस्य प्राप्तेरशक्यत्वात्'

इस प्रकारके अनुभवसे देखा जाय तो स्नेहको इच्छाविशेष कहना सर्वथा अनुचित है। नैयायिकोंको तथा वैशेषिकोंको छोड़कर सब चित्तको देहके परिणामानुरूप मानते हैं, एवञ्च चित्तका स्थायी परिणाम होनेमें कुछ आपत्ति नहीं है, उसी स्थायीभावका ग्रन्थोंमें अनेक शब्दोंसे व्यवहार होता है[1]। भक्तिको ज्ञानविशेष कहना भी उपर्युक्त 'अधुना मृतं पुत्रं न जानामि परन्तु स्निह्यामि (इस समय मृत पुत्रको नहीं जानता परन्तु प्रेम तो करता हूँ) इत्यादि' अनुभवसे अनुचित प्रतीत होता है। भक्तिको केवल प्राकृत शृंगाररस कहना भी अनुचित है। क्योंकि शृंगाररस प्राकृत स्त्रीपुरुषसम्बन्धी होता है। उसके आलम्बन नायक तथा नायिका माने जाते हैं। परन्तु अवैध भक्तिके वर्णनोंमें स्त्रियोंके समान पुरुष भी सुने जाते हैं[2]। एवञ्च भक्तिको केवल प्राकृत शृंगाररस कहना ठीक नहीं है। चित्तकी द्रुति-अवस्थामें प्रतिविम्बित वस्तुके आकारको स्थायीभाव कहते हैं तथा विभावादिके दर्शनसे उसीका रसरूपसे प्रकट होना ही रस है। उस रसको कोई नवरसोंसे अतिरिक्त मानते हैं। कोई परमात्मविषयक नवरसोंमेंसे प्रत्येकको भक्ति कहते हैं तथा कोई सम्मिलित नवरसोंको परमात्मविषयक भक्ति कहते हैं[3]।

कीर्तनादि क्रियाओंमेंसे भक्ति शब्दका प्रयोग गौण है। अथवा भक्तिशब्दके दो वाच्यार्थ हैं। एक तो जैसे ऊपर कहा है और दूसरा भज्यते अनया इति भक्तिः ऐसे व्युत्पत्तिसे पूर्वोक्त भक्तिके साधन जो कीर्तनादि हैं वे भी भक्ति कहे जाते हैं[4]। अस्तु।

रसशब्दसे रसशास्त्रवेत्ताओंकी दृष्टिसे परमात्मा ही विवक्षित हैं। क्योंकि 'रसो वै सः रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० उ० २ । ७) इत्यादि श्रुतिमें स्पष्टरूपसे रसशब्दका

१. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना। इत्यादि भ० र० १ । ६
२. भागवत ७ । १ । ३०
३. भ० र० १ तथा मुक्ताफल अध्याय एकादशकी टीका देखिये।
४. देखिये भक्तिरसायन पृ० ८

अर्थ परमात्मा ही मिलता है। इस श्रुतिका अर्थ यह है—(सः) वह परमात्मा (वै) निश्चयसे (रसः) रसरूप हैं (हि) जिसलिये (अयं) थोड़े आनन्दवाला जीव (रसं) रसरूप परमात्माको (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (आनन्दी भवति) श्रेष्ठ आनन्दयुक्त होता है। इस रसरूप परमात्माका किञ्चिन्मात्र अनुभव लीलादिमें अन्तःकरणकी सत्त्ववृत्ति उदित होकर आवरणके छिप जानेसे प्रत्यक्ष होता है। तथा अनुमान और आगमसे भी ज्ञान होता है[1]। भक्तिरसको कोई कार्य, कोई ज्ञाप्य, कोई भोग्य कहते हैं। अस्तु।

भक्तितत्त्वके अनेक भेदोंका विचार

गोपालपूर्वतापिनीय तथा शाण्डिल्यसूत्रमें जो भक्तिका लक्षण पहले दिखलाया है उसीका परिष्कृतरूपसे स्वरूप भक्तिरसायनमें देखा जाता है। उसमें लिखा है कि भगवत्सम्बन्धी धर्म सुनकर द्रवीभूत चित्तकी परमात्मविषयक धारावाहिनी वृत्ति ही भक्ति है[2]। श्रीमद्व्यासजीने श्रीमद्भागवतमें कपिलदेवजीके मुखसे ऐसे ही लक्षणका सुन्दर स्वरूप दृष्टान्तपूर्वक दिखलाया है 'मेरे गुणोंको सुनकर सबके हृदयमें विराजमान परमात्मामें, समुद्रमें गङ्गाजीकी भाँति जो मनकी अखण्ड वृत्ति है वही निर्गुण भक्ति है'[3]। ऐसी ही भक्ति परमात्माको आकृष्ट करती है। एकादशमें परमात्माने उद्धवजीसे कहा है-हे उद्धव ! मुझे सांख्य, योग, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग नहीं आकृष्ट करते, केवल एक भक्ति ही आकृष्ट करती है[4]। साधारणतः भक्तिके दो भेद हैं–साध्यभक्ति तथा साधनभक्ति। इन्हीं दो भेदोंके अनेक ग्रन्थमें विविध भेद मिलते हैं। उन सब भेदोंका नाममात्रसे किञ्चित्स्वरूप दिखलाते हुए मुख्यतया एक साध्यभक्ति तथा साधनभक्तिके नौ भेदोंका वर्णन करनेका हमारा

---

१. भक्तिरसा० १। १२ तथा इस श्लोककी टीका देखिये।
२. भक्तिरसा० १। ३
३. भा० ३। २९
४. भा० ११। १४। २०

विचार है। हरिभक्तिरसामृतसिन्धुमें साधन, भाव तथा प्रेम ये तीन भेद तथा और भी बहुत-से अन्य भेद मिलते हैं[1]। कहीं-कहीं अधिकारि-भेदसे भक्तिके ज्ञानकर्ममिश्रा, कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और शुद्धा इस प्रकारसे चार भेद उपलब्ध होते हैं, उनमें पहले भेदमें वानप्रस्थ, दूसरेमें गृहस्थ, तीसरेमें भिक्षु और चौथेमें सभी अधिकारी हैं। उक्त भक्तियोंमेंसे कर्ममिश्रामें नित्य-नैमित्तिक कर्मफलको परमात्मामें समर्पण करना ही मुख्य है। शुद्धाभक्तिमें परमात्माको प्रियकर जो दासत्वादि भाव हैं, उनमेंसे अपने संस्कारानुरूप किसी भावको स्वीकार करते हुए श्रवणादिकोंका अनुष्ठान किया जाता है। अन्य भक्तियोंमें यथासाध्य दोनोंका अनुष्ठान किया जाता है।

श्रीबोपदेवजीने अपने मुक्ताफल ग्रन्थमें विहित और अविहित भेदसे भक्तिके दो भेद किये हैं। विहितके कर्ममिश्रादि भेदोंसे अनेक भेद दिखाकर सात्त्विकादि भेदसे चौदह भेद किये हैं। तथा अविहित भक्तिके कामजा, भयजा, द्वेषजा और स्नेहजा इस प्रकार चार भेद बतलाये हैं। इस प्रकार सब मिलाकर भक्तिके अठारह भेद किये हैं[2]। नारदसूत्रोंमें 'गुणमाहात्म्यासक्तिः' इत्यादि ग्यारह भेद मिलते हैं[3]। अस्तु। साध्यभक्तिका स्वरूप नारदजीने 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा' अर्थात् परमेश्वरमें परम प्रेम करना इस प्रकार बताया है। यह भक्ति जिसको प्राप्त होती है उसका कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता है। वह कुछ भी नहीं चाहता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न विषय-भोगमें उत्साह रखता है, न क्रीड़ा करता है, केवल मत्त, स्तब्ध, आत्माराम, सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है[4]। सब कर्मोंको छोड़कर परमात्माकी शरण गया हुआ व्यक्ति देव, ऋषि, भूत, मनुष्य और पितरोंका ऋणी नहीं रहता[5]। ऐसा भक्त

१. देखिये पूर्वभाग प्रथम लहरी।
२. मुक्ताफल ५ वाँ अध्याय देखिये।
३. नारदभ० ८२
४. देखिये ना० भ० सूत्र ४।५
५. भा० ११।५।४१

कहीं-कहीं परमात्माकी चिन्तासे रोता है, आनन्दज अश्रुओंको बहाता है, हँसता है, आनन्दित होता है, लौकिक व्यवहारसे बाहर हो जाता है, नाचता है, गाता है, परमात्माका सर्वदा अनुशीलन करता हुआ अत्यन्त सुखी होकर चुप हो जाता है[1]।

साधनभक्तिका स्वरूप-वर्णन

साधनभक्तिका लक्षण--'कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा[2]' इस प्रकारका लक्षण भक्तिरसामृतसिन्धुमें मिलता है। इस लक्षणका अभिप्राय यह है कि जिस भक्तिका प्रेमादिरूप भाव साध्य है और जो इन्द्रियोंसे—प्रयत्नोंसे स्वयं साध्य है वह साधनभक्ति है, इस भक्तिके विष्णुपुराणमें श्रवणादि नौ भेद कहे गये हैं[3]। ग्रन्थोंमें श्रवणादिकोंके लक्षण अनेक प्रकारके मिलते हैं, वस्तुतः वे सब भिन्न-भिन्न अर्थके बोधक नहीं हैं, सभीका तात्पर्य एक ही है इसलिये यहाँ हम सभीका तात्पर्य लेकर उनका स्वरूप दिखलाते हैं।

श्रवणादिकोंका वर्णन

सगुण अथवा निर्गुण परमात्माके नाम, स्वरूप तथा पराक्रमके बोधक शब्दोंका दूसरोंके किये हुए उच्चारणोंको ठीक-ठीक रीतिसे अर्थानुसंधानपूर्वक सुनना श्रवण कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रवणकविधायक वचन 'परमात्माकी सन्निधिमें पार्षदरूपसे रहनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको परमात्माके अनेक गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ सुननी चाहिये[4]। इत्यादि अर्थके बोधक वचन बहुत जगह मिलते हैं। परमात्माके गुणोंको सुनना ही कर्णोंका मुख्य फल है[5]। केवल श्रवण करनेसे ही परीक्षित मुक्त हुआ। परीक्षितने स्वयं कहा है 'ब्राह्मणका भेजा हुआ साँप आकर मुझे डँसे इसकी मुझे कुछ चिन्ता नहीं है, तुम विष्णुगाथाका गायन करो', (मैं सुनता हूँ।)[6] आपने मेरे ऊपर दया करके अनादि निधन हरिकी

१. भा० ११। ३। ३२

२. भक्तिरसामृत० पूर्वभाग द्वितीय लहरी १

३. विष्णुपुराण अं० ३

४. भा० १। १८। १०

५. भा० ३। ३

६. भा० १। १९। १५

पुण्यकथाएँ मुझे सुनायीं इससे मैं सिद्ध हो गया हूँ[1]। यह श्रवण भक्तोंके मुखसे निकले हुए शब्द हैं इसलिये इनका महत्त्व अधिक है अतएव भागवतमें स्थल-स्थलपर—'सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्' 'महत्तमात्र हृदयान्मुखच्युतः' 'स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युत' महन्-सत् दिये गये इत्यादि विशेषण संगत होते हैं। कीर्तनशब्दसे परमात्माके स्वरूप और चरित्रके बोधक शब्दोंका तथा नामोंका जोरसे उच्चारण करना अभिप्रेत है। वही कीर्तन-वाद्योंके साथ अनेक लोग मिलकर यदि ताल-लयके साथ करें तो वह संकीर्तन कहलाता है। अतएव भागवतमें संकीर्तनशब्दका भी प्रयोग—'श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः', 'यत्र संकीर्तनेनैव', 'यज्ञैः संकीर्तनप्रायैः' इत्यादि अनेकों स्थलोंपर उपलब्ध होता है। कीर्तन जोरसे शब्दोच्चारण करनेसे ही होता है, उपांशुतया करनेसे वह जप हो जाता है। इसी अभिप्रायसे 'गायन् विलज्जः', 'विलज्ज उद्गायति', 'नामान्यनन्तस्य हतत्रयः पठन्' इत्यादि बहुत स्थलोंमें विलज्ज आदि विशेषण कीर्तनकारके लिये दिये हैं। कीर्तनसे मनुष्य कृतार्थ होता है, पुराणोंमें यह स्पष्टतया मिलता है[2]। शुक, नारद आदि परमात्माके कीर्तनसे कृतकृत्य हो गये।

नामतत्त्वविचार

इस कीर्तनमें परमात्माके नामोंका भी कीर्तन आता है। अतएव यहाँपर नामतत्त्वके विषयमें संक्षेपसे विचार करना अनुचित न होगा। 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्में विद्यमान सभी पदार्थ परमात्मरूप ही हैं। उन पदार्थोंमें दो भेद हैं—एक वाच्य अर्थात् अर्थरूप और दूसरा वाचक अर्थात् शब्दरूप। ये सभी शब्द परमात्माके ही

---

१. भा० १२। ६। २

२. तस्माद्गोविन्दमाहात्म्यमानन्दरससुन्दरम्।
श‍ृणुयात्कीर्तयेन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः॥
तथा—एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो भयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥ (भाग० २। १। ११)
तथा—भागवत १। ५। २२, ५। २५। ११, ११। १२। ४८, १२। १२। ५०

साक्षात् या परम्परासे बोधक होते हैं क्योंकि सभी पदार्थोंके रूपसे परमात्मा ही विद्यमान है। इसी अभिप्रायसे 'सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति' ऐसा यजुर्वेदमें लिखा है। इस प्रकारका वर्णन विष्णुपुराणमें भी मिलता है। अतएव नाममाहात्म्यप्रतिपादक ग्रन्थोंमें नाम परमात्माके स्वरूप ही कहे गये हैं और यह कथन सर्वथा समुचित है। जैसे परमात्मा जगत्में अन्य अनेक रूपोंसे विराजमान है वैसे ही वह नामरूपसे भी विराजमान है। नाम-माहात्म्यबोधक वचनोंका विचार करनेसे तो यह स्पष्ट मालूम होता है। 'नाम' भी परमात्माका एक अवतार है; क्योंकि जगत्-की रक्षा करना आदि परमात्माके सभी कार्य नाम करता है[1]। परमात्माके अवतारोंकी तथा अवतारस्वरूपोंकी इयत्ता नहीं है। भक्तोंका जिस प्रकार कल्याण होगा उसी प्रकार परमात्मा अवतार लेकर भक्तोंका संरक्षण करता है। द्रौपदीके लिये कौरवोंकी सभा-में परमात्मा वस्त्ररूप बने। समुद्रमन्थनके समयमें परमात्मा पर्वत धारण करनेके लिये कछुवेके रूपमें आविर्भूत हुए, तथा पृथ्वीको जलसे बाहर निकालनेके लिये वाराहरूप बने। परमात्माके अव-तारोंका वर्णन तथा 'ॐ' यह शब्द भी ब्रह्मका अत्यन्त समीप नाम है, इसका उच्चारण भी संसारभयसे रक्षण करता है। ऐसा श्रुतिमें स्पष्ट मिलता है[2]। नाम और नामीका अभेद होनेसे नामीके सब कार्य नाम करता है जो सर्वथा उचित ही है। व्यवहारमें भी नाम लेकर गाली देनेसे या स्तुति करनेसे नामीको दुःख तथा सुखकी प्राप्ति होनी दिखायी देती है। इसी अभिप्रायसे 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' ऐसा रामनामका माहात्म्य मिलता है। श्रीजीव गोस्वामीजीने तो नामके ही वाच्य और वाचक रूपसे दो भेद माने हैं। उनमें भी वाच्य परमात्माकी अपेक्षा वाचक नाम ही परम करुण है ऐसा लिखा है[3]। सात्वततन्त्रमें

---

१. नारदपाञ्चरात्र तथा पद्मपुराण।

२. ओमित्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम यस्मादुच्चार्यमाण एव संसार-भयात्तारयति।

३. वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम स्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे ॥

भी परमात्माके प्रति किये गये अपराधोंको नामोच्चारण ही हटाता है परन्तु नामापराधको हटानेकी सामर्थ्य भी नामजपमें ही है ऐसा स्पष्टरूपसे मिलता है[1]। केवल नामोच्चारण करनेसे नाम ही स्वयं पापका नाश तथा पुण्योत्पादन करते हुए वैराग्य, भक्ति, तत्त्वज्ञान एवं परमात्मस्वरूपस्थिति प्रदान करता है[2]। अस्तु। परमात्माके नाम, रूप, पराक्रमोंकी तथा भक्तोंके चरित्रोंकी स्मृतिको ही स्मरण कहते हैं। सब विषयोंसे खींचकर परमात्मामें मनकी स्थापना करना इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें उसीका ऐसा स्वरूप मिलता है[3]। रागानुरागी भक्तिमें स्मरण ही मुख्य है। स्मरणका फल श्रीमद्भागवतमें इस प्रकारका मिलता है—श्रीकृष्णचन्द्र-चरणारविन्दकी स्मृति पापोंको हटाकर कल्याण और पुण्य उत्पन्न करती है और चित्तको शुद्ध करके भक्तिको और विज्ञान—वैराग्ययुक्त ज्ञानको देती है[4]। स्मरण-भक्तिसे ही प्रह्लाद आदि भक्त कृतार्थ हुए थे।

स्मरणादिनिरूपण

पादसेवाशब्दसे श्रीपरमात्माके प्रतिमादिकी पादसेवा अथवा परमात्माके मन्दिर, तीर्थ-क्षेत्र इत्यादि पवित्र स्थानोंका सेवागमनादि तथा परमेश्वर-स्वरूप गुरुकी भी पादसेवा यह अर्थ विवक्षित है। सम्पूर्ण पातकोंका नाश इत्यादि पादसेवाका फल है[5]। पादसेवनभक्ति करके श्रीलक्ष्मी प्रभृति कृतकृत्य हैं।

अर्चनशब्दसे यह अर्थ विवक्षित है कि विधिपूर्वक प्रतिमादिकोंमें आवाहनादि अनेक उपचारोंका पूजापराधरहित समर्पण करना[6]।

---

१. सात्वततन्त्र सप्तम पटल श्लोक ४६-४७

२. विष्णोर्नामैव पुंसः शमलमपनुदत्पुण्यमुत्पादयच्च
ब्रह्मादिस्थानभोगाद्विरतिमयगुरुश्रीपदद्वन्द्वभक्तिम् ।
तत्त्वज्ञानं च विष्णोरिह मृतिजननभ्रान्तिबीजं च दग्ध्वा
पूर्णानन्दैकबोधे महति च पुरुषं स्थापयित्वा निवृत्तम् ॥
तथा—सात्वततन्त्र सप्तम पटल १४-१५

३. भा० ११ । १३ । १४

४. भा० १२ । १२ । ५४

५. अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादः स्मरणं मुरारेः ।

६. अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् । (पाञ्चरात्रे)

गृहस्थके लिये पूजन यह भगवत्प्राप्तिका उत्तम साधन है[1]। भक्त पूजा करनेसे परमात्माके नित्य आनन्दको प्राप्त करता है यह विष्णु-धर्मोत्तरमें स्पष्टरूपसे कहा है[2]। पृथु राजाने परमात्माकी पूजा-भक्ति करके कृतकृत्यता प्राप्त की थी।

वन्दनशब्दसे पूजनसे भिन्न कालमें गुरु, शालग्रामादि प्रतिमा, यमुनादि नदी, मथुरादि क्षेत्रोंका साष्टाङ्ग प्रणाम विवक्षित है। नमस्कार करनेसे अमंगलनाश तथा मुक्ति प्राप्त होती है[3]। वन्दनभक्ति श्रीअक्रूरजीने की थी। दास्य-शब्दसे यह भावना विवक्षित है कि परमेश्वरका मैं दास हूँ और अपना सर्वस्व परमेश्वरमें अर्पण करता हूँ।

दास्यभक्ति करनेवालोंको सभी फल मिलते हैं[4]। परमात्माके दास दुर्जय मायाको भी जीतते हैं[5]। दास्यभक्ति हनुमत्प्रभृतियोंने की थी।

सख्यशब्दसे विश्वासपूर्वक मित्रवृत्ति विवक्षित है। परमात्मामें सख्यभक्ति करनेसे परमात्माके समान परमैश्वर्यकी प्राप्ति होती है यह सुदामाचरित्रसे स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है। ब्रह्माने भी गोपालादिका परमात्माके साथ सख्य देखकर स्तुति की है[6]। अर्जुन-प्रभृति सख्यभक्तिसे ही कृतार्थ हुए।

आत्मनिवेदनशब्दसे देहादि आत्मपर्यन्त पदार्थोंका सब प्रकारसे परमात्मामें समर्पण करना विवक्षित है। सर्वस्व परमात्माके अर्पण करनेपर देहादिके पालन करनेकी चिन्ता भी नहीं रहती है[7]।

---

१. अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धया सवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥ (सिद्धान्तदर्पण)

२. श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥ (विष्णुध०पु०)

३. भा० १०। ३८। ६

४. भा० ९। ५। १६

५. भा० ११। ६। ४६

६. भा० १०। १४। ३२

७. चिन्तां न कुर्याद्रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात्॥ (भक्तिविवेक)

तथा तन्निमित्तक अहंकारादि उत्पन्न नहीं होते हैं। आत्मनिवेदन करनेवाला भक्त सर्वथैव कृतार्थ होता है[1]। इस प्रकारसे नवविध भक्ति करनेसे परमात्मामें परम प्रेमरूप साध्यभक्ति सिद्ध होती है। परमात्मप्रेमरूप साध्यभक्तिकी प्राप्तिके लिये इन नव साधनोंका अवश्य अनुष्ठान करना भक्तोंके लिये आवश्यक नहीं। अपनी योग्यताके अनुरूप इनमेंसे एक भी साधनका ठीक-ठीक अनुष्ठान होनेसे मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है[2]। श्रवणादि साधनभक्तिकी प्राप्ति सत्सङ्गसे होती है। सत्सङ्गपदसे भक्तोंका सङ्ग विवक्षित है और सत्सङ्ग भी पूर्व सुकृतसे ही होता है, यह बात नारद-पाञ्चरात्रमें स्पष्टरूपसे कही गयी है[3]। अस्तु।

भगवान्‌की लीलाओंका श्रवण-स्मरण करनेका फल तथा कुछ लीलाओंका विचार।

परमात्माकी लीलाओंका स्मरण और श्रवण करनेसे परमात्माकी सत्ता हृदयमें प्रकट होकर दुष्ट वासनाओंको हटाती है[4]। परमात्माकी कथाएँ सुननेवाले रसज्ञोंको हर एक पदमें माधुर्य प्राप्त होता है[5]। परमात्माके रुचिर चरित्रको सुननेवाला तथा कहनेवाला मनुष्य पराभक्तिको प्राप्त करता है। अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको पार करनेके लिये परमात्माकी लीलामृतकथाका सेवन करनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं है[6]। लीलाओंका श्रवण करनेसे तथा मनन करनेसे चित्त विषयोंकी ओरसे हटकर परमात्माकी ओर जाने लगता है। जैसे-जैसे परमात्माके पुण्यचरित्रोंका श्रवण और प्रतिपादन होता है वैसे-वैसे सूक्ष्म वस्तु परमात्मा-

---

१. गीता ३ । १७

२. शा० सू० ६३

३. देखिये, नारदपाञ्चरात्र—

अन्यया भगवद्भक्तिर्भक्तसङ्गेन जायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्वसञ्चितैः॥

४. भा० १ । २ । १७

५. भा० १ । १ । १९

६. भा० १२ । ४ । ४०

७. 'अणोरणीयान्' इति श्रुतेः ।

का ज्ञान होता है[1]। जैसे विषयोंकी ओर लगानेसे चित्त विषयोंमें लीन होता है वैसे परमात्माकी ओर लगानेसे चित्त परमात्मामें लीन होता है[2]। और परमात्माकी प्रेमरूप परमानन्दकी प्राप्ति होने लगती है। सभी अनुष्ठानोंका मुख्य फल यही बतलाया गया है कि श्रीकृष्णमें भक्ति हो, यदि भक्ति नहीं हो तो वह केवल तुषाभिघात (भूसी कूटने) के समान कष्टमात्र है[3]। इस प्रकार भगवान्की लीलाओंके श्रवण, अध्ययन तथा मनन करनेका बहुत बड़ा माहात्म्य है। परन्तु जब अपक्व-बुद्धि मनुष्य परमात्माकी लीलाओंका श्रवण या पाठ करता है तो आरम्भमें उसके मनमें अनेक शंकाएँ आती हैं, यथा परमात्मा भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाएँ क्यों करता है? क्या लीलाओंका जो वर्णन मिलता है वह सत्य ही है? क्या उसमें कोई भी अंश व्यर्थ नहीं है? नागलीलामें नागपत्नियोंने परमात्माकी मनुष्य-वाणीसे जो स्तुति की है वह क्या सत्य है? क्या सर्प कभी मनुष्य-वाणीसे बोलते हैं? परमात्मा इतने महान् एवं सम्मानित होकर क्या गौओंको चराते थे? परमात्माको गौएँ चरानेकी क्या आवश्यकता थी? परमात्माके चरित्रमें अधिकतर यही सुननेमें आता है कि परमात्माने अमुक असुरको मारा, अमुक असुरका विनाश किया आदि। तब क्या असुरसृष्टिका नाश करना ही परमात्माका लक्ष्य था? क्योंकि उनके हाथसे जो मारे जाते हैं उनको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं। प्रायः यह भी वर्णन मिलता है कि देवताओंने आकर परमात्माकी स्तुति की। क्या देवता कलिके प्रारम्भतक इस सृष्टिपर आते थे, अब बिलकुल उनका आना बन्द हो गया? मालूम होता है कि यह देवताओंके आने-जानेकी बातें सब श्रीकृष्णका महत्त्व दिखानेके लिये झूठी ही लिखी गयी हैं। भूगोलका वर्णन देखिये; यह तो प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेवाले वर्णनोंसे बिलकुल नहीं मिलता। यदि ऐसी प्रत्यक्षविरुद्ध बातें भागवतमें मिलती हैं तो अप्रत्यक्ष बातोंपर कैसे विश्वास किया जाय? विषमिश्रित अन्नके समान

---

१. भा० ११।१४।२६

२. भा० ११।१४।२७

३. भा० १०।१४।४

भागवत भी सर्वथा त्याज्य है। भागवतका कुछ भी अंश उपादेय नहीं है। यद्यपि भूगोलविषयक शंकाका विचार बहिरंग निरीक्षणमें ही करना आवश्यक था तो भी वह स्तुतिके साथ कुछ सम्बन्ध रखता है इसलिये लीलाओंके विचारके साथ उसका भी विचार करते हैं।

पहली शंका परमात्माके भिन्न-भिन्न लीलाओंके विषयमें है। भक्तगण मेरा चरित्र सुनें और उसके द्वारा अपना उद्धार करें—इस अभिप्रायसे[1] जब परमात्मा लीलाएँ करते हैं तब एक ही प्रकारकी लीला उन्हें शोभा नहीं देती क्योंकि अनेक बुद्धिवाले तथा विभिन्न रसमें प्रेम रखनेवाले भक्त होते हैं। उन सभीका चित्त परमात्मामें आकृष्ट हो इसलिये परमात्माकी भिन्न-भिन्न अनेकों लीलाएँ अपेक्षित हैं। पूर्णावतारका वस्तुतः स्वरूप यही है कि इस अवतारमें परमात्मा सभी प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रजीका चरित्र अनेकों प्रकारका है इसलिये सभी तरहके भक्त उनके चरित्रोंको प्रेमसे सुनते हैं तथा अपना-अपना उद्धार कर लेते हैं। परमात्माका चरित्र अनेक रससे पूर्ण है तथा उनके अनेक भक्त भी अपने अभीष्ट विभिन्न रसोंमें प्रेम रखते हुए अन्तःकरणको परमात्माके प्रेममें लीन कर देते हैं[2]। यदि परमात्मा भक्तोंके उद्धारार्थ अनेक लीलाएँ करते हैं तथा स्वयं अचिन्त्य शक्तिशाली हैं, ऐसी अवस्थामें हमारी दृष्टिसे भगवल्लीलाओंमें कुछ असम्भव-सा भी वर्णन मिले, तो उसे असत्य माननेका क्या कारण है? यदि परमात्माके चरित्रमें कुछ भी वैचित्र्य न हो तो साधारण चरित्रवाले पुरुषके परमात्मत्वमें प्रमाण ही क्या हो सकता है? वह मनुष्यका चरित्र समझा जायगा और भक्तोंका अन्तःकरण उस चरित्रको सुननेके लिये सर्वदा आकृष्ट न होगा तथा उनका परमात्मामें चित्त सर्वदा नहीं स्थिर रह सकेगा। भक्तोंका चित्त आकृष्ट हो इस अभिप्रायसे ही परमात्मा अपने चरित्रमें मनुष्योंकी दृष्टिसे कुछ अद्भुतता एवं असम्भावनीयता अवश्य ही रखते हैं।

अब परमात्माके गौएँ चरानेका विचार करते हैं-क्या गौओंको

१. भा० १।८।३५-३६

२. देखिये बोपदेवरचित मुक्ताफल अ० ११

चरानेसे परमात्माका बड़प्पन नष्ट होता है ? गौएँ तो उस समयकी बहुत बड़ी सम्पत्ति थीं। जहाँ-तहाँ वैदिक स्तुतियोंमें भी गाय और बैलका वर्णन आता है[1]। महाभारतमें भी कौरवोंका विराटनगरमें 'उत्तरगोग्रहण' प्रसिद्ध है। उस समय सर्वत्र यज्ञादिकोंकी दक्षिणामें गौ देनेकी ही प्रथा प्रचलित थी[2]। यदि कहें 'गौएँ उस समयकी सम्पत्ति भले ही रही हों, परन्तु परमात्मा दरिद्रोंके समान स्वयं ही क्यों उन्हें जंगलोंमें चराते फिरते थे ? क्या यह काम नौकरोंसे नहीं हो सकता था ?' इन प्रश्नोंका उत्तर भी प्रायः दिया हुआ-सा ही है। परमात्मा जब अनन्त भक्तोंके उद्धारके लिये लीलाएँ करते हैं तब वह कार्य जिस प्रकारसे हो वही करना उनको इष्ट है। यदि परमात्मा अरण्यमें गौओंको नहीं चराते तो सर्वदा उनके विरुद्ध भक्ति करनेवाले राक्षसोंका उद्धार कैसे होता ? और यदि वे जंगलमें बाललीलाएँ नहीं करते तो बाललीलाको ही प्रेमसे चाहनेवाले भक्तोंका चित्त कैसे उनपर आकृष्ट होता ?

अब इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है कि क्या परमात्मा सर्वथा असुर-सृष्टिके नाशके लिये ही अवतीर्ण हुए थे ? वे असुर कौन थे ? क्या वे मायावी थे ?

असुर कौन थे ?

असुरोंके अनेक चरित्रोंका आलोचन करनेसे यह मालूम होता है कि असुरजाति स्वतन्त्र रही हो या नहीं, परन्तु ऐसे मनुष्य अवश्य थे जो असुरभावापन्न होनेसे असुर माने जाते थे। कंसादि इसी श्रेणीके असुर थे। ऐसे असुरोंके संसारमें दीर्घकालतक रहनेसे जगत्का बहुत ही अनिष्ट होता है अतएव परमेश्वरको सज्जन-रक्षण-कर्ता और जगत्-पालक होनेके कारण असुरस्वभाववाले कंसादिकोंका नाशरूप कर्म अवश्य करना पड़ा। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन्होंने अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर जगत्का तथा सज्जनोंका नाश करना छोड़ दिया उनको परमात्माने भी बचा दिया।

---

१. तैत्ति० सं० अ० ७ अ० ५ अ० १८

२. 'गोमिथुनं दक्षिणा' आश्व० गृ० सू० अ० १

देवताओंके विषयमें अनेक शंकाओंका संक्षिप्त विचार

अब देवताओंके विषयमें होनेवाली अन्य अनेक शंकाओंपर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। साथ ही यह भी विचारना है कि देवताओंका क्या स्वरूप था ? क्या देवताओंका इस लोकमें स्तुति करनेके लिये आना सत्य है ? क्या कलियुगके प्रारम्भतक ये देवता इस लोकमें आते थे ? क्या इस लोकमें रहनेवालोंका सम्बन्ध अन्य लोकोंके साथ द्वापरयुगतक ही रहा ?

देवता सत्त्वगुणसम्पन्न होते हैं। उनके लोक भी सत्त्वगुणोंसे ही बने हुए रहते हैं। मनुष्योंको भी सत्त्वगुणसम्पन्न होकर उस लोकमें जानेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है। वे कर्म, योग तथा उपासनासे सत्त्वगुण प्राप्त कर सकते हैं। कर्मसे प्राप्त किये हुए सत्त्वगुणका लाभ दूसरे जन्ममें मिलता है। योग और उपासनासे प्राप्त सत्त्वगुणका लाभ इस जन्ममें भी मिल जाता है। भोगसे सत्त्वगुणका नाश हो जाता है। ऐसे सत्त्वगुणका भोग सत्त्वगुणों-से बने हुए लोकोंमें होता है और पुण्य नष्ट हो जानेपर मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेता है[1]।

उपासनासे या योगसे जो सात्त्विक गुण प्राप्त होता है उसके बलसे मनुष्य इसी देहसे स्वर्गादि लोकोंमें जा सकता है[2]। अब भी सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष देवताओंका साक्षात्कार कर सकता है। संतोंके चरित्रोंमें इस बातके अनेकों दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं[3]। अस्तु। ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुण अधिक होनेसे सब कालमें मनुष्य देवतादि लोकोंके साथ सम्बन्ध रख सकता है। और देवताओंको प्रत्यक्ष कर सकता है। देवता तो सर्वदा इस लोकमें आया-जाया करते ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय इस भूलोकमें अवतीर्ण हुए थे उस समय तो सत्त्वगुणका विलक्षण-रूपसे प्रादुर्भाव हुआ था और व्रज तो प्रेमका निवासस्थान बन

१. गीता ९ । २१

२. पातं० यो० ३ । ५१

३. देखिये भक्तमाल, भक्तविजय, संतलीलामृत ।

गया था[1], क्योंकि परमात्मा विशुद्ध सत्त्वगुणका आश्रय लेकर प्रकट हुए थे[2]। ऐसे विशुद्ध सत्त्वगुणवाले परमात्माके पास देवताओंका आकर स्तुति करना मिथ्या नहीं है। अतः परमात्माकी व्यर्थ बड़ाई करनेके लिये यह कल्पित वर्णन नहीं अपि तु सब सत्य ही है।

अब भूगोलके विषयमें जो वर्णन प्रत्यक्षसे विरुद्ध मालूम होता है, उसका विचार करना आवश्यक है। पौराणिक प्रमाण तथा ज्योतिषशास्त्रीय प्रमाणमें कुछ संकेत-भेद होनेसे परस्पर कहीं-कहीं भेद दिखायी पड़ता है। हमलोग जब समुद्रको छोड़कर केवल भूखण्डके परिमाणका ही विचार करते हैं तथा प्राचीन ग्रन्थस्थ जो लवणोद, इक्षुरसादि तथा जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप शब्दोंका अपने मनसे एक विवक्षित अर्थ समझकर उस अर्थकी तुलना करने लगते हैं तब विरोध पैदा होता है। परन्तु पौराणिक संकेतोंका ठीक अर्थ यदि उनकी पद्धतिसे समझकर विचार करेंगे तो बहुत-सा विरोध हट जाता है। इस विषयमें चतुर्धर नीलकण्ठका पौराणिक ज्योतिष-शङ्का-परिहारविषयक ग्रन्थ देखने योग्य है[3]। पौराणिकोंने जो अनेक द्वीपोंकी तथा अनेक लोकोंकी कल्पना की है उनको उनकी पद्धतिसे ही समझना आवश्यक है। वे जिनको गम्य तथा इस देहसे देखने योग्य समझते थे उन लोकोंका ही हमें विचार करना उचित है। उनकी दृष्टिसे विचार करनेसे विरोध नहीं मालूम होता है। जो कुछ परिमाणमें भेद होता है उसका कारण ज्योतिष और पौराणिक परिमाणमें विभिन्न संकेतोंका होना ही है। इस विषयमें अब अधिक न कहकर इसको यहीं समाप्त करते हैं। इस विषयपर स्वतन्त्र निबन्धरूपसे विचार करना आवश्यक है, और समयानुसार वह किया भी जायगा। इस विषयपर प्रकृत ग्रन्थकारने जो-जो विचार किया है वह देखने योग्य है। अस्तु।

---

१. भा० १०।५।१८

२. भा० १०।२।३४

३. यह ग्रन्थ संस्कृत-ब्राह्मणसम्मेलन मासिक पत्रमें छपा।

स्तुति-सम्बन्धी विचार

भागवतस्तुतिसंग्रहमें श्रीमद्भागवतमें विद्यमान प्रायः सभी स्तुतियों और गीतोंका सङ्कलन किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि श्रेष्ठ लोगोंद्वारा की गयी स्तुतियोंमें जैसा परमात्माके अलौकिक तथा अदृश्य स्वरूपका ठीक-ठीक वर्णन उपलब्ध होता है वैसा केवल कथामात्रमें नहीं होता। कथाओंमें केवल परमात्माके अद्भुत स्वरूपका, जो उस समयमें प्राप्त था, वर्णन मिलेगा। परन्तु सृष्टिके प्रारम्भमें तथा गोलोक, वैकुण्ठ और श्वेतद्वीप आदिमें परमात्मा जिस स्वरूपसे रहते हैं उसका वर्णन केवल स्तुतियोंसे ही मिल सकता है। स्तुतियोंमें अनेक दार्शनिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। फिर यह भी बात है कि वैदिक स्तोत्रके समान होनेसे स्तुतियोंका स्वतन्त्र फल रहता है। भागवतमें कहीं-कहीं स्पष्टतया फल लिखा भी है[1]। स्तुतियोंमें परमात्माके अलौकिक गुणोंका जितना अनुवाद मिलता है उतना और जगह नहीं मिलता। परमात्माका गुणानुवाद ही उनमें शुद्ध भक्तिको उत्पन्न करानेवाला है। गुणानुवादसे अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति, वैराग्य तदनन्तर ज्ञान प्राप्त होता है[2]। अस्तु,

श्रीमद्भागवतमें अनेक स्तुतियाँ हैं और वे सब परमात्माके भक्तोंद्वारा की गयी हैं और वे भक्त अन्ततोगत्वा परमात्माकी परा भक्तिको चाहनेवाले हैं।

स्तुतियोंमें प्रयोजन-भेदसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार भेद हो सकते हैं। अब इनका पृथक्-पृथक् विवरण करते हैं।

धर्मपदसे अवश्यकर्तव्य समझा जाता है। यह अवश्यकर्तव्यता दो प्रकारकी होती है—एक विधिविहित स्तुति, यथा यज्ञ करनेवाले ऋषियोंकी स्तुति तथा युद्धरूप वैध कर्तव्य करते हुए वृत्रासुरकी स्तुति। दूसरी उपकारीके दर्शन-प्रसङ्गमें उसकी कृतज्ञतापूर्वक स्तुति, यथा नलकूबर, मणिग्रीवकी स्तुति तथा यज्ञके विध्वंसके अनन्तर दक्षप्रजापतिकी स्तुति। पुनः इन स्तुतियोंके स्वरूपभेदसे अनेक भेद हो सकते हैं।

---

१. भा० १०। ६३। २५। तथा ८। ४। १४ इत्यादि।

२. भा० १२। १२। ५४

अर्थ और कामपदसे सङ्कटोंकी निवृत्ति, पुत्रादिकी प्राप्ति तथा अपराधोंके लिये मिलनेवाले दण्डसे बचना विवक्षित है। सङ्कटसे निवृत्तिका उदाहरण ब्रह्माजीकी वह स्तुति है, जो उन्होंने पृथ्वी-परसे राक्षसोंका भार उठानेके लिये की थी तथा जो स्तुति जरासन्ध-के घरमें बन्दी राजाओंने की थी। पुत्रादिप्राप्तिकी स्तुतिका उदाहरण नन्दजीके द्वारा पूर्वजन्ममें वसु और धरा-अवस्थामें की हुई स्तुति तथा ध्रुवकी ध्रुवलोकप्राप्तिके लिये की गयी स्तुति है। अपराधोंके दण्डसे बचनेके लिये स्तुतियाँ दो प्रकारकी हैं। एक स्वयं की गयी, दूसरी अपने सम्बन्धीद्वारा की गयी। प्रथम स्तुतिका उदाहरण ब्रह्माजीकी वह स्तुति है, जो उन्होंने बछड़ोंके चुरा ले जानेके अनन्तर की थी तथा इन्द्रने परमात्माके गोवर्धन-पर्वत उठानेके पीछे की थी। दूसरी स्तुतिका उदाहरण नागपत्नियोंकी स्तुति तथा भौमा-सुरको दण्ड देनेके अनन्तर भूमिकी स्तुति है।

सङ्कटकी निवृत्तिके निमित्त स्तुतियाँ प्रायः सभी अवतारोंमें पायी जाती हैं। सङ्कटके नाना स्वरूप होनेसे स्तुतियोंके भी अनेक भेद हो जाते हैं।

मोक्षपदसे संसारके आवागमनसे छुटकारा तथा परानन्दकी प्राप्ति विवक्षित है। परानन्दसे कुछ भी प्रयोजन न रहनेपर भी स्वाभाविक हरि-गुणोंसे आकृष्ट होकर अत्यन्त आनन्दसे भरा हुआ चित्त तथा सबका विस्मरणरूप भक्तोंकी स्थिति अभिप्रेत है। मोक्ष-पदके अर्थानुसार पहले अर्थका दृष्टान्त मुचुकुन्दकी स्तुति तथा दूसरे अर्थके उदाहरण शुकस्तुति, नारदस्तुति, आरूढ़-अवस्थामें गोपियोंके युग्मगीत इत्यादि स्तुति हैं। एक और भी स्तुतियोंका प्रकार देखनेमें आता है उसका धर्म, अर्थ आदि चारोंमें अन्तर्भाव न करके अलग ही निर्देश करना उचित प्रतीत होता है, उस भेदका नाम हम अद्भुत स्तुति रखते हैं। ये स्तुतियाँ केवल विलक्षण गुण अथवा रूप देखकर होती हैं। यथा उद्धवद्वारा की गयी गोपियोंकी स्तुति तथा कृष्णके प्रादुर्भावकालमें देवकीकी स्तुति और कौरव नगरस्थ स्त्रियोंकी वह स्तुति, जब उन्होंने परमात्माको नगरसे जाते हुए देखा था। इस प्रकार भागवतमें आयी हुई स्तुतियोंके पाँच

भेद अर्थात् अर्थफलक, धर्मफलक, कामफलक, मोक्षफलक तथा अद्भुत दृष्टोत्तरकृत पृथक्-पृथक् भेद हो सकते हैं।

भागवततात्पर्यविचार

श्रीमद्भागवतका तात्पर्य द्वैतमें है या अद्वैतमें? इस विषयमें बहुत मतभेद है। द्वैतवादी कहते हैं कि इसमें केवल द्वैतका ही प्रतिपादन है, जहाँ अद्वैतका प्रतिपादन मिलता है वह अद्वैतियोंको आकृष्टकर द्वैतमें प्रवृत्त करानेके लिये है[1]। अद्वैतियोंका कथन है कि भागवतमें अद्वैतका प्रतिपादन है और जो कहीं-कहीं द्वैतका प्रतिपादन मिलता है वह शाखाचन्द्र न्यायसे इसलिये किया है कि अद्वैतका ग्रहण शीघ्र नहीं हो सकता। कुछ अद्वैतपरक वचनोंका हम नीचे संग्रह करते हैं— परमात्मा स्वयं निर्गुण होकर भी अपनी सद्-असद्-गुणमयी मायासे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न करता है (१।२।३०) 'निर्गुणके गुणगानके लिये ब्रह्माजीसे प्रेरित नारदजीने भगवान्का चरित्र बहुतोंको सुनाया।' (२।८।१) 'सबसे पहले भगवान् ही था, सदसत् और कुछ भी नहीं था।' जो कुछ बचा है वह परमेश्वर ही है। माया वह है जो कुछ तत्त्व न रहनेपर भी प्रकाशित होती है (२।९।३१-३२) 'आत्माओंका प्रभु और भेदरहित परमात्मा अपनी इच्छासे सृष्टि करता है।' (३।५।२३) अस्तु! अब हम द्वैतबोधक प्रसंगोंका भी संग्रह नीचे करते हैं—व्यासजीने परमेश्वरका जो दर्शन किया उसमें जितने पदार्थ दिखायी पड़े वे थे परमात्मा, माया और जीव इत्यादि[2]। सनत्कुमारोंने नित्य वैकुण्ठलोकमें सगुण परमात्माका दर्शन किया[3]। दशम स्कन्धमें अक्रूरको परमात्माने अपने लोकका दर्शन कराया और अक्रूरने परमात्माके सगुण नित्य स्वरूपका दर्शन किया[4]। अस्तु!

ऐसी स्थितिमें यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि भागवत द्वैतपरक है या अद्वैतपरक? एक बात पूर्ण निश्चित है कि

---

१. देखिये भागवत षट्सन्दर्भान्तर्गत तत्त्वसन्दर्भ।

२. भागवत १।७।४-५

३. भागवत ३।१५।३७–४४

४. भागवत १०।३९।४४–५५

मुक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूप होनेपर भी मुक्तिप्राप्तिके लिये वेदोंमें प्रसिद्ध ज्ञानरूप साधन है (ज्ञानादेव तु कैवल्यम्)। उसका एक साधन भक्ति भी है। जब श्रीमद्भागवतकारने ज्ञानरूप मुख्य साधनको कष्टकारक देखा तब भगवद्भक्तिरूप साधनका मुख्यतया प्रतिपादन किया और श्रीमद्भागवतमें इस सिद्धान्तका अनेक दृष्टान्तोंसे चित्रण किया। जो ग्रन्थ भक्तिको प्रधान साधन बताते हैं उनमेंसे अनेक ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके अनन्तरके हैं।

प्रधान उपनिषदोंमें भी भक्तिके मुख्यत्व-बोधक वचन कहीं-कहीं मिलते हैं परन्तु वे बहुत ही कम हैं। उपक्रम-उपसंहार-दृष्टिसे देखनेसे वे सब उपनिषद्वचन श्रीशांकरभाष्यादिकी सहायतासे अद्वैतपरक ही प्रतीत होते हैं। किन्तु परीक्षितने शुकदेवजीसे यही मुख्य प्रश्न किया था कि मनुष्योंकी जिस प्रकार भगवान्में भक्ति हो वह उपाय मुझे बतलाइये (२।८।५२) इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि भागवतप्रतिपाद्य भक्ति ही मुक्तिका मुख्य साधन है। भागवतका विशेष प्रतिपादन यह है कि परमात्मप्राप्तिरूप मुक्तिके लिये ज्ञानयोगादि साधनोंको हटाकर भक्तिको प्रधान साधन बताना। इस साधनका विचार करनेपर यह निश्चित होता है कि भागवतमें प्रतिपाद्य नित्य गुणविशिष्ट परमात्मा ही हैं न कि निर्गुण परमात्मा। क्योंकि ऐसे परमात्माकी भक्ति ही नहीं हो सकती है। भागवत ही कलिकालमें परमात्माकी भक्ति बढ़ाता हुआ सबका उपादेय है, इस अभिप्रायके बोधक वचन उपलब्ध होते हैं।

'कलौ नष्टदृशामेषां पुराणार्कोऽधुनोदितः।'

कलिकालमें सभी लोगोंको श्रेयस् तथा निःश्रेयस देनेवाला एक भागवतके समान और कोई ग्रन्थ नहीं है। अस्तु,

भागवतका सूक्ष्म आलोचन करनेवाले गुरुओंका यह कहना है कि भागवतमें परमात्माके सब स्वरूपभेदोंका प्रतिपादन मिलता है और अधिकारी भक्त उन्हीं भेदोंका भक्तिरूप प्रधान साधनसे ग्रहण करें और अपना-अपना उद्धार करें।

---

१. श्वेताश्वतर०

प्रकृत ग्रन्थमें पाठकोंका सरलतासे प्रवेश हो जाय इसलिये प्रकृत ग्रन्थका विषय थोड़ेमें दिखलाना अनुचित न होगा। ग्रन्थकारने प्रकृत ग्रन्थको नव अध्यायोंमें विभक्त किया है। हर एक अध्यायमें अनेक प्रकरण हैं। पहले अध्यायमें छः प्रकरण हैं। उनमें बाललीला, शिशुलीला, कुमारलीला, पौगण्डलीला तथा किशोरलीला इत्यादिके प्रसंगमें जो-जो स्तुतियाँ आयी हैं उनका ठीक-ठीक अर्थ लिखकर उन स्तुतियोंके पहले प्रकरणका सम्बन्ध भी आवश्यक एवं उपयोगी लेखसे प्रदर्शित किया गया है। जहाँ-जहाँ कोई शंकास्पद स्थल आया है वहाँ-वहाँ सुन्दर तथा प्रबल युक्तियोंसे, निष्पक्ष बात देकर ग्रन्थके अभिप्रायका निरूपण किया गया है। ग्रन्थपाठ करते समय प्रत्येक प्रकरणमें पाठक स्वयं ही इस बातका अनुभव करेंगे। द्वितीय अध्यायमें नव प्रकरण हैं। इनके प्रारम्भमें ही 'माधुर्य-रस' शब्दका विचार करके कृष्णोपनिषद्, गोपालतापिनी, बृहद्वामनपुराणके अनुसार गोपियोंके चार प्रकारके यूथ बतलाये गये हैं। इस अध्यायमें माधुर्यका प्रादुर्भाव, चीरहरण, रासका आह्वान, गोपियोंकी स्तुति, रासलीलाका उत्तरार्ध, गोपीआक्रन्दन, गोपीविनती, ब्रह्मज्ञानी गोपियाँ आदि एक-से-एक सरस प्रकरण आये हैं। उनमें वेणुगीत, भ्रमरगीत, गोपीविरहगीत, उद्धवकृत गोपीस्तुति इत्यादि अनेक स्तुतियोंमें मधुररस उमड़ पड़ता है। प्रत्येक प्रकरणके पहले उपोद्घातरूपसे जो भागवतकथाका सूत्रपूर्वप्रक्रान्त है उसका यहाँ भी विस्तृतरूपसे अनुसरण हुआ है तथा इन प्रकरणोंमें जो बहिर्मुख पुरुष परमात्माको भी विषयासक्त देखते हैं उनके आक्षेपोंका बहुत ही उचित रीतिसे समाधान किया गया है। पाठकोंको चित्त स्थिर करके इस सम्पूर्ण अध्यायका ही पुनः-पुनः आलोचन करना चाहिये। हमारा पूर्ण निश्चय है कि इसके पाठसे पाठकोंके हृदयमें स्थित अनेक आशंकाएँ प्रत्येक पारायणमें नष्ट होती जायँगी और पाठकोंको भागवत या अन्य पुराणोंमें विद्यमान ऐसे ही प्रकरणोंकी ओर दृष्टिपात करनेकी एक प्राचीन परम्परागत नयी दृष्टि प्राप्त होगी।

प्रकृत ग्रन्थके विषयमें निवेदन।

तीसरे अध्यायमें फिर भागवतके क्रमका सूत्र चलाया गया है। पहले अध्यायके अन्तमें जो किशोरलीला आरम्भ की थी उसकी

मुक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूप होनेपर भी मुक्तिप्राप्तिके लिये वेदोंमें प्रसिद्ध ज्ञानरूप साधन है (ज्ञानादेव तु कैवल्यम्)। उसका एक साधन भक्ति भी है। जब श्रीमद्भागवतकारने ज्ञानरूप मुख्य साधनको कष्टकारक देखा तब भगवद्भक्तिरूप साधनका मुख्यतया प्रतिपादन किया और श्रीमद्भागवतमें इस सिद्धान्तका अनेक दृष्टान्तोंसे चित्रण किया। जो ग्रन्थ भक्तिको प्रधान साधन बताते हैं उनमेंसे अनेक ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके अनन्तरके हैं।

प्रधान उपनिषदोंमें भी भक्तिके मुख्यत्व-बोधक वचन कहीं-कहीं मिलते हैं परन्तु वे बहुत ही कम हैं। उपक्रम-उपसंहार-दृष्टिसे देखनेसे वे सब उपनिषद्‌वचन श्रीशांकरभाष्यादिकी सहायतासे अद्वैतपरक ही प्रतीत होते हैं। किन्तु परीक्षितने शुकदेवजीसे यही मुख्य प्रश्न किया था कि मनुष्योंकी जिस प्रकार भगवान्‌में भक्ति हो वह उपाय मुझे बतलाइये (२।८।५२) इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि भागवतप्रतिपाद्य भक्ति ही मुक्तिका मुख्य साधन है। भागवतका विशेष प्रतिपादन यह है कि परमात्मप्राप्तिरूप मुक्तिके लिये ज्ञानयोगादि साधनोंको हटाकर भक्तिको प्रधान साधन बताना। इस साधनका विचार करनेपर यह निश्चित होता है कि भागवतमें प्रतिपाद्य नित्य गुणविशिष्ट परमात्मा ही हैं न कि निर्गुण परमात्मा। क्योंकि ऐसे परमात्माकी भक्ति ही नहीं हो सकती है। भागवत ही कलिकालमें परमात्माकी भक्ति बढ़ाता हुआ सबका उपादेय है, इस अभिप्रायके बोधक वचन उपलब्ध होते हैं।

'कलौ नष्टदृशामेषां पुराणार्कोऽधुनोदितः।'

कलिकालमें सभी लोगोंको श्रेयस् तथा निःश्रेयस देनेवाला एक भागवतके समान और कोई ग्रन्थ नहीं है। अस्तु,

भागवतका सूक्ष्म आलोचन करनेवाले गुरुओंका यह कहना है कि भागवतमें परमात्माके सब स्वरूपभेदोंका प्रतिपादन मिलता है और अधिकारी भक्त उन्हीं भेदोंका भक्तिरूप प्रधान साधनसे ग्रहण करें और अपना-अपना उद्धार करें।

---

१. श्वेताश्वतर०

प्रकृत ग्रन्थमें पाठकोंका सरलतासे प्रवेश हो जाय इसलिये प्रकृत ग्रन्थका विषय थोड़ेमें दिखलाना अनुचित न होगा। ग्रन्थकारने प्रकृत ग्रन्थको नव अध्यायोंमें विभक्त किया है। हर एक अध्यायमें अनेक प्रकरण हैं। पहले अध्यायमें छः प्रकरण हैं। उनमें बाललीला, शिशुलीला, कुमारलीला, पौगण्डलीला तथा किशोरलीला इत्यादिके प्रसंगमें जो-जो स्तुतियाँ आयी हैं उनका ठीक-ठीक अर्थ लिखकर उन स्तुतियोंके पहले प्रकरणका सम्बन्ध भी आवश्यक एवं उपयोगी लेखसे प्रदर्शित किया गया है। जहाँ-जहाँ कोई शंकास्पद स्थल आया है वहाँ-वहाँ सुन्दर तथा प्रबल युक्तियोंसे, निष्पक्ष बात देकर ग्रन्थके अभिप्रायका निरूपण किया गया है। ग्रन्थपाठ करते समय प्रत्येक प्रकरणमें पाठक स्वयं ही इस बातका अनुभव करेंगे। द्वितीय अध्यायमें नव प्रकरण हैं। इनके प्रारम्भमें ही 'माधुर्य-रस' शब्दका विचार करके कृष्णोपनिषद्, गोपालतापिनी, बृहद्वामनपुराणके अनुसार गोपियोंके चार प्रकारके यूथ बतलाये गये हैं। इस अध्यायमें माधुर्यका प्रादुर्भाव, चीरहरण, रासका आह्वान, गोपियोंकी स्तुति, रासलीलाका उत्तरार्ध, गोपीआक्रन्दन, गोपीविनती, ब्रह्मज्ञानी गोपियाँ आदि एक-से-एक सरस प्रकरण आये हैं। उनमें वेणुगीत, भ्रमरगीत, गोपीविरहगीत, उद्धवकृत गोपीस्तुति इत्यादि अनेक स्तुतियोंमें मधुररस उमड़ पड़ता है। प्रत्येक प्रकरणके पहले उपोद्घातरूपसे जो भागवतकथाका सूत्रपूर्वप्रक्रान्त है उसका यहाँ भी विस्तृतरूपसे अनुसरण हुआ है तथा इन प्रकरणोंमें जो बहिर्मुख पुरुष परमात्माको भी विषयासक्त देखते हैं उनके आक्षेपोंका बहुत ही उचित रीतिसे समाधान किया गया है। पाठकोंको चित्त स्थिर करके इस सम्पूर्ण अध्यायका ही पुनः-पुनः आलोचन करना चाहिये। हमारा पूर्ण निश्चय है कि इसके पाठसे पाठकोंके हृदयमें स्थित अनेक आशंकाएँ प्रत्येक पारायणमें नष्ट होती जायँगी और पाठकोंको भागवत या अन्य पुराणोंमें विद्यमान ऐसे ही प्रकरणोंकी ओर दृष्टिपात करनेकी एक प्राचीन परम्परागत नयी दृष्टि प्राप्त होगी।

प्रकृत ग्रन्थके विषयमें निवेदन।

तीसरे अध्यायमें फिर भागवतके क्रमका सूत्र चलाया गया है। पहले अध्यायके अन्तमें जो किशोरलीला आरम्भ की थी उसकी

समाप्ति तथा वृन्दावनकी विशेष लीलाएँ, अक्रूरजीद्वारा की हुई भगवान्के सगुण-निर्गुण स्वरूपकी स्तुति इत्यादि प्रकरण उठाये हैं। इस अध्यायमें चार प्रकरण हैं, जिनमें कई स्तुतियाँ आयी हैं। उन स्तुतियोंमें अक्रूरजीकी स्तुति बारम्बार पढ़ने योग्य है क्योंकि अक्रूरकृत परमात्मस्वरूपदर्शनका विचार करनेसे पाठकोंकी समझमें परमात्माका व्यापकत्व, अचिन्त्यशक्तिशालित्व तथा व्यापक होकर भी अनेक देशोंमें सगुणरूपसे विराजमान रहना आदि बातें स्पष्टरूपसे आ जायँगी।

चौथे अध्यायमें परमात्माने जो द्वारिकामें लीलाएँ की हैं उनका वर्णन तथा उस प्रसंगमें आयी हुई अनेक स्तुतियोंका पहलेकी ही भाँति विचारपूर्वक ठीक-ठीक अर्थ दिया गया है। इस अध्याय-में आठ प्रकरण हैं। इनमें रुक्मिणीप्रकरण तथा सुदामाचरित्र तो भगवान्के भक्तवात्सल्य तथा दातृत्वके उत्कृष्ट एवं अलौकिक उदाहरण हैं।

पाँचवें अध्यायमें चार प्रकरण हैं, उनमें सृष्टिकी रचनाके दो प्रकारोंका वर्णन ब्रह्माजीद्वारा की हुई स्तुति, वराहअवतार इत्यादिके वर्णन आये हैं।

छठे अध्यायमें चौदह प्रकरण हैं, उनमें सत्ययुगके अवतारोंका कथन आरम्भ करके श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धतककी कथाओं तथा तत्तत्प्रसंगमें आयी हुई अनेक स्तुतियोंका विचार किया गया है।

सप्तम अध्यायमें श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धस्थित कथाविषय कहे गये हैं तथा प्रसंगप्राप्त स्तुतियोंका सार्थ विवेचन किया गया है।

अष्टम अध्यायमें श्रीरामावतार तथा श्रीपरशुरामावतारका वर्णन है।

नवम अध्यायमें उपसंहार करते हुए दशम स्कन्धस्थित शुकदेव-कृत वेद-स्तुतियोंका बड़े परिश्रमपूर्वक स्पष्ट अर्थ तथा श्रीश्रीधर स्वामीजीके भावबोधक श्लोकोंका भी अर्थ दिया गया है।

ग्रन्थकारने ग्रन्थ लिखनेमें अत्यन्त परिश्रम उठाया है तथा प्राचीन शास्त्रसिद्धान्तको कहीं भी बाधित नहीं होने दिया है, प्रत्युत

अनेक आधार देकर अत्यन्त पुष्ट किया है। शंकाके स्थलोंपर अनेक सिद्धान्त लिखे हैं, उनके समर्थनमें आवश्यक टिप्पणियाँ भी दे दी हैं।

श्रीमद्भागवतकी स्तुतियोंका संकलन किया हुआ एक 'भक्तितरङ्गिणी' नामक ग्रन्थ संस्कृतमें भी है जिसका श्रीमान् पायगुण्डेजीने प्रणयन किया है। परन्तु उस ग्रन्थ तथा प्रकृत ग्रन्थकी उपयोगितामें बहुत बड़ा अन्तर है। एक तो 'भक्तितरङ्गिणी' के ऊपर जो टीका है वह संस्कृतमें है, इसलिये वह संस्कृतज्ञ पण्डितोंके सिवा और किसीके लिये विशेष उपयोगिनी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अभीतक वह अमुद्रित तथा अप्रसिद्ध होनेसे भी सबके उपयोगमें नहीं आ सकती।

प्रकृत ग्रन्थमें एक विशेष बात यह और है, ग्रन्थकारने स्तुतियोंके आदिमें जो कथाओंका संक्षिप्तरूपसे सयुक्तिक वर्णन किया है उससे इस ग्रन्थकी उपयोगिता सोनेमें सुगन्धके समान अपूर्व हो गयी है। अस्तु, ग्रन्थकार अंग्रेजीके बहुत बड़े विद्वान् होकर तथा महान् अधिकारपूर्ण पदपर काम करके भी हृदयमें परमात्मविषयक अत्युत्कट प्रेम रखते हैं तथा सर्वथा रक्षणीय प्राचीन परम्पराके अभिमानी हैं। उन्होंने संस्कृत-भाषा और शास्त्रीय प्रमेय ग्रन्थका भी अत्यन्त उच्चतम अनुशीलन किया है। ये बातें इनके सत्संग, सद्गुरु-दया और परमेश्वरकी कृपाका स्पष्टरूपसे परिचय दे रही हैं।

ग्रन्थकारके ऊपर परमेश्वरका जो अनुग्रह हुआ है उसके कुछ भागको इन्होंने बड़े परिश्रमसे सरल और सुबोध भाषामें पाठकोंके सामने प्रस्तुत किया है। उसको परमार्थ-साधनके लिये अपनाना सुयोग्य तथा ईश्वरीय कृपापात्र पाठकोंका परम कर्तव्य है। यह पाठकोंसे नम्र निवेदन करके हम ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि वे श्रीयुत पण्डित पर्वतीय नित्यानन्द पाण्डेयजी बी० ए०, एल-एल० बी० को ऐसे ही अनेक ग्रन्थ सम्पादन करनेकी शक्ति दें।

अब हम प्रसिद्ध तार्किक उदयनाचार्यजीके शब्दोंमें इस भूमिकाकी समाप्ति करते हैं—

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयि
त्यक्त्वानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः* ॥

क्विन्स कालेज काशी,
आषाढ़ कृष्ण १२
संवत् १९९३

श्री० अनन्तगोपाल शास्त्री फडके
व्याकरणाचार्य, मीमांसातीर्थ,
प्रोफेसर इतिहास-पुराण और भक्तिशास्त्र



* हे स्वभावसुन्दर! हमारा चित्त शरीरको छोड़कर आनन्दसागररूप आपमें लीन हुआ है तो भी यह चञ्चल अभी सन्तुष्ट नहीं हुआ है, इसलिये हे नाथ! ऐसी दया करो जिससे चित्त आपमें एकाग्रताको प्राप्त हो जाय। आपमें एकाग्रता प्राप्त हो जानेसे सैकड़ों कष्टदायक यमयातनाएँ हमें प्राप्त नहीं होंगी।

श्रीगुरुः शरणम्

निवेदन

१-स्तुतियोंके भाषाभाष्यको पढ़ते समय विशेष अर्थमें व्यवहृत शब्दोंकी ओर मनुष्यका ध्यान जानेपर भी उस समय उन शब्दोंको वह संकलन नहीं कर सकता है। ऐसे सौमें नब्बे आदमी मिलते हैं। उनके लिये कोशकी बहुत आवश्यकता होती है और ऐसे शब्दोंको एक जगह देखनेपर विचार करनेमें सहायता मिलती है। यथा भगवद्गीतामें एक ही जगह 'संभवाम्यात्ममायया' 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' 'मायामेतां तरन्ति ते' माया, आत्ममाया, दैवी माया इन शब्दोंको तथा उनके अर्थको देखकर अनेक विचार आदमी कर सकता है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी स्तुतियोंमें अनेकार्थक आत्मादि शब्दोंको पढ़कर अनेक विचार करनेमें सहायता मिलती है।

२-दार्शनिकार्थबोधक शब्दोंको एक जगह पढ़नेसे ग्रन्थकार कौन-कौन दार्शनिक तत्त्वको मानता है इत्यादि निर्णयमें सहायता मिलती है।

३-भागवतमें विशेष रूपसे आये हुए तत्तदर्थबोधक शब्दोंको पढ़कर और ग्रन्थमें यदि उन शब्दोंका प्रयोग मिले तो कालनिर्णयके लिये बड़ी भारी सहायता मिलती है। वि ख न स् इत्यादि शब्द इस विषयमें विचारणीय हैं।

४-कोशमें अनेकार्थक अप्रसिद्ध शब्दोंके संग्रहसे जिन श्लोकोंके ऊपर टीका संक्षिप्त है या नहीं है उनके अर्थनिर्णयमें सहायता होती है।

५-भागवतकारके मतका आलोचन करनेमें कोई शब्दार्थकी जरूरत पड़े तो सब स्तुतियोंको ढूँढ़कर उस शब्दके अन्वेषणमें बहुत समय व्यतीत होता है परन्तु कोशमें ऐसे विशिष्ट शब्द शीघ्र मिलते हैं। यह भी बहुत बड़ा लाभ है अतएव ऐसे शब्दोंका ग्रन्थके अन्तमें संग्रह करना, यह आवश्यक कार्य प्रायः आधुनिक मुद्रित ग्रन्थमें दीखता है।

ता० २१।९।३६
संस्कृतकालेज काशी } अनन्त शास्त्री फडके



भागवतस्तुतिसंग्रह

भागवतस्तुतिसंग्रह



मदन-मोहन

श्रीगणेशाय नमः

भागवतस्तुतिसंग्रह

उपोद्घात[1]

जन्माद्यस्य[2] यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

श्रीकृष्णावतार द्वापरके अन्तमें हुआ । उसी समय कौरव तथा पाण्डवोंमें भीषण महाभारत युद्ध भी हुआ था। इस युद्धमें विजय पाण्डवोंकी हुई, क्योंकि योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पक्षमें थे । इस

१. भा० स्क० १ अ० १५ से १९ तक।

२. भा० स्क० १।१।१ के अन्तर्गत व्यास भगवान्की स्तुतिका अर्थः—अर्थोंमें गृहीत अन्वय[1] और व्यतिरेकसे जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कारण है, जिसने आदिकवि ब्रह्माके लिये मनसे (सङ्कल्पसे) ही वेदोंको प्रकाशित किया, जिसके विषयमें विद्वान् लोगोंको भी मोह होता है, जिसमें तेज, जल और मिट्टीमें परस्पर एककी दूसरेमें सत्यरूपसे प्रतीति होनेकी भाँति[2] असत्य त्रिविध सृष्टि जिसकी सत्यतासे सत्य-सी भासती है, और जिसके तेजसे अज्ञानान्धकार सदा निरस्त है उस सर्वज्ञ स्वतःसिद्धज्ञान, सत्य परब्रह्म परमात्माका हम ध्यान करते हैं ।

[१. अन्वयव्यतिरेकन्याय निम्न उदाहरणसे स्पष्ट होगा—यदि कोई कहे कि पर्वतमें आग लग रही है क्योंकि धुआँ दिखायी देता है। यहाँ एक अनुमान यह होता

युद्धमें दोनों पक्षोंके प्रायः सभी वीर हत हो गये थे, थोड़े-से बचे जिनमें पाँच पाण्डव, सात्यकि, युयुत्सु, कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा थे। अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु भी वीरगतिको प्राप्त हुआ, किन्तु उसकी स्त्री उत्तरा गर्भवती थी। इसीसे एक बड़ा प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम परीक्षित था।

महाराज युधिष्ठिरने लड़ाईके पीछे तीन अश्वमेध-यज्ञ किये किन्तु उनके हृदयका शोक न मिटा। इस बीच विदुरजी और राजा धृतराष्ट्र भी घर छोड़कर वनको चले गये। उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया। उधर द्वारिकासे भी समाचार आया कि यादववंशका गृह-कलहसे आपसमें लड़-भिड़कर संहार हो गया, तथा भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने लोकको पधार गये। इन सब सूचनाओंसे महाराज युधिष्ठिर-को ज्ञात हुआ कि कलियुगका आगमन हो गया है। अतः वे परम वैराग्ययुक्त होकर परीक्षितको राज्य देकर सब भाइयों और द्रौपदीके साथ महायात्राको चले गये। महाराज परीक्षित बड़े धर्मात्मा और शक्ति-शाली राजा थे। उन्होंने दिग्विजय भी किया था। एक समय उन्होंने कुरुक्षेत्र-यात्रा करते समय एक अद्भुत दृश्य देखा। वहाँ एक वृद्ध वृषभ उनके दृष्टिगोचर हुआ, जिसके तीन पैर टूटे हुए थे, उसके साथ एक गाय थी जो अति दीन और कृश हो रही थी। यह वृद्ध वृषभ तो धर्म था और गाय पृथिवी। इनके पास एक काले रंगका पुरुष राजचिह्न

है कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है—जैसे चूल्हामें। यह हुआ अन्वय। दूसरा अनुमान यह होता है कि जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं है जैसे तालाबमें। यह हुआ व्यतिरेक। इसी प्रकार यह अनुमान भी हो सकता है कि आकाश आदि कार्योंमें ईश्वरका सत् रूप अन्वय है और आकाश पुष्प आदि अकार्योंमें व्यतिरेक है। मुक्तावलीमें लिखा है—'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'॥

२. तेजमें जलकी प्रतीति होती है जैसे मृगतृष्णाका जल। काँच (मिट्टी) में जलकी और जलमें काँचकी प्रतीति भी अनुभवमें आती है जैसे दुर्योधनको हुई थी। जैसे ये प्रतीतियाँ असत्य हैं वैसे ही पञ्चमहाभूत इन्द्रियाँ और इनके देवताओंकी सृष्टि वास्तवमें सत्य नहीं है किन्तु अहङ्कारसे कल्पित है, और अधिष्ठान (ब्रह्म) की सत्यतासे सांसारिक पुरुषोंको सत्य-सी प्रतीत होती है।]

धारण किये खड़ा था। यह कलि था। [यहाँ यह ध्यान देने योग्य विषय है कि जिस-जिस स्थलमें यह कहा है कि पृथिवी गौरूप देखी गयी, वहाँ यह समझना चाहिये कि पृथिवीका अभिमानी देवता उस रूपमें था]

ये दोनों आपसमें यह वार्ता कर रहे थे कि अब कलियुग आ गया है, भविष्यमें पृथिवी शूद्रप्राय राजाओंसे भोगी जायगी, देवताओंका हविर्भाग नष्ट हो जायगा, इन्द्रके न बरसनेपर प्रजा अन्नके बिना दुःखी रहेगी, ब्राह्मण कुकर्मी होंगे तथा लोभवश सेवावृत्ति करेंगे, और सब प्राणी शास्त्रके विधिनिषेधको न मानकर मनमाना आचरण करेंगे, धर्मके चार चरण तप, शौच, दया और सत्यमेंसे पहले तीन नष्ट होनेपर केवल सत्य कुछ समयतक बचा रहेगा और अन्तमें वह भी नष्ट हो जायगा।

राजा परीक्षितने यह संवाद सुनकर उस दण्डधारी कलिकी ओर देखा और वे धनुष चढ़ाकर उसको मारनेके लिये उद्यत हुए। तब वह कलि राजचिह्नोंको त्यागकर, दण्डके समान राजा परीक्षितके चरणोंमें गिर गया। दीनवत्सल परीक्षितने उसका वध नहीं किया। कलिने अन्तमें यह प्रार्थना की कि आप मेरे रहनेके लिये स्थान बतला दीजिये, जहाँ आपकी आज्ञासे मैं निश्चिन्त होकर रह सकूँ; क्योंकि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहीं मेरे वधके लिये हाथमें धनुष-बाण लिये आप मुझे दीखते हैं।

ऐसी प्रार्थना करनेपर परीक्षितने उसको जहाँ क्रमसे असत्य, मद, काम और क्रूरताका वास है ऐसे द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसङ्ग और हिंसा ये चार स्थान उसके रहनेके लिये बतला दिये। कलियुगने फिर प्रार्थना की कि मुझे वह स्थान भी दीजिये जहाँ इन चारों अधर्मोंकी एक साथ स्थिति हो। तब राजाने ऐसा स्थान 'सुवर्ण' बतलाया क्योंकि सुवर्णसे असत्य, मद, काम, क्रूरता और वैरभाव सभी उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार कलियुग इन पाँच स्थानोंमें रहता है अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको सुवर्ण आदि पाँच विषयोंका आसक्तिसे कभी

भोग न करना चाहिये। धर्मशील राजा और लोकरक्षक गुरु तो विशेषतया इनका सेवन न करें, क्योंकि सामान्य लोग उनका अनुकरण करते हैं।[1]

एक समय राजा परीक्षित मृगयाके लिये किसी अरण्यमें अकेले निकले। वे चलते-चलते थक गये और प्याससे व्याकुल हो उठे, उन्होंने एक ऋषिको बैठे हुए देखा और उनके पास जाकर जल माँगा। मुनि ध्यानपरायण थे, उन्होंने कुछ भी नहीं सुना। राजाको यह देखकर क्रोध आया कि 'इस मुनिने मुझको बैठनेके लिये तृणका भी आसन नहीं दिया और न प्रिय भाषण ही किया। राजा गर्मी, भूख और प्याससे व्याकुल थे तथा उनके स्वर्ण-मुकुटमें कलिका निवास था; इससे उनकी बुद्धि विवेकशून्य हो गयी। वे वहाँसे चल दिये। इसी समय उनकी दृष्टि एक मरे सर्पपर पड़ी, कलिप्रभावित राजाने क्रोधके कारण धनुषके अग्रभागसे सर्पको उठाकर ऋषिके गलेमें डाल दिया। इस समय राजाको इस बातकी परीक्षा करनेकी भी आकाङ्क्षा हुई कि सचमुच ऋषि ध्यानमें बैठे हुए हैं या इन्होंने लोगोंको ठगनेके लिये मिथ्या समाधि लगा रक्खी है।

राजा चले गये। किन्तु जब ऋषिके शृङ्गी नामवाले प्रतापी पुत्रको राजाके इस अपराधका पता चला तब उसने जलका आचमन कर राजाको यह शाप दिया 'मेरे पिताके गलेमें मरा हुआ सर्प डालनेवाले और लोकमर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले इस कुलाङ्गारको मेरी प्रेरणासे आजसे सातवें दिन तक्षक सर्प डसेगा।'

जब शमीक ऋषि समाधिसे उठे तो उनको इस शापका हाल मालूम हुआ। इससे वे अत्यन्त खिन्न हुए और अपने पुत्रसे कहा 'अरे मूर्ख! तूने यह बड़ा पाप किया जो बहुत थोड़े अपराधके कारण उस परम धार्मिक, महाकीर्तिमान्, परम भगवद्भक्त, अश्वमेधयागी सम्राट्को ऐसा शाप दिया।' अन्तमें उन्होंने अपने एक शिष्यद्वारा राजाको शापका वृत्तान्त कहला दिया।

---

१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

राजाको घर पहुँचनेपर पहले ही अपने कृत्यपर अत्यन्त शोक हो रहा था और अब शापका समाचार और भी उनके वैराग्यका कारण हो गया। राजाने इस लोक और स्वर्गलोकके भोगोंसे अपना मन हटाकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के चरणोंमें लगा दिया। वे मरणकालपर्यन्त अनाहार-व्रतका सङ्कल्प करके भागीरथीके तटपर चले गये। वहाँ उस समय अनेकों ऋषि-मुनि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि इकट्ठे हो गये। राजाने उनसे प्रार्थना की कि आपलोग तक्षकसे बचानेका कोई उपाय न सोचकर विष्णु भगवान्‌की कथाओंका ही विस्तारसे गान करें। राजा परीक्षितने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको दे दिया और स्वयं भागीरथीके दक्षिण तटपर उत्तरकी ओर मुख करके बैठ गये। राजाने ऋषियोंसे पूछा कि ऐसा कर्म कौन है जो समस्त लोगोंको सब अवस्थाओंमें और विशेष करके मृत्युके सन्निकट होनेपर करना चाहिये और जिसमें लेशमात्र भी पापका सम्बन्ध न हो? तब वे ऋषिगण आपसमें विवाद करने लगे, कोई तप श्रेष्ठ बताता था, कोई योगकी प्रशंसा करता था और कोई यज्ञोंको ही श्रेष्ठ कहता था।

इसी समयमें १६ वर्षकी अवस्थावाले दिगम्बर और प्रसन्नमूर्ति एक अवधूत वहाँ उपस्थित हुए। ये श्रीशुकदेवजी थे। राजाके पूजन करनेके उपरान्त वे बोले 'हे राजन्! मोक्षकी इच्छावाला पुरुष सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका कीर्तन करे, सुने, तथा स्मरण करे, यदि अन्तकालमें भी भगवान्‌का कीर्तन करे तो भी श्रीहरिके रूपमें जा मिलता है, देखो राजा खट्वांग दो घड़ीमें ही सकल सङ्गोंको त्यागकर मुक्त हो गया था। तुम्हारे लिये तो अभी सात दिन शेष हैं। पहले तो तुम मृत्युका भय त्याग दो, तदनन्तर देह और देहके सम्बन्धी स्त्री-पुत्रादिकी ममताको वैराग्यरूप शस्त्रसे काट डालो और एकान्तमें बैठकर मनको भगवत्स्वरूपमें लगा दो, वे श्रीभगवान् अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं।

श्रु[1]ति भी यही कहती है और अनुमानसे भी इसकी पुष्टि होती है। जैसे कुल्हाड़ी आदि वृक्ष काटनेके साधन हैं किन्तु काटनेवाले चेतनके बिना कार्य नहीं कर सकते, उसी प्रकार मन, बुद्धि आदि भी जड़ हैं अतः किसी चेतनके आश्रयसे ही काम करते हैं। वह चेतन ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही है जो प्रत्येक शरीरमें रहता है। जब इस प्रकारके अनुमानसे प्रत्येक पुरुषको ईश्वरके अस्तित्वका विश्वास होता है तो उसमें प्रीतिका होना भी अशक्य नहीं है। भगवान्‌में प्रीति प्राप्त करनेका साधन हरिकथा-श्रवणसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है; क्योंकि इसके श्रवणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, जो तीनों गुणोंसे उत्पन्न हुई काम, क्रोधादि वृत्तियोंका नाश कर देता है, विषयोंसे वैराग्य होकर चित्त प्रसन्न होता है और मोक्षप्राप्तिमें उपयोगी भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।'

यह सुनकर राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे हरिकथामृतका पान करानेके लिये प्रार्थना की। तब श्रीशुकदेवजीने एक सप्ताहमें उनको श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। इस समय भी श्रीमद्भागवतका सप्ताह श्रवण करनेका बड़ा माहात्म्य है। कथा कहनेके पूर्व शुकदेवजीने भगवान्‌की स्तुति की जो इस प्रकरणमें लिखी गयी है। श्रीशुकदेवजीने यह महा-संहिता अपने पिता व्यासजीसे पढ़ी थी। तदनन्तर एक कल्पमें यह कथा श्रीसूतजीने भी कही थी, जब कि नैमिषारण्यमें सब ऋषिगण इकट्ठे होकर यज्ञ कर रहे थे। इसके उपरान्त जब श्रीव्यासजीने सब पुराणोंका संग्रह अलग-अलग किया, तब उन्होंने भागवतको यह स्वरूप दे दिया जो इस समय प्रचलित है।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचनसे पाठक महाशयोंको विदित हो ही गया होगा कि हमने भागवतस्तुतियोंका संग्रह क्यों किया तथापि इतना यहाँ-पर लिख देते हैं और अन्यत्र भी कहेंगे कि इस युगमें मनको भगवदाकार बनाना ही पुरुषार्थ है, मनको भगवदाकार बनानेका एकमात्र उपाय यही है कि मन भगवान्‌के विषयमें सदा ही लगा रहे। इन स्तुतियोंका

---

१. अन्तर्यामी ब्राह्मण अ० ३।७

नित्यशः पाठ करनेसे और इनका भाव विचारनेसे ऐसा होना सम्भव है। व्यासदेवजीकी प्रतिज्ञा है कि भगवान्‌के चरित्र श्रवण करनेके इच्छुक पुरुषोंके हृदयमें ईश्वर उसी क्षणमें स्थिर हो जाते हैं[1]। देवर्षि नारदजीने भी व्यासजीको उपदेश करते समय कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥

(भा० १।५।२२)

भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने विष्णुसहस्रनामस्तोत्रके चौथे श्लोकसे लेकर दशवें श्लोकतकके भाष्यमें इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। गोस्वामी तुलसीदासजी विस्तृतरूपसे उसीका समर्थन करते हैं[2]। इन

---

१. श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ (भा० १।१।२)

२. रामचरित चिन्तामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जग मंगल गुनग्राम रामके। दानि मुक्ति धन धर्म धामके॥
सद्गुरु ज्ञान बिराग योगके। बिबुध बैद्य भव भीम रोगके॥
जननि जनक सिय राम प्रेमके। बीज सकल ब्रतधरम नेमके॥
शमन पाप संताप शोकके। प्रिय पालक परलोक लोकके॥
सचिव सुभट भूपति बिचारके। कुम्भज लोभ उदधि अपारके॥
काम कोह कलिमल करिगनके। केहरि शावक जन मन बनके॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारिके। कामद घन दारिद दवारिके॥
मंत्र महामनि बिषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥
हरन मोह तम दिनकर करसे। सेवक शालि पालि जलधरसे॥
अभिमत दानि देव-तरुवरसे। सेवत सुलभ सुखद हरिहर-से॥
सुकबि शरद नभ मन उडुगनसे। राम भक्ति जन जीवन धनसे॥
सकल सुकृत फल भूरि भोगसे। जगहित निरुपधि साधुलोगसे॥
सेवक मन मानस मरालसे। पावन गंग तरंग मालसे॥
कुपथ कुतर्क कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन रामगुन ग्राम इमि, इंधन अनल प्रचंड॥
(बा० दो० ३२ मानसपीयूष)

स्तुतियोंका मनन करनेमें जो आनन्द आता है उसका आस्वादन भक्तजन ही कर सकते हैं ।

यहाँपर हम पाठकोंसे यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे भगवान्की लीलाओंका अध्ययन करते समय यह दृष्टि अवश्य रक्खें कि भगवान् सम्पूर्ण सामर्थ्यसे पूर्ण हैं, उनके अवतार अलौकिक प्रकारसे होते हैं और उनकी लीलाएँ अलौकिक होती हैं । जब उनकी सन्निधिसे जड़में चेतनत्व आ जाता है तब गजेन्द्र, गौ, नाग, बन्दर, रीछ आदि-द्वारा मनुष्यकी वाणीसे स्तुति करवायी या उन्होंने गिरिराज पर्वतको उठाया तो इसमें क्या आश्चर्य है ? भक्तको इन विषयोंमें कोई विकल्प नहीं करना चाहिये । उसे तो लीलाओंके आनन्दसागरमें निमग्न हो जाना चाहिये । यदि किसीके चित्तमें शङ्काएँ उठें तो उनको वेदान्तकी शरण लेनी चाहिये क्योंकि वहाँ सब जटिल प्रश्न शास्त्र और अनुभवके बलपर हल किये गये हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषयमें यह और भी निवेदन करना आवश्यक है कि हमने नित्य पाठ करनेवालोंकी सुविधाके लिये तथा सदा भगवदा-कार मन बनाये रखनेके इच्छुक भक्तोंके लिये श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत भगवान्की स्तुतियोंका संग्रह किया है और जिस स्तुतिका भगवान्के जिस चरित्रसे सम्बन्ध है उसका भी सूक्ष्म रूपसे उल्लेख कर दिया है किन्तु इस संग्रहके क्रममें श्रीमद्भागवतसे कुछ परिवर्तन करना पड़ा है । व्यासजी कहते हैं कि सम्पूर्ण भागवतमें श्रीकृष्णचरित्र ही अनुस्यूत है, इस कारण हमने यह प्रयत्न किया है ये चरित्रकुसुम एकत्र करके एक मालामें ग्रथित कर दिये जायँ । इसी प्रकार गोपियोंके चरित्र और तत्सम्बन्धी स्तुतियाँ भी एक ही स्थलपर लिख दी गयी हैं ।

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णचरित्रप्रधान है, अतः हमने इस पुस्तकके आदिमें श्रीकृष्णचरित्र तथा तत्सम्बन्धिनी स्तुतियाँ लिखी हैं । तदनन्तर अन्य विषय लिखे हैं । इससे भिन्न स्थलोंमें भागवतके क्रमका ही अनुसरण किया है ।

इस ग्रन्थका द्वितीय भाग भागवतका सम्पूर्ण एकादश स्कन्ध होना चाहिये था। उसका अनुवाद गीताप्रेस गोरखपुरसे छपकर प्रकाशित हो गया है, इस कारण वह नहीं लिखा गया। पाठक प्रेससे प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु एक विषय फिर भी रह गया है। वह है भागवतगत वेदान्तके तत्त्वोंका संग्रह। यदि भगवान्की प्रेरणा हुई तो फिर कभी उसका संग्रह कर प्रकाशित करनेकी इच्छा है अथवा कोई दूसरा व्यक्ति भगवान्की प्रेरणासे प्रकाशित कर सकता है।

इस ग्रन्थमें स्तुतियोंकी टीका पू० पा० श्रीधर स्वामीजीके भागवत-भाष्यका छायानुवाद है, तथा पण्डित गङ्गासहायजीकी अन्वितार्थ-प्रकाशिकासे भी सहायता ली गयी है। इसके लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

अन्तमें हम उन महानुभावोंको हृदयसे धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस कार्यमें हमारा हाथ बटाया। उनमें प्रथम पं० चण्डीप्रसादजी शुक्ल [प्रधानाध्यापक जो० म० गोयनका महाविद्यालय काशी] हैं, जिन्होंने वेदस्तुतिका शोधन किया। तदनन्तर पं० अनन्तगोपालशास्त्री फड़के व्या० आचा० [इतिहासपुराणाध्यापक किंसकालेज बनारस], पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी तथा लाला श्रीमुनिलालजी [गीताप्रेस गोरखपुर] हैं जिन्होंने कुछ कापियोंका शोधन किया। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थके संशोधनका कार्य जो० म० गोयनका महाविद्यालयके पुस्तकाध्यक्ष साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्तजीने अत्यन्त परिश्रमसे अपने अवकाशके समयमें किया अतः हम उनके आभारी हैं। इस ग्रन्थके भूमिका-लेखक उपर्युक्त पं० श्रीअनन्तगोपालशास्त्रीजीको मैं हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। उनका परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। इस ग्रन्थके अकारादि क्रमानुसार कोषके सञ्चयमें वेदान्ताचार्य पं० गुणाकरजीसे अत्यन्त सहायता प्राप्त हुई है, इस कारण उनको धन्यवाद देता हूँ। जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उनको पाठक यह समझकर सहन करेंगे कि इस ग्रन्थसे भगवान्के चरित्रोंका सम्पर्क है। शुभम्।

[1]श्रीशुकदेवकृतस्तुति

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥१२॥
भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसतामसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥१३॥
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥१४॥

जिन्होंने जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें निमित्तभूत अपनी लीलाद्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपसे सत्त्व, रज और तम इन तीन शक्तियोंको ग्रहण किया है, जो सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे वर्तमान हैं, और जिनका मार्ग किसीके दृष्टिगोचर नहीं है—उन अपरिमित महिमावाले सर्वोत्तम पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १२ ॥

[भगवान्‌की विचित्र फलदातृताका स्मरण करके फिर नमस्कार करते हैं] धर्ममार्गमें रत पुरुषोंके दुःखको दूर करनेवाले, अधर्मियोंका दमन करनेवाले, नाना प्रकारके फल देनेके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंका रूप धारण करनेवाले तथा परमहंस-आश्रममें स्थित (आत्मनिष्ठ) पुरुषोंके लिये उनका ध्येयभूत आत्मस्वरूप देनेवाले भगवान्‌को मैं फिर प्रणाम करता हूँ ॥१३॥

भक्तोंके पालकके लिये नमस्कार है । भक्तिहीन पुरुषोंको जिनकी दिशा भी दुर्लभ है अर्थात् उनके लिये जो दुर्ज्ञेय हैं ऐसे आपके लिये नमस्कार है । [अब इससे प्रतीत विषमताको दूर करनेके लिये भगवान्‌के ऐश्वर्यका प्रतिपादन करते हैं] आपके बराबर या आपसे अधिक ऐश्वर्यशाली कोई दूसरा नहीं है । इस कारण उस समतारहित निरतिशय ऐश्वर्यसे अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें रमण करनेवाले आपको प्रणाम है ॥१४॥

---

१. भा० स्क० २ अ० ४

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१५॥
विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१७॥
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥१८॥

[सब साधनोंमें भक्तिकी श्रेष्ठताका दो श्लोकोंसे स्मरण कराते हुए प्रणाम करते हैं ।] जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन मनुष्योंके पापोंका तत्काल नाश कर देता है, उन मङ्गलमय कीर्तिवाले भगवान्‌को नमस्कार है ॥१५॥

विवेकी पुरुष जिनके चरणोंकी सेवा (भजन) के द्वारा इहलोक और परलोक दोनोंसे ही मनकी आसक्ति हटाकर परिश्रमरहित हो मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं, उन मङ्गलमय कीर्तिवाले भगवान्‌को नमस्कार है ॥१६॥

[भक्तिशून्य पुरुषोंके सब साधन विफल होते हैं, यह दिखलाते हुए नमस्कार करते हैं] कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप करनेवाले, दानी, यशस्वी, (कूपादि बनवानेवाले) मनको अपने वशमें रखनेवाले, मन्त्रवेत्ता अर्थात् योगी एवं सदाचारी पुरुष, जिनके लिये अपने-अपने कर्मोंका समर्पण किये बिना तप आदिका फल नहीं पाते हैं उन मङ्गलमय कीर्तिवाले भगवान्‌को नमस्कार है ॥१७॥

[अब कहते हैं कि भक्ति ही परम शुद्धिकी कारण है] किरात, हूण, आन्ध्र, चाण्डाल, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि पापजातियाँ और कर्मसे पापी अन्यान्य लोग भी जिनके भक्तोंके आश्रयसे शुद्ध हो जाते हैं उन [पापादिशोधनमें] महाप्रभावशाली भगवान्‌को नमस्कार है ॥१८॥

स एष आत्मात्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१९॥
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान्सतां पतिः ॥२०॥
यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान्प्रसीदताम् ॥२१॥
प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥२२॥

[भगवान् सभीके उपास्य हैं, ऐसा स्मरण करते हुए प्रार्थना करते हैं] जो धीर पुरुषोंके आत्मारूपसे उपास्य हैं; जो वेद, तप और धर्मसे उपास्य हैं; और जिनके स्वरूपको निष्कपट भक्तिसम्पन्न ब्रह्मा, शिव आदि आश्चर्यसे देखते हैं; वे सबके अधिपति भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥१९॥

[सबके पालक भगवान् हैं ऐसा स्मरण करके प्रार्थना करते हैं—] श्रीपति, यज्ञपति, प्रजापति, बुद्धिपति (साक्षी), लोकपति, पृथिवीपति, अन्ध, वृष्णि और सात्वत यादवोंके कुलके पति तथा गति (सब आपत्तियोंमें रक्षक) और भक्तोंके पति भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥२०॥

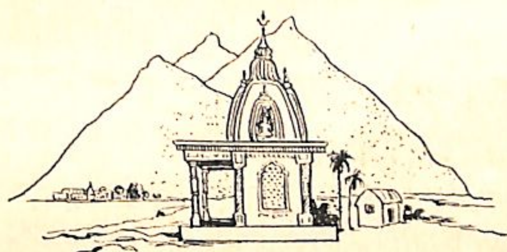
[भगवान्‌के ज्ञानदातृत्वका स्मरण करते हुए प्रार्थना करते हैं—] जिनके चरणकमलके ध्यानरूप समाधिद्वारा विशुद्ध हुई बुद्धिसे विवेकी पुरुष जिनके यथार्थ तत्त्वको जानते हैं और विद्वान् लोग यथामति जिनके माहात्म्यका वर्णन करते हैं वह भगवान् मुकुन्द मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥२१॥

कल्पके आदिमें ब्रह्माके हृदयमें सूक्ष्मरूपसे वर्तमान सृष्टिसम्बन्धिनी स्मृतिका विस्तार करनेवाले, जिस अन्तर्यामीसे, प्रेरित हुई वेदरूपा सरस्वती शिक्षा, व्याकरणादि छः अङ्गोंके साथ ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुई, ज्ञानदाताओंमें श्रेष्ठ ऐसे भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥२२॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुर्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान्षोडश षोडशात्मकः सोऽलंकृषीष्ट भगवान् वचांसि मे २३
नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२४॥

जो व्यापक परमात्मा पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंसे इन भिन्न-भिन्न शरीरोंको बनाकर उनमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करते हैं और जो मनसहित ग्यारह इन्द्रियों और पाँचों प्राणोंके प्रेरक होकर सोलह विषयोंको भोगते हैं, वह भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें अर्थात् माधुर्यादि गुणोंसे विभूषित करें ॥२३॥

[श्रीव्यासजीको नमस्कार करते हैं] जिनके मुखकमलके मकरन्द (वेदान्तसूत्र और पुराणादि) का गुणविशिष्ट शिष्योंने आस्वादन किया है, उन वेदादिकी सृष्टिके प्रवर्तक भगवान् वासुदेवके अवतार श्रीव्यासजीको नमस्कार है ॥२४॥



पहला अध्याय

बाललीला

प्रथम प्रकरण

भगवान्‌का अवतार[1]

देवगणकृतस्तुति

[2]शृण्वन्गृणन्संस्मरयंश्च चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

अखिल शास्त्रवेत्ता विद्वानोंका मत है कि स्ववर्णोचित नित्य-नैमित्तिक वैदिक कर्म करते हुए श्रीभगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन और उनके नामोंका उच्चारण करते रहना चाहिये। इससे अन्तःकरण भगवदाकार हो जाता है और भक्तिशास्त्रमें यही पुरुषार्थ माना गया है। यहाँ शङ्का होती है कि ईश्वर व्यापक, निर्गुण और निराकार है इसलिये उसका कोई नाम या चरित्र होना सम्भव नहीं है। अतः भगवद्भक्ति पुरुषार्थकी साधन नहीं हो सकती।[3]

यह शङ्का यदि वह पुरुष करे जो सप्तम भूमिकामें स्थित है तो उसके लिये यह उपपन्न हो सकती है। उस अवस्थामें तो ब्रह्मके सिवा किसी और वस्तुका भान ही नहीं होता। किन्तु श्रीमद्भगवद्गीताका कथन है कि देहधारियोंको अद्वैतबुद्धि होनी बहुत दुर्लभ[4] है। हमको

---

१. भा० १० । १ और २

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ३७ की टीकामें देखिये ।

३. यथा श्रुतिः 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३ । १५ मुक्तिकोप० २ । ७२) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३ । ८ । ८)

४. अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते । (गीता १२ । ५)

सृष्टिकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है । अतः मानना पड़ेगा कि सृष्टिका कर्ता कोई है, वही अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सब भूतोंकी योनि हैं । यही हुआ सगुणोपाधिक ईश्वर । इन्हीं गुणोंका समावेश 'माया' शब्दमें है, यह माया अनादि सान्त है अर्थात् किसी समय इसका लय हो जाता है; किन्तु यह है ईश्वरके वशमें । इसीका आश्रय करके ईश्वर सब प्रकारके आश्चर्ययुक्त कर्म करता है । भगवान् श्रीकृष्ण-के अद्भुत कर्म इस मायाके ही कारण सम्भव हैं । जीव भी ईश्वरका अंश है किन्तु यह पड़ा है मायाके वशमें । वेदान्तमें जीवसम्बन्धी मायाका नाम अविद्या है । इसी अविद्याका कार्य है आवरण और विक्षेप, जिससे यह जीव अपने अंशी ईश्वरसे पृथक्-सा हो गया है ।[1] इस आवरण और विक्षेपको अलग करनेके लिये ही उपासनाकी आवश्यकता है । भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ही कहा है कि जो मेरी शरणमें आते हैं अर्थात् मेरी उपासना करते हैं वे इस मायाको पार कर लेते हैं[2] ।

अतः सिद्ध हुआ कि उपासनाकी अत्यन्त आवश्यकता है, इसके किये बिना पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता । अद्वैतशास्त्रके द्रष्टा आचार्य-चरण ठौर-ठौरपर ऐसा कहते आये हैं कि—उपासना और वैदिक कर्म करनेसे अन्तःकरणके आवरण और विक्षेपका नाश हो जाता है । इस कारण इनको अवश्य करते रहना चाहिये[3] ।

उपासनाके प्रकारका इस प्रकरणके आदिमें हम उल्लेख कर चुके

---

१. यथा श्रुतिः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३ । १४ । २) 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३ । १४ । २) 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३ । १४ । १) 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः । सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (मा० १ । ६)

२. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता । ७ । १४)

३. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (ई० वा० ११)

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (गी० १८ । ५)

हैं। उसकी एक कोटि भगवान्‌के चरित्रोंका स्मरण करना है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णकी पुण्य लीलाएँ कीर्तित हैं। वहाँ ये पूर्ण ब्रह्म अथवा पूर्ण ब्रह्मके अवतार कहे गये हैं। यदि मायाका अस्तित्व और उसका भगवान्‌के आश्रित होना सिद्ध हो जाय तो इस पक्षको माननेमें कोई अड़चन नहीं हो सकती कि जब भगवान्‌की इच्छा होती है तब वे अपनी मायाको स्वीकार करके इस लोकमें अवतीर्ण होते हैं। यही है अवतारका रहस्य।

त्रेतायुगमें कई ऐसे कारण जुड़ गये थे कि जिससे भगवान्‌को मायाका आश्रय लेकर अवतीर्ण होना पड़ा। एक कारण यह था कि पृथिवीमें राक्षस अधिक बढ़ गये थे, वैदिक धर्मकी मर्यादा लुप्त होने लगी थी और साधुजन दुःसह दुःख पा रहे थे[1]। किन्तु यह प्रधान हेतु नहीं है। भगवान्‌को यह सामर्थ्य है कि वे अपने संकल्पमात्रसे सब दुष्टोंका नाश कर दें। ऐसी सामर्थ्य रहते हुए भी भगवान्‌को उन भक्तोंके हेतु अवतार धारण करना अथवा दर्शन देना पड़ता है जिनको यह इच्छा रहती है कि भगवान् मेरे पुत्र हों, पति हों अथवा सखा हों[2]। और अपनी माया-शक्तिके द्वारा अवतार धारण करना कोई कठिन काम है नहीं। देखो प्रह्लादके निमित्त उन्हें नृसिंहरूपमें प्रकट होना पड़ा था। ऐसे ही जब पृथिवीपर राक्षसोंका अधिक बोझा बढ़ गया तो पूर्वमें वर प्राप्त किये हुए देवकी और वसुदेवजीके यहाँ वे पुत्ररूपसे प्रकट हुए। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि जब भगवान् श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए तब उसी समय चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, बन्दीगृहके द्वार खुल जाना, यमुनाजीका जल भगवान्‌के चरण छूते ही कम हो जाना इत्यादि कार्य महामायाके प्रसादसे सम्भव हैं ही।

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

२. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

इस श्रीकृष्णावतारकी कथा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें इस प्रकार प्रारम्भ होती है कि यादववंशमें उग्रसेन नामके एक राजा थे। उनका कंस नामका एक पुत्र हुआ जो महापापी था। राजा उग्रसेनके भाई देवककी एक पुत्री थी जिसका नाम देवकी था। देवकीका विवाह वसुदेवजीसे हुआ। जब देवकी और वसुदेवजी विदा होने लगे तो कंस बड़े उत्साहके साथ उनको पहुँचानेके लिये स्वयं रथ हाँकने लगा! उस समय आकाशवाणी हुई कि 'अरे कंस! तू अपनी जिस बहिनको सम्मान-पूर्वक पतिके यहाँ पहुँचाता है उसका आठवाँ गर्भ तेरा वध करेगा।'

यह सुनते ही कंस उसी समय अपनी बहिनको मारनेके लिये उद्यत हो गया। वसुदेवजीने कंसको कई प्रकारसे समझाया पर वह राजी नहीं हुआ। अन्तमें वसुदेवजीने प्रतिज्ञा की कि इससे जो पुत्र होगा उसे मैं तुम्हें समर्पण कर दूँगा। इसपर वह राजी हो गया। जब वसुदेवजीका प्रथम पुत्र हुआ तो वे उसको कंसके पास ले गये, किन्तु कंसने उसका वध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि उसको तो आठवें पुत्रसे ही भय था। इतनेमें नारदजी वहाँ पहुँचे और बात-बातमें उससे कहने लगे कि इस समय गोकुलमें नन्दादि गोप, देवकी आदि वसुदेवपत्नियाँ और अक्रूर आदि यादव प्रायः सब ही देवतारूप हैं। इन्होंने पृथ्वीके भाररूप दैत्योंका वध करनेके लिये भगवान्‌से अवतार लेनेकी प्रार्थना की थी, और स्वयं भी उनके कार्यमें सहायता देनेके लिये ही मनुष्यरूपसे उत्पन्न हुए हैं। ऐसा कहकर नारदजी तो चल दिये, किन्तु कंस उत्तेजित हो उठा। उसने वसुदेवजीसे बालकको फिर मँगवाया और उस बालकको वहीं पटककर मार दिया तथा देवकी और वसुदेवजीको बेड़ी डालकर बन्द कर दिया। कंसने इसी प्रकार देवकीके छः पुत्र मार दिये।

सातवाँ पुत्र शेष भगवान्‌का अवतार था। उसको भगवान्‌की प्रेरणासे महामायाने वसुदेवजीकी दूसरी स्त्री रोहिणीके गर्भमें प्रविष्ट करा दिया। रोहिणी उस समय गोकुलमें नन्दजीके आश्रयमें रहती थी, यही बलरामजी हुए।

यहाँ यह शङ्का होती है कि नारदजीने कंसको देवकीके सब पुत्रोंको मारनेके लिये क्यों उत्तेजित किया ? इसका समाधान यही है कि नारदजीने कंसको नियति (होनेवाली बात) पहले ही बता दी। यदि कंस चाहता तो इन निरपराध बालकोंकी हत्या न करता, किन्तु उसकी मौत आ गयी थी और ऐसे कर्म उससे होनेवाले थे। देवकीके इन छः पुत्रोंके पूर्व जन्मकी कथा इस प्रकार है कि पूर्वकालमें ये देवता थे और किसी कारणवश ब्रह्माजीके शापसे दैत्य हो गये थे। जब शापका अन्त हो गया तब महामायाने इनको देवकीके गर्भमें प्रवेश करा दिया।

कंससे मारे जानेपर भी पीछे देवकीजीकी इच्छा होनेपर भगवान् इनको पातालसे ले आये थे। भगवान्के दर्शन प्राप्त करनेपर ये मुक्त होकर देवत्वको प्राप्त हुए[1]। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसा कहनेमें नारद-जीका कोई दोष नहीं था।

जब देवकीका आठवाँ गर्भ उत्पन्न होनेको हुआ तब कंसकी चिन्ता अधिक बढ़ गयी और उसने उस बन्दीगृहका पहरा कड़ा करा दिया। जहाँ देवकी और वसुदेवजीको बन्दी कर रक्खा था। एक समय नारदादि ऋषि, गन्धर्वादि अनुचर और ब्रह्मा, महादेवजी तथा इन्द्रादि देवताओंके सहित कारागारमें आये और गर्भमें प्रविष्ट हुए भगवान्की स्तुति करने लगे।



१. भा० १०।८५।३४ से ५६ तक।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६॥
एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।

(भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा सत्य की, इस कारण सन्तुष्ट हुए देवता सत्यरूपसे भगवान्‌की स्तुति करते हैं) जिनका व्रत (संकल्प) सत्य है, सत्य ही जिनकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है, जो तीनों कालोंमें, सृष्टिके पूर्वमें, प्रलयके बाद एवं स्थितिमें सत्य[2]रूपसे रहते हैं, जो सत्य अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशके कारण हैं[3], उक्त पाँच महाभूतोंमें सत्य[4] (अन्तर्यामी) रूपसे विराजमान हैं और जो इन पाँच महाभूतोंके पारमार्थिक रूप हैं क्योंकि इनका नाश होनेपर शेष रह जाते हैं, जो सूनृता (मधुर) वाणी और सत्यके[5] प्रवर्तक[6] हैं—हे भगवन् ! इस प्रकार सब तरहसे सत्यरूप आपकी शरणमें हम प्राप्त हुए हैं ॥ २६॥

(शङ्का—देवता भी लोकाधिपति हैं वे भगवान्‌की शरणमें क्यों आये ? समाधान—इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका वृक्षरूपसे वर्णन करके दो श्लोकोंसे देवता कहते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि आदिके मूल कारण अद्वितीय सर्वेश्वर आप ही हैं, हम तो आपके आश्रयहीसे रहनेवाले हैं और लोकादि द्वैत आपसे पृथक् नहीं है, इस कारण आपकी शरणमें आये हैं) यह प्रपञ्च आदि वृक्षस्वरूप है, प्रकृति इसका आश्रय है, सुख और दुःख दो फल हैं; सत्त्व, रज और तम तीन इसकी जड़ें हैं; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये ही चार इसके रस हैं; पाँचों इन्द्रियाँ ही इसके ज्ञानकी साधनभूत हैं; काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य—ये ही इसके छः[7] स्वभाव हैं; त्वचा, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि

---

१. (भा० १०।२), २. अव्यभिचरित, ३. सत्य शब्दका अर्थ पञ्चमहाभूत भी है, यथा श्रुतिः 'सच्च त्यच्चाभवत् तत्सत्यमित्याचक्षते,' ४. पारमार्थिकरूपसे। ५. समदर्शन, ६. वेत्ता। ७. अथवा षड्भावविकार—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति। अथवा षड् ऊर्मि—बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२७॥
त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥
बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥

और शुक्र ये सात धातु इसकी छाल हैं; पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ शाखाएँ हैं; मुख आदि नौ द्वार खोखले हैं, दश[1] प्राण ही इसके दस पत्ते हैं; तथा जीव, ईश्वर ये दो पक्षी इसपर बैठे हैं, ऐसा यह समष्टि-व्यष्टि देहरूप वृक्ष दीखता है ॥ २७ ॥

इस प्रकारके संसारवृक्षरूप कार्यके केवल आप ही उत्पत्ति-स्थान हैं, आप ही लयस्थान हैं और आप ही पालन करनेवाले हैं (शङ्का—इन कार्योंको करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र तो प्रसिद्ध ही हैं, फिर मुझे सृष्टि आदिका कर्ता कैसे मानते हो ? समाधान—) आपकी मायासे जिनका ज्ञान आच्छादित हो रहा है, वे आपको ही ब्रह्मादिरूपसे नाना प्रकारका देखते हैं और जो विवेकी पुरुष हैं, उनको ऐसी प्रतीति नहीं होती है किन्तु ब्रह्मादिरूपसे स्थित आपहीको देखते हैं, क्योंकि ब्रह्मादि भी आपके ही अवतार हैं ॥२८॥

(शङ्का—मैं देवकीका पुत्र हूँ, मेरा ऐसा वर्णन क्यों करते हो ? समाधान—) यद्यपि आप ज्ञानरूप हैं* तथापि चराचर संसारके कल्याणके लिये सत्त्वगुणसे उत्पन्न सत्पुरुषोंके लिये सुखद और दुष्टोंके लिये दुःखदायी स्वरूपोंको बार-बार धारण करते हैं (वास्तवमें आप किसीके भी पुत्र नहीं हैं) ॥ २९ ॥

---

१. प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, देवदत्त, धनञ्जय, कृकल ।

* जैसा कि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥ ३० ॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥ ३१ ॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२ ॥

(आपके अवतारका केवल यही प्रयोजन नहीं है किन्तु भक्तोंके मोक्षके लिये भी आप अवतार लेते हैं) क्योंकि हे कमलनेत्र ! विवेकी पुरुष समाधिके द्वारा चित्तको आपकी शुद्ध सत्त्वगुणमयी मूर्तिमें स्थापितकर साधुओंसे सेवित आपके चरणरूप नौकाका सहारा ले करके संसारसमुद्रको बछड़ेके खुरके चिह्नके समान करते हैं अर्थात् (अनायास ही) तर जाते हैं (तात्पर्य यह कि भजन करनेसे मुक्त हो जाते हैं) ॥३०॥

(प्रश्न– आपके चरणरूप जहाजसे यदि प्राचीन लोग तरे तो आधुनिक पुरुषोंकी क्या गति होगी ? उनका कैसे मोक्ष होगा ? उत्तर–)हे स्वयंप्रकाशस्वरूप ! समस्त प्राणियोंपर अत्यन्त प्रेम रखनेवाले पूर्वोक्त विवेकी पुरुष इस अत्यन्त दुस्तर संसारसमुद्रको भी (बछड़ेके खुरके समान अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण) स्वयं अनायास ही पार करके आपकी चरणरूपी नौकाको अन्य पुरुषोंके उपकारार्थ यहीं छोड़ गये हैं (अर्थात् भक्तिमार्गके सम्प्रदायको चला गये हैं) क्योंकि आप भक्तोंके ऊपर कृपा करते हैं ॥३१॥

(शङ्का–विवेकी पुरुषोंको भजन करनेकी क्या आवश्यकता है ? वे तो मुक्त ही हैं ! समाधान—) हे कमलनयन ! जो पुरुष अपनेको स्वयं ही मुक्त माननेवाले हैं और इसीलिये जिन्होंने आपके चरणोंका आदर नहीं किया है तथा आपकी भक्ति न होनेके कारण जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है वे बहुत जन्मोंके तपसे अच्छे पदको (मोक्षके समीपकी पदवीको) प्राप्त करके भी वहाँसे नीचे (नरकमें) गिर पड़ते हैं । (विघ्नोंसे पराजित हो जाते हैं) ॥ ३२ ॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥
सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।

हे माधव ! (जैसे आपसे विमुख अभक्त अपने अधिकारसे गिर जाते हैं) उस प्रकार आपके भक्त आपके प्रति दृढ़ प्रेम करनेके कारण कदापि भक्तिमार्ग (भजनाधिकार)से भ्रष्ट नहीं होते किन्तु आपके द्वारा रक्षित वे भक्त (कालकर्मादिके) भयसे रहित होकर विघ्नोंकी सेनाके स्वामियोंके भी मस्तकपर चरण रखकर विचरते हैं (अर्थात् आपके पदको प्राप्त होते हैं) ॥ ३३ ॥

(श्लोक २९ में कहा गया है कि आप भक्तोंको सुख देनेवाले सत्त्वगुणी स्वरूपको धारण करते हैं, अब यह प्रश्न होता है कि आपके वे रूप किस प्रकार सुख देते हैं, उत्तर–) आप जगत्का पालन करनेके लिये प्राणियोंको कर्मफल देनेवाले शुद्ध सत्त्वमय शरीरको धारण करते हैं जिससे कि वेदाध्ययन (ब्रह्मचर्य), कर्मानुष्ठान, तप (वानप्रस्थ) और समाधिद्वारा चारों वर्णाश्रमी आपकी पूजा करते हैं (यदि आप अवतार धारण न करते तो न आपका पूजन होता न कर्मफलकी सिद्धि होती) ॥ ३४ ॥

(श्लोक ३०, ३१, ३२ में कहा गया है कि केवल भगवद्-भक्तोंको मोक्ष प्राप्त होता है औरोंको नहीं मिलता, किन्तु सिद्धान्त यह है कि कर्मफल भक्तिके बिना भले ही न हो किन्तु मोक्ष तो ज्ञानसे ही होता है, ऐसी परिस्थितिमें भक्तिका क्या प्रयोजन है ? अतः कहते हैं) हे जगत्के आधार ! यदि आपका यह सत्त्वगुणात्मक शरीर प्रकट न होता तो अज्ञान और अज्ञानकृत भेदबुद्धिका निवर्त यह विज्ञान (विशिष्ट—अपरोक्ष ज्ञान) नहीं होता (शङ्का–जड़-बुद्धि आदि जिससे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाशस्वरूप सर्वसाक्षी ब्रह्म है इस

गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥
न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥
शृण्वन्गृणन्संस्मरयंश्च चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥३७॥

प्रकार ज्ञान तो हो ही जायगा ? समाधान—) गुणविशिष्ट प्रकाशके द्वारा केवल आपका अनुमान (काल्पनिक ज्ञान) होता है, साक्षात्कार नहीं होता । परन्तु जब आप शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त शरीर धारण करते हैं तो आपकी सेवासे अन्तःकरणके भगवदाकार हो जानेपर आपके अनुग्रहसे साक्षात्काररूप प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ॥३५॥

(शङ्का—श्लोक २९ में कहा गया है कि आप भक्तोंके अभ्युदय और मोक्षके लिये स्वरूप धारण करते हैं किन्तु आपके ये स्वरूप भी अनन्त और अतर्क्य होनेसे मन और वाणीके गोचर नहीं होते हैं केवल भजनीय ही हैं, इस कारण उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता ? समाधान–) जो मन और इन्द्रियोंके साक्षी हैं और जिसकी प्राप्तिका साधन केवल अनुमानका ही विषय है ऐसे आपके नाम और रूपोंका गुण, जन्म और कर्मोंसे निरूपण नहीं हो सकता । (अथवा यद्यपि अभक्त आपके भक्तवात्सल्य आदि गुण, रामकृष्णादि जन्म, रावण-वधादि कर्मका चिन्तन या कीर्तन नहीं कर सकते हैं) तथापि हे देव ! यह प्रसिद्ध है कि आपकी उपासना करनेवाले पुरुष, उपासनाके समय आपका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं ॥ ३६ ॥

(उपर्युक्त कारणसे भक्तिसे ही मोक्ष होता है ऐसा उपसंहार करते हैं) जो पुरुष आपके मङ्गलमय नाम, रूप और कर्मोंका श्रवण और कीर्तन करते हुए, दूसरोंको स्मरण कराते हुए, स्वयं चिन्तन करते हुए लौकिक कर्मोंमें लगे रहकर भी आपके चरणकमलोंमें चित्तको लगाये रहते हैं उनका फिर जन्म नहीं होता है ॥ ३७॥

दिष्ट्या हरे स्याद्भवतः पदो भुवो भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ३८
न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥३९॥

(अब विशेष करके कृष्णावतारका अभिनन्दन करते हैं) हे हरे ! आप सर्वेश्वरके जन्ममात्रसे आपकी चरणभूत[1] इस पृथिवीका भार उतर गया, यह बड़े आनन्दकी बात है । अब हम आपके वज्र, अङ्कुश आदि शुभ लक्षणयुक्त कोमल चरणोंसे अङ्कित और आपसे अनुगृहीत पृथिवीको और स्वर्गको भी देखेंगे, यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है । (एक समय भौमासुर दैत्य देवताओंकी माता अदितिके कुण्डल छीन लाया था, भगवान् भौमासुरको मारकर, अदितिको कुण्डल देनेके लिये स्वर्गमें गये थे । इस कारण स्वर्ग भी भगवच्चरणारविन्दसे अङ्कित हो गया था) ॥ ३८ ॥

('आपके जन्मसे ही पृथिवीका भार दूर हो गया' ऐसा कहनेसे संशय होता है कि क्या भगवान्को भी सामान्य प्राणीके समान संसारप्राप्ति होती है ? समाधान—) हे ईश ! नित्यमुक्त आप जन्म-रहित हैं, आपके जन्म धारण करनेका लीलाके सिवा दूसरा कारण हमारे तर्कमें नहीं आता । हे नित्यमुक्त ! आपके जन्मका कारण नहीं है यह वार्ता तो अलग रही किन्तु जीवात्मामें भी ये जन्म आदि नहीं हैं, फिर आपके विषयमें जो यह जन्म, मरण और स्थितिकी प्रतीति होती है वह भी अविद्याकृत ही है (परमार्थतः नहीं है) ॥ ३९ ॥

---

१. यथा श्रुतिः 'पृथिव्येव पादौ' छा० ५ । १८ । २

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ४०
दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः।
मा भूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥४१॥

(अब प्रस्तुत कार्यकी प्रार्थना करते हैं।) हे ईश्वर! जिस प्रकार आप मत्स्य, हयग्रीव, कूर्म, वाराह, नृसिंह, हंस, श्रीराम, परशुराम और वामन आदि अवतारको धारण करके हमारी और त्रिलोकीकी रक्षा करते हैं—उसी प्रकार इस समय भी पृथिवीका भार दूर कीजिये। हे यदूत्तम! आपको प्रणाम है। (ऐसा कहकर सबने प्रणाम किया, आशय यह है कि आपके उपकारोंका प्रणाम ही प्रत्युपकार है) ॥४०॥

(फिर देवकी देवीके प्रति कहते हैं–) हे मातः! यह बड़े आनन्दकी वार्ता है कि हमारी रक्षा करनेके लिये आपके उदर (कोख) में परम पुरुष भगवान्ने अंशोंसहित साक्षात् (पूर्णरूपसे) अवतार लिया है, अब कंसकी मृत्यु सन्निकट है, इस कारण अब उससे भय मत करो, आपका पुत्र यादवोंकी रक्षा करनेवाला होगा ॥ ४१ ॥



दूसरा प्रकरण

श्रीकृष्णजन्म

वसुदेवजी तथा देवकीजीकृतस्तुति

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये[2]॥[1]

जिस समय काल-कर्मसे स्वतन्त्र अजन्मा भगवान्‌का प्रादुर्भाव हुआ उस समय आकाश, पृथिवी और नदियोंकी कान्ति दिव्य हो गयी। बड़े-बड़े सरोवर कमलोंकी शोभासे युक्त हो गये। वनके वृक्षोंकी पङ्क्तियाँ, जिनके ऊपर पक्षी और भ्रमरसमूहका मनोहर शब्द हो रहा था, फल-फूलोंसे सुशोभित हो गयीं। सुगन्धयुक्त वायु बहने लगा और उसका स्पर्श आनन्ददायक हो गया। आहवनीय अग्नि स्वतः जाज्वल्यमान हो गयी; साधुओंका मन प्रसन्न हो गया; किन्नर और गन्धर्व भगवान्‌का गुणानुवाद करने लगे; सिद्ध-चारण स्तुति करने लगे; विद्याधरोंकी स्त्रियाँ अप्सराओंके साथ नृत्य करने लगीं; ऋषि और देवता पुष्पोंकी वर्षा करने लगे।

वह घनान्धकारयुक्त अर्ध रात्रिका समय था और शान्तस्वरूप नक्षत्र, तारा और ग्रहोंसे युक्त ब्रह्माजीका रोहिणी नक्षत्र था। जिस

---

१. भा० १०। ३

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक २६ की टीकामें देखिये।

प्रकार पूर्व दिशामें सोलहों कलायुक्त चन्द्रमाका उदय होता है, उसी प्रकार सबकी बुद्धियोंमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करनेवाले वे सर्व-व्यापक विष्णु भगवान् माता देवकीकी कुक्षिसे चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए-से आविर्भूत हुए। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्र थे, हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा कमल धारण किये हुए थे। वक्षस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और कण्ठमें शोभायमान कौस्तुभमणि थी। वे पीताम्बर पहने हुए थे और उनका जलयुक्त मेघके समान श्यामवर्ण था। उनके शिरपर वैदूर्यमणिजटित किरीट था। और कानोंमें कुण्डलोंकी अपूर्व शोभा थी। वे सुन्दर करधनी, बाजूबन्द, कड़े आदि भूषणोंसे शोभायमान थे। ऐसे अद्भुत बालकको देखकर वसुदेव तथा देवकीजी स्तुति करने लगे।



विदितोऽसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१३॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥१४॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह ।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि ॥१५॥

(वसुदेवजीने पहले पुत्रबुद्धिसे देखा फिर उस बुद्धिको त्यागकर वे कहने लगे–) हे ईश्वर ! मैंने आपको जान लिया—आप प्रकृतिसे पर साक्षात् पुरुष हैं, केवल अनुभव तथा आनन्दस्वरूप हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षी (अन्तर्यामी) हैं ॥१३॥

(शङ्का–देवकीके उदरमें प्रविष्ट होनेवालेकी अधिक स्तुति क्यों करते हो ? समाधान–) हे भगवन् ! वही आप सृष्टिके आरम्भमें अपनी मायाद्वारा इस त्रिगुणात्मक जगत्को उत्पन्न करके तदनन्तर इसमें प्रविष्ट न होकर भी प्रत्यक्ष अथवा सद्रूपसे भी प्रविष्ट हुए-से प्रतीत होते हैं । (श्रुति भी प्रतिपादन करती है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस प्रकार देवकीके उदरमें प्रविष्ट-से भासते हैं) ॥ १४ ॥

(इसमें दृष्टान्त देते हैं–) जिस प्रकार ये महत् अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा, (महदादि विकार) अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत जबतक एकसे एक भिन्न होकर रहते हैं तबतक किसी विशेष कार्यको उत्पन्न नहीं करते; फिर जब ये विकृत होकर सोलह तरहके विकार पृथिव्यादि (पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियों) को प्राप्त होकर मिलते हैं तो ब्रह्माण्डको

संनिपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव ।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह संभवः ॥१६॥
एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।

उत्पन्न कर देते हैं और उत्पन्न होनेके अनन्तर उसमें प्रविष्ट हुए-से दीखते हैं परन्तु उसमें प्रविष्ट नहीं होते हैं, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व कारण-रूपसे विद्यमान होनेके कारण फिर उनका प्रवेश करना सम्भव नहीं है। (यहाँ 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुतिका अर्थ यही हुआ कि ईश्वरने प्रवेश-सा किया, जैसे मृत्पिण्डसे जब घट बनता है तब आकाश उसमें प्रवेश नहीं करता । आकाश व्यापक होनेके हेतु पहलेसे ही है। कपालको जोड़ दिया घटाकाश बन गया । आकाशने प्रवेश नहीं किया । ऐसे ही ईश्वर जब सृष्टि करता है तब शरीर निर्माण करनेपर साक्षात् प्रवेश नहीं करता है किन्तु प्रवेश-सा करता है । इसी प्रकार भगवान्ने देवकीके गर्भमें प्रवेश-सा किया, वास्तविक प्रवेश नहीं किया । जो जन्म दीखा वह सब मायाका कार्य था ॥ १५-१६ ॥

(यहाँ सिद्ध किया कि भगवान् अप्रविष्ट होकर भी प्रविष्ट-से भासते हैं, फिर यह शङ्का होती है कि यदि भगवान्का अच्युत स्वरूप है और कारणरूपसे कार्योंमें रहते हैं तो जब कार्योंका ग्रहण इन्द्रियोंसे होता है तब भगवान्का ग्रहण क्यों नहीं होता ? अतः समाधान करते हैं—) इस प्रकार यद्यपि आप, बुद्धिसे जिनके स्वरूपोंका ज्ञान होता है, ऐसे इन्द्रियग्राह्य गुणों (विषयों) के साथ वर्तमान रहते हैं, तथापि उन गुणोंके साथ आपका ग्रहण नहीं होता । (क्योंकि ग्रहण करनेयोग्य वस्तुके साथ रहनेसे ही अन्य वस्तुओंका भी ग्रहण हो जाता है—ऐसा नियम नहीं है । गुणोंके ग्रहणमें इन्द्रियोंकी शक्ति कारण है और उस शक्तिका ज्ञान एकमात्र कार्यके द्वारा ही होता है; तात्पर्य यह कि कार्यके अनुसार ही शक्तिकी कल्पना होती है । अतः जिस प्रकार फलादिमें रूप, रसादि साथ-साथ रहते हैं पर नेत्रसे केवल रूपका ज्ञान होता है रसादि-

अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥१७॥
य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमान् ॥१८॥
त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।

का नहीं होता, जिह्वासे केवल रसका ज्ञान होता है रूपादिका नहीं होता। उसी प्रकार हे प्रभो ! आप विषयोंके साथ वर्तमान रहते हैं, परन्तु विषयोंके ज्ञानके साथ आपका ज्ञान नहीं होता ।) आप सर्वरूप सर्वात्मा और परमार्थ वस्तु हैं अतः आवरणरहित हैं, इसीलिये आपमें बाहर या भीतरका विभाग नहीं है। (अतः आपका प्रवेश नहीं बन सकता। फिर देवकीके गर्भमें प्रविष्ट हुए यह कहना तो बनता ही नहीं।) ॥१७॥

(शङ्का—ऊपरके श्लोकमें कहे गये अनावृतत्वादि चार हेतु प्रपञ्चके अवस्तुरूप होनेपर घट सकते हैं किन्तु प्रपञ्चकी असत्यता संभव नहीं है क्योंकि उसका सत्यत्वरूपसे ज्ञान होता है अतः—समाधान—) जो पुरुष आत्माके दृश्य गुण—देहादिमें आत्मासे पृथक् अस्तित्वका निश्चय करता है वह अविद्वान् है क्योंकि विचार करनेसे देखा गया है कि वे सत् माने गये देहादि सम्पूर्ण पदार्थ केवल वाणीसे उच्चारणमात्र करनेके लिये हैं; इसके सिवा उनमें कुछ तथ्य नहीं है। इसीलिये अवास्तविकरूपसे बाधित वस्तुका वस्तुरूपसे स्वीकार करनेवाला पुरुष अज्ञानी है। (मृत्तिका गोलाकार बनायी गयी तो उसका नाम घट हो गया। विचार करके देखा जाय तो घट केवल मृत्तिका ही है, 'घट' नाम केवल कहनेके लिये है; श्रुति भी कहती है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्') ॥ १८ ॥

हे व्यापक ! यद्यपि आप निष्काम, निर्गुण और निर्विकार हैं तो भी वेदादि कहते हैं कि इस जगत्के जन्म, स्थिति और नाश आपहीसे होते हैं (यहाँ शङ्का होती है कि भगवान् व्यापारशून्य हैं अतः उनका कर्तृत्व किस प्रकार बन सकता है ? यदि कर्तृत्व हुआ तो निर्विकारत्व किस प्रकार हो सकेगा ? इसका समाधान करते हैं—)

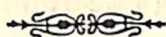
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥
स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥२०॥
त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥

निर्गुण होनेसे आपमें निर्विकारित्व है और मायाशबल होनेसे कर्तृत्व है इस कारण विरोध नहीं है। (यथा अयस्कान्तमणि (चुम्बक) में विकारके बिना कर्तृत्व होता है ।) आपमें कर्तृत्व कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि आप गुणोंके आश्रय हैं। (जिस प्रकार सेवकद्वारा किये गये कार्योंका कर्तृत्व राजामें माना जाता है उसी प्रकार गुणोंसे किये गये सृष्टयादि कार्योंका कर्तृत्व आपमें माना जाता है) तथापि वास्तवमें आप अकर्ता और निर्विकार हैं ॥१९॥

वही आप परमेश्वर अपनी मायाके द्वारा त्रिलोकीकी रक्षा करनेके लिये अपना शुभ्र वर्ण, (सत्त्वगुणात्मक विष्णुमूर्ति) उत्पत्तिके लिये रक्तवर्ण (रजोगुणात्मक ब्रह्मरूप) और सम्पूर्ण सृष्टिका प्रलय करनेके लिये कृष्णवर्ण (तमोगुणात्मक रुद्रमूर्ति) धारण करते हैं (इससे यह स्पष्ट हो गया कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये तीन पृथक् देवता नहीं हैं किन्तु परमेश्वरके ही कार्यके अनुसार पृथक्-पृथक् रूप हैं ।) ॥२०॥

हे व्यापक ! हे अखिलेश्वर ! इस लोकके रक्षणकी इच्छासे आप इस समय मेरे गृहमें (श्रीकृष्णमूर्ति धारणकर) अवतीर्ण हुए हैं, इस कारण (साधुओंकी रक्षा करनेके लिये) आप राजा नामधारी जो कोटिशः दैत्यसमूहके सेनापति हैं, उनसे इधर उधर नियत करके भेजी जानेवाली सेनाओंका संहार करेंगे ॥२१॥

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत्सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥२२॥



(वसुदेवजी इतना जानते हुए भी प्रेमसे मोहित होकर कहते हैं—) हे सुरेश्वर ! आपका जन्म हमारे घरमें होगा, यह सुनकर इस खल कंसने आपके छः बड़े भाई मार डाले, वह इसी समय अपने अनुचरोंसे आपके अवतीर्ण होनेका हाल सुनकर हाथमें शस्त्र लेकर आ ही पहुँचेगा (इस कारण आप सावधान हो जाइये ।) ॥२२॥



रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।

(हे प्रभो ! वेदोंने आपके रूपका इस प्रकार प्रतिपादन किया कि) आप अव्यक्त अर्थात् अद्वितीय हैं, आदिकारण हैं, (तो क्या आदिकारण होनेसे परमाणु हैं ? नहीं;) बृहत् (ब्रह्म) हैं, (परन्तु ब्रह्म तो प्रधानको भी कहते हैं क्या आप प्रधान (प्रकृति) हैं ? नहीं,) चेतन (ज्योति) हैं (तो क्या आप तार्किकोंके मतानुसार ज्ञानरूप गुणसे युक्त चेतन हैं ? नहीं;) निर्गुण हैं (तो क्या मीमांसकोंके सिद्धान्तसे ज्ञानपरिणामी हैं, नहीं;) निर्विकार हैं। (तो क्या शाक्तोंके मतके अनुसार आप शक्तिविक्षेप-परिणामी हैं ? नहीं;) केवल सत्तामात्र हैं, (तो क्या आप सामान्य हैं ? नहीं;) जाति, गुण आदि विशेषसे रहित हैं। (तब तो आप कारण होनेसे सक्रिय तो नहीं हैं ? नहीं;) निरीह हैं। तात्पर्य यह कि सन्निधिमात्रसे कारण हैं। (जैसे सूर्यकी सन्निधिसे सब लोग अपना-अपना व्यापार करते हैं किन्तु सूर्य भगवान् उन सब व्यापारोंके कारण नहीं हैं।) इस प्रकारकी अनिर्वचनीय जो अलौकिक वस्तु है, वही साक्षात् विष्णु हैं। देह, इन्द्रिय अन्तःकरणरूप संघातके प्रकाशक आप ही हैं। (भाव यह है कि आपको भयकी शङ्का ही नहीं है) ॥ २४ ॥

(यह भी है कि महाप्रलयमें आप ही शेष रहते हैं, इस कारण भय कहाँसे हो सकता है ?) कालके वेगसे ब्रह्माजीकी दो परार्ध आयुका अन्त होनेपर जब ये चौदह लोक नष्ट होते हैं, अर्थात् पञ्च महाभूतोंमें लीन हो जाते हैं और महाभूत इन्द्रियोंसहित अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं, अहङ्कार

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥२५॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायँल्लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥२७॥

महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अव्यक्त (प्रधान) में और प्रधान आपमें लीन हो जाता है तब 'यह जगत् मुझमें इस प्रकार लीन हुआ है फिर इसको इस प्रकार उत्पन्न करना चाहिये' इस तरह सबका ज्ञान रखनेवाले आप ही शेष रह जाते हैं ॥२५॥ *

(अब कालकी स्वतन्त्रताका खण्डन करते हैं—) हे प्रधान (माया) के प्रवर्तक ! यह काल जिसकी निमेषादि सूक्ष्मावस्था है और संवत्सरादि स्थूलावस्था है, जिसको द्विपरार्धलक्षण महाकाल कहते हैं, जिससे यह विश्व विपरिणामको प्राप्त होता है वह आपका शक्तिविशेष—अथवा लीला है ऐसे ईशान (प्रकृति-कालादिके नियन्ता) अभय देनेवाले आपकी मैं शरणागत होती हूँ ॥२६॥

(अब यह वर्णन किया जाता है कि भगवान् ही निर्भय स्थान हैं।) यह जन्म-मरणशील जन मृत्युरूपी सर्पसे भयभीत होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भागता फिरा किन्तु (सब लोकोंमें मृत्यु होनेके कारण) निर्भय स्थान इसे कहीं नहीं मिला, अब हे आदिपुरुष ! किसी पुण्यविशेषके कारण आपके चरणकमलोंके समीप पहुँचकर निर्भय शयन करता है क्योंकि मृत्यु आपके चरणकमलोंसे दूर भागती है ॥ २७ ॥

---

* 'शेषसंज्ञः' पाठ माननेपर ऐसा अर्थ करना चाहिये—अन्तमें एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं; इसलिये आपका नाम 'शेष' है ।

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान्भृत्यवित्रासहासि ।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥२८॥

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥२९॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परो भवान् ।
बिभर्त्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥३१॥

(देवकी अब प्रस्तुत कार्यकी प्रार्थना करती है—) हे मधुसूदन ! ऐसे आप अपने भयभीत सेवक हमलोगोंकी क्रूर स्वभाववाले कंससे रक्षा कीजिये, क्योंकि आप भक्तोंके दुःखको दूर करनेवाले हैं, किन्तु आपका जो यह (चतुर्भुज) ईश्वरीय स्वरूप मुमुक्षु पुरुषोंके ध्यान करने योग्य है, चर्मचक्षुवाले (अज्ञानी) पुरुषोंको उसका दर्शन न दीजिये ॥२८॥

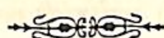
हे मधुसूदन ! वह पापी कंस 'आपका जन्म मेरे गर्भसे हुआ' यह न जान पावे क्योंकि मैं अधीरबुद्धि आपके निमित्त ही कंससे अत्यन्त भयभीत हूँ ॥२९॥

हे विश्वात्मन् ! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित एवं चार भुजाओंवाले इस दिव्य अलौकिक रूपको गुप्त कीजिये । (अर्थात् बालकरूप धारण कीजिये) ॥३०॥

जो आप परम पुरुष प्रलयके शान्त होनेपर (सृष्टि और स्थितिके समय) इस असंख्य ब्रह्माण्डात्मक जगत्को अपने शरीरमें निस्संकोच (अवकाशपूर्वक) धारण कर लेते हैं, ऐसे आपको मेरे उदरसे उत्पन्न हुआ जो समझता है वह मनुष्योंमें हास्यास्पद है ॥३१॥



तीसरा प्रकरण



शिशुलीला[१]

नलकूबर और मणिग्रीवकृत स्तुति

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्[२]

इस प्रकार स्तुति की जानेपर चतुर्भुजधारी श्रीभगवान्‌ने कहा 'हे वसुदेवजी ! यदि तुम कंससे भयभीत हो तो मुझे गोकुलमें पहुँचा दो। और वहाँ यशोदाके गर्भमें जो मेरी योगमाया उत्पन्न हुई है उसे यहाँ ले आओ।' यह कहकर श्रीभगवान् मौन हो गये और माता-पिताके देखते ही तत्काल उन्होंने अपनी योगमायासे बालकके समान छोटा रूप धारण कर लिया। फिर बालरूप भगवान्‌को लेकर वसुदेवजी बाहर आये। उस समय भगवान्‌की मायाने द्वारपालोंको चेष्टारहित कर दिया और दरवाजोंके किवाड़ अपने आप खुल गये।

भाद्रका महीना था। भयङ्कर वर्षा हो रही थी। मथुरा और गोकुलके बीच श्रीयमुनाजीका प्रवाह अत्यन्त बढ़ा हुआ था और वे जोरोंसे बह रही थीं। वसुदेवजीने उसी बढ़ी हुई यमुनामें प्रवेश किया और बालकको शिरपर रख लिया। ज्यों ही बालकके चरणोंका स्पर्श हुआ, यमुना माताका जल फिर चरणोंसे ऊपर नहीं बढ़ा। इस प्रकार वसुदेवजी आनन्दपूर्वक गोकुलमें पहुँच गये।

---

१. भा० स्क० १० के अध्याय ४ से १० तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके ३८ वें श्लोककी टीकामें देखिये।

उसी समय वहाँ यशोदाजीके कन्या उत्पन्न हुई थी किन्तु योग-मायाके प्रभावसे उस समय सब लोगोंको निद्रा आ गयी और यशोदाको भी यह विदित नहीं हुआ कि उसके पुत्र हुआ है या कन्या। वसुदेव-जीने गोकुलमें पहुँचकर पुत्रको यशोदाकी शय्यापर सुला दिया और उस कन्याको लेकर अपने निवासस्थानको लौट आये तथा उसे देवकीकी शय्यापर सुला दिया। तदनन्तर बालकका शब्द सुनकर वन्दीगृहके रखवारे जाग गये और तुरन्त कंसको प्रसवकी सूचना दे दी। यह सुनकर कंसको भय हुआ कि मेरा काल उत्पन्न हो गया; वह तुरन्त घबड़ाया हुआ सूतिकागृहमें चला गया और देवकीके करुणोत्पादक दीन वचन सुनकर भी उस दुष्टने कन्याको पाषाणपर पटक ही दिया। किन्तु वह कन्या शिलापर न गिरकर, कंसके हाथोंसे निकल अष्टभुजा देवीका रूप धारणकर यह कहती हुई आकाशमें चढ़ गयी कि 'रे मूर्ख! तूने मुझको मारकर क्या लिया? तुझको मारनेवाला तेरा शत्रु तो कहीं उत्पन्न हो ही गया है।'

यह सुनकर कंस बहुत लज्जित हुआ और उसने देवकी एवं वसु-देवजीसे क्षमा माँगी और उन्हें वन्दीगृहसे मुक्त कर दिया। फिर दैत्य मन्त्री और सभासदोंने कंसको समझाया कि हम गोकुल आदि सब ग्रामोंमें दश दिनके भीतर जन्मे हुए सब बालकोंको मार देते हैं। अतः आपको भयभीत नहीं होना चाहिये। अपनी जान बचानेकी आशासे दुष्ट कंस राजी हो गया और उसने इस कर्मसे अपने ऊपर पापका अधिक बोझा लाद लिया। तदनुसार पहले तो पूतना राक्षसी अपने स्तनोंमें विष लगाकर अति सुन्दर रूप धारणकर नन्दजीके घर गयी और सहसा बालकको गोदमें लेकर स्तनपान कराने लगी। तब क्रोधयुक्त हुए भगवान्ने अपने दोनों हाथोंसे उसका स्तन जोरसे पकड़कर उसके विषयुक्त स्तनोंको प्राणोंके सहित पीना आरम्भ किया। इससे व्याकुल होकर उस राक्षसीने अपना वास्तविक विकराल रूप प्रकट किया और वह भयङ्कर शब्द करके काँपती हुई पृथिवीपर गिरकर मर गयी।

दूसरी बार शकटासुर दैत्यने एक छकड़ेमें प्रवेश किया, जिसके नीचे पालनेमें भगवान् सो रहे थे। कुछ देर पीछे जगकर भगवान् दूध पीनेके लिये रोने और पैर पटकने लगे। इस तरह पाँव पटकते-पटकते उन्होंने जो लात मारी तो छकड़ा चूर-चूर होकर नीचे गिर गया और राक्षसका प्राणान्त हो गया।

तीसरी बार आँधीकी ओटमें तृणावर्त्त दैत्य आया और नीचे बैठे हुए भगवान्को आकाशमें उड़ा ले गया। उस समय श्रीभगवान् गरिमा शक्ति धारणकर इतने भारी हो गये कि वह राक्षस उन्हें और अधिक देरतक न उठा सका। भगवान्ने उसको गला घोटकर मार दिया।

भगवान्ने ये सब अद्भुत कार्य उस समय किये थे जब वे बालक-रूपसे गोदमें ही रहते थे। फिर धीरे-धीरे खड़े होने लगे और क्रमशः पैरोंसे भी चलने लगे। इस कुमारावस्थामें वे अपनी बाललीलाओंसे सब गोपियोंको आनन्द देने लगे। इस समय वे बालोचित सभी प्रकारके उत्पात करने लगे। इससे गोपियोंको मनमें तो बड़ा आनन्द आता किन्तु ऊपरसे दिखानेको वे चिढ़ा करतीं। उनके मनका भाव था कि भगवान्के खीझे हुए स्वरूपका दर्शन करें। वे यशोदाके पास जातीं और कहतीं 'तेरा पुत्र बड़ा ऊधमी हो गया है। जब चाहे जब बछड़ोंको खोल देता है जिससे वे दूध पीनेके लिये गायोंके पास दौड़ जाते हैं जब हम बछड़ोंको पकड़ने जाती हैं तो यह घरोंके भीतर घुसकर दही, दूध चुराकर खा जाता है और यदि दही और मक्खनके बर्तन छीकोंमें टँगे हों तो भी यह तो घट-घटकी बात जानता है। जिस घटमें दूध-दही होता है उसीमें छिद्रकर अपना मुँह ऊपरको खोल लेता है। बस जितना चाहता है पीता है और बाकी बहा देता है या बन्दरोंको खिला देता है। गोपियोंकी ऐसी चुगलियोंको यशोदा हँसकर टाल देती थीं[1]।

---

१. किसी कविने बालपनकी लीलाओंकी रचना बड़ी सरल तथा रोचक कवितामें की है, उसे इस पुस्तकके अन्तमें लिख दिया है।

एक समय यशोदा भगवान्को स्तनपान करा रही थीं और सामने दूध औट रहा था; जब वह उफनने लगा तो यशोदा जल्दीसे भगवान्को पृथिवीपर छोड़ दूध उतारनेको दौड़ीं। इससे भगवान् कुछ क्रुद्ध-से होकर वहाँ दूध-दहीसे भरे हुए मृत्तिकाके भाण्डोंको फोड़कर चले गये और एकान्तमें छिपकर माखन खाने लगे तथा जो बचा उसे बन्दरोंको खिलाने लगे। इधर यशोदाजी दूध उतारकर लौटीं तो देखती हैं कि दूध-दहीके बर्तन फूटे पड़े हैं और सारा गोरस नष्ट हो गया है। वे समझ गयीं कि यह सब श्रीकृष्णकी करतूत है। जब चारों ओर ढूँढ़नेपर उन्होंने भगवान्को देखा तो हाथमें लकड़ी लेकर उनके समीप गयीं। उन्हें देखकर भगवान् भागने लगे। यशोदाजी उनके पीछे-पीछे दौड़ीं और अन्तमें भगवान्को पकड़ लिया। उन्होंने डपटकर कहा 'तू बड़ा ऊधमी हो गया है, अब मैं तेरी सारी चतुरता निकाल दूँगी।' यह कहकर यशोदाने भगवान्के मुखकी ओर दृष्टिपात किया तो देखा कि बालरूप भगवान् रो रहे हैं। वे आँखें मींजते हैं, जिससे उनकी आँखोंका काजल चारों ओर फैल गया है और पीटनेके भयसे कातर नेत्रोंसे ऊपरको देख रहे हैं।

माता यशोदाने देखा कि पुत्र मारके भयसे काँप रहा है। उन्होंने छड़ी फेंक दी, किन्तु फिर विचार किया कि गोकुलभरकी स्त्रियाँ प्रतिदिन इसकी शिकायत करती हैं इसलिये इसे कुछ-न-कुछ दण्ड देना ही चाहिये। अतः जैसे किसी साधारण बालकको उसकी माता बाँधती है, वैसे ही वे भगवान्को डोरीसे ऊखलमें बाँधने लगीं। वह डोरी दो अङ्गुल छोटी रही तब दूसरी डोरी जोड़कर बाँधने लगीं तो वह भी कम हो गयी। फिर तीसरी, चौथी, पाँचवींसे बाँधने लगीं तो वह भी दो-दो अङ्गुल कम हो गयी। इस प्रकार कई डोरियोंको जोड़कर उनसे बाँधनेपर भी वे नहीं बँधे। इस प्रकार बहुत परिश्रम करनेसे जब भगवान्ने देखा कि माता थक गयी है तो कृपया स्वयं ही बँध गये। तब यशोदाजीने भगवान्को ऊखलमें बाँध दिया और आप अन्य कार्यमें लग गयीं।

उसी स्थानपर यमलार्जुननामक दो वृक्ष एक दूसरेके अत्यन्त समीप खड़े थे । भगवान्ने उनके बीचमें प्रवेश किया, किन्तु वह ओखली आड़ी पड़ गयी, उस समय उन्होंने जो जोर किया तो वे दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर टूट गये और तत्काल उनमेंसे दो दिव्य पुरुष प्रकट हुए । ये कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव थे । वृक्षयोनिसे पूर्व सम्पत्तिमान् होनेके कारण ये मदान्ध हो गये थे । एक बार नग्न होकर जलक्रीडा करते देख नारदजीने उनको, उपकार करनेके लिये, वृक्षयोनि भोगनेका शाप दिया—फिर जब उन्होंने अनुनय-विनय की तो उनपर दया करके यह वर दिया कि श्रीकृष्ण भगवान्की समीपता पाकर तुम फिर देवयोनिको प्राप्त होगे । यमलार्जुनके उखड़नेपर वे नलकूबर और मणिग्रीव भगवान्के समीप आये और नतमस्तकसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ।



नलकूबर और मणिग्रीवकृत स्तुति



कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥२९॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥३०॥
त्वं महान्प्रकृतिः साक्षाद्रजःसत्त्वतमोमयी ।

हे कृष्ण ! (आप निपट गोपाल नहीं हैं ।) आपका स्वभाव अचिन्त्य है । आप परम पुरुष हैं क्योंकि आप सबके कारण (आद्य) हैं । (केवल निमित्त कारण ही नहीं किन्तु आप उपादान कारण भी हैं क्योंकि) स्थूल-सूक्ष्मरूप यह जगत् आपका ही स्वरूप है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥२९॥

(आप जगत्के नियन्ता भी हैं क्योंकि) आप सकल जीवोंके देह, प्राण, अहङ्कार और इन्द्रियोंके (अन्तर्यामीरूपसे) ईश्वर हैं । (शङ्का होती है कि इस संसारका काल निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है और प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ महत् जगत्के आकारसे परिणत होता है तो कर्ता तथा नियन्ता पुरुष ही सिद्ध होता है । इसका समाधान डेढ़ श्लोकसे करते हैं, आप तो अविकारी हैं और पुरुष आपका अंश है, महत्से तृणपर्यन्त सब कार्य ही हैं इस कारण) हे भगवन् ! आप ही काल हैं । (काल ही आपकी लीला है) आप ही विष्णु हैं और आप ही ह्रास और वृद्धिसे शून्य (अव्यय) ईश्वर हैं ॥३०॥

रजः-सत्त्व-तमोगुणमयी प्रकृति (शक्ति) आप ही हैं; (यह ऊपर कहा गया है कि प्रकृतिके क्षोभक काल भी आप ही हैं) प्रकृतिका कार्य महत् भी आप ही हैं; प्रकृतिके प्रवर्तक पुरुष भी आप

१. भा० १० । १० ।



नलकूबर और मणिग्रीवद्वारा स्तुति

त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३१॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥३२॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।

ही हैं, क्योंकि वह भी आपका ही अंश है। सबके साक्षी भी आप ही हैं। अर्थात् देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणके रोग, राग, प्रीति आदि विकारोंको जाननेवाले आप ही हैं ॥३१॥

(शंका—यदि सब कुछ भगवान् हैं तो किसी भी पदार्थका (यथा घट आदिका) ज्ञान होनेपर भगवान्का ज्ञान क्यों नहीं होता ? यदि होता है तो सब पुरुषोंको ब्रह्मज्ञानी हो जाना चाहिये। समाधान—) बुद्धि, इन्द्रिय, अहङ्कार इत्यादि दृश्य प्रकृतिके कार्योंसे सकल विश्वके द्रष्टा आपका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि जीवके उत्पत्तिसे पहले आप (स्वप्रकाशरूपसे) वर्तमान हैं। ऐसे आपको देहादिसे लिपटा हुआ कौन जीव जाननेके लिये समर्थ होगा ? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ॥३२॥

(अतः दुर्ज्ञेय होनेसे केवल प्रणाम ही करते हैं—) इस प्रकार वसुदेवजीके पुत्र संसारके जन्म इत्यादिके विधाता एवं अपनेसे (भगवान्से) ही प्रकाशित होनेवाले सत्त्वादि गुणोंसे आच्छन्न महिमावाले ब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है। (भाव यह है कि सत्त्वादि गुणोंमें ब्रह्मका आभास पड़ता है और तभी वे कार्यक्षम होते हैं अन्यथा नहीं होते और इन्हीं गुणोंने ब्रह्मका आवरण किया है जैसे कि सूर्यके ही प्रकाशसे दिखायी देनेवाला राहु सूर्यको आवृत कर देता है।) ॥३३॥

(भगवान् पूछते हैं कि मैं ईश्वर हूँ यह कैसे जाना ? इसपर कहते हैं—) सामान्य देहधारियोंमें जिनका होना असम्भव है उन अनुपम और निरतिशय प्रभावोंके द्वारा शरीरधारी न होनेपर भी

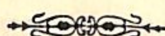
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥३४॥
स भवान्सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥३५॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥३६॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥३७॥
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्

मत्स्यादि शरीरोंमें जिनके अवतारोंका ज्ञान होता है वे ही आप धर्मादि चार पुरुषार्थोंके स्वामी इस समय सब लोकोंकी उन्नति और मुक्तिके लिये अपने अंशभागी बलरामजीके साथ परिपूर्ण रूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥३४-३५॥

हे परम कल्याण ! आपको नमस्कार है । हे परम मङ्गल ! आपको नमस्कार है । वासुदेव शान्त एवं यादवोंके स्वामी आपको नमस्कार है ॥३६॥

हे भूमन् ! हम आपके अनुचर नारदजीके दास हैं और हमें आपका दर्शन नारद ऋषिके अनुग्रहसे हुआ है । अब हमें (अपने स्थानपर जानेकी) आज्ञा दीजिये ॥३७॥

(वहाँ जाकर हमारा पहलेके समान दुष्ट स्वभाव न हो अतः कहते हैं–) हमारी वाणी तुम्हारे गुणगान करनेमें तत्पर हो । हमारे कान तुम्हारी कथाओंको सुननेमें, हाथ पूजा आदि करनेमें, शिर आपके निवासस्थान जगत्को नमस्कार करनेमें और दृष्टि आपके मूर्ति-स्वरूप सत्पुरुषोंका दर्शन करनेमें तत्पर हो ॥३८॥



चौथा प्रकरण



कुमारावस्थालीला[1]

ब्रह्माकृत स्तुति

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन्नमस्ते[2] ॥

पूतनावध आदि अद्भुत चरित्रोंको देखकर गोकुलवासियोंको सन्देह होने लगा कि क्या ये कार्य बालकरूप श्रीकृष्णके ही हैं। इन गोप-गोपियोंको तो माधुर्यभाव ही इष्ट था। ये तो भगवान्‌को अपना पुत्र, सखा, प्रियरूपसे ही देखना चाहते थे। इस कारण भगवान् भी अत्यन्त बालभावका ही अनुकरण करते रहते थे। जब कोई गोपी कहती कि तू बड़ा अच्छा नृत्य करता है, तब भगवान् बालकके समान नृत्य करने लगते। ऐसे ही जब गानेकी प्रशंसा की जाती तो ऊँचे स्वरसे गाने लगते थे। जब कोई गोपी कहती 'भय्या ! वह पीढ़ा, पसेरी और पाँवड़ी तो उठा ला' तब उन भारी वस्तुओंको लानेमें असमर्थ होकर भी लानेका प्रयत्न करते। कभी अपने साथी बालकोंके साथ मल्लयुद्ध करनेको उद्यत हो जाते। इस प्रकार वे तरह-तरहकी बालक्रीड़ाएँ करके गोकुलवासियोंके चित्तमें हर्ष उत्पन्न करते थे।

किन्तु ये लोग गोकुलमें नित्य नये उत्पात होते देखकर नाना प्रकारकी शंकाएँ करने लगे। और सब गोपोंने मिलकर अन्यत्र जानेका

१. भा० १०।११ से १४ तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ४० की टीकामें देखिये।

निश्चय कर लिया । फिर वे सब लोग वृन्दावनमें आकर बस गये । यह वन बड़ा सुहावना और नये-नये उद्यानोंसे युक्त था । इसमें गोपाल गोपी और गौओंके सेवन करनेयोग्य पवित्र पर्वत, तृण और लताओंकी बहुलता थी । इस समय भगवान्‌की अवस्था पाँच वर्षकी थी । वे गोपबालकोंके साथ गाय चरानेको दूर-दूर स्थानोंमें जाने लगे ।

एक समय वत्सासुर नामका राक्षस बछड़ेका रूप धारण कर अकेले बछड़ोंमें आ मिला । भगवान् धीरे-धीरे उसके समीप आये और उसके पीछेके पैरोंको पकड़कर घुमाते हुए उसे एक पेड़पर पटक आये, वहाँ गिरते ही उस दैत्यका प्राणान्त हो गया । मरते समय मायिक रूप न रहनेके कारण उस दैत्यने अपना अति विकराल और विशाल देह प्रकट किया ।

दूसरे समय गोपोंने बगुलेके रूपमें एक बड़ा भारी प्राणी देखा, उसे देखकर वे भयभीत हो गये । यह पूतनाका भाई बक नामका दैत्य था । जब अन्य ग्वालबालोंके साथ भगवान् उसके पास गये तो उसने झपटकर उन्हें निगल लिया किन्तु भगवान्‌का तेज ऐसा असह्य था कि उसे अपने तालुके मूलमें अग्निका दाह-सा अनुभव होने लगा । तब उसने तत्काल वमन करके श्रीकृष्णजीको बाहर निकाल दिया और बड़े क्रोधसे चोंच खोलकर उनके शरीरपर झपटा । तब भगवान्‌ने उसकी चोंचके दोनों भागोंको अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर सब बालकोंके देखते हुए पतेलके समान सहजमें चीर डाला ।

तीसरी बार भगवान् अपने साथियों और बछड़ोंके साथ वनमें गये । वहाँ पूतना एवं बकासुरका भाई अघासुर एक बहुत बड़े अजगरके रूपमें इस प्रतीक्षामें बैठा था कि कब श्रीकृष्ण आवें और मैं उनका वध करूँ । उसका आकार इतना बड़ा था कि वह एक पर्वतश्रेणी-सा जान पड़ता था । उसे देखकर ग्वाल-बाल आपसमें कहने लगे 'देखो यह कैसा विचित्र अजगराकार पर्वत है । ऐसा जान पड़ता है मानो इसका ऊपरका होंठ मेघसे मिला हुआ है और नीचेका नदीपर रक्खा हुआ है ।

इसकी ये दोनों गुफाएँ जबड़े-सी जान पड़ती हैं और ये पर्वतशिखर मानो दाढ़ें हैं। यह चौड़ा-सा मार्ग जिह्वा-सा जान पड़ता है'। इस प्रकार कहते हुए उन बालकोंने अपने बछड़ोंके साथ हँसते-हँसते उसके मुखमें प्रवेश किया। तब समस्त ग्वाल-बालोंको अघासुरके मुखमें देख उसके वध और अपने भक्तोंके त्राणके लिये स्वयं भी भगवान् उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये।

भगवान्के घुसते ही अघासुरने अपना मुँह बंद कर लिया। इधर उसके गलेमें पहुँचकर भगवान्ने अपना शरीर बढ़ाना आरम्भ किया। इससे उसके गलेमें डाट-सी लग गयी और उसका दम घुटने लगा। उसके नेत्र बाहर निकल पड़े और वह छटपटाने लगा। इससे उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर बाहर निकल आये। प्राण निकलते ही भगवान् पूर्ववत् बालरूपसे सब ग्वाल और बछड़ोंके सहित बाहर निकल आये।

तदनन्तर वे विचरते हुए यमुना-तटपर पहुँचे और क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजनकी तैयारी करने लगे। ग्वालबालोंने अपनी-अपनी भोजनकी पोटलियाँ खोलीं और आपसमें एक-दूसरेके पदार्थ बाँट लिये। भगवान्ने अपने बायें हाथके हथेलीमें ग्रास रक्खा, अगुँलियोंके पोरुओंमें चटनी इत्यादि पदार्थ रक्खे और सब बालकोंके मध्यमें खड़े होकर अपने चारों ओर बैठे हुए साथियोंको हँसाते हुए भोजन करने लगे। इसी समय बछड़े अपने स्थानपर दिखायी न दिये क्योंकि वे हरी-हरी घास चरते-चरते दूर निकल गये। भगवान्ने बालकोंको भयभीत देखकर कहा 'तुम भोजन न छोड़ो, मैं बछड़ोंको ले आता हूँ।' ऐसा कहकर वे हाथमें भात लिये आगे बढ़ गये।

इस समय ब्रह्माजीने, जो अघासुरका आश्चर्यजनक मोक्ष देखा तो उनकी उत्कण्ठा भगवान्की आनन्ददायिनी महिमा देखनेकी और भी अधिक हुई। इसीसे उन्होंने बछड़े छिपा दिये। भगवान् ग्वालबालोंको छोड़कर आगे बढ़े तो ब्रह्माजीने उन ग्वालबालोंको भी एक पर्वतकी कन्दरामें छिपाकर सुला दिया। भगवान् तो ब्रह्माजीकी सारी करतूत जान

ही गये । तब जगत्प्रतिपालक श्रीकृष्णचन्द्रने मनमें विचार किया कि यदि मैं इस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंको घर नहीं ले जाऊँगा तो इनकी माताओंको अत्यन्त दुःख होगा । और यदि ब्रह्माजीके चुराये हुए बछड़ों और गोपालोंको लौटाता हूँ तो ब्रह्माको मोह नहीं होगा । अतः ऐसा न करके भगवान्‌ने अपनेको ही उन नानारूपके गोवत्स और गोपालोंके रूपमें परिणत कर दिया । यहाँ कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भगवान् ही सारे जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं, भगवान्‌के बिना किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है । इसके सिवा यह बात भी है कि भगवान् मायाके स्वामी हैं, अतः वे सभी प्रकारके चमत्कार कर सकते हैं ।

भगवान्‌ने ये नाना प्रकारके बालक और बछड़े ठीक उसी प्रकारके, उसी सूरतवाले, वैसे ही सजे-धजे और हाथमें वंशी लिये बनाये जैसे कि पहले ग्वाल-बाल और बछड़े थे । गोष्ठमें लौटनेपर सब बछड़े और बालक अपने-अपने नियत स्थानपर पहुँच गये । उनके माता-पिताओंको कोई भ्रम नहीं हुआ, किन्तु भगवत्प्रवेशसे उनकी प्रीति कहीं अधिक बढ़ गयी ।

ब्रह्माजीने अपनी दृष्टिसे इस कृत्यमें केवल एक त्रुटिमात्र समय लगाया, किन्तु इतनेहीमें व्रजमें एक वर्ष बीत गया । उन सब बालक और बछड़ोंको भगवान्‌के साथ देखकर वे बड़े आश्चर्यचकित हुए और सोचने लगे कि ये उतने ही बालक और बछड़े कहाँसे आ गये, जब कि मेरे सुलाये हुए बालक और बछड़े भी यथास्थान मौजूद हैं । ब्रह्माजी इस रहस्यको कुछ न समझ सके । और उनको यह भी माळूम न पड़ा कि इनमें कौन सत्य है और कौन मायारचित है ।

इस प्रकार मोहरहित और जगत्को मोहित करनेवाले विष्णु भगवान्‌को मोहमें डालनेको प्रवृत्त हुए ब्रह्माजी अपनी मायासे आप ही मोहित हो गये । इस समय जब ब्रह्माजी यह विचार कर रहे थे कि इन बछड़ों और बालकोंमें कौन सत्य हैं और कौन मायाकल्पित हैं, उन्हें वे सभी बालक और बछड़े चतुर्भुजमूर्ति दीखने लगे और उन्होंने

यह भी देखा कि उन सबका पूजन देवताओंसहित अनेकों ब्रह्मा कर रहे हैं।

इस प्रकार ब्रह्माजी स्वतः मायामें डूब गये। भगवान्‌ने उनके मोह आदि क्लेशको जानकर अपना मायारूप परदा हटा दिया। तब उन्होंने केवल भगवान्‌को ही देखा। वे सुलाये हुए गोपाल और बछड़ोंको ले आये और अपने शरीरको दण्डकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें डालकर गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे। इस समय भगवान् पहलेहीके समान उन पुराने ग्वालबालोंके मध्यमें हथेलीमें ग्रास रक्खे हुए दिखायी दिये।



नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥१॥
अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

[ब्रह्माजी अपने किये हुए अपराधसे थर-थर काँपते हुए भगवान्‌की मायाको जाननेमें असमर्थ हो भगवान्‌के उस समयके (तात्कालिक) स्वरूपका कीर्तन करते हुए कहने लगे 'आपकी प्रसन्नताके लिये आपको ही स्तुति करता हूँ'] हे स्तुत्य ! मेघके समान श्यामल शरीरधारी, बिजली-जैसे चमकीले वस्त्रोंसे आच्छादित गुञ्जाओंके झूमकों और मोरपङ्खोंके मुकुटसे सुशोभित मुखवाले, गलेमें वैजयन्ती माला, चारों हाथमें ग्रास, बेंत, सींग, वंशी धारणकर इनकी शोभासे युक्त हुए, कोमल चरणोंवाले, नन्दगोपके लाड़िले आपको मैं नमस्कार करता हूँ* (यहाँ भगवान्‌के हाथमें उसी ग्रासका वर्णन किया गया है जो बछड़ोंके चुरानेके समय एक हाथमें रक्खा था । यह विषय भी ध्यान देने योग्य है कि अधिकारी भक्तोंको भगवान्‌की मूर्ति चतुर्भुज दीखती थी जैसे अर्जुन और भीम प्रभृतिने देखा था ।) ॥१॥

(स्तुति करनेकी प्रतिज्ञा करके केवल स्वरूपका ही वर्णन क्यों करते हो ? इसपर कहते हैं) हे देव ! भक्तोंकी इच्छाके अनुसार प्रकट हुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अति सुलभ अवतारकी, जो पाञ्चभौतिक नहीं, अपितु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं—ब्रह्मा, समर्थ नहीं हूँ अथवा

---

१. भा० १० । १४

* कुछ टीकाकार ऐसा मानते हैं कि भगवान् ग्रासको बायें हाथमें, बेंत और सींगको काँखमें, वंशीको कटिवस्त्रमें रखकर दायें हाथसे भोजन करते थे । वे द्विभुज ही थे।

नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः२

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥४॥
पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहानिजकर्मलब्धया ।

कोई भी समर्थ नहीं है । जब अवतारकी महिमा नहीं जानी जाती तो आत्मसुखके अनुभवसे ज्ञात होनेवाले गुणातीतस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको एकाग्र किये गये मनसे भी जाननेके लिये कौन समर्थ होगा ? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ॥२॥

(यदि यह बात है तो अज्ञानी इस संसारसे कैसे तरेंगे ? इसपर कहते हैं ।) जो ज्ञानकी प्राप्तिमें कुछ भी प्रयास न करके केवल साधुओंके निवासस्थानमें रहकर भक्तोंके मुँहसे स्वभावतः नित्य प्रकटित हुई आप (भगवान्) की चर्चाको सुनकर उसका शरीर, वाणी और मनसे आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, हे अजित ! उन पुरुषोंने त्रिलोकीमें औरोंसे नहीं जीते जानेवाले आपको भी जीत लिया है (अर्थात् उनको आप प्राप्त हो गये) ॥३॥

(कहते हैं कि बिना भक्तिसे ज्ञान नहीं हो सकता है ।) हे प्रभो ! जैसे सरोवरसे अनेक स्रोत बहते हैं, वैसे ही आपकी भक्तिसे पुरुषार्थरूपी स्रोत बहते हैं । ऐसी आपकी भक्तिको त्यागकर जो पुरुष शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, उनको केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धानकी भूसी (छिलके) को कूटनेवालेको केवल क्लेश ही शेष रहता है—चावल नहीं मिलते ॥४॥

(भक्तिसे ही ज्ञान होता है अन्यथा नहीं, ऐसा जो कहा गया है उसपर सदाचाररूप प्रमाण देते हैं) हे भूमन् ! पूर्वकालके

विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥५॥
तथापि भूमन्महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥६॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।

अनेक योगी इस लोकमें भक्तिके अतिरिक्त अनेक उपायोंको करते हुए भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके तदनन्तर उन्होंने सब लौकिक और वैदिक कर्म आपको अर्पण कर दिये। हे अच्युत ! ऐसा करनेसे चित्त विशुद्ध होनेपर और आपकी लीला (कथा) सुननेसे बढ़ी हुई प्रेमभक्तिसे ज्ञान प्राप्त करके वे (अनायास ही) आपकी परमगति (मोक्ष)को प्राप्त हो गये ॥५॥

(सगुण, निर्गुण दोनोंका ज्ञान दुर्घट है, इस कारण यह प्रतिपादन किया है कि आपकी कथादि श्रवण करनेसे ही आपका सामीप्य प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। यद्यपि दोनों ज्ञान समानरूपसे ही दुर्ज्ञेय हैं, तथापि गुणातीतका ज्ञान किसी प्रकार हो भी जायगा किन्तु तुम्हारे सगुण अचिन्त्य अनन्त स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता, इस कारण दो श्लोकोंसे स्तुति करते हैं) हे भूमन् ! आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा इन्द्रियसंयमी शुद्ध-चित्त पुरुषोंद्वारा जानी जा सकती है, 'स्वानुभवात्' अर्थात् उनको अन्तःकरणसे साक्षात्कार हो जाता है, अथवा उनका अन्तःकरण भगवदाकार हो जाता है। (प्रश्न—अन्तःकरण विकारी पदार्थ (घट-पट आदि) को ग्रहण करता है, तो उसकी आत्माकारता कैसे हो सकती है ?) समाधान—'अविक्रियात्' अर्थात् सब विशेषोंका निषेध करनेसे अन्तःकरण आत्माकार हो ही जाता है। सारांश यह है कि विशेषोंका त्याग करना ही आत्माकारता है (प्रश्न—यदि आत्मा अन्तःकरणका विषय है, तो आत्माको अनात्मत्वप्रसङ्ग होगा।) समाधान—'अरूपतः' अर्थात् स्वप्रकाश—ब्रह्माकारा वृत्तिसे ब्रह्मका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं ॥६॥

(सगुणकी महिमा जानना अशक्य है, क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि कोई) अति निपुण पुरुष अनेक जन्मोंमें पृथिवीके परमा-

कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥७॥
तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥८॥
पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥९॥

णुओंकी या आकाशमें स्थित कुहिरेके कणोंकी भले ही गिनती कर डाले और सूर्य-चन्द्रमाके किरणोंके परमाणुओंको भी भले ही गिन ले, किन्तु गुणोंके अधिष्ठाता इस विश्वका पालन करनेके लिये बहुत-से गुण प्रकट करके अवतार धारण करनेवाले आप (परमेश्वर) के गुणोंकी गिनती करनेमें कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ७ ॥

(किन्तु आपका ज्ञान भी दुर्घट है, इस कारण हे भगवन् !) आपकी कृपा कब होगी ऐसी प्रतीक्षा करते हुए अपने कर्मोंके फल (सुख-दुःख) को आसक्तिरहित होकर भोगते हुए और शरीर, वाणी तथा मनसे आपकी वन्दनादि भक्ति करते हुए जो प्राणी जीवित रहते हैं, उनको मुक्ति इस प्रकार प्राप्त हो जाती है जैसे पिताके मरनेपर उसकी सम्पत्ति पुत्रको प्राप्त हो जाती है ॥ ८ ॥

(इस प्रकार स्तुति करके भगवान्‌से क्षमा प्राप्त करनेके लिये अपना अपराध कहते हैं—) हे ईश ! मेरी दुर्जनता तो देखो, मैंने मायावी पुरुषोंको भी मोहित करनेवाले, सबके कारण, सबके नियन्ता, परमात्मारूप आपके ऊपर अपनी माया फैलाकर अपना ऐश्वर्य देखना चाहा । आपके सम्मुख मेरा क्या सामर्थ्य है, जैसे अग्निसे ही उत्पन्न हुई अग्निकी चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकती हैं, वैसे ही आपके विषयमें मैं भी असमर्थ हूँ । (ब्रह्माजी भी तो भगवान्‌के ही नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं । इस कारण अग्निविस्फुलिङ्गका दृष्टान्त ठीक घटता है) ॥ ९ ॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥१०॥
क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥१२॥

इस कारण हे भगवन् ! रजोगुणसे उत्पन्न हुए आपसे पृथक् (स्वतन्त्ररूपसे) अपनेमें ईश्वरत्वका अभिमान करनेवाले अतः आपके प्रभावको न जाननेवाले, एवं मैं अजन्मा हूँ इस जगत्का कर्ता हूँ ऐसे मदरूपी गाढ़ अन्धकारसे आवृत नेत्रवाले मेरे अपराधोंको—यह मेरा सेवक है इसके ऊपर मुझे कृपा करनी ही चाहिये—ऐसा विचार कर आप क्षमा करें ॥ १० ॥

(यदि यह कहा जाय कि ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले तुम भी (ब्रह्मा भी) ईश्वर ही हो, इसपर कहते हैं, हे व्यापक !) महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीसे आवृत ब्रह्माण्डरूपी घटमें अपनी नापसे सात बालिश्त शरीरवाला मैं कहाँ ? और जैसे झरोखेके बाहर-भीतर परमाणु यथेच्छ सञ्चार करते हैं वैसे ही जिनके रोमकूपोंमें इस प्रकार असंख्य ब्रह्माण्ड विचरते हैं ऐसे आपकी महिमा कहाँ ? अर्थात् आपमें और मुझमें बड़ा अन्तर है (अतः अति तुच्छ होनेसे मैं दयाका पात्र हूँ ।) ॥ ११ ॥

हे अधोक्षज ! गर्भमें विद्यमान बालकका पैरोंको चलाना क्या माता अपराध समझती है ? कदापि नहीं । ऐसे ही 'है' या 'नहीं है' (इस प्रकार भाव-अभाव, स्थूल-सूक्ष्म या कार्य-कारण आदि शब्दोंसे उक्त) कोई भी वस्तु क्या आपके उदरसे बाहर है ? इसी तरह मैं (ब्रह्मा) भी उसके बाहर नहीं हूँ । इस कारण आप माताके समान मेरे अपराधको क्षमा करें ॥१२॥

जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥
नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोऽखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥१४॥
तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।

(यह भी प्रसिद्ध है कि मेरा जन्म आपसे ही हुआ) क्योंकि त्रिलोकीका प्रलय होनेपर सब समुद्रोंका जल परस्पर मिल जाता है, उस जलमें नारायणके नाभिकमलसे मैं (ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ हूँ, यह कथन असत्य नहीं है । अतः हे ईश्वर ! आप ही बतलाइये कि क्या मैं आपसे उत्पन्न नहीं हुआ हूँ ? अर्थात् आपसे ही उत्पन्न हुआ हूँ ॥१३॥

(अब अनेक व्युत्पत्तियोंसे सिद्ध करते हैं कि जिनसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ वह नारायण आप ही हैं) प्रथम व्युत्पत्तिसे यह अर्थ है कि आप सब लोगोंकी आत्मा हैं। दूसरीसे यह अर्थ है कि आप सब जीवसमूहों (नार) के आश्रय (अयन) हैं । तीसरीसे यह अर्थ है, आप अधीश हैं, अर्थात् आपसे ही जीवसमूहकी प्रवृत्ति है। चौथीसे यह अर्थ है कि आप अखिल लोकके साक्षी हैं, अर्थात् आप सब जीवसमूहोंको जानते हैं । पाँचवींसे यह अर्थ है कि नर (ईश्वर) से उत्पन्न हुआ जल जिसका रहनेका स्थान है, ऐसे अर्थोंसे प्रसिद्ध नारायण आप ही हैं । (यहाँपर प्रलयके पीछे क्षीरसागरमें सोये हुए जिनके नाभिमें कमल है ऐसे भगवान्की नारायणसंज्ञा कही है। इसपर शङ्का है कि ऐसा माननेसे भगवान्की मूर्ति परिच्छिन्न हो जायगी । समाधान—) वह मूर्ति भी नारायणस्वरूप सत् नहीं है, किन्तु आपकी माया ही है, अर्थात् लीलाके लिये वह रूप दिखाया है ॥१४॥

(अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जलस्थ मूर्ति परिच्छिन्न नहीं है) यदि जगत्का आश्रय आपका वह जलस्थ शरीर सत्य है तो हे भगवन् ! कमलनालसे प्रविष्ट होकर सौ वर्षतक मैं आपको ढूँढ़ता रहा, फिर मैं

किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किन्नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥१५॥
अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥

आपको क्यों न देख सका ? तदनन्तर तप करनेपर अपने हृदयमें आपका स्वरूप कैसे देखा, फिर उसी समय वह क्यों दृष्टिके अगोचर हो गया ? (इससे सिद्ध हुआ कि वह मायिक शरीर था और देशविशेषसे परिच्छिन्न नहीं था ।) ॥१५॥

(यदि जलादि प्रपञ्च सत्य होता तो उससे आपका परिच्छेद होता, किन्तु वह भी तो मायाका विलास है । यह बात आपने ही दिखलायी है । इसका प्रतिपादन तीन श्लोकोंसे करते हैं ।) हे मायाके नाशक ! इसी अवतारमें बाहर प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस सकल प्रपञ्चको अपने उदरमें यशोदा माताको दिखाकर आपने इसका मायामयत्व ही प्रकट किया है ॥१६॥

(शङ्का—यदि बाहर विद्यमान वस्तुका उदरमें प्रतिबिम्ब दिखायी दिया तो उसका सर्वथा मायामयत्व युक्त नहीं है ? समाधान—) तुम्हारे उदरमें यह सकल जगत् जैसा प्रतीत होता है बाहर भी वह वैसा ही प्रतीत होता है और तुम्हारे सहित यह जगत् तुममें भासता है; क्या ऐसा भासना माया बिना हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता । (भाव यह है कि प्रतिबिम्ब बिम्बके विपरीत दीखता है । दर्पणका प्रतिबिम्ब उसी दर्पणमें नहीं दीखता । किन्तु तुम यशोदाको अपने ही मुँहके भीतर भी दिखायी दिये और बाहर भी दिखायी दिये और यह प्रपञ्च भी जैसा बाहर था वैसा ही दिखायी दिया, दर्पणमें प्रतिबिम्बित वस्तुके समान विपरीत नहीं दिखायी दिया) ॥१७॥

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥
अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।

(केवल माताको ही मायिक रूप नहीं दिखाया अपि तु मुझ (ब्रह्मा) को भी दिखाया अतः कहते हैं–) हे भगवन् ! इस सकल प्रपञ्चका मायिकत्व जो आपने आज मुझको दिखाया है उसे आपके सिवा दूसरा कौन दिखा सकता है ? ग्वाल-बाल और बछड़े हरनेके पूर्व, आप केवल श्रीकृष्णरूप थे । तदनन्तर आप ग्वाल-बाल, बछड़े, (सींग, वंशी) इत्यादि सब कुछ हो गये । फिर मेरे सहित सकल तत्त्वों (देवताओं) ने आपकी पूजा की और आप उतने ही चतुर्भुज मूर्तिवाले हो गये । फिर आप उतने ही ब्रह्माण्डरूप हो गये । फिर आपका केवल अद्वितीय रूप शेष रह गया ॥१८॥

(प्रश्न—हे ब्रह्मन् ! मैंने अपना शुद्ध चैतन्य रूप ही आपको दिखलाया, उसे प्रपञ्चके समान माया कैसे कहते हो ? समाधान—यह कहना तो ठीक है, किन्तु आप अद्वितीय तत्त्वमें गुणारोप करना कार्यवश होता है यथा मत्स्यादि अवतारोंमें मायाके प्रयोगसे हुआ । इस विषयका दो श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हैं; हे अन्तर्यामिन् !) आप अनात्मा (प्रकृति) में अपनी माया फैलाकर आत्मरूपसे उन मनुष्योंको प्रतीत हैं जो आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं । जैसे सृष्टिके समय मेरे (ब्रह्माके) समान; पालन करनेके समय इस प्रत्यक्षरूपमें विष्णुके समान; और संहारके समय रुद्रके समान भासते हैं ॥१९॥

हे प्रभो ! हे विधातः ! दुष्टोंके मदका नाश करनेके लिये और साधुओंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये जन्मरहित होते हुए

जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥२०॥
को वेत्ति भूमन्भगवन्परात्मन्योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन्क्रीडसि योगमायाम् ॥२१॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।

भी आपका देवताओंमें (वामनादि रूपसे), ऋषियोंमें (परशुरामादि रूपसे), मनुष्योंमें (श्रीरामादि रूपसे), पशुओंमें (वाराह आदि रूपसे), जलचरोंमें (मत्स्यादि रूपसे) जन्म (अवतार) होता है ॥२०॥

(प्रश्न—यदि आप मायासे स्वतन्त्र हैं तो आपने क्यों कुत्सित मत्स्यादि योनियोंमें जन्म लिया ? क्यों वामनादि अवतारमें भीख माँगी ? क्यों इसी अवतारमें कभी-कभी भयसे काँपे, कहीं युद्धक्षेत्रसे भागे ? समाधान—) हे भूमन् ! हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! जब आप अपनी आश्चर्यरूप योगमायाका विस्तार करते हैं (क्रीड़ा करते हैं) तब इस त्रिलोकीमें आपकी लीलाओंको कौन जान सकता है कि वे किस देशमें, किस कारण, किस प्रकारकी और किस समय कितनी होती हैं ॥२१॥

(प्रश्न—अवतारोंकी महिमा अचिन्त्य भले ही हो किन्तु यह प्रपञ्च असत् है, इसकी सत्ता कैसे प्रतीत होती है ? समाधान—) यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नके समान मिथ्या, जड़, दुःखरूप मायासे उत्पन्न हुआ और विनाशी है। तथापि आपके अनन्त नित्य सुखस्वरूपमें मायासे उत्पन्न हुआ भी सत्यके समान भासता है। (भाव यह है कि आप अधिष्ठान हैं और आपकी सत्तासे यह जगत् सत्-सा भासता है)॥२२॥

आप अद्वितीय आत्मा (अधिष्ठान) होनेसे सत्य हैं। (दृश्य विकारी है, इस कारण असत्य है और आपमें जन्मादि षट् विकार नहीं है अतः) आप आदिकारण हैं। जन्मादि न होनेसे

नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः।२३।
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥२४॥
आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।

पुरातन हैं। पहलेसे ही वर्तमान होनेसे आप पुरुष हैं। आपके जन्मान्तर नहीं हैं अतः आप नित्य (सनातन) हैं। निरन्तर सुखस्वरूप होनेसे आप पूर्ण[1] हैं। आपमें देश, काल और वस्तुजन्य परिच्छेद नहीं है, इस कारण आप अनन्त और अद्वितीय हैं। आपको किसी क्रियासे प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि आप स्वयं ज्योति हैं। आप नित्य प्राप्त आत्मा हैं। आप उपाधिसे मुक्त हैं, अतः आप निर्विकार हैं। (जो विकारी वस्तु है, उससे विकार अलग करने पड़ते हैं। जैसे तुषको अलग करनेसे चावल निकल जाते हैं।) आप निरञ्जन (निर्मल) हैं। क्योंकि आपमें कोई मल नहीं है जो संस्कार करके पृथक् किये जायँ। (भाव यह है कि आप किसी भी क्रियासे नहीं जाने जाते। क्रिया चार प्रकारसे फल देती है; उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कारसे। यहाँ 'आद्यः' पदसे उत्पत्तिका 'स्वयंज्योतिः' से प्राप्तिका 'निरञ्जनः' से विकारका और 'उपाधितो मुक्तः' से संस्कारका निषेध किया) ॥२३॥

(प्रश्न—किस प्रकारके ज्ञानसे मोक्ष होता है ? उत्तर—) जो पुरुष गुरुरूपी सूर्यसे प्राप्त (उपनिषद्‌जन्य) ज्ञानरूपी सुन्दर नेत्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मस्वरूप आपको प्रत्यगात्मस्वरूपसे भलीभाँति देखते हैं वे इस संसाररूपी मिथ्या समुद्रको पार-सा कर जाते हैं ॥२४॥

(ऊपरके श्लोकसे ऐसी प्रतिज्ञा की है कि ज्ञानसे तरते हैं तथा पार-सा कर जाते हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मारूप आपको प्रत्यगात्मरूपसे देखनेसे तरते हैं। अब पहली प्रतिज्ञामें यह प्रश्न होता

---

१. पूर्णः, अजस्रसुखः, अक्षरः, अमृतः, इन चार शब्दोंसे यह दिखलाया कि आप क्रमशः वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाशसे रहित हैं।

ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥२६॥
त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।

है कि जब संसार अविद्यामूलक है तो ज्ञानसे कैसे तरते हैं ? समाधान—) जैसे रज्जुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे उसमें साँपकी प्रतीति होती है। और जब रज्जुका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसमें कल्पित सर्पभ्रम मिट जाता है, वैसे ही जो पुरुष परमात्माको कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित ब्रह्मरूपसे नहीं जानते हैं, उनको उस अज्ञानसे ही आत्मामें अहन्ता, ममता आदि-रूप सकल प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, फिर जब आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाता है तब वह प्रपञ्च नष्ट हो जाता है ॥२५॥

(अब ज्ञानसे पार-सा कर जाते हैं, इस दूसरी प्रतिज्ञा-का प्रतिपादन करते हैं।) सूर्यकी अपेक्षासे रात-दिन नहीं होते, किन्तु ये उदय-अस्तकी कल्पनासे कल्पित होते हैं और सूर्य एक ही रूप रहते हैं; ऐसे ही बन्ध और मोक्ष संज्ञा केवल अज्ञानसे ही है। नित्य ज्ञान-स्वरूप शुद्ध अद्वितीय आत्माका विचार करनेपर आत्मासे भिन्न कुछ प्राप्त नहीं होता है। (इस कारण जब बन्ध-मोक्ष ही वास्तवमें सिद्ध नहीं है तो प्रतिज्ञा सिद्ध हुई कि ज्ञानसे संसार-समुद्रको पार[1]-सा करते हैं)॥२६॥

(तीसरी प्रतिज्ञामें यह शङ्का है कि आत्माके ज्ञानसे अज्ञानके कार्य बन्धकी निवृत्ति हो किन्तु ऐसा आग्रह क्यों करते हो, कि परमात्माका स्वात्मरूपसे ज्ञान होना चाहिये ? इसका दो श्लोकोंसे समाधान करते हैं। ब्रह्माजीका अभिप्राय यह है कि जहाँ देहाभिमान-रूप भ्रमसे अपना सत्यस्वरूप नहीं भासता हुआ-सा हो रहा है उस

१. देखो गौ० का० २। ३२।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥२७॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥२८॥
अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् २९

शरीरमें ही भ्रम दूर होकर आत्मज्ञान होना उचित है—इसी बातको ब्रह्माजी विस्मित होकर धिक्कार देते हुए-से कहते हैं, हे प्रभो !) आप परमात्मामें देहादिकोंका अध्यास करके और देहादिकोंमें आत्माका अध्यास करके खोये हुए-से आत्माको जो बाहर ढूँढ़ते हैं, ऐसे अज्ञानियोंकी मूर्खताके लिये आश्चर्य है ! (क्या घरमें खोई हुई वस्तुको कोई वनमें ढूँढ़ता है ?)॥२७॥

(यह प्रतिपादन करते हैं कि विवेकी जन तो प्रत्यक्स्वरूप ही परमात्माका अन्वेषण करते हैं) हे अनन्त ! विवेकी पुरुष आपको इस चैतन्य-जड़रूप शरीरमें जड़को त्यागते हुए आपसे अपनेको अभिन्न समझकर आपको खोजते हैं । (प्रश्न—सत् वस्तुका ज्ञान ही पर्याप्त है तो जड़ पदार्थके त्यागका क्या प्रयोजन है ? समाधान—अध्यस्तका अपवाद किये बिना अधिष्ठानका ज्ञान नहीं हो सकता ।) जैसे (रज्जुमें) सर्पके विद्यमान न रहते भी सर्पका निषेध किये बिना क्या विवेकी पुरुष समीपस्थ रज्जुका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? (भाव यह है अभेद ज्ञानसे 'आत्मतयैव ज्ञानात्' मुक्ति होती है) ॥२८॥

(शङ्का—इस प्रकार जब मोक्ष केवल ज्ञानसे ही प्राप्त होता है तो भक्तिका क्या प्रयोजन है ? समाधान—यद्यपि यह कहा कि ज्ञान हस्तप्राप्य-सा है तथापि) हे देव ! आपके युगल चरणोंके प्रसाद-लेशसे जो अनुगृहीत है वही आपकी महिमाको जानता है, (भक्तिहीन) अन्य पुरुष एकान्तका सेवन करता हुआ और दीर्घ-कालतक केवल शास्त्रके बलपर विचार करता हुआ उस तत्त्वको नहीं जानता है ॥२९॥

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥३०॥
अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ३१

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।

(आपकी भक्ति न होनेसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं है अतः) हे नाथ ! इस ब्रह्मजन्ममें अथवा कर्मवश प्राप्त होनेवाले पशु-पक्षी आदि जन्ममें ही मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हो जिससे आपके भक्त-जनोंमेंसे कोई एक होकर आपके चरण-पल्लवकी सेवा कर सकूँ ॥३०॥

(देवतादिके जन्मोंकी अपेक्षा जहाँ कहीं हुआ आपकी भक्तिसे युक्त जन्म ही श्रेष्ठ है, ऐसी उत्सुकतासे सात श्लोकोंद्वारा भक्तोंके जन्मकी प्रशंसा करते हैं) हे विभो ! जिन आपको अनादिकालसे प्रकृत सब प्रकारके यज्ञ, अबतक तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हुए । उन्हीं आपने व्रजके जिन गौओं और गोपियोंका बछड़ों और पुत्रोंके रूपमें प्रतिक्षण तृप्त होते हुए प्रसन्नतापूर्वक अमृतसमान स्तन-पान किया है, अहो ! वे गौएँ और गोपियाँ अति धन्य हैं ! ॥३१॥

अहो ! नन्दगोपके व्रजमें रहनेवाले सभी गोप, गोपी और गौ आदिका कैसा उत्तम भाग्य है कि परमानन्द, पूर्ण सनातन ब्रह्म ही उनके मित्र हैं ॥३२॥

हे अच्युत ! इन व्रजवासियोंकी महिमाको रहने दो, क्योंकि उसको कहनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है । इनके सम्बन्धसे हम रुद्रादि एकादश देवता भी बड़े भाग्यवान् हो गये हैं, क्योंकि हम इन व्रजवासियोंके इन्द्रियरूप पात्रों (कटोरों) से चित्तके अधिष्ठाता

एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

(वासुदेव) आपके अमृतके तुल्य मधुर और आसवके समान मदकारी चरणकमलके मकरन्दका बार-बार पान करते हैं। (भाव यह है कि प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता देवता अलग-अलग हैं। प्रत्येक देवताने एक-एक इन्द्रियसे आपका अनुभव किया, इस कारण देवता भी धन्य हैं, किन्तु उन गौओं और गोपोंके भाग्यके विषयमें तो कहना ही क्या है, जिन्होंने सब इन्द्रियोंसे आपका अनुभव किया है। शास्त्रकारोंने कहा है कि अहङ्कारके अधिष्ठाता देवता रुद्र हैं, बुद्धिके ब्रह्मा हैं, मनके चन्द्रमा, श्रोत्रोंकी दिशाएँ, त्वचाके वायु, चक्षुओंके सूर्य, रसनाके वरुण, नासिकाके अश्विनीकुमार, वाणीके वह्नि, हाथके इन्द्र, पैरके उपेन्द्र अधिष्ठाता देवता हैं। ये कुल ग्यारह देवता हुए—शेष दो इन्द्रियोंका उपयोग नहीं है। इसलिये उनका कथन यहाँ नहीं है, ये दो इन्द्रियाँ पायु और उपस्थ हैं, इनके अधिष्ठाता देवता मित्र और प्रजापति हैं) ॥३३॥

(श्लोक ३० में पहले जो कहा—'तदस्तु मे नाथ स भूरिभागः' उसीको अब विस्तारसे कहते हैं।) मुझे वैसा परम सौभाग्य प्राप्त हो जिससे मनुष्यलोकमें विशेषतः गोकुलमें, और उससे भी विशेषतः व्रजके वनमें (पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट आदि योनियोंमेंसे) किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो। वहाँपर इन गोकुलवासियोंमेंसे किसीके तो चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होगा क्योंकि उनका जीवन मुकुन्द-परायण है अर्थात् उनके गृह, वृत्त, पुत्रादि सर्वस्व भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरजको भगवती श्रुति भी अनादिकालसे अबतक खोजती है। (परन्तु देख नहीं पाती) ॥३४॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥३५॥
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।

(इन व्रजवासी भक्तोंकी कृतार्थताका कहाँतक वर्णन किया जाय, भक्तिसे वशीभूत होकर आप जिनके प्रति ऋणीका-सा व्यवहार करते हैं । प्रश्न—क्या वे मुझसे जो कुछ चाहते हैं उसे देनेमें मैं असमर्थ हूँ जिससे कि मैं उनका ऋणी बनूँ ? इसपर कहते हैं ।) हे देव ! आप भी इन व्रजवासियोंको सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे बढ़कर कहाँ क्या फल देंगे इस विषयमें विचार करता हुआ (इनके पुण्यानुरूप स्थानको सर्वत्र खोजता हुआ) हमारा (ब्रह्मा, रुद्र, सनक आदिका) चित्त मोहको प्राप्त होता है क्योंकि आपके स्वरूपसे बढ़कर कोई स्थान ही नहीं है । (यदि कहिये कि अपनेको ही देकर मैं उऋण हो जाऊँगा, तो सो भी नहीं कह सकते क्योंकि) हे देव ! केवल भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेसे पापिनी पूतना अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ आपको ही प्राप्त हुई तो क्या, जिनके शरीर, धन, मित्र, पुत्र, प्रिय, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सब कुछ आपके ही निमित्त है, उन्हें वही फल देंगे जो राक्षसोंको दिया था ? नहीं, वह तो बहुत थोड़ा है । अतः ऋणी रहना ही ठीक है ॥३५॥

(प्रश्न—वीतराग संन्यासियोंको भी भगवत्-प्राप्तिसे बढ़कर अन्य फलकी प्राप्ति नहीं होती है तो इन गोपोंके लिये वह क्यों ठीक नहीं होगा ? उत्तर—क्योंकि उनका भजन अधिक है, इसीका प्रतिपादन करते हैं) हे कृष्ण ! जबतक मनुष्य आपकी शरणमें नहीं आता तभीतक रागद्वेषादि चोरकी भाँति व्यवहार करते हैं, तभीतक यह

तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥३६॥
प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥
जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥३८॥
अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।

घर कारागार-सा है और तभीतक पैर मोहरूपी बेड़ीसे बँधे हैं। (भाव यह है कि आपके भक्तोंके राग, मोह आदि शत्रु भी आपके भजनमें साधन होते हैं, इस कारण वीतराग संन्यासियों और भक्तोंमें कुछ भी भेद न होकर भजनमात्र अधिक है) ॥३६॥

(प्रश्न—इसीलिये तो मैंने इन गोपोंके घरमें जन्म लिया—इससे क्या मैं अनृण नहीं हुआ ? उत्तर—) हे प्रभो ! आप प्रपञ्चसे अलग होते हुए भी शरणमें आये हुए जनसमूहके आनन्दके विस्तार करनेके लिये इस भूतलमें पुत्रादिरूप प्रपञ्चका अनुकरण करते हैं। (नकली पुत्रका रूप स्वीकार करके गोपोंकी सच्ची सेवासे आप अनृण नहीं हो सकते) ॥३७॥

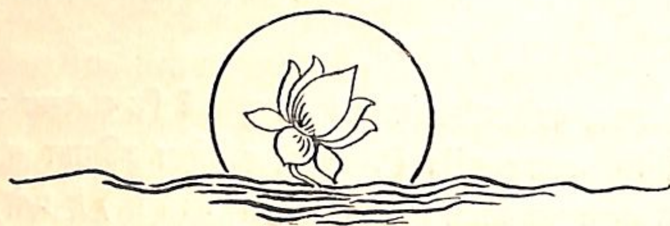
(इसका पहले प्रतिपादन किया जा चुका है कि अचिन्त्य अनन्त गुण होनेसे भगवान् दुर्ज्ञेय हैं, अब जो कोई ऐसा अभिमान करते हैं कि हम भगवान्‌को जानते हैं उनका उपहास करते हैं) हे प्रभो ! जो ऐसा कहते हैं कि हम भगवान्‌के तत्त्वको जानते हैं वे जानें, उनकी अधिक निन्दा करनेसे कुछ प्रयोजन नहीं है। आपका वैभव (ऐश्वर्य) मेरे मन, देह और वाणीका विषय नहीं है ॥३८॥

(अब जगदीश्वरादिके अभिमानका त्याग करके कहते हैं) हे कृष्ण ! अब आप मुझे (सत्यलोकको) जानेकी आज्ञा दीजिये। आप सर्वसाक्षी

त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥३९॥
श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन्भगवन्नमस्ते ॥४०॥

होनेसे सब कुछ जानते हैं, आप अनन्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, इस कारण ममतास्पद जगत्को और इस शरीरको आपके अर्पण करता हूँ ॥३९॥

(अब जाते समय बहुत-से सम्बोधनोंद्वारा नमस्कार करते हैं) हे कृष्ण ! हे यादवकुलकमलसूर्य ! हे पृथिवी, देवता, ब्राह्मण, गौरूप समुद्रकी वृद्धि करनेवाले चन्द्र ! हे पाषण्डरूपी रात्रिके अन्धकार-नाशक चन्द्र-सूर्य ! हे पृथिवीके कंसादि राक्षसोंसे द्रोह करनेवाले सूर्य ! क्षुद्र जीवसे लेकर सूर्य देवतापर्यन्त सभीके पूजनीय हे भगवन् ! आपको कल्पपर्यन्त नमस्कार है ॥४०॥



पाँचवाँ प्रकरण
पौगण्डावस्थालीला
पूर्वार्ध[1]

नागपत्नियोंद्वारा की हुई स्तुति

नमोऽनन्ताय[2] सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥

अघासुरके मोक्षका हाल व्रजवासियोंको एक वर्ष बाद मालूम हुआ । उस विषयको जाननेवाले ग्वालबालोंको तो ब्रह्माने भुला रक्खा था, इस कारण इसे कहता कौन ? अब भगवान् बलराम और कृष्णकी पौगण्डावस्था हो गयी थी (अर्थात् वे छः-सात वर्षके हो गये थे) । वे गौओंके पालन करने, बाँधने, वनमें चराने आदि कार्योंमें नन्द आदिका हाथ बटानेमें समर्थ हो गये ।

यह उस समयका एक पवित्र जीवन था । सीधी-साधी चाल-ढाल, सीधा रहन-सहन और वनमें गौओं एवं सखाओंके साथ भ्रमण करते काल व्यतीत होता था । उस समय सब धनोंमें गोधन ही श्रेष्ठ माना जाता था । गोदानहीकी अधिक महिमा थी । सम्पूर्ण सम्पदा गौसे ही प्राप्त थी । गौके प्रभावसे पुरुष बल-वीर्यशाली, बड़े पराक्रमी और विद्वान् होते थे । शास्त्रोंमें गोपालनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की गयी है ।

इस प्रकार श्रीबलरामजी और भगवान् कृष्णने वनोंमें ग्वाल-बालोंसहित गौ चराना आरम्भ कर दिया। एक बार वे किसी तालवनमें पहुँचे ।

---

१. भा० १०। १५ और १६ ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ४३ की टीकामें देखिये ।

वहाँ धेनुकासुर नामका एक दुष्ट राक्षस रहता था। वह उस तालवनमें किसीको घुसने नहीं देता था और न फलोंको ही खाने देता था। भगवान्के सहचरोंने फल खानेकी इच्छा प्रकट की। वे भगवान्के बलपर निर्भय तो थे ही, बातचीत करते-करते उस तालवनमें घुस गये। बलरामजीने तालवृक्षोंको हिलाकर फल नीचे गिराये। तब फल गिरनेका शब्द सुनकर वह गर्दभरूपधारी धेनुकासुर बलरामजीकी ओर दुलत्ती झाड़ता हुआ दौड़ा। बलरामजीने एक ही हाथसे उसके पिछले पैरोंको पकड़ लिया और उसे घुमाकर एक तालवृक्षपर पटक दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार धेनुकासुरके मरनेपर उसके सजातीय अन्य गर्दभ, श्रीबलराम और कृष्णकी ओर उनपर प्रहार करनेके लिये दौड़े। तब उन सब गर्दभोंको भगवान् कृष्ण और बलरामजीने पैर पकड़कर घुमा-घुमाकर मार डाला। और फिर गोपोंसहित भगवान् कृष्ण उस वनमें निर्द्वन्द्व होकर फल खाने लगे। तथा गाय, भैंस आदि पशु भी निर्भयतापूर्वक तृण चरने लगे।

एक दिन बलरामजीके विना ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें गौएँ चराते गोपोंको साथ लिये कालिन्दी नदीके तटपर जल पीने चले गये। गौएँ और ग्वाल-बाल भगवान्से पहले पहुँचे और कालिय ह्रदका जल-पान करते ही प्राणहीन हो गये। उस स्थानपर यमुनामें एक ह्रद-सा बन गया था और उसमें कालिय नाम एक अत्यन्त विषधर दिव्य सर्प अपने कुटुम्बसहित रहता था। उसके सैकड़ों मस्तक थे। उस स्थानमें कोई भी मनुष्य या पशु, पक्षी नहीं जा सकता था। इस सर्पका विष इतना प्रचण्ड था कि वहाँ घास और वृक्षतक भी नहीं रहने पाते थे। केवल एक कदम्बका वृक्ष था जिसपर किसी समय गरुड़जीने अमृत डाल दिया था।

भगवान्ने उन्हें प्राणहीन देखकर सारा रहस्य जान लिया और अपनी अमृतमयी दृष्टिसे देखकर उन सबको जीवित कर दिया। तत्पश्चात् भगवान् कालियको दण्ड देनेके लिये उद्यत हुए। कदम्बके

वृक्षपर चढ़कर यमुनाजीमें कूद पड़े और जलक्रीड़ा करने लगे। इससे जलमें बड़ी उथल-पुथल मच गयी। यह देख कालिय सर्प क्रोधयुक्त होकर बाहर निकला और उसने भगवान्को अपनी देहसे लपेट लिया। तटपर स्थित ग्वाल-बाल घबड़ा गये। इतनेमें नन्दजी और बलरामजी भी उद्विग्न हुए वहाँ पहुँचे। भगवान्ने इन सबका शोक दूर करनेके लिये योग-बलसे अपने शरीरको फुलाया। इससे उस सर्पके देहमें अत्यन्त व्यथा हुई, और उसने अपने शरीरसे लपेटे हुए भगवान्को मुक्त कर दिया।

तब वह भगवान्को डसनेके लिये लम्बी फुफकारें भरता हुआ क्रोधसे फन उठाये वहीं डटा रहा। भगवान् निर्भय थे। छलाँग मारकर उसके मस्तकपर चढ़ गये और नृत्य करने लगे। वह शोभा अलौकिक थी। भगवान्की चरणोंकी धमकसे सर्पका बल क्षीण हो गया। और वह क्रोधमें भरकर इधर-उधर घूमने लगा। अन्तमें वह सर्प मुख और नाकसे रुधिर वमन करता हुआ मूर्च्छित हो गया। तथापि दीर्घ निःश्वास छोड़ते और नेत्रोंसे विष वमन करते हुए वह जिस मस्तकको उठाता उसीको भगवान् अपने चरणके प्रहारसे झुका देते। इस प्रकार वह सर्प लाचार होकर मरणासन्न हो गया और मनसे भगवान्के शरणागत हुआ तथा उसकी पत्नियाँ भी अपने बच्चोंको लेकर भगवान्के शरण गयीं और नमस्कार करके विनती करने लगीं। अन्ततः भगवान्ने उसे मुक्त करके सारे परिवारसहित समुद्रके रमणक द्वीपमें भेज दिया।



न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥
अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।

(भगवान्को कुपित देखकर नागपत्नियाँ दण्डके अनुमोदनसे भगवान्को शान्त करती हुई स्तुति करती हैं) अपराधीको दण्ड देना उचित ही है। शत्रुमें (हिरण्यकशिपु) और अपने पुत्रमें यथा भौमासुर[2] (नरकासुर)में समान दृष्टि रखनेवाले आपका अवतार खलोंके शासनके निमित्त है। इस कारण आप हितरूप फलको सूचित करते हुए दण्ड देते हैं। अर्थात् आपसे दण्ड प्राप्त कर जीव नरकादि दुःखोंसे मुक्त होकर नित्य निरतिशय सुख प्राप्त करता है अतएव आपका दण्ड-धारण उचित ही है ॥ ३३ ॥

आपने हमको जो दण्ड दिया है वह अनुग्रह ही है क्योंकि आपके द्वारा दिया गया दण्ड वास्तवमें दुष्टोंके सकल दोषोंको दूर करता

---

१. भा० १० । १६

२. भौमासुर (नरकासुर) पृथिवी देवीका पुत्र था। इस कारण अपना ही पुत्र हुआ। उसकी ऐसी कथा है। जब वह उत्पन्न हुआ तब पृथिवीने वर माँगा कि इस नरकासुरकी तभी मृत्यु हो, जब मैं इसके मरनेकी इच्छा करूँ। भगवान्ने तथास्तु कहकर वर दे दिया। काल पाकर वह नरकासुर बड़ा बली हुआ और उसने देवताओंसे लड़ाई करके उनको कई वार हरा दिया। वरुणका छत्र और इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल उसने छीन लिये। भगवान् कृष्ण अपनी भार्या सत्यभामाको लेकर गरुड़पर चढ़कर उससे लड़नेके लिये गये। सत्यभामा पृथिवीका अवतार थी। नरकासुर और देवताओंमें बड़ा युद्ध हुआ। नरकासुर हाथमें त्रिशूल लेकर भगवान्की तरफ दौड़ा। तब सत्यभामा चिल्लायी 'हे भगवन्! इस नरकासुरको मारो'। तब क्या था भगवान्ने सुदर्शन चक्रसे उसको मार डाला। भा० १० । ५९



नागपत्नियोंद्वारा स्तुति

यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव संमतः ॥३४॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान्सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

है । (कालियको लक्ष्य करके कहती हैं ।) इस जीव (कालियनाग) का सर्पत्व बड़े पापोंका फल है, और आपका क्रोध ऐसे पापोंका निवर्तक होनेसे अनुग्रह ही है ॥ ३४ ॥

(अब कहती हैं कि यह महान् अनुग्रह इसके पूर्व पुण्यसे हुआ) स्वयं निरभिमान होकर दूसरोंको सम्मान देनेवाले इस नागने पूर्व जन्ममें ऐसा कौन-सा तप किया था ? अथवा सकल प्राणियोंपर दया करके कौन-सा धर्म किया था, जिससे सब प्राणियोंको जीवनदान देनेवाले आप सन्तुष्ट हुए ॥ ३५ ॥

आपके चरणरजके स्पर्शका अधिकार पानेके लिये लक्ष्मीजीने सब प्रकारके भोगोंको त्यागकर, अनेक प्रकारके नियमोंको धारण किया था । हे देव ! हम नहीं जानतीं कि इस सर्पने पूर्वमें ऐसा कौन-सा तप किया—जिसके फलस्वरूप इसे आपकी चरणरजके स्पर्शका अधिकार प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

हे नाथ ! आपकी जिस चरणरजको प्राप्त हुए भक्तजन स्वर्ग, सकल भूमण्डलका राज्य, ब्रह्मपद, पातालका राज्य, अणिमादि सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं लेना चाहते ॥ ३७ ॥

तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद्विभवः समक्षः ॥३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥ ३९ ॥

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च ॥ ४० ॥

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥ ४१ ॥

हे नाथ ! आपके उसी चरणरजको, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है, इस तमोगुणसे उत्पन्न हुए क्रोधी नागराजने अनायास ही पा लिया । (अहो ! आपकी चरण-रजका महत्त्व कौन कह सकता है ?) जिसकी इच्छामात्र करनेसे इस संसारचक्रमें भटकते हुए जीवको मनोवाञ्छित वैभव प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

(अब इन श्लोकोंसे अचिन्त्य ऐश्वर्यादि गुणयुक्त परमात्माकी स्तुति करती हैं ।) समस्त शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे वर्तमान, महात्मा, सब भूतोंके आधार, पुरातन, सबके कारण और कारणातीत आप परमात्माको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) और विज्ञान (अनुभव) से पूर्ण अनन्त शक्तियुक्त निर्गुण, निर्विकार और प्रकृतिके प्रवर्त्तक आप परब्रह्म परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४० ॥

(अब अनन्तशक्तिमान् होनेके कारण कालशक्तिसे संसारके सृष्टिकर्तारूपसे स्तुति करती हैं—) कालस्वरूप, कालशक्तिके आश्रय, कालके सृष्टि आदि अवयवोंके साक्षी, जगत्के कर्ता और सबके कारणरूप आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥ ४४ ॥

(अब कारणका ही प्रतिपादन करती हुई स्तुति करती हैं ।) आप पञ्च महाभूत (आकाशादि) पञ्चमात्रा (शब्दादि) दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि और चित्तरूप हैं; त्रिगुणात्मक अहंकारसे अपने अंशभूत जीवोंके ज्ञानका आवरण करनेवाले हैं (ऐसे आपको नमस्कार है, इस अन्तिम वाक्यसे यह सूचित किया है कि सृष्टिका कारणभूत अहंकार भी आप ही हैं ।) ॥ ४२ ॥

(अब दो श्लोकोंसे अनावृतत्व सूचित करती हुई यह कहती हैं कि आप अहंकारसे अनावृत हैं ।) अनन्त[1], सूक्ष्म[2], कूटस्थ[3], सर्वज्ञ आपको नमस्कार है । (अब अचिन्त्यमायाशक्तिसम्पन्न रूपकी स्तुति करती हैं) अनेक वादों[4]के अनुरोधके लिये शब्द और उसके अर्थकी शक्तिके भेदसे नानारूप प्रतीत होनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

चक्षु आदिके प्रकाशक स्वयं चक्षु आदिकी आकांक्षा न करनेवाले ज्ञानसे युक्त वेदोंके कारण (या वेदसे ही गम्य) और 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधिरूप 'न सुरां पिबेत्' इत्यादि निषेधरूप तथा सर्वविधवेदस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

---

१. अहङ्कारादिपरिच्छेदरहितत्वात् । २. अदृश्यत्वात् । ३. उपाधिकृतविकाराभावात् । ४. अनेकवाद ईश्वरको इस प्रकार कहते हैं—अस्ति, नास्ति, सर्वज्ञ, किञ्चिज्ज्ञ, बद्ध, मुक्त, एक, अनेक आदि ।

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥

(अब स्तुति करती हैं अनावृतस्वभाव होनेसे आप चतुर्मूर्तिरूपसे सबके उपास्य हैं) सङ्कर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूपसे चतुर्मूर्तिधारी, भक्तोंका (सालोक्यादि मुक्ति प्रदानादिके द्वारा) पालन करनेवाले कृष्णको नमस्कार है ॥४५॥

अन्तःकरणके चार विभागोंको चतुर्मूर्तिसे[1] (अधिष्ठातारूपसे) प्रकाशित करनेवाले, इन चार भेदोंसे उपासकोंको भिन्न-भिन्न फल देनेके लिये गुणोंसे अपने वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर नाना प्रकारसे प्रकाशित होनेवाले[2], चित्त आदिकी चेतना, निश्चय आदि वृत्तियोंसे प्रतीत होनेवाले[3], अन्तःकरणकी वृत्तियोंके साक्षी होनेके कारण उन वृत्तियोंसे पूर्णतया प्रकाशित न होनेवाले अर्थात् उन वृत्तियोंके अगोचर[4] आपको नमस्कार है ॥४६॥

(परमात्माका अगोचरत्व और उपलक्ष्यत्व दिखलाती हुई नमस्कार करती हैं—) हे हृषीकेश ! (इन्द्रिय-प्रवर्तक) प्रकृतिमें विहार करनेवाले (अर्थात् अतर्क्यमहिमशाली) सब पदार्थों (ब्रह्माण्ड)के उत्पादक और प्रकाशक होनेके कारण मननशील, और आत्मारामस्वभाव आपको नमस्कार है ॥४७॥

१. मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार ये चतुर्मूर्ति हैं ।
२. यह इस शङ्काका समाधान है कि एक अन्तःकरणके चार भेद कैसे हैं ।
३. यह इस शङ्काका समाधान है कि आपकी प्रतीति किस प्रकार होती है ।
४. अर्थात् जिसकी साक्षात् प्रतीति नहीं होती है ।

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥४८॥
त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान्प्रभो गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान्प्रतिबोधयन्सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥५०॥

स्थूल, सूक्ष्म, सकल तत्त्वोंकी गतिको जाननेवाले (अथवा ब्रह्म तथा जीवोंकी अवस्थाको जाननेवाले) सबके अधिष्ठाता, निषेधकी सीमा, (सबके निषेधके उपरान्त जो बचे वह) विश्व—भासमान होनेके आधार, अध्यास और अपवादके साक्षी तथा विद्या और अविद्याद्वारा विश्वके अध्यास और निषेधके कारण आपको नमस्कार है ॥४८॥

[इस प्रकार दण्ड देनेका अनुमोदन करके और नमस्कारोंसे भगवान्‌को प्रसन्न करके अब सभी प्राणी आपके वशमें हैं अतः उनका क्या अपराध है, इस आशयसे प्रार्थना करती हैं] हे प्रभो ! निरीह अनादि-सिद्ध काल-शक्तिको धारण करनेवाले तथा अन्यर्थ लीला (अर्थात् प्राणियोंको चार प्रकारका पुरुषार्थ देनेवाली सृष्टि आदि लीला) करनेवाले आप, अपने ईक्षणमात्रसे प्राणियोंके नाना प्रकारके शान्त घोर आदि स्वभावोंको (जो संस्काररूपसे उनमें रहते हैं,) जगाते हैं और गुणोंसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं ॥४९॥

इस त्रिलोकीमें जो ये सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी मूर्तियाँ हैं वे सब आपकी ही हैं। इस समय सत्पुरुषोंके धर्मकी रक्षा करनेके लिये प्रवृत्त हुए तथा उन सत्पुरुषोंकी भी रक्षा करनेके लिये स्थित हुए आपको सत्त्वगुणमयी मूर्तियाँ ही प्रिय हैं ॥५०॥

अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन्मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥५२॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन्वै मुच्यते सर्वतो भयात् ॥५३॥

मालिकको अपने बच्चोंका अपराध एक बार सह लेना चाहिये । हे शान्तात्मन् ! तमोगुणी होनेके कारण आपको न जाननेवाले इस सर्पका अपराध क्षमाके योग्य है ॥५१॥

हे भगवन् ! अनुग्रह कीजिये, इस सर्पका प्राणान्त होना चाहता है, पराधीन होनेके कारण हम स्त्रियाँ साधु पुरुषोंके शोचनीय हैं, अतः यह प्राणरूप पति हमें दीजिये ॥५२॥

[सर्पजातिवाले तुमलोगोंके ऊपर उपकार करनेसे दूसरोंकी मृत्यु होगी ऐसी शंका हो तो कहती हैं] आप हमको आज्ञा दीजिये कि आपकी दासियोंका क्या कर्तव्य है ? आपकी आज्ञाका श्रद्धासे पालन करनेवाला पुरुष सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥



वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥५६॥
त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥५८॥
भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥५९॥

हे नाथ ! हम जन्मसे ही दूसरोंको दुःख देनेवाले तामसी और बड़े क्रोधी हैं। प्राणियोंके लिये स्वभाव छोड़ना अति कठिन है । इसी (स्वभाव) से प्राणियोंको असत् देह आदिमें अहन्ता, ममतादिरूप दुराग्रह होता है) ॥५६॥

हे विधातः ! विविध प्रकारके स्वभाव (घोर शान्त वृत्ति) वाले तथा देह-शक्ति, इन्द्रियशक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति और वासनास्वरूपवाले इस विश्वको विविध प्रकारके गुणोंसे आपने उत्पन्न किया है ॥५७॥

इस सृष्टिमें हम जन्मसे ही अति क्रोधी सर्प हैं। हे भगवन् ! हम आपकी मायासे मोहित हैं। आपकी मायाका त्याग कैसे कर सकते हैं (जिसका कि ब्रह्मादि भी त्याग नहीं कर सके । अर्थात् आपके अनुग्रहके बिना हम उसका त्याग कैसे कर सकते हैं) ॥५८॥

हे जगदीश्वर ! हे सर्वज्ञ ! आप ही उस मायाका त्याग करानेमें कारण हैं। (यदि हमें परतन्त्र समझते हैं) तो हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिये। (यदि हमें स्वतन्त्र मानते हैं) तो हमको जो दण्ड देना उचित हो वह दीजिये ॥५९॥

१. नागपत्नियोंकी स्तुतिपर भगवान्‌ने कालिय सर्पको छोड़ दिया और वह दीन होकर स्तुति करने लगा।

छठा प्रकरण

पौगण्डावस्थालीला

उत्तरार्ध[1]

इन्द्र तथा कामधेनुक्त स्तुति[2]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे जगत्स्रष्टः ! हे अच्युत ! आप लोकनाथ हैं इस कारण हम भी सनाथ हुई । (इन्द्रके उपद्रव करनेपर आपने हमारी रक्षा की) ॥ १९ ॥

हे जगत्पते ! आप ही हमारे परम देवता हैं । गौ, ब्राह्मण, देवता और साधुओंके कल्याणार्थ आप ही हमारे इन्द्र हैं ॥ २० ॥

(इन्द्र तो अन्य देवता हैं, भगवान्को इन्द्र क्यों कहा ? समाधान—— उस इन्द्रसे हमने भर पाया) ब्रह्माजीके भेजे हुए हम आपका ही इन्द्ररूपसे अभिषेक करती हैं । (शङ्का—कृष्ण तो मनुष्यरूपमें हैं, और इन्द्र देवतारूपमें हैं,समाधान——) हे सर्वेश्वर ! आपने भूमिके भारको दूर करनेके लिये अवतार लिया है । (इस कारण आप मनुष्य नहीं हैं ।) ॥ २१ ॥

---

१. भा० स्क० १० अध्याय ११ से १९ तक और २४ से २७ तक ।

२. भा० स्क० १० अ० २७ के अन्तर्गत कामधेनुकृत स्तुतिका अर्थ ।

कालिय सर्पने भगवान्‌की पूजा की और बड़ी-बड़ी दिव्य मालायें और रत्न भेंट किये। तदनन्तर वह सकुटुम्ब रमणक द्वीपको चला गया।

भगवान् कुण्डसे बाहर निकले और यशोदा और नन्दजीके साथ जो ग्वाल-बाल मूर्छित हो गये थे वे जाग उठे। उन सबको अत्यन्त हर्ष हुआ। जिस दिन कालियमर्दन हुआ उस दिन भूख, प्यास, रोना, दौड़ना आदि परिश्रमसे व्याकुल हुए वे गोकुल-वासी पुरुष और गायें रात्रिमें यमुनाके तटपर ही रहीं। वह ग्रीष्म ऋतु थी। वनमें अपने आप उत्पन्न हुई अग्नि गायोंसहित सोये हुए गोकुल-वासी पुरुषोंको एक साथ चारों ओरसे घेरकर जलाने लगी। वे लोग अग्निसे भयभीत होकर बोले, 'हे भगवन्! हमारी रक्षा कीजिये, हमको मृत्युका भय तो नहीं है, किन्तु आपके चरणोंके वियोगका बड़ा भय है।' सकल शक्तियोंको धारण करनेवाले जगदीश्वर अनन्त भगवान् अति दुःसह उस अग्निको पी गये।

इस विषयमें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। कार्य (अग्नि) अपने कारण (माया या अव्याकृत) में लीन होती ही है। मायाके कारण भगवान् हैं। दूसरी बात यह भी है कि योगसिद्धिसे अग्निजय हो जाता है। तीसरी बात यह है कि मन्त्रकी शक्तिसे अग्नि अपने वशमें हो जाती है।[1] केवल इसी समय नहीं किन्तु एक और समयमें भी मूँजके वनमें अग्नि लग गयी थी, भगवान्‌ने उस अग्निको भी पी लिया। गौ तथा ग्वालबालोंकी रक्षा[2] की थी। दूसरे दिन भगवान् गौओंसहित गोकुलमें चले गये।

अन्य समयकी बात है कि एक दिन भगवान् गौओं और ग्वाल-बालोंसहित वनमें बालक्रीड़ा कर रहे थे। प्रलम्बासुर भगवान् और बलरामजीका हरण करनेके लिये गोपका वेष धारणकर वहाँ आया। सर्वज्ञ भगवान् उसके आशयको समझ गये और उन्होंने उसके वधका

---

१. बिकानेरमें एक जाति है जो सिद्ध नामसे प्रचलित है। इस जातिके लोग एक बड़ा गड्ढा खोदते हैं और उसमें सैकड़ों मन लकड़ी जलाते हैं। फिर मन्त्रके प्रभावसे धधकते हुए अंगारोंमें घुसकर उनको नंगे पावोंसे कुचलकर ठण्डा कर देते हैं।

२. भा० स्कन्ध १० अ० १९

उपाय ढूँढ़ निकाला। गोपोंने क्रीड़ा करनेके लिये आपसमें ही दो दल बना लिये। शर्त यह लगायी कि हारनेवाला पक्ष जीतनेवाले पक्षको अपनी पीठपर चढ़ाकर एक नियत स्थानतक ले जायगा।

खेलमें विजयी हुए श्रीदामाको भगवान्ने, वृषभको भद्रसेनने और बलरामजीको प्रलम्बासुरने अपनी-अपनी पीठपर चढ़ाया। उस समय प्रलम्बासुर बलरामजीको नियत स्थान (भाण्डीर वृक्ष) से आगे ले जाने लगा। किन्तु बलरामजी उसको पर्वतसमान भारी प्रतीत होने लगे और वह असुर वेगसे न चल सका। असुरने विचार किया कि गोपस्वरूपसे चलना कठिन है; तब तो उसने अपना बड़ा विकराल दैत्यस्वरूप प्रकट किया। यह देखकर बलरामजीने अपनी मुट्ठीसे उसके मस्तकमें कठोर प्रहार किया। प्रलम्बासुर मस्तक फूट जानेसे मर गया।

भगवान्ने केवल राक्षसोंका ही उद्धार नहीं किया, किन्तु देवताओंके भी गर्वका नाश किया[1]। उस समय वृन्दावनमें यह प्रथा थी कि इन्द्रको सन्तुष्ट करनेके लिये एक विशाल यज्ञ किया जाता था। इन्द्र वर्षाके स्वामी हैं और यज्ञसे प्रसन्न होकर वृष्टिद्वारा सकल प्राणियोंका उपकार करते हैं।

नन्दजी भगवान्के ऐश्वर्यको नहीं समझ सके। वे सकलकर्मफलदाता भगवान्को केवल बालक ही समझते थे। उधर इन्द्रको भी यह अभिमान हो गया था कि 'मुझसे बढ़कर या मेरे ऊपर दूसरा विधाता नहीं है'। जब यज्ञके लिये बड़ी-बड़ी तैयारियाँ हो रही थीं, विविध प्रकारके अन्न आदि इकट्ठे किये जा रहे थे तब नन्दजीके प्रति भगवान्ने भाषण किया। 'पिताजी! सकल प्राणी जन्मान्तरमें किये गये कर्मके अनुसार उत्पन्न होते हैं और कर्मके अनुसार ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। सुख, दुःख, भय और कल्याण भी उन्हें कर्मसे ही प्राप्त होते हैं। (यहाँ मीमांसाशास्त्रका अनुसरण करके कहा है कि कर्म स्वतः फल देनेमें समर्थ हैं) ईश्वर कर्मफलदाता नहीं माना जा सकता क्योंकि ईश्वर भी कर्मानुसार ही

१. इस समय भगवान्की अवस्था ७ वर्षकी थी। भा० १०। ५७। १६



गोवर्धन-धारण

फल देता है। यदि कर्म न करे तो ईश्वर उसे कोई फल नहीं दे सकता; अतः ईश्वर अजागलस्तनवत् निरर्थक हुआ। इस कारण प्राणियोंको सुख-दुःख उनके पूर्व कर्मोंसे (स्वभावसे) प्राप्त होते हैं और इन्द्र भी कर्म-फलमें हेर-फेर करनेमें समर्थ नहीं है। जब जन्मादि कर्मके अधीन है तो पुरुष संस्कारोंके अनुसार अपने-अपने वर्णाश्रमादिक कर्मका सम्मान करें। [गीतामें भी भगवान्ने कहा है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८। ४६) हमलोगोंका वर्णाश्रमकर्म गोपालन है, गोवर्धन पर्वतसे गोरक्षा होती है। अतः गोवर्धन पर्वत और ब्राह्मणोंका पूजन करना इन्द्रयज्ञसे विशिष्टतर है। एक बात यह भी है कि सत्त्वादि गुणोंसे जगत्की सृष्टि, स्थिति आदि कार्य होते हैं और रजोगुणसे प्रेरित होकर मेघ बरसते हैं अतः इन्द्रकी पूजा व्यर्थ है'।

यहाँ भगवान्का तात्पर्य इन्द्रको कुपित करनेमें था, देवताओंके निराकरणमें उनका तात्पर्य नहीं था। नन्द आदि गोप भगवान्के वाक्यों-को मान गये। उन्होंने इन्द्रयाग नहीं किया। ब्राह्मणोंसे यज्ञ करवाये और गोवर्धन पर्वतकी परिक्रमा करके सब अन्न बाँट दिया।

इन्द्र अपने अपमानके कारण अत्यन्त क्रुद्ध हुए और प्रलयकालके मेघोंको बुलाकर उन्होंने कहा, 'नन्दके व्रजको नष्ट कर दो, गौ आदि पशुओंका संहार कर डालो'। बिजलीयुक्त काले-काले मेघोंने इन्द्रकी आज्ञासे ऐसी जलवर्षा, वज्रपात और ओलोंकी वृष्टि की कि प्रलयका-सा दृश्य प्रतीत होने लगा। सब लोग मृत्युभयसे भीत होकर भगवान्की शरणमें गये। भगवान्ने जान लिया कि यह क्रुद्ध हुए इन्द्रका कार्य है।

सकलशक्तिमान् योगेश्वर भगवान्ने लीलाहीसे गोवर्धन पर्वतको एक हाथसे ऐसे उठा लिया जैसे कि एक छोटा-सा बालक छत्रको उठा लेता है। गोपोंको आज्ञा दी कि वे अपने गौ, धन, बैल, गाड़ी लेकर उस पर्वतके नीचे आ जायँ। गोपोंने वैसा ही किया।

सात दिनतक बराबर मूसलाधार वृष्टिके अनन्तर इन्द्र अति विस्मित हुए और गर्वरहित होकर उन्होंने मेघोंसे वृष्टि रुकवा दी। इन्द्रने अपनेसे किये गये अपराधसे लज्जित होकर भगवान्के चरणोंका अपने किरीटसे स्पर्श किया और विनयपूर्वक स्तुति की जो इस प्रकरणमें आगे लिखी गयी है। इसके उपरान्त कामधेनुने स्तुति की जो इस प्रकरणके आदिमें है।

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसंप्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥
कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय॥ ५ ॥
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ६

(मेरा अपराध क्षमा कीजिये यह कहनेके लिये आपका कोई अपराध नहीं है, आपने तो मेरे ऊपर अनुग्रह ही किया, ऐसा चार श्लोकोंसे कहते हैं—) आपका स्वरूप शान्त, सर्वज्ञ, रज और तमसे रहित एवं शुद्ध सत्त्वमय है । अतएव हमलोगोंसे देखा जाता हुआ मायाका कार्य-रूप तम आदि गुणोंसे सञ्चालित तथा अज्ञानसे उत्पन्न यह संसार आपका नहीं है ॥ ४ ॥

(जब आपमें अज्ञान और अज्ञानके कार्यभूत देहका सम्बन्ध नहीं है तो) हे ईश ! आपमें देहसम्बन्धसे होनेवाले और अन्य देहके कारणभूत अज्ञानियोंके आश्रयमें रहनेवाले लोभ, मोह कहाँसे होंगे ? आपमें लोभादिका अभाव होनेपर भी आप धर्मकी रक्षा करनेके लिये और दुष्टोंका निग्रह करनेके लिये दण्ड धारण करते हैं ॥ ५ ॥

(गोपपुत्ररूप मुझमें तुम्हें दण्ड देनेकी शक्ति कहाँसे आयी ? तुम्हें दण्ड देनेका कारण ही क्या है ? और मैंने कौन-सा दण्ड धारण किया है ? समाधान—) आप सब प्राणियोंके पिता, गुरु और नियन्ता हैं । (इन तीन कारणोंसे आप दण्ड धारण करते हैं) दुस्तर काल होनेके कारण दण्ड धारण किये हुए आप जगदीश्वरपनेका अभिमान करनेवाले हमलोगोंके हितके लिये (हमारा मान भङ्ग करनेके निमित्त) लीलावतारोंसे क्रीड़ा करते हैं ॥ ६ ॥

१. भा० १० । २७

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ।७।
स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो नैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥८॥
तवावतारोऽयमधोक्षजेह स्वयंभराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥

आपको भयके समय (आधुनिक अतिवृष्टिमें) निर्भय देखकर मेरे समान अज्ञानी अतएव जगदीशपनेका अभिमान रखनेवाले पुरुष अपने मदका शीघ्र त्याग करके अभिमानशून्य हो आपकी भक्तिमें प्रवृत्त होते हैं । यह आपकी लीला दुष्टोंके लिये दण्डरूप ही है ॥ ७ ॥

(इस प्रकार भगवान्के स्वरूप और अभिप्रायका वर्णन करके क्षमा-प्रार्थना करते हैं–) हे प्रभो ! ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त अतएव आपके प्रभावको नहीं जाननेवाले मैंने आपका अपराध किया है । मुझ मूढ़ बुद्धिवालेका अपराध क्षमा कीजिये । हे ईश ! फिर कभी भी मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि न हो यही मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

(शङ्का—महान् अपराध कैसे क्षमा किया जाय ? समाधान—) हे अधोक्षज ! हे देव ! इस भूमिमें आपका अवतार भारभूत राक्षसोंके सेनापति और उनकी सेनाओंका नाश करनेके लिये एवं भक्तोंके कल्याणके लिये हुआ है (मैं आपका सेवक हूँ अतः मेरा यह महान् अपराध क्षमा कीजिये) ॥ ९ ॥

(क्षमा कराते हुए नमस्कार करते हैं–) हे कृष्ण ! आपको प्रणाम है । सर्वान्तर्यामी पुरुष, महात्मा (अपरिच्छिन्न) सर्वनिवास वासुदेव-स्वरूप, यादवोंके अधिपति आपको मेरा प्रणाम है ॥१०॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥
मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

(आप केवल यादव ही नहीं हैं ।) आप अपने भक्तोंकी इच्छासे देह धारण करते हैं । आपका स्वरूप शुद्ध ज्ञान ही है ! आप सर्व-स्वरूप, सर्वकारण, सकल प्राणियोंकी आत्मा हैं—ऐसे आपको नमस्कार है ॥११॥

(अब अपने अपराधको कहते हैं–) हे भगवन् ! गोपोंने मेरा यज्ञ नहीं किया अतएव अत्यन्त अभिमानी मैंने क्रोधसे व्रजका नाश करनेके लिये अतिवृष्टि तथा वायुसे यह अयोग्य कार्य किया है ॥१२॥

तथापि हे ईश्वर ! आपने मेरे उद्योगको निष्फल करके और मेरे गर्वको नष्ट करके मेरे ऊपर अनुग्रह किया है । अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मारूप आपके शरणागत हुआ हूँ । (क्षमा कीजिये) ॥१३॥



दूसरा अध्याय

माधुर्यलीला

प्रथम प्रकरण

माधुर्यका प्रादुर्भाव[1]

वेणुगीत

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः[2] ॥

अब माधुर्यरसोपेत भक्तिका वर्णन आता है। माधुर्यका अर्थ है मिठास। रसका अर्थ है आनन्द, भक्तिशास्त्रमें रसके पाँच प्रधान भेद हैं अर्थात् वात्सल्य, दास्य, सख्य, शान्त और माधुर्य। प्रथम चार रसोंका समावेश माधुर्यरसमें है। इस रसका वर्णन प्रेमकी भाषामें होता है। प्रेमका अतिशय विकास विरहकी अवस्थामें होता है। इन सबका इस अध्यायमें संग्रह करके विचार करते हैं।

इन प्रकरणोंका अनुशीलन करनेका अधिकारी ज्ञानी भक्त ही हो सकता है। गुरु-उपदेश एवं भगवत्-कृपाके बिना यह विषय समझमें नहीं आ सकता। यही कारण है कि अपनेको विद्वान् माननेवाले बहुत-से आधुनिक लोग कहते हैं कि इस माधुर्यरसमें केवल प्राकृत कामोद्रेक है। वे ऐसा कहनेमें नहीं लजाते कि भगवान् और गोपियाँ कामी थे। ऐसे

१. भा० १०। २१

२. अर्थ इसी प्रकरणके गद्यभागके अन्तमें देखिये।

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥
मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

(आप केवल यादव ही नहीं हैं ।) आप अपने भक्तोंकी इच्छासे देह धारण करते हैं । आपका स्वरूप शुद्ध ज्ञान ही है ! आप सर्व-स्वरूप, सर्वकारण, सकल प्राणियोंकी आत्मा हैं—ऐसे आपको नमस्कार है ॥११॥

(अब अपने अपराधको कहते हैं—) हे भगवन् ! गोपोंने मेरा यज्ञ नहीं किया अतएव अत्यन्त अभिमानी मैंने क्रोधसे व्रजका नाश करनेके लिये अतिवृष्टि तथा वायुसे यह अयोग्य कार्य किया है ॥१२॥

तथापि हे ईश्वर ! आपने मेरे उद्योगको निष्फल करके और मेरे गर्वको नष्ट करके मेरे ऊपर अनुग्रह किया है । अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मारूप आपके शरणागत हुआ हूँ । (क्षमा कीजिये) ॥१३॥



दूसरा अध्याय

माधुर्यलीला

प्रथम प्रकरण

माधुर्यका प्रादुर्भाव

वेणुगीत

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥[1][2]

अब माधुर्यरसोपेत भक्तिका वर्णन आता है। माधुर्यका अर्थ है मिठास। रसका अर्थ है आनन्द, भक्तिशास्त्रमें रसके पाँच प्रधान भेद हैं अर्थात् वात्सल्य, दास्य, सख्य, शान्त और माधुर्य। प्रथम चार रसोंका समावेश माधुर्यरसमें है। इस रसका वर्णन प्रेमकी भाषामें होता है। प्रेमका अतिशय विकास विरहकी अवस्थामें होता है। इन सबका इस अध्यायमें संग्रह करके विचार करते हैं।

इन प्रकरणोंका अनुशीलन करनेका अधिकारी ज्ञानी भक्त ही हो सकता है। गुरु-उपदेश एवं भगवत्-कृपाके बिना यह विषय समझमें नहीं आ सकता। यही कारण है कि अपनेको विद्वान् माननेवाले बहुत-से आधुनिक लोग कहते हैं कि इस माधुर्यरसमें केवल प्राकृत कामोद्रेक है। वे ऐसा कहनेमें नहीं लजाते कि भगवान् और गोपियाँ कामी थे। ऐसे

१. भा० १०।२१

२. अर्थ इसी प्रकरणके गद्यभागके अन्तमें देखिये।

पुरुषाधमोंसे इतना ही कहना पर्याप्त है कि श्रीकृष्ण भगवान्‌की अवस्था इन क्रीड़ाओंके समय केवल सात वर्षकी थी। अतः उस समय प्राकृत कामकी प्राप्ति नहीं हो सकती थी। इसके सिवा जिस समय यह कथा कही गयी थी वह भी ऐसा था कि उस समय कामकी वार्ता हो नहीं छिड़ सकती थी। कथाके प्रधान श्रोता राजा परीक्षित आसन्नमृत्यु थे। उनकी मृत्युके केवल तीन दिन शेष थे। कथा कहनेवाले श्रीशुकदेवजी बालब्रह्मचारी थे। उस सभामें नारदादि देवर्षि, व्यासादि ब्रह्मऋषि और कई उत्तम राजर्षि उपस्थित थे[1]। इन कारणोंसे समझ लेना चाहिये कि बहिर्मुख वृत्तिवालोंकी दृष्टि भगवान्‌के विषयमें बिलकुल दूषित है। जो पुरुष श्रीकृष्ण भगवान्‌को साक्षात् पूर्णब्रह्म अथवा पूर्णावतार नहीं मानते और गोप-गोपियोंको भगवान्‌के अंश या विभूति नहीं मानते उन्हें अनधिकारी होनेके कारण यह शास्त्र पढ़ना ही नहीं चाहिये। जैसे गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८। ६७)

प्रस्तुत विषयमें श्रीकृष्ण भगवान्‌के अद्भुत चरित्र पढ़ने अथवा सुननेसे यह शङ्का नहीं रहती कि वे अचिन्त्य अद्भुत शक्तिशाली पूर्णावतार नहीं थे। सब पुराण, स्मृतियाँ और वेद इसका समर्थन करते हैं[2]।

---

१. भा० १। १९। ९-१०

अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च॥

२. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

देखिये कृष्णोपनिषद्, गोपालतापिनीय, रामतापिनीय और रामोपनिषद्।

अब रही गोप और गोपियोंकी बात, इस विषयमें दशम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें कह दिया गया है कि ये सब देवता और देवियोंके अवतार थे[1]। गोपियोंके कोटिशः यूथ होते हुए भी चार यूथ (भेद) मुख्य थे। पहला यूथ तो उपर्युक्त देवकन्याओंका था, दूसरा ऋषि-चरियोंका[2] था।

इसकी कथा पुराणोंमें इस प्रकार आयी है कि भगवान् श्री-रामचन्द्र महाराज जब दण्डकारण्यमें गये वहाँ कुछ ऋषियोंने भगवान्का दर्शन किया और उनके सर्वाङ्गसुन्दर सुमनोहर विग्रहको देखकर भगवान्को आलिङ्गन करनेकी इच्छा हुई। भगवान् श्रीरामचन्द्रने विचारा कि शुष्क देहसे आलिङ्गन करनेपर संभवतः दिव्य रसास्वाद न मिले, इस कारण उन ऋषियोंको सुन्दर गोपियोंका स्वरूप देकर श्रीकृष्णरूपमें आलिङ्गन किया। इन ऋषियोंकी ऐसी इच्छा करना कोई आश्चर्य नहीं है। भगवद्विग्रह इतर मनुष्यादिके समान नहीं था। वह चिन्मय था और जहाँतक कल्पना की जा सकती है उससे अनन्त गुना सौन्दर्यमय था। ऐसे विग्रहका स्पर्श करनेकी किसकी इच्छा नहीं होगी[3]?

यदि ईखमें कोई मीठा फल लग जाय या मलयागिरिचन्दनमें

---

१. भा० १०। १। २१-२२ और कृष्णोपनिषत्।

२. तदा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥

(पद्मोत्तरखण्ड)

३. यही भाव रुक्मिणीजीने अपने पत्रमें लिखा था। देखिये भा० १०। ५२। ३८।

भगवद्गीताके अ० ६। २८ में जिस 'ब्रह्मसंस्पर्श' सुखको योगैकगम्य बतलाया है उसको गोपियाँ अनायास प्राप्त कर सकीं।

कोई सुगन्धयुक्त पुष्प लग जाय तो उनके रसास्वादको किसका मन नहीं चाहेगा[1] ? यही दूसरा गोपियोंका यूथ ऋषिचरियोंका हुआ।

तीसरा यूथ गोपकन्याओंका[2] था, जिन्होंने चीरहरणलीलाके समय श्रीकृष्णको वरनेके लिये कात्यायनीका व्रत किया था। चौथा[3] यूथ बृहद्वामनपुराणोक्त मूर्तिमती श्रुतियोंका था। इस प्रकार गोपियोंके चार भेद[4] थे—श्रुतिचरी, ऋषिचरी, गोपकन्या और देवकन्या।

---

१. इसी भावकी एक श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत अष्टपदी यहाँ लिख दी जाती है—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥१॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥२॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणी मधुरौ पादौ मधुरौ ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥३॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम् ।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥४॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं रमणं मधुरम् ।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥५॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा ।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं मुक्तं मधुरम् ।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥८॥

२. कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥

(भा० १०। २२। ४)

३. एताः श्रुतिगणाः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा ।

(पद्मपुराण)

श्रुतिचरीसे अभिप्राय श्रुतिके अभिमानी देवताओंसे है।

४. गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यकाः ।
देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन ॥

इन गोपियोंने अपने चरित्रसे स्पष्टरूपसे दिखा दिया कि भगवत्-प्राप्तिके अधिकारीका कैसा आचरण होता है, कैसी परीक्षा होती है और अन्तमें उसको क्या फल मिलता है।

इस विषयका अध्यात्मभाव यह है कि जीव ईश्वरका अंश[1] है। किसी कारणसे अंश अपने अंशीसे पृथक् हो गया है और उसने विजातीय वस्तुसे नाता जोड़ लिया है (उससे उसका तादात्म्याध्यास हो गया है) इसीको अज्ञान कहते हैं। जब पुण्यके परिपाकसे या सद्गुरुकी कृपासे अपनी भूल समझ लेता है तो उसको अंशीसे मिलनेकी उत्कट आकांक्षा होती है। इसीको भक्तिपक्षमें प्रेम[2] कहते हैं। और बिना विजातीय वस्तुओंके त्यागसे लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। इस कारण विराग और सर्वस्वत्याग प्रथम सोपान है।

गोपियाँ तो भगवान्‌की अंश या विभूतियाँ थीं। उन्होंने कई स्थलोंमें दिखा दिया कि वे पूर्ण विरक्त थीं और अपने सर्वस्व पति-पुत्रादि-का त्यागकर भगवान्‌के समीप उपस्थित हुई थीं[3]। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ था कि यदि कोई आवरण उनमें रह गया तो भगवान्‌ने उसे हटा दिया। चीरहरणलीलाका आध्यात्मिक भाव यही है कि तीनों गुणोंकी उपाधिको त्यागनेपर ही जीवात्माको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌के पास तो बिलकुल नङ्गे बनकर अर्थात् समस्त अनात्म उपाधियों-को छोड़कर ही जाना होगा। नग्न होनेमें लज्जा उसीको होगी जो भगवान्-को अपनी आत्मा या अपना स्वरूप नहीं मानता। भगवान्‌ने गोप-कन्याओंमें इसी ज्ञानकी दृढ़ता की थी। रासपञ्चाध्यायोमें भी यही दिखाया

१. 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५।७)

२. 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।' (ना० सू० २)

३. 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० उ० ४।४।२२)

गया है कि गोपियाँ भगवान्‌को पूर्णब्रह्म समझती थीं और मुमुक्षुओंकी भाँति सब कुछ त्यागकर वहाँ आयी थीं। इन दोनों लीलाओंका विशेष विवरण उचित स्थलमें किया जायगा, यहाँ अधिक लिखनेसे विस्तार हो जायगा।

प्रस्तुत विषय—अब माधुर्यप्रकरणका उपोद्घात होता है। जो लीलाएँ अबतक हुईं, उनसे प्रकट होता है कि व्रजवासियोंकी भगवान्‌में पूर्णरूपसे आसक्ति थी। किन्तु वह आसक्ति अन्तर्हित थी, उसका प्राकट्य नहीं हुआ था। व्यासजी भी इस माधुर्यभावको शनैः-शनैः प्रकट करते हैं। वर्षा और शरद् ऋतुमें की गयी लीलाओंसे यह बात स्पष्ट होती है कि गोपियोंकी आसक्ति भगवान्‌में थी; परन्तु वह अव्यक्त थी। वहाँ शरद् ऋतु प्रधान थी और आसक्ति गौण थी। अब उसी आसक्तिका बहिरुद्गम धीरे-धीरे माधुर्य भक्तिके प्रकरणोंसे विदित होगा।

इसी शरद्[1] ऋतुमें भगवान्‌ने एक दिन गौओं और गोपालोंके साथ अपने चरणचिह्नोंसे अत्यन्त रमणीय वृन्दावनमें प्रवेश किया। गोपियाँ उस समय व्रजमें थीं। उन्होंने बाँसुरीकी दिव्य कामोद्दीपक[2] ध्वनि सुनी। उनमेंसे एक गोपी अपने स्मरणानुसार सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीकृष्णके दिव्य मंगलविग्रहका सखियोंसे वर्णन करने लगी। उसने कहा—भगवान्‌का शरीर नटके समान सुडौल है, मस्तकपर मोरमुकुट और कानोंमें कर्णिकारके फूल शोभित हो रहे हैं, वे सुवर्णसदृश पीला पीताम्बर और वैजयन्ती माला धारण किये हुए हैं। गोपसमूह उनकी कीर्तिका गान कर रहा है और वे वंशी बजा रहे हैं[3]। प्रत्येक स्वर ऐसा

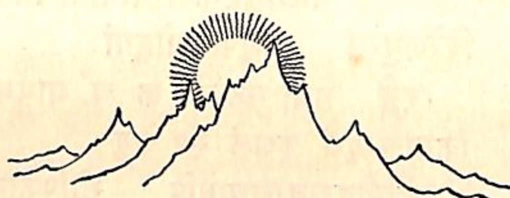
---

१. भागवतके दशम स्कन्धके बीसवें अध्यायमें वर्षा और शरद् ऋतुका वर्णन बड़े रोचक वाक्योंसे किया गया है।

२. गोपियोंका यह काम दिव्य प्रेम है। लौकिक काम नहीं। 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'

३. मूल श्लोक इस प्रकरणके आदिमें देखिये।

मधुर निकलता है कि मानो भगवान्ने वंशीके छेदोंको अमृतसे भर दिया है। गोपियाँ उस अत्यन्त मनोहर वेणुगीतका[1] अनुभव करके अपनी सखियोंसे उसका वर्णन करती हुई पद-पदमें कृष्णालिङ्गनसुखका अनुभव करने लगीं। गोपियाँ बोलीं—



१. एक प्रश्न यह उठता है कि भगवान्के वेणुनादको इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है? भगवान्के वंशीनादमें व्रजबालाओंके मनमें इतना प्रेम क्यों उपजा कि वे अपनी सुधि भूलकर पागल-सी दौड़ीं? इसके उत्तरमें यही निवेदन करना है कि सङ्गीतमें एक तो स्वभावतः अद्भुत शक्ति है, दूसरे भगवान् वंशी बजानेमें ऐसे चतुर थे कि उनके स्वरसे जड़में चेतनत्व और चेतनमें स्थावरके धर्म आ जाते थे, जैसा इस वेणुगीत और युग्मश्लोकी गीत (जो अध्याय ३५ में है) से प्रतीत होता है। इस वेणुनादमें एक विशेष बात यह थी कि यह वह नाद था जिसको योगी बड़े प्रयाससे सुन सकते हैं और उसे सुनकर आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। गोपियोंके पास योगसाधन नहीं थे। वे तो भक्तिपरायणा थीं। भगवान् अपने भक्तको अनायास ही रसास्वाद करा देते हैं। इस कारण भगवान्के इस वंशीके स्वरसे वह नाद निकलता था जिसको योगी या ध्याननिष्ठ ज्ञानी सुनते हैं और जिसको सुनकर गोपियाँ आनन्द-सागरमें डूब जाती थीं और वंशीकी ध्वनिकी ओर दौड़ती थीं।

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥
चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।

जब कि दोनों भाई—राम और कृष्ण गौओंके साथ वंशी बजाते हुए और स्नेह-सने कटाक्षोंकी वृष्टि करते हुए वनमें प्रवेश कर रहे हैं तथा ग्वाल-बाल उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं, उस समय जिन्होंने भगवान्‌के उस अत्यन्त सुन्दर मुखारविन्दका दर्शन पाया, नेत्रोंका फल उन्हीं नेत्र-धारियोंको प्राप्त हुआ है । हे सखियो ! नेत्रोंका इससे बढ़कर उत्तम फल हम जानती ही नहीं हैं ॥ ७ ॥

(दूसरी गोपीने कहा—)हे सखि ! गलेमें आमके नूतन पत्ते, मोरपंख, फूलोंके गुच्छे, कुमुद और कमलोंसे संसक्त माला, नीले और पीले वस्त्रोंसे विचित्र राम और कृष्ण गोपसमूहोंके मध्यमें ऐसी शोभा पाते हैं जैसी रंगमञ्चमें गायन करते हुए दो श्रेष्ठ नट शोभा पाते हैं ॥ ८ ॥

(किसी गोपीका ध्यान वंशीपर गया और वह कहने लगी—) हे सखि ! न जाने इस वंशीने क्या पुण्य किया जो गोपियोंके भोग्य दामोदरके अधरामृतका स्वच्छन्दतापूर्वक पान कर रही है, वह भी सब-

१. भा० स्क० १० अ० २१ । यह स्मरण रहे कि जहाँ-जहाँ गोपियोंके वाक्य हैं वे पृथक्-पृथक् यूथके एक-एक मुख्य गोपीके वाक्य हैं ।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
　　हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः ॥ ९ ॥
वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
　　यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
　　प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥
धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
　　या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।

का-सब पी जाती है तनिक भी शेष नहीं रहने देती। जिन सरोवरोंके जलसे यह पुष्ट हुई वे सरोवर भी खिले हुए कमलसमूहोंके बहाने रोमाञ्चयुक्त दीखते हैं और जिन वृक्षोंके कुलमें यह पैदा हुई वे वृक्ष भी मधुकी धाराओंके रूपसे आनन्दके आँसू बहाते हुए दीखते हैं; जैसे कि कुलवृद्ध पुरुष यह सुनते ही अश्रुपात करते हैं कि हमारे वंशमें कोई भगवत्-भक्त हुआ है, वैसे ही उपर्युक्त सरोवर और वृक्षोंकी दशा हो रही है ॥९॥

(कोई गोपी कहती है—) हे सखि ! वृन्दावन भूमिकी कीर्तिको स्वर्गसे भी अधिक बढ़ाता है क्योंकि इसे देवकीनन्दन भगवान्‌के चरण-कमलोंसे सुशोभित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इसमें गोविन्दकी वंशी सुनकर मयूर मत्त होकर नृत्य कर रहे हैं और उनका नृत्य देखकर पर्वतोंकी चोटियोंपर रहनेवाले समस्त जीव (मृगप्रभृति) मारे आनन्दके निश्चेष्ट हो रहे हैं (भाव यह है कि ये सब बातें अन्य लोकोंमें नहीं हैं अतएव वृन्दावन पृथिवीकी कीर्तिको बढ़ाता है) ॥१०॥

(किसी गोपीका पति उसको भगवान्‌के समक्ष जाने देना नहीं चाहता था, वह गोपी हिरनीको लक्ष्य करके कहती है–) हे सखि ! तिर्यक्-योनिमें उत्पन्न हुई जडबुद्धिवाली होती हुई भी ये हिरनियाँ धन्य हैं जो वेणुका शब्द सुनकर विचित्र वेषधारी नन्दनन्दनको अपने पतियोंके

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥
कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपवेषं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।

साथ अपने प्रीतियुक्त अवलोकनसे पूजा करती हैं (अर्थात् वे अपनी बड़ी-बड़ी आँखें मानो खिले कमलके समान भगवान्को अर्पण कर रही हैं परन्तु हमारे पति तो अपने सामने हमारा भगवान्की ओर देखना भी सहन नहीं करते हैं) ॥११॥

(अन्य गोपी कहती है—) हे सखि ! (हमारी तो बात ही क्या है) अपने पतियोंके पास बैठी हुई विमानोंमें जाती हुई देवाङ्गनाएँ जब स्त्रियोंके नेत्रोंके लिये उत्सवके समान आनन्ददायिनी भगवान्की यह छटा देखती हैं और वंशीका विचित्र स्वर सुनती हैं तो वे प्रेमावेशके कारण धैर्य खोकर मोहित हो जाती हैं, उनके बँधे हुए बालोंकी चोटियोंके पुष्प गिर पड़ते हैं और उन्हें अपने वस्त्रोंकी भी सुधि नहीं रहती ॥१२॥

(किसी गोपीकी दृष्टि गौपर गयी और वह कहने लगी—) हे सखि ! गौएँ भगवान्की मुखसे बजायी गयी वंशीकी अमृतध्वनिको अपने कानों-को ऊपर उठाकर दोना-सा बनाकर पी लेती हैं; (भाव यह है कि कहीं अमृत गिर न पड़े, इस कारण कानोंको दोना-सा बना लेती हैं) और श्रीगोविन्दको नेत्रोंके द्वारा मनमें ले जाकर आनन्दको प्राप्त हो आनन्दके आँसू बहाती हुई अपना कार्य (चरना आदि) भूल जाती हैं । वैसे ही छोटे बछड़े भी दूध पीनेके लिये प्रवृत्त होते ही वंशीकी ध्वनिको सुनकर दोनेकी भाँति खड़े किये गये कानोंसे उसे पीते हुए अपनी सुधि भूल

शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मि-
न्कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान्रुचिरप्रवाला-
ञ्छृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

जाते हैं और थनोंसे गिरता हुआ दूध उनके मुँहमें ही रह जाता है (भाव यह है कि वे भगवान्‌को देखकर ऐसे बेसुध हो जाते हैं कि दूध-की घूँट भी नहीं पी सकते) ॥ १३ ॥

(कोई गोपी पक्षियोंको देखकर कहती है—) हे मातः! अर्थात् हे सखि! यह आश्चर्य है कि इस वनमें जो पक्षी हैं, वे मुनि ही हैं, वे पल्लवित फलहीन वृक्षोंकी शाखापर दर्शनकी अभिलाषासे बैठे हुए भगवान्‌की मुरलीकी ध्वनिको आँख मींचकर और अपने कोलाहल शब्दको छोड़कर सुनते हैं (भाव यह है कि जैसे मुनि वेदरूप वृक्षोंकी शाखाओंका अवलम्बन करके कर्मफलको छोड़कर सुन्दर पल्लवरूप कर्मोंको स्वीकार करके श्रीकृष्ण भगवान्‌की कथाओंको सुखसे सुनते हैं ऐसे ही ये पक्षी भी हैं) ॥१४॥

(कोई गोपी नदीमें भँवरी पड़नेसे उसका प्रवाह कुछ रुक जानेसे कल्पना करती है कि) भगवान्‌की वंशीका शब्द सुनकर नदियोंमें कामका सञ्चार होने लगा और उनकी गति रुक गयी, वे अपनी लहर-रूपी भुजाओंसे कमलकी भेंट देती हुई आलिङ्गनसे आच्छादित भगवान्‌के चरणयुगलको धारण करती हैं ॥१५॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून्सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।

(कोई सखी कहती है कि) हे सखि ! देखो, इस धूपमें बलराम और गोपोंके साथ वनमें गौ चराते हुए, मुरली बजाते हुए भगवान्को धूपमें देखकर, मेघने अपने मित्र कृष्णके ऊपर प्रकट हो और प्रेमसे बढ़कर पुष्पसमूह या पुष्पोंके तुल्य छोटी-छोटी बूँदोंके साथ अपने शरीरसे छाता तान दिया है ॥१६॥

(किसी अहंकारयुक्त गोपीने वनमें किसी भीलनीके शरीरपर केशर लगा देखा, वह कल्पना कर कहती है–) हे सखि ! मुझसे तो ये भीलनियाँ कृतार्थ हैं क्योंकि ये मदनसे पीड़ित होती हुई तृणमें लगे हुए कुंकुमको मुखमें और वक्षःस्थलपर लगाकर मनके दुःखको दूर करती हैं; जिस कुंकुमको पहले भगवान्की प्रेमपात्र गोपियोंने अपने वक्षःस्थलमें लगाया था, फिर वह भगवान्के चरण-कमलोंमें लगा तदनन्तर भगवान्के चलनेसे वनके तृणोंमें लगा और वहाँसे भीलनियोंने धारण किया ॥१७॥

(एक गोपी कहती है—)हे सखि ! यह गोवर्धनपर्वत हरिदासोंमें श्रेष्ठ है क्योंकि यह श्रीराम और कृष्णके चरणस्पर्शसे आनन्दयुक्त और रोमाञ्चित हो जाता है (तृण रोम है) और गौओंके और गोपालोंके

मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्य-
त्पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥
गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

साथ अपने ऊपर आये हुए भगवान् बलराम और कृष्णका, जल, कोमल तृण, गुफा, कन्द तथा मूलसे सम्मान करता है ॥१८॥

(दूसरी गोपी कहती है–) हे सखियो ! यह कैसा आश्चर्य है कि गायके पैर बाँधनेकी फन्देदार डोरी शिरमें लपेटकर तथा गौओंको पकड़-कर बाँधनेकी रस्सियोंको कन्धेपर रखकर श्रीराम और कृष्ण जब गोपोंके साथ गौओंको चराते हुए और वंशीसे मधुर गीत उच्चारण करते हुए वन-वनमें फिरते हैं तब चल प्राणी—पशु-पक्षी आदिकी गति रुक जाती है, और अचल वृक्षोंमें पुलकावली छा जाती है ॥१९॥



द्वितीय प्रकरण

चीरहरणलीला

ब्राह्मणोंद्वारा की हुई स्तुति[1]

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु[2] ॥

अब चीरहरणलीलाका गम्भीर प्रकरण आरम्भ होता है। इसकी कथा इस प्रकार है कि कुछ अविवाहिता गोपकन्याओंने मार्गशीर्ष मासमें नियम धारणकर कात्यायनीका व्रत इस कामनासे किया कि उनको श्रीकृष्ण पतिरूपमें प्राप्त हों। ये कन्याएँ एक मासपर्यन्त हविष्यान्न भोजन करती रहीं और अरुणोदयसे पूर्व यमुनामें स्नान करती थीं।

जब व्रत पूर्ण होनेको हुआ तब योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् यह विचार कर कि व्रतका फल दिया जाय, उस स्थानपर पहुँचे जहाँ कन्याएँ जलमें प्रवेश कर नग्न स्नान कर रही थीं। भगवान्‌को यह अनुचित मालूम हुआ और उन्होंने गोपकन्याओंके वस्त्र कदम्ब-वृक्षपर रख दिये। कौतुकी स्वभाव तो था ही, उन्होंने गोपकन्याओंसे कहा कि 'जलसे निकलकर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ।'

पहले तो इन कन्याओंको अपने शरीरका ध्यान रहा और इन्होंने भगवान्‌को अपनेसे पृथक् समझा; इस कारण जलसे बाहर निकलनेमें लज्जित हुईं। किन्तु गोपकन्याओंका हृदय तो शुद्ध था और वे समझ गयीं कि ये तो साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं, इनसे क्या पर्दा हो सकता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ये व्याप्त न हों। बस, नग्न-अवस्थामें ही बाहर निकल आयीं। भगवान्‌ने फिर उनके हृदयकी परीक्षा ली और

---

१. भा० १०। २२-२३

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लो० ५० की टीकामें देखिये।

कहा कि 'दोनों हाथ शिरपर रखकर सूर्य भगवान्‌को नमस्कार करती आओ ।' तब गोपियाँ वैसे ही चलीं और अपने-अपने वस्त्र पहन लिये ।

इस प्रकरणका अर्थ वास्तवमें गम्भीर है । यदि यह ध्यानमें रक्खा जाय कि भगवान् पूर्ण ब्रह्म, आप्तकाम हैं, तब तो यह विषय शीघ्र समझमें आ जायगा । यदि आधिभौतिक दृष्टिसे देखा जायगा तो विषय क्लिष्ट ही बना रहेगा। इस दृष्टिवालोंका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि भगवान् इस प्रथाके विरुद्ध थे कि स्त्रियाँ नग्न होकर स्नान करें । दूसरा दोष इस प्रथाका यह था कि जलके देवता वरुणजीका अपमान होता था । इस कारण कौतुकी भगवान्‌ने यह उपाय किया ।

यह समाधान किसी अंशमें उपयुक्त हो सकता है किन्तु इसके भीतर कुछ और ही रहस्य भरा हुआ है; उसको लिखनेका साहस इस क्षुद्र जीवको होता है, इसके लिये हे भगवन् ! आप क्षमा करना । हे कृष्ण ! आप ही दया करके इसके हृदयमें प्रेरण करना क्योंकि इसका यह प्रयास अपनी शक्तिसे बाहर है । यहाँ यह शङ्का नहीं बनती कि भगवान्‌ने कामवश ऐसा किया, भगवान्‌का कामवश होना बन ही नहीं सकता । लौकिक दृष्टिसे भी कामवश ऐसा नहीं हुआ क्योंकि उनकी अवस्था इतनी छोटी थी कि उसमें कामका अङ्कुर ही उत्पन्न नहीं हो सकता था । गोपियाँ भी प्राकृत कामके वश नहीं थीं । उन्होंने पूर्व जन्मोंके पुण्यबलसे यह समझ लिया था कि भगवान् साक्षात् परब्रह्म हैं, और सबके आत्मा हैं । आत्मा तो सबसे अधिक प्रिय है ही । यह सब प्राणियोंमें इच्छा रहती है कि "मा न भूवं हि भूयासम्" मैं कभी न रहूँ ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा ही बना रहूँ—आत्माके विषयमें ऐसा सर्वाधिक प्रेम सभीका देखा जाता है । तब उस प्रिय आत्माको कैसे प्राप्त करें ? गोपियाँ समझ गयीं कि प्रेमसे ही वह प्रिय वस्तु प्राप्त हो सकती है । इसी कारण उन्होंने अपने शुद्ध अन्तःकरणसे सब कुछ छोड़कर केवल प्रेमका नाता जोड़ा, प्रेमका आस्पद विविध भावोंसे देखा जाता है । कोई माता, कोई पिता, कोई पुत्र, कोई भाई, कोई

सखा और कोई पतिके रूपमें ढूँढ़ता है और पाता है। यदि गोपियोंने पति-रूपसे प्रेम किया तो इसमें क्या दोष ? उपाय केवल शुद्ध प्रेम और अहङ्कारसे लेकर सर्वस्वका त्याग है। पर ऐसा करना भी सुगम नहीं है। अन्तःकरणमें अनेकानेक जन्मोंके संस्कार भरे पड़े हैं। हृदयको भगवान्‌के ध्यान, गुणगान, नाम-कीर्तन, श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे शुद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार मनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। तब गुरु मिलते हैं और वे भक्तमें जो कुछ कमी रहती है उसको पूर्ण कर देते हैं।

किन्तु अनेक जन्मोंके संस्कार ऐसे हैं कि वे गुरुके वाक्योंमें भी भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। भक्त यह जान-बूझकर भी कि, यह संसार झूठा है, इसको अवश्य छोड़ना है, वासनाबद्ध होनेके कारण स्त्री-पुत्रादिको नहीं छोड़ सकता। यदि उनसे कुछ विरक्ति आती भी है तो भी अपने देहमें ऐसा आसक्त रहता है कि सर्वदा इसीके पीछे मारा-मारा फिरता है। इसे वेदान्तकी भाषामें तादात्म्याध्यास कहते हैं।

इन गोपियोंके चरित्रोंसे यही ज्ञात होता है कि उनमें केवल तादात्म्याध्यास रह गया था और उसका छोड़ना उनके लिये कठिन था। पति, पुत्र आदिका स्नेह तो वे छोड़ ही चुकी थीं, जैसा कि ब्राह्मण-पत्नियोंके प्रकरण और रासके आह्वानके प्रकरणोंसे माॡम पड़ता है। किन्तु ये गोपकन्याएँ अविवाहिता थीं, इनका केवल देहका अध्यास बाकी था और वह छूटा नहीं था। वे भगवान्‌को भी चाहती थीं और अपने देहका अध्यास भी नहीं छोड़ना चाहती थीं। वे जलसे बाहर निकलना चाहती थीं और वस्त्र भी चाहती थीं। भगवान्‌को तो उनका अध्यास छुड़वाना था अतः उनसे नग्नावस्थामें ही जलसे बाहर निकलनेको कहा और उन्होंने मान लिया।

इस बातको गुरु ही समझ सकता है कि भक्तके अन्तःकरणके किस कोनेमें सूक्ष्म मलदोष है, जिसे कि उसे छुड़वाना बाकी है। इसी कारण भगवान्‌ने गोपकन्याओंको प्रेरणा की कि हाथ ऊपर उठाकर मेरे सम्मुख आओ, सब आश्रय छोड़कर केवल मेरा (भगवान्‌का) ही आश्रय

पकड़ो। तब गोपियाँ भगवान्की वाणीसे मुग्ध हो गयीं, अपने देहको भूल गयीं और उन्होंने दोनों भुजाएँ उठाकर भगवान्की अनुकम्पा चाही। भगवान् तो करुणामय हैं ही, वे गोपियोंका आदर कर बोले—'अरी पवित्र गोपियो! मैंने तुम्हारा मेरी पूजा करनेका अभिप्राय जान लिया; मैं उसका अनुमोदन करता हूँ, वह अब पूर्ण होने योग्य है। जिन्होंने अपना अन्तःकरण मुझमें लगा दिया है उनका विषय-भोगका सङ्कल्प बारंबार जन्म-मरणकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता। जिस प्रकार कि भुने या उबाले हुए धान्य फिर अङ्कुर उत्पन्न नहीं करते। किन्तु भक्षणके कार्यमें तो आते ही हैं[1]।'

अब आगे इस विषयपर अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। पाठक श्रद्धापूर्वक पढ़नेसे समझ जायँगे कि किस तत्त्वका प्रतिपादन यहाँपर किया गया है और किस प्रकार यहाँ प्राकृत कामका लेश भी नहीं है। यह लीला इतने महत्त्वकी है कि श्रीविश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य सिद्धान्तमुक्तावलीका मङ्गलाचरण 'गोपियोंके चीर चुरानेवाले'के रूपमें इस प्रकार करते हैं कि 'गोपियोंके वस्त्र चुरानेवाले नूतन मेघके समान सुन्दर संसारवृक्षके बीजभूत श्रीकृष्णको नमस्कार है[2]।'

इस प्रकार चीरहरणलीला करनेके बाद भगवान् वनमें गौ और गोपोंके साथ विचरने लगे। दोपहरका समय था। ग्वालबाल क्षुधित हो गये। उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि हमको भूख लगी हुई है। आप उसको दूर करनेका उपाय कीजिये। भगवान्को अपनी परम भक्ता ब्राह्मण-स्त्रियोंका स्मरण हो आया; अतः उन्होंने कहा कि 'पास ही कुछ

---

१. सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥
(भा० १०। २२। २५-२६)

२. नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥ १॥

वेदज्ञ ब्राह्मण स्वर्गप्राप्तिके निमित्त अङ्गिरसनामक सत्र कर रहे हैं, उनके पास जाकर अन्न माँग लाओ। वे यज्ञस्थानमें गये और उन्होंने भगवान्-का नाम लेकर अन्नकी याचना की। किन्तु ब्राह्मण यज्ञसमाप्तिके पहले अन्न देनेको उद्यत न हुए और ग्वालबालोंको टाल दिया। अन्न देते हैं अथवा नहीं देते—ऐसा कुछ भी नहीं कहा, वे ब्राह्मण यह नहीं समझ सके कि चरु-पुरोडाशादि भिन्न-भिन्न पदार्थ, मन्त्र, तन्त्र (प्रयोग), ऋत्विक्, अग्नि, देवता, यजमान, पात्र और फल उत्पन्न करनेवाला धर्म—ये सब भगवान्के ही स्वरूप हैं। भगवान् उसी अन्नको चाहते हैं जो उनको अर्पण किया जाता है। वे ब्राह्मण यह भी नहीं समझ सके कि केवल कर्मसे सिद्धि नहीं मिलती; उससे तो उलटा अन्धतम नरक प्राप्त होता है। वेदप्रतिपादित सिद्धान्त तो यह है कि जो कर्म और उपासनाको साथ-साथ करता है वह कर्मसे मृत्युको तरता है और उपासनासे अमृतका आस्वादन करता है[1]।

गोप बिना अन्न प्राप्त किये भगवान्के पास गये। तब भगवान्ने गोपोंको फिर वहीं भेजा और कहा कि—'अबकी बार ब्राह्मणपत्नियोंसे अन्न माँगना। वे सदा मेरा ध्यान करती हैं; यज्ञशालामें तो वे केवल देहमात्रसे हैं। तुम जितना चाहोगे उतना ही अन्न वे तुम्हें दे देंगी।' बात यही थी कि नित्य भगवान्की कथा सुननेके कारण वे सदा ही उनका दर्शन करनेके निमित्त उत्सुक रहती थीं। भगवान्का सन्देशा सुनकर वे चारों प्रकारके सुगन्धयुक्त पदार्थ भिन्न-भिन्न पात्रोंमें लेकर पति, बन्धु, भ्राता और पुत्रोंके निषेध करनेपर भी जैसे समुद्रकी ओर नदी जाती है वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर चल दीं। वहाँ पहुँच-कर देखती हैं कि भगवान्का मेघके समान श्याम वर्ण है, वे पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गलेमें वनमाला, मस्तकपर मोरमुकुट, नाना रंगोंसे अलङ्कृत शरीर, कानोंमें सुन्दर कोमल पत्ते उरझे हुए हैं। वे एक हाथ

---

१. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(ई० ११)

सखाके कन्धेपर रक्खे हुए हैं और दूसरे हाथसे कमलको नचा रहे हैं, सुन्दर कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटकी हुई हैं और मुखकमल मन्द मुसकानसे सुशोभित है। इस नटवर-वेषको देखकर उन ब्राह्मणियोंने नेत्रोंद्वारा श्रीकृष्ण भगवान्‌का अपने अन्तःकरणमें प्रविष्ट करके चिरकालपर्यन्त आलिङ्गन किया। यह ऐसा आलिङ्गन था जैसा सुषुप्तिके समय अहङ्कारकी वृत्तियाँ सुषुप्तिके साक्षी प्राज्ञका आलिङ्गन करके तापको त्याग देती हैं; ऐसे ही इन ब्राह्मणियोंने संसारके तापको त्याग दिया[1]। भगवान्‌ने सुमधुर शब्दोंसे उनका स्वागत किया और उनसे लौटनेको कहा ताकि यज्ञकी समाप्ति यथाविधि हो जाये[2]। ब्राह्मण-पत्नियाँ लौटनेके लिये राजी नहीं हुईं। वे अपने पति-पुत्रादिके निषेध करनेपर भी भगवान्‌के पास आयी थीं अब कैसे वापस जायँ।

उन्होंने कहा 'आपके पास आकर प्राणी फिर संसारमें नहीं जाता, आप 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न पुनरावर्तते' इत्यादि अपने वचनोंको सत्य कीजिये।' भगवान्‌ने कहा 'तुम्हारे प्रारब्ध कर्मोंका भोग बाकी है। तुम मेरे ऊपर अपना मन स्थापित किये रहो। तुम्हारे पति-पुत्रादि कोई भी तुम्हारे यहाँ आनेपर बुरा नहीं मानेंगे।' ब्राह्मण-पत्नियाँ लौट गयीं और उनके पतियोंने उनपर कोई दोष नहीं लगाया। अपनी-अपनी स्त्रियोंकी सहायतासे यज्ञकी समाप्ति की और उनका भी अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उनको बड़ी भारी ग्लानि हुई और भगवत्-आराधनामें तत्पर होकर उन्होंने एकान्तमें भगवान्‌की हृदयभेदिनी स्तुति की।



१. यथा श्रुतिः 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति' (कौ० १५) बात भी ठीक है—यदि किसीका हाथ टूट गया हो या कोई और बाधा हुई हो तो वह सुषुप्तिमें उस बाधाका अनुभव नहीं करता।

२. बिना अर्धाङ्गिनीके काम्य यज्ञ करनेका मनुष्य अधिकारी नहीं है।

धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥३९॥
नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥
अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान्गृहाभिधान् ॥४१॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४२॥

हमारे तीन प्रकारके शौक्र (ब्राह्मणशरीर), सावित्र (गायत्री-उपदेशयुक्त) और दैक्ष (यज्ञकी दीक्षायुक्त) जन्मको धिक्कार है ! हमारी वेदविद्याको, ब्रह्मचर्य-व्रतको, बहुज्ञताको, कुलको और यज्ञकी चातुरीको धिक्कार है ! क्योंकि हम भगवान् विष्णुसे विमुख हैं ॥ ३९ ॥

यह निश्चित है कि योगियोंको भी मोहित करनेवाली भगवान्‌की मायाने हमको मोहित कर रक्खा है क्योंकि हम मनुष्योंको उपदेश देनेवाले गुरु ब्राह्मण होकर भी स्वार्थमें मोहित हो रहे हैं ॥ ४० ॥

अहो ! हमारी स्त्रियोंकी जगद्गुरु भगवान्‌में अनन्त भक्ति तो देखो—(हमने इनको भगवान्‌के समीप जानेसे रोका तो भी) जिसने अत्यन्त कठिनतासे तोड़ने योग्य गृहनामक मृत्यु-पाशोंको तोड़ डाला ॥ ४१ ॥

इन स्त्रियोंके तो न उपनयनादि संस्कार हुए हैं, न इन्होंने गुरुकुलमें निवास ही किया है (अर्थात् वेद नहीं पढ़े हैं), न तप किया, न आत्म-विचार ही किया है, न इनमें शौच ही है, और न सन्ध्योपासनादि क्रियाएँ ही हैं ॥ ४२ ॥

---

१. भा० स्क० १० अ० २३ ।

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४३॥
ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४४॥
अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद्विडम्बनम् ॥४५॥
हित्वान्यान्भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥४६॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४७॥

तथापि उत्तमकीर्तिमान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान्पर इनकी दृढ़ भक्ति है । हम सब संस्कारसे युक्त हैं किन्तु वह हमको (प्राप्त) नहीं है ॥ ४३ ॥

यही कारण है कि अपनी भलाई न जाननेवाले और घरके कामोंमें ही आसक्त हुए हमको सज्जनोंके आश्रयभूत परमात्माने गोपोंके वाक्योंके व्याजसे उपदेश दिया है । अहो ! यह कैसी कृपा है ? ॥ ४४ ॥

(यदि कृपा न समझी जाय) तो पूर्णकाम कैवल्याधिपति ईश्वरका अपनी प्रजासे अन्न माँगनेका क्या अभिप्राय था ? यह केवल लोकानुकरणमात्र है । (भाव यह है कि जो अन्न माँगा वह लोकानुकरणमात्र था)॥४५॥

लक्ष्मीजी ब्रह्मादिको त्यागकर और अपने चपलतादि दोषोंको छोड़कर जिनके चरणस्पर्शकी इच्छासे निरन्तर सेवा करती हैं उन भगवान्का अन्न माँगना विद्वानोंको भी मोहमें डालता है ॥ ४६ ॥

देश, काल, भिन्न-भिन्न चरु-पुरोडाशादि द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विक्, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ, धर्म, ये सभी जिनकी मूर्ति हैं ॥ ४७ ॥

स एष भगवान्साक्षाद्विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥४८॥
अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता ह्यस्माकं निश्चला हरौ ॥४९॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥५०॥
स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५१॥

वे ही ये योगेश्वरोंके भी ईश्वर साक्षात् भगवान् विष्णु यदुकुलमें उत्पन्न हुए हैं, ऐसा यद्यपि हमने सुना है तथापि मूर्खतावश हम उनको न पहचान सके ॥ ४८ ॥

फिर भी हम अत्यन्त धन्य हैं जिनकी ऐसी भगवद्भक्त स्त्रियाँ हैं, जिन स्त्रियोंकी भक्तिसे ही हमारी श्रीहरिमें निश्चल भक्ति हुई है ॥४९॥

जिनकी बुद्धि कहीं कुण्ठित नहीं होती ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्को नमस्कार है जिनकी मायासे मोहित होकर हमलोग कर्ममार्गमें चक्कर लगा रहे हैं ॥ ५० ॥

आपकी मायासे मोहित होनेके कारण आपके प्रभावको न जानने-वाले हमलोगोंके अपराधको आदिपुरुष आप ही क्षमा करने योग्य हैं ॥ ५१ ॥



तृतीय प्रकरण

रासका आह्वान[1]

गोपियोंद्वारा की हुई स्तुति

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र[2] ॥

अब माधुर्यभक्तिके अन्तर्गत रासलीलाका प्रकरण आरम्भ करते हैं। श्रीमद्भागवतके द्रष्टा पूज्यपाद श्रीधरस्वामीजीका मत है कि इस रास-पञ्चाध्यायीसे भगवान्का काम-विजय सूचित होता है। ब्रह्मा एवं इन्द्रादि कामसे हार गये[3] थे किन्तु भगवान्ने कोटिशः गोपियोंके यूथके साथ रहकर भी कामको जीत लिया! ये गोपियाँ सुन्दरता, तारुण्य और हाव-भावमें उर्वशीसे भी बढ़-चढ़कर थीं।

पूज्यपाद श्रीधरस्वामीजीने चार स्थलोंसे चार उक्तियाँ उद्धृत करके यह सिद्ध कर दिया कि भगवान् स्वतन्त्र हैं और जो रासक्रीड़ा हुई वह सब मायाका कार्य था। अथवा भगवान्ने मायाका आश्रय लेकर क्रीड़ा की और आप स्वतन्त्र रहे। उपर्युक्त चार उक्तियोंमें प्रथम तो 'योगमायामुपाश्रितः'[4] है। इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि भगवान्ने

---

१. भा० स्क० १० अ० २८, २९

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ३३ की टीकामें देखिये।

३. अहल्यायां जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोऽयासीदभजत गुरोरिन्दुरबलाम्।
इति प्रायः को वा न पदमपथेऽकार्यत मया-
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु ॥ इति ॥

४. भा० १०।२९।१

इस श्लोकमें 'ता रात्रीः' शब्द बहुवचनान्त है, इससे सूचित होता है कि रासक्रीड़ामें केवल एक रात्रिमें ही अनेक रात्रियाँ प्रतीत हुई थीं।

जो एक रात्रिमें कई रात्रियाँ दिखायीं, थोड़े-से संकीर्ण स्थानमें शतकोटि गोपियोंके यूथके साथ नृत्य किया, और अकेले होकर इतनी गोपियोंके साथ एक कालमें क्रीड़ा की, यह सब मायाका आश्रय लिये बिना नहीं हो सकता था । किन्तु भगवान् तो मायाके स्वामी हैं इस कारण वे उस समय भी स्वतन्त्र थे । दूसरी उक्ति है 'आत्मारामोऽप्यरीरमत् ।'[1] इन शब्दोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान्का असली स्वरूप अमनस्क है । यदि वे मायाको स्वीकार न करें तो किस प्रकार रमण बनेगा ? फिर यह भी विचारणीय बात है कि यहाँपर कहा गया है कि भगवान्ने दयासे रमण किया । इससे स्पष्टतया विदित होता है कि यह रमण काम-प्रेरित नहीं था । तीसरी उक्ति है 'साक्षान्मन्मथमन्मथः'[2] । इस पदसे यह बोधित होता है कि जो साक्षात् मन्मथके भी मन्मथ हैं उनके कामके वशमें होनेकी सम्भावना नहीं हो सकती । चौथी उक्ति है 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'[3] । ये शब्द पूर्णतया स्पष्ट करते हैं कि शरद् ऋतुकी जिस रात्रिमें वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णजीने क्रीड़ा की थी और जिसका आश्रय लेकर बहुत-से प्राचीन, अर्वाचीन एवं वर्तमान कवियोंके काव्योंमें नाना प्रकारकी कथाएँ तथा रस वर्णित हैं उस रात्रिमें रमण करते हुए भी भगवान् अवरुद्धवीर्य रहे अर्थात् कामके ऊपर विजय प्राप्त की ।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रतीत होगा कि यह रासलीला श्रीमद्भागवतमें एक अति उत्कृष्ट स्थल है । जिन महानुभावोंने 'माधुर्यका प्रादुर्भाव' तथा 'चीरहरणलीला' के प्रकरणोंका तात्पर्य समझ लिया उनको इस लीलाका रहस्य समझनेमें सरलता होगी ।

कुछ महानुभावोंका यह मत है कि यह रासलीला इस लोककी

---

१. भा० १० । २९ । ४२

२. भा० १० । ३० । २

३. भा० १० । ३३ । २६

ये महत्त्वके शब्द हैं इनका अर्थ पण्डितवर श्रीधनपति सूरिने गूढार्थदीपिकामें इस प्रकार किया है 'चरमधातुर्न स्खलितो यस्येति कामविजयोक्तिः'।

नहीं है[1] । इसका समर्थन उस लीलासे किया जाता है कि जब भगवान्‌ने नन्दजीको वरुणलोकसे छुड़ाया था जहाँ उनको वरुणके अनुचर इस कारण पकड़ ले गये थे कि उन्होंने यमुनामें राक्षसी वेलामें (रात्रिमें) स्नान किया था । नन्दजीने लौटकर गोपोंसे वरुणलोकके ऐश्वर्यका वर्णन किया था । इसे सुनकर गोपोंको वैकुण्ठलोक देखनेकी इच्छा हुई । किन्तु गोप तो देहादिसे आच्छादित थे और उनको देहादिसे निराला ब्रह्मस्वरूप दिखाना था । वह ब्रह्मस्वरूप तो तीनों कालोंमें रहनेवाला, चैतन्यरूप, देशादि परिच्छेदसे रहित स्वप्रकाश, नित्यसिद्ध है, जिसको एकाग्रचित्त तथा मनन करनेवाले ज्ञानी सत्त्वादि तीनों गुणोंके निवृत्त होनेपर देखते हैं । किन्तु भगवान्‌ने अपने योगबलसे गोपोंको वैकुण्ठलोक दिखाया[2] । गोपोंने वहाँ मूर्तिमान् वेदोंको भगवान्‌की स्तुति करते देखा । इतना ही वर्णन कर अध्याय २८ समाप्त होता है और यह बात रह जाती है कि वैकुण्ठमें और क्या अद्भुत ऐश्वर्य देखा ? इसलिये यह कल्पना की जाती है कि भगवान्‌ने गोपोंको वैकुण्ठलोकमें रासलीला दिखायी और यह लीला इस लोकमें नहीं हुई । इसका समर्थन 'ता रात्रीः' (भा० १० । २९ । १) शब्दोंसे किया है । कल्पनाकारका मत है कि इन शब्दोंका अभिप्राय उस रात्रिसे है जिस रात्रिमें गोपोंने ब्रह्मलोक देखा था ।

इसपर हमारा वक्तव्य यही है कि यदि ऐसा ही होता तो व्यास भगवान् साफ-साफ क्यों न कह देते ? अध्याय २८ के अन्तिम भागमें यह स्पष्ट लिखा है कि वैकुण्ठलोक देखनेपर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गोपोंको समाधिसे जगाया, तब वे निद्रासे जगे हुएकी भाँति विस्मयमें आ गये । इसके उपरान्त रासलीलाका प्रकरण आता है । व्यास भगवान् जहाँ कोई उपलक्षण कहते हैं, वहाँ उस विषयको स्पष्ट भी कर देते हैं, जैसा कि पुरञ्जनके इतिहाससे प्रतिपादन किया है[3] । हमारा मत यही है कि श्रीमद्भागवतमें जो स्थल जैसा है उसको वैसा ही प्रकट करना चाहिये ।

---

१. कल्याण मासिक पत्रिकाका श्रीकृष्णाङ्क पृ० १९३ ।

२. इसी प्रकारका वैकुण्ठदर्शन भगवान्‌ने अक्रूरजीको कराया था । (भा० १० । ३९ । ४१ से ५५ तक)

३. भा० स्क० ४ अध्याय २५ से २९ तक ।

श्रीमद्भागवतके द्रष्टा पूज्यपाद स्वामी श्रीधरजी स्पष्ट कहते हैं कि 'ता रात्रीः' शब्दका अर्थ २२ अध्यायके श्लोक २७ में कहे हुए 'इमाः' अर्थात् शरद् ऋतुकी रात्रियाँ थीं[1]। यह निश्चित है कि यह रासलीला व्रजमें हुई थी। हाँ, यदि यह कहा जाय कि उस समय व्रजधाम वैकुण्ठ ही था, तो यह कथन उपयुक्त हो सकता है। रासलीलाका रहस्य जानना और उसको समझाना कोई साधारण बात नहीं है।

इस लीलासे प्रकट होता है कि जिसको भगवान् चाहते हैं उसको स्वयं बुला लेते हैं, जैसे कि उन्होंने मुरलीकी ध्वनिसे गोपियोंको अपने पास बुला लिया था। भगवती श्रुति भी कहती है 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ० १।२।२३) बात ठीक ही है। भगवान्का दर्शन कितना ही प्रयत्न करो नहीं हो सकता[2], नारदजीके प्रति भगवान्ने ऐसा ही कहा[3] था। यह निश्चय है कि इन्द्रियोंसे या स्थूल शरीरसे भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ये तो बाहरकी वस्तुओं-को ही विषय करते हैं। श्रुतिमें कहा है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयं-भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठ० २।१।१) यह श्रुति स्पष्ट-रूपसे कहती है कि बहिर्मुख हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है। इस नियमका उल्लङ्घन हो ही नहीं सकता क्योंकि जिसका जो स्वभाव है वह उसको नहीं छोड़ सकता। जब इन्द्रियाँ या स्थूल शरीर भगवान्को अपना विषय नहीं कर सकते तो क्या मन या बुद्धि उन्हें अपना विषय कर सकती हैं? श्रुतियोंमें यह भी कहा है 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः' (केन० १।१।३)। किन्तु यह श्रुति निर्वि-शेषब्रह्मपरक है, न कि सगुणब्रह्मपरक। यहाँ यह समझ लेना चाहिये

---

१. याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः। यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥
(भा० १०।२२।२७) यहाँ 'इमाः' का अर्थ 'शरद्रात्रियाँ' है।

२. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
(गी० ११।८)

३. माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥

कि जब मन काम, सङ्कल्प इत्यादिसे दूषित होता है तब भगवान्‌को अपना विषय नहीं कर सकता। जब यही मन शुद्ध संस्कृत और वासनाशून्य हो जाता है तब भगवदाकार बन जाता है।

उपर्युक्त कठकी श्रुतिमें ही कहा है—'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।' सिद्धान्त यह हुआ कि मन जब शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त होता है तब वह भगवदाकार हो जाता है। रासप्रकरण यही व्यक्त करता है कि जब मनमें भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ स्फुरण न हो तब भगवत्प्राप्ति समझो। यदि थोड़ा-सा भी अभिमान हो गया तो भगवान् फिर तिरोहित हो जायँगे। देखो, जब गोपियाँ रासके मध्यमें अभिमानयुक्त हुईं तो वे अपने असंस्कृत मनसे भगवान्‌को न देख सकीं। इस प्रकरणका अनुशीलन करनेपर विदित होगा कि गोपियोंने मनको भगवदाकार बनानेके लिये बड़े प्रयत्न किये थे। जब वे कसौटीमें ठीक उतर गयीं तब फिर रास-क्रीड़ा हुई, जिसमें उनको पूर्णानन्द प्राप्त हुआ।

इस नृत्यमें संसारी पुरुषोंको अपनी वासनाओंके अनुसार प्रायः प्राकृत कामकी गन्ध आती है। किन्तु आगे-पीछेके प्रकरणोंको देखनेसे यह शंका निर्मूल ठहरती है। जो सर्वस्व त्यागकर भगवान्‌के समक्षमें आयी हैं उनमें क्या प्राकृत कामवासना रह सकती है? फिर भगवान्‌के साथ क्रीड़ामें दोष भी क्या हो सकता है? भगवान् व्यास कहते हैं कि जिस प्रकार छोटा बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है उसी प्रकार भगवान्‌ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा[1] की थी। ये कितने महत्त्वके शब्द हैं, पाठक स्वयं विचार कर लें। यह रासनृत्य एक ऐसा अभिनय है जिससे मनुष्य समझ सकता है कि प्रेम क्या वस्तु है और किस प्रकार प्रेमसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

अब जरा इस प्रकरणमें प्रवेश करें तो प्रतीत होगा कि गोपियोंमें साधारण प्रेम नहीं था। वह एक अनूठा प्रेम था जो एक प्रकारसे उनका जीवन ही था। इस प्रेममें गोपियाँ पगी हुई थीं। वे हर समय

---

१. भा० १०। ३३। १७

इसी प्रेममें विभोर रहती थीं। यह माना जा सकता है कि उनको अपने पति-पुत्रादिमें भी प्रेम था परन्तु वह वैध प्रेम था। जो प्रेम किसी कारण-वश होता है उसे वैध प्रेम कहते हैं। सन्ध्या या अन्य कर्मकाण्डमें जो विधिप्रयुक्त प्रेम है वह वैध होता है। इस प्रेममें प्रमादसे अन्तर भी पड़ जाता है। जैसा किसीने कहा, कथा सुननेसे पुण्य होता है। हम कथा सुनने गये और प्रेमसे सुनते भी रहे किन्तु मन अपने वाणिज्य या रोजगारपर चला गया या ऊँघ आने लगी; किन्तु जब अपने नित्यके व्यापारमें लगते हैं तो नींद, भूख अथवा समयका ध्यान ही नहीं रहता। इस दूसरे प्रकारके प्रेमकी संज्ञा स्वारसिक प्रेम है। इस रासलीलाके प्रकरणका अनुशीलन किया जाय तो गोपियोंमें ऐसा ही स्वारसिक प्रेम प्रतीत होगा; उनमें किसी दूषित विषयकी मलिनता नहीं मिलेगी।

इस क्रीड़ाका आह्वान भगवान्‌ने अपने वंशीके मधुर स्वरसे किया।[1] इस स्वरको सुनते ही जो गोपी जैसी अवस्थामें थी वैसे ही उठकर भगवान्‌के पास चली आयी। उसने अपना जाना दूसरी गोपीको भी नहीं जनाया। उस समय उनकी द्रुतगतिके कारण उनके कानोंके कुण्डल हिलकर कपोलोंमें टक्कर मार रहे थे। कोई दूध गरम कर रही थी, तो उसको उफनता ही छोड़कर चली आयी। कोई दूध दुह रही थी, तो उसको अध-दुहा छोड़कर चली गयी। कोई हलुवा बना रही थी; उसको चूल्हेपर छोड़कर चल दी। कोई भोजन अधपरोसा छोड़कर उठ खड़ी हुई। कोई अपने पतिकी सेवा करते-करते चल दी। किसीने एक नेत्रमें काजल लगाया था; वह दूसरे नेत्रमें काजल लगाये बिना ही चल दी। किसीने वस्त्र उलटे-पुलटे पहने। किसीने चरणोंके भूषण गलेमें; गलेके चरणोंमें पहिने। किसीने नाककी नथ कानमें और कानकी बाली नाकमें पहन ली। वे अपने पति, माता, पिता और भाई-बन्धुओंके निषेध करनेपर भी चल दीं। किसी गोपीको उसके पतिने कोठरीमें बन्द कर दिया तो उसको वहीं निर्विकल्प समाधि हो गयी और वह शरीर त्यागकर परमात्मामें जा मिली।

१. वंशीनादके विषयमें पृष्ठ ९१ की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

इन सब बातोंपर विचार करके पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि क्या प्राकृत कामीकी ऐसी दशा हो सकती है ? यह दशा तो बड़े उच्च कोटिके भक्तकी ही हो सकती है। पति-पुत्रादिका त्याग करना कोई साधारण बात नहीं है। किन्तु श्रेयःमार्गमें यह करना ही पड़ता है क्योंकि ये सब उसमें विघ्नकारी हैं। इन शरीर त्यागनेवाली गोपियोंकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करते हुए व्यास भगवान् कहते हैं कि—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
(१०। २९। ११)

इस प्रसङ्गको सुनकर परीक्षित महाराजको भी शङ्का हो गयी थी। तब उन्होंने प्रश्न किया कि गोपियाँ तो भगवान् कृष्णके केवल रूपपर मोहित हुई थीं, उन्हें ब्रह्मबुद्धि नहीं थी, तो फिर उनका मोक्ष कैसे हुआ ? प्रश्नका निष्कर्ष यह है कि यद्यपि पतिपुत्रादिमें भी ब्रह्म है तथापि उनकी सेवासे मोक्ष नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मबुद्धि न होनेके कारण श्रीकृष्ण-जीके ध्यानसे भी मोक्ष नहीं होना चाहिये था, सो कैसे हुआ ?

इसका प्रत्युत्तर भगवान् व्यासजी शुकजीके वचनोंमें थोड़े ही शब्दोंमें इस प्रकार देते हैं। जीवका ब्रह्मभाव अनादि अविद्यासे आवृत है इसी कारण उसकी सेवासे मुक्ति नहीं होती। भगवान् कृष्ण तो इन्द्रियों-के स्वामी (हृषीकेश) हैं; उनका ब्रह्मत्व अनावृत है; इसी कारण उनको विषय करनेमें ब्रह्म-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है। जिसको भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार हो गया है अर्थात् जिन्हें सदा श्रीकृष्णका ही ध्यान बना रहता है यदि वे द्वेष भी करते हैं तो भी कंस, शिशुपालादि-के समान मुक्त हो जाते हैं, फिर प्रेम करनेवाली गोपियाँ मुक्त हो गयीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है[1] ?

यह विषय गम्भीर है इस कारण ज़रा और विचार करना आवश्यक है। उपर्युक्त श्लोकमें 'जारबुद्धि' शब्द खटकता है। इस शब्दसे यह प्रतीत हो सकता है कि गोपियाँ व्यभिचारिणी थीं किन्तु गोपियोंकी

१. भा० १०। २९। १३–१५ तक

उत्पत्तिके विषयमें हम सप्तम प्रकरणमें यह दिखा आये हैं 'न मानुष्यः कथञ्चन' अर्थात् वे किसी भी प्रकार मानवी नहीं थीं और यह बात तो स्थान-स्थानपर कही गयी है कि वे विषयासक्त नहीं थीं। श्रीकृष्ण भगवान् तो पूर्ण ब्रह्म ही थे। मर्यादास्थापक थे। अपने श्रीमुखसे उन्होंने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

इस प्रकार यदि भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियाँ दोनों ही अमानव थे तो क्या उनके दिव्यातिदिव्य सम्बन्धमें 'जारबुद्धि' करनी चाहिये? बात तो यह है कि उनके असली पति तो भगवान् ही हैं। भगवान् सबमें व्यापक हैं। वे सबके आत्मा हैं। भला, आत्मा किसको प्रिय नहीं होता? आत्माको प्राप्त करना किसे अभीष्ट नहीं है? सब लोग यही तो चाहते हैं कि हमें आत्माका साक्षात्कार हो जाय। पर ऐसा होता क्यों नहीं? इसका उत्तर व्यास भगवान्ने दिया है कि देहादिके आवरणसे भगवान्का साक्षात्कार नहीं होता है। देहादि उपपति हैं। इन्हीं देहादिके कारण जीवको अपने वास्तविक पति भगवान्में जार-बुद्धि हो रही है। गोपियाँ ऐसी संस्कृत हो गयी थीं कि उन्होंने इस आवरणरूपी त्रिगुणात्मक देहको जिससे भगवान्में जारबुद्धि हो रही थी, त्याग दिया और उसी समय मुक्त होकर भगवान्में जा मिलीं।

इस शङ्का-समाधानके अनन्तर फिर प्रस्तुत विषयपर विचार किया जाता है। जब वंशीका नाद सुनकर गोपियाँ भगवान्के पास पहुँचीं तो

---

१. गीता अ० ३ श्लो० २१—२३ और गीता ४। ११ भी देखिये।

भगवान्‌ने ठीक उन्हीं शब्दोंसे उनका स्वागत किया जैसे ब्राह्मणपत्नियों-का किया था । यह निर्विवाद है कि ब्राह्मणपत्नियोंमें कामकी गन्ध भी नहीं थी । अतः यह समझमें नहीं आता कि गोपियोंके विषयमें ही काम-वासनाका भ्रम भगवान्‌की किस उक्तिसे होता है । भगवान्‌ने गोपियोंसे यही कहा 'इस घोर अँधेरी रात्रिमें तुम्हारे आगमनसे प्रतीत होता है कि व्रजमें कोई सङ्कट आ पड़ा है । यदि ऐसी बात नहीं है तो तुम अभी लौट जाओ । यहाँ वनमें रात्रिके समय भयङ्कर जन्तु फिरते हैं और तुम्हारे बान्धव तुमको न पाकर ढूँढ़ते होंगे । वृथा कष्ट उठा रहे होंगे ।'

गोपियाँ ऐसा भाषण सुनकर कुछ निरास-सी हुईं । तब भगवान्‌ने कहा 'तुमने वृन्दावनकी यह शोभा देख ली, यह सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित हो रहा है, ऊपर पूर्णचन्द्र छिटक रहा है, नीचे यमुनाके स्पर्शसे शीतल हुआ मन्द सुगन्ध समीर बह रहा है । अब अपने पतियोंके पास जाओ और अपने बच्चोंको दूध पिलाओ, वे भूखसे रो रहे होंगे । हे सतियो ! स्त्रियोंका धर्म है कि निष्कपट भावसे पतिकी सेवा करें[1] और पतिके सम्बन्धियोंका आदर करें । सन्तानका पालन करें । मेरा नामस्मरण, मेरा अथवा मेरी मूर्तिका दर्शन, मेरा ध्यान, मेरा कीर्तन करनेसे जैसा प्रेमका उद्दीपन होता है, वैसा मेरे सान्निध्यसे नहीं होता । इस कारण तुम लौटकर व्रजको चली जाओ ।'

गोपियाँ यह सुनकर खिन्नचित्त हो गयीं । उनके ओठ सूख गये । कोई गोपी मुखको नीचा करके पैरके अंगूठेसे पृथिवी कुरेदने लगी । उनके नेत्रोंमें जल भर आया और वे गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगीं ।



---

१. दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ (भा० १० । २९ । २५)

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।

(एक यूथकी प्रमुख गोपी बोली—) हे विभो ! आपको ऐसा मर्मभेदी वचन कहना उचित नहीं है । हे मनमाने कार्य करनेवाले ! आपको तो हमको उस प्रकार ग्रहण करना चाहिये जैसे कि भगवान् आदिपुरुष मुमुक्षुओंको ग्रहण करते हैं; क्योंकि हम सब विषय-वासनाओंको छोड़कर आपके चरणकमलका भजन करती हैं ॥३१॥

हे भगवन् ! धर्मको जाननेवाले आपने कहा कि 'पति, पुत्र और उनके बन्धुओंकी सेवा-शुश्रूषा करना स्त्रियोंका धर्म है' वह सब सेवा आपकी ही क्यों न की जाय; क्योंकि आप सब शरीरधारियोंके प्रिय और आत्मा हैं । (हमारे पति-पुत्रादिमें अन्तर्यामीरूपसे आपहीका प्रवेश है) ॥३२॥

(इसी अभिप्रायको सदाचारसे दृढ़ करती हुई प्रार्थना करती है—) शास्त्रज्ञ लोग नित्यप्रिय अपने आत्मस्वरूप आपमें प्रीति करते हैं । इस संसारमें दुःख देनेवाले पति, पुत्र आदिसे क्या प्रयोजन है ? इस कारण

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।

हे अरविन्दनेत्र ! हमारे ऊपर प्रसन्न होइये । बहुत कालसे आपके साथ क्रीड़ा करनेकी जो आशालता हमने पाल रखी है उसे काट न डालिये ॥३३॥

(दूसरे यूथकी प्रमुख गोपी कहती है कि आपने जो 'व्रज लौट जाओ' यह कहा वह तो त्रिकालमें भी नहीं हो सकता है, क्योंकि आपने हमारे चित्त आदिका अपहरण कर लिया है) हमारा चित्त जो अबतक सुखपूर्वक गृहकार्यमें संलग्न था उसको आपने हर लिया है । हमारे हाथ जो अबतक घरके काममें लगे हुए थे उनको भी आपने व्यापाररहित कर दिया है । हमारे पैर आपके चरणतलको छोड़कर एक कदम भी चलनेमें असमर्थ हैं । अब ऐसी अवस्थामें हम व्रजको कैसे जायँ ? और वहाँ जाकर क्या करें ? ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण ! आपके हास्यसहित कटाक्षोंसे और मधुर वंशी-गीतसे हमारे हृदयमें आपके समागमकी इच्छारूप अग्नि पैदा (प्रदीप्त) हो गयी है, उसे आप अपने अधरामृतके प्रवाहसे शान्त कीजिये । यदि ऐसा न करेंगे तो आपके समागमकी इच्छारूप अग्निसे जलती हुई हमलोग विरह-जन्य दूसरी अग्निसे अपने शरीरको भस्म कर देंगी और हे सखे ! (योगियोंको

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा

ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया

दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग

स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या

लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।

जिस प्रकार अन्त समयकी मतिके अनुसार[1] आपकी गति मिलती है, उसी प्रकार) ध्यानके द्वारा हम आपके चरणोंकी पदवी प्राप्त करेंगी ॥ ३५ ॥

(तीसरे यूथकी प्रमुख गोपियाँ, जो सम्भवतः कात्यायनीव्रत करनेवाली थीं कहती हैं-) हे पुण्डरीकाक्ष ! जब हमने (यमुनातटपर) व्रजवासियोंके प्रिय आपके चरणकमलका—जो लक्ष्मीजीको भी किसी समय प्राप्त होता है—स्पर्श करके आनन्द प्राप्त किया, तभीसे दूसरे पतिके सम्मुख खड़ी होनेके लिये भी हम समर्थ नहीं हैं ॥३६॥

(आपके चरणकमलोंकी सेवाका सौभाग्य अति विचित्र है) जिस लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके निमित्त ब्रह्मादि देवता बड़ा तप करते हैं वह (उनका अनादर करके) आपके वक्षःस्थलमें अबाध स्थान पाकर भी अपनी सौत तुलसीके साथ आपके भृत्यगणोंसे सेवित

---

१. अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
(गीता ८ । ५-६)

यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-

स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं

प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम

तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-

गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।

दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य

वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

चरणारविन्दके रजकी आकांक्षा करती हैं, इन्हींकी भाँति हमलोग भी आपके चरण-रजकी शरणमें आयी हैं ॥३७॥

(चौथे यूथकी प्रमुख गोपी कहती है—) हे दुःखनाशक! आपकी उपासनाकी आशा रखती हुई हम अपने घरोंको छोड़कर (योगियोंकी भाँति) आपके चरणोंके निकट आयी हैं। आपके सुन्दर हास्यकी छटा देखकर हमारा अन्तःकरण तीव्र इच्छाके वेगसे तप्त हो गया है, अब हे पुरुषभूषण! हमें अपनी दासियाँ बना लीजिये ॥३८॥

(घरका स्वामित्व छोड़कर दासियाँ बनना क्यों चाहती हो? ऐसा मत कहिये क्योंकि) जिसके कपोलोंपर कुण्डल अजब शोभा बढ़ा रहे हैं, अधर अमृतसे लबालब भरे हैं, जिसके अवलोकन हास्ययुक्त हैं, घुँघुराले केश लटक रहे हैं, ऐसे आपके मुखकमलकी छटाको देखकर और भक्तोंको अभय देनेवाली भुजाओं तथा सौन्दर्यसे अनुपम आनन्द देनेवाले वक्षःस्थलको देखकर हम आपकी दासियाँ होना चाहती हैं ॥३९॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

हे कृष्ण ! त्रिभुवनमें ऐसी कौन स्त्री है, जो आपके मधुर पदोंसे संयुक्त स्वर, आलाप आदि भेदोंसे उच्चारित वेणुगीतको सुनकर और त्रिलोकीमें अत्यन्त सुन्दर आपके रूपको देखकर अपना गृहस्थधर्म छोड़कर आपके पास न आवे ? क्योंकि आपके वेणुगीतके सुननेसे और स्वरूपके देखनेसे गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिणोंने भी अपने शरीरपर रोमाञ्च धारण कर लिये हैं ॥४०॥

हे आर्तबन्धो ! यह विदित है कि आप आदिपुरुष देव हैं। जैसे देवलोककी रक्षा करनेके निमित्त आपने उपेन्द्रादिरूपसे अवतार लिया था, वैसे ही आप व्रजके दुःख दूर करनेके निमित्त अवतीर्ण हुए हैं। इसलिये हम दासियोंके सन्तप्त वक्षःस्थल और मस्तकपर आप अपना करकमल रखिये ॥४१॥



चतुर्थ प्रकरण

रासलीला

पूर्वार्ध

गोपियोंद्वारा विरहावस्थामें की हुई स्तुति[1]

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥[2]

गोपियोंके दीन वचन सुनकर श्रीकृष्ण मुसकाये, तदनन्तर उन्होंने उन गोपियोंके साथ हास-विलाससहित क्रीड़ा की । यह समाज शुद्ध प्रेमियोंका था । खुले वनमें निवास, गौओंकी सेवा और सीधी-सादी चाल-ढाल थी । व्रज तो साक्षात् स्वर्ग ही था । आजकलके रहन-सहनकी दृष्टिसे उसे नहीं देखना चाहिये ।

बस, रासक्रीड़ा आरम्भ हुई, खूब ऊँचे स्वरसे गान होने लगा । गोपियाँ प्रेमसे नाचने लगीं । इस प्रकार वहाँ अपूर्व आनन्द छा गया । धीरे-धीरे भगवान्‌की समीपता पाकर गोपियोंको यह गर्व हुआ कि भूतल-की स्त्रियोंमें हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं । भगवान् तो सर्वथा असंग हैं । उनकी जो लीला होती है केवल भक्तोंके परितोषके लिये ही होती है । किन्तु वे भक्तोंका गर्व नहीं देख सकते । उन्होंने देखा कि गोपियोंको गर्व हो गया, अतः वे उसी समय अन्तर्हित हो गये ।

अब गोपियोंके दुःखका पार न रहा । वे पगली-सी हो गयीं, और उनका मन भगवान्‌में लग गया । वे भगवान्‌का ही अभिनय करने

---

१. भा० १० । ३०-३१

२. अर्थ इसी प्रकरणमें श्लो० ४ की टीकामें देखिये ।

लगीं । एक गोपी दूसरेके कन्धेपर हाथ रखकर चलती हुई कहने लगी 'मैं कृष्ण हूँ, मेरी चाल देखो ।' एक गोपी पूतना बनी और दूसरी उसका स्तनपान करने लगी । कोई गोपी कालिय सर्प बनी और दूसरी उसके शिरपर चढ़कर कहने लगी 'अरे दुष्ट सर्प ! तू इस कुण्डसे निकल जा, मैं दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ' । कोई गोपी यशोदा बनी तो एक अन्य गोपी माखन चुराने लगी । उसको यशोदा बनी हुई गोपीने बाँध दिया, तब वह भयभीत होकर सुन्दर नेत्रोंसे युक्त अपना मुँह हाथोंसे ढककर भयका अनुकरण करने लगी । कोई गोपी कहने लगी 'हे व्रजवासियो ! तुम पवन और मेघोंसे भय मत मानो, उनसे तुम्हारी रक्षा करनेका उपाय मैंने कर लिया है' । ऐसा कहकर गोवर्धन पर्वतको उठानेकी-सी मुद्रा बनाकर उसने एक हाथसे ओढ़नेका वस्त्र फैलाकर ऊपरको उठा लिया ।

इस प्रकार वे सब गोपियाँ वृन्दावनमें घूमती हुई भगवान्‌को खोजने लगीं । कभी वृक्षोंसे पूछतीं 'हे पीपल ! हे पिलखन ! हे वट ! तुम तो सबसे उन्नत हो, क्या तुमने भगवान्‌को देखा है ?' कभी पुष्पोंसे पूछतीं 'हे अशोक ! हे चम्पक ! हे पुन्नाग ! क्या इस मार्गसे जाते हुए कृष्णको तुमने देखा है ? हे तुलसिके ! क्या अपनेको धारण करनेवाले कृष्णको तुमने देखा है ? तुम तो गोविन्दचरणप्रिया हो ।'

जब उनसे कोई उत्तर न मिला तो यह विचारकर कि—यह लता नम्र और परमगुणवती है, उससे पूछने लगीं 'हे मालति ! हे मल्लिके ! हे चमेली ! हे जूही ! तुमने श्रीकृष्ण देखे हैं क्या ? वे फूल लेनेकी इच्छासे हाथके स्पर्शसे तुम्हें प्रसन्न करते हुए कदाचित् इधरसे गये हों ?' जब कहींसे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला, तो पृथ्वीसे पूछने लगीं 'हे वसुन्धरे ! तुमने कौन-सा तप किया है जो तुम श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके कारण तृण आदिके रूपमें रोमाञ्चित होकर शोभा पा रही हो ? क्या तुम्हारी यह शोभा इसलिये है कि भगवान्‌ने वामनरूपसे तुम्हें नापा था, या वाराह-रूपसे तुम्हें आलिङ्गन किया था इसलिये है ?'

पृथिवीसे कोई उत्तर तो न मिला, किन्तु गोपियोंने उसपर भगवान्का ध्वजा, कमल, वज्र, अङ्कुश और यवयुक्त चरणचिह्न देखा। गोपियाँ उस चरणधूलिको भगवान्के प्राप्त्यर्थ अपने शरीरमें यह कहकर मलने लगीं कि 'अहो ! यह गोविन्दके चरणकमलोंकी धूलि अति धन्य है ! जिसको सकल दोषोंके दूर होनेके निमित्त ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी अपने मस्तकपर धारण करती हैं।' फिर उन्हीं चिह्नोंको खोजती-खोजती आगे बढ़ीं, तो क्या देखती हैं कि एक अन्य चरणचिह्न भी है। यह देखकर मनमें तर्क करने लगीं कि यह चिह्न किसी परम भाग्यवती सखीका है। अतः वे स्पर्धायुक्त कहने लगीं कि यह सखी एकान्तमें भगवदानन्द प्राप्त कर रही है।

आगे बढ़ीं तो उन्हें वह दूसरा चरणचिह्न दिखायी न दिया। तब कहने लगीं 'मालूम होता है उस सखीको भी अभिमान हुआ होगा कि 'मैं ही धन्य हूँ' और उसी आवेशमें भगवान्से कहा होगा 'हे कृष्ण ! मैं हार गयी हूँ, आगे नहीं चल सकती अतः जहाँ तुम्हें जाना हो मुझे अपने कन्धेपर चढ़ाकर ले चलो'। तब वे गोपियाँ विचार करने लगीं कि सर्वदर्पहारी भगवान् उस गोपीको वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये होंगे। बात भी यही निकली। थोड़ी दूरपर वह गोपी भी इन्हें मिल गयी।

तब ये सब गोपियाँ भगवान्को फिर वनके कोने-कोनेमें ढूँढ़ने लगीं और इनका अभिमान सर्वथा नष्ट हो गया। इस प्रकार जिनका अन्तःकरण भगवदाकार हो गया है, भगवान्की ही वार्ता करनेवाली भगवान्की ही लीलाओंका अनुकरण करनेवाली तथा भगवान्के ही गुणोंका गान करनेवाली उन गोपियोंको उस समय अपने घरका भी स्मरण नहीं रहा और वे फिर उसी यमुनाकी रेतीमें आकर भगवान्का गुण-गान करने लगीं।



गोपियोंद्वारा विरहावस्थामें की हुई स्तुति[1]

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥
शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥
विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।

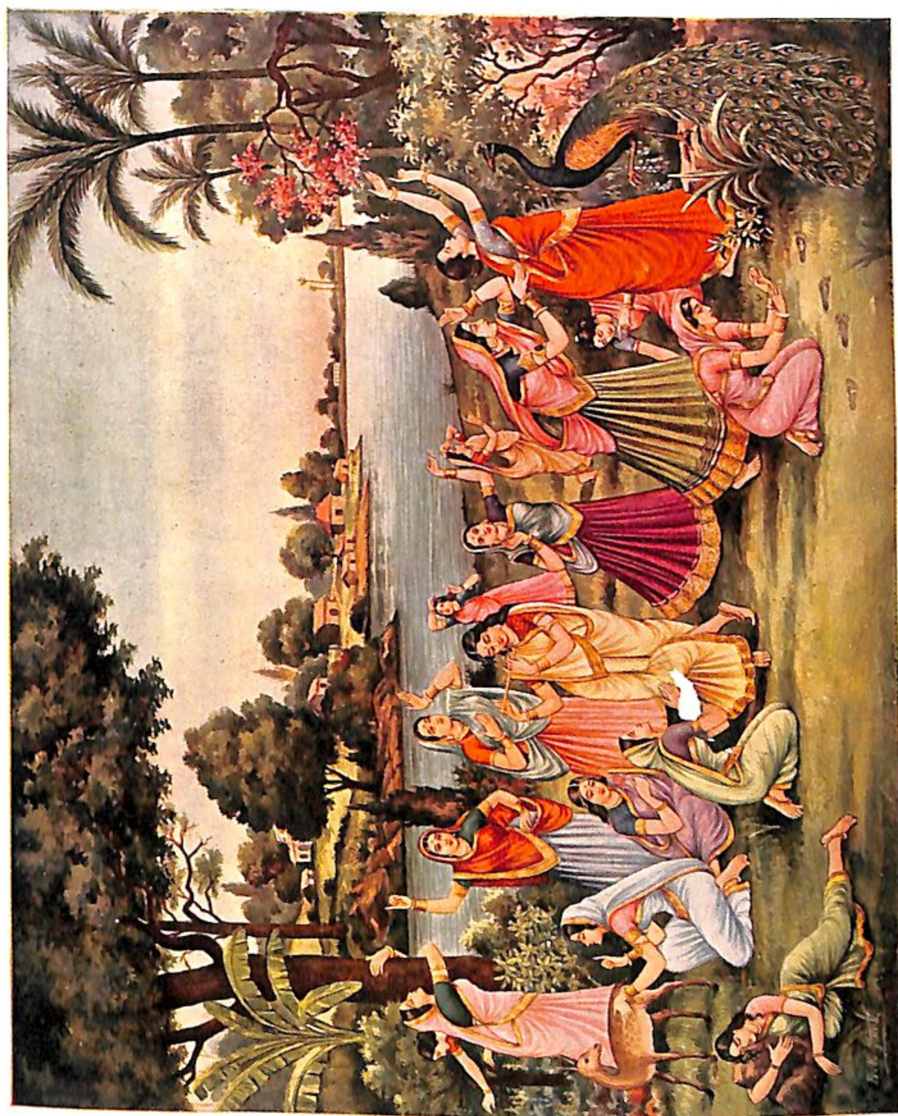
हे प्राणप्रिय ! (आपकी जय हो) आपके जन्मसे यह व्रज उत्कर्षको प्राप्त हो गया है। इसलिये आपकी अनपायिनी लक्ष्मी सदा व्रजको अलङ्कृत कर रही है । यहाँ आपकी दासी हम गोपियाँ आपकी प्राप्तिके लिये ही किसी प्रकार प्राणोंको धारण करके दशों दिशाओंमें आपको खोजती फिरती हैं; इस कारण आप हमें प्रत्यक्ष दर्शन दें ॥ १ ॥

(यहाँ यह समझना चाहिये कि एक-एक श्लोक अलग-अलग गोपीकी उक्ति है । शङ्का—खोजनेका क्या प्रयोजन ? समाधान—) हे श्रेष्ठ वरदानी ! आपकी दृष्टि शरद् ऋतुमें इस पुष्करिणीमें खिले हुए कमलकी भीतरी शोभासे भी सुन्दर है । हे सुरतनाथ ! ऐसी दृष्टिसे हम बिना मूल्यकी दासियोंको मारना क्या इस संसारमें वध नहीं कहा जाता ? (क्या शस्त्रसे ही मारना वध कहा जाता है ? इस कारण दृष्टिसे हरे गये प्राणोंको लौटा देनेके लिये अब हमको दर्शन दीजिये । अपनेको अशुल्क दासी कहनेका यह भाव है कि आपकी प्राप्तिको छोड़कर हम और कुछ धनादि मूल्य चाहती ही नहीं हैं) ॥ २ ॥

हे श्रेष्ठ ! कालियह्रदके विषैले जलके पीनेसे होनेवाली मृत्युसे, अघासुर दैत्यसे, इन्द्रद्वारा की गयी वर्षासे, वायुसे, बिजलीकी अग्निसे, वृषभरूपी अरिष्टासुरसे, व्योमासुरसे एवं सब प्रकारके भयसे आपने बार-

---

१. भा० स्क० १० अ० ३१



वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥४॥
विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥
व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

बार हमारी रक्षा की है (इस समय हम विरह-वेदनासे पीड़ित हो रही हैं अब क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे हैं ?) ॥ ३ ॥

हे सखे ! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं किन्तु सब प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षी हैं (इस कारण हमारे दुःखको भी आप जानते हैं) ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर आप संसारकी रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं (तो हमारी रक्षा क्यों नहीं करते ?) ॥ ४ ॥

(अब, चार श्लोकोंसे चार प्रार्थनाओंका सम्पादन करनेको कहती हैं) हे यदुवंशावतंस ! हे कान्त ! (जन्म-मरणरूपी संसारसे) भयभीत होकर, आपके चरणोंकी शरणमें आये हुए प्राणियोंको अभय देनेवाले, सम्पूर्ण मनःकामनाओंको पूर्ण करनेवाले और लक्ष्मीजीका पाणिग्रहण करनेवाले अपने करकमलको आप हमारे मस्तकपर रखिये ॥ ५ ॥

हे व्रजजनदुःखनाशक ! हे वीर ! आपका हास्य भक्तोंके गर्वको नष्ट करनेवाला है (अतः हमारे गर्वका नाश हो चुका अब क्यों अन्तर्हित होते हैं ?) हे सखे ! हम आपकी दासियाँ हैं आप हमें स्वीकार करें और हमें अपने कमलसदृश सुन्दर मुखको दिखलावें ॥ ६ ॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥
मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥८॥
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।

हे भगवन् ! शरणमें आये हुए प्राणियोंके समानरूपसे पापका नाश करनेवाले, कृपासे तृण चरनेवाले पशुओंके पीछे चलनेवाले, सौभाग्य-फल देनेसे श्रीके निवासभूत, अनुपम पराक्रमसे कालिय नागकी फणोंमें स्थापित अपने चरणारविन्दको हमारे वक्षःस्थलपर रखिये और हमारी कामाग्निका उच्छेद कीजिये ॥ ७ ॥

(अब उच्छेदका प्रकार बतलाती हैं—) हे कमललोचन ! हे वीर ! मनोहर वचनोंसे युक्त, अति मधुर, ज्ञानियोंको भी प्रिय लगनेवाली आपकी वाणीसे मोहको प्राप्त हुई अपनी आज्ञाकारिणी दासियोंको आप अपने अधरामृतसे जीवित कीजिये ॥८॥

(आपके विरहसे हमारा मरण तो निश्चित ही था किन्तु आपकी कथारूप अमृत पिलानेवाले धर्मात्मा पुरुषोंने अबतक हमको मरनेसे वञ्चित रखा है । अब दर्शन दीजिये ।) आपकी कथा अमृत है, क्योंकि वह सन्तप्त प्राणियोंको जीवन देती है । ब्रह्मज्ञानियोंने भी देवभोग्य अमृतको तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है । वह सब पापोंको हरनेवाली है (अर्थात् काम्य कर्मका निरास करनेवाली है) श्रवणमात्रसे मङ्गलकारिणी और अत्यन्त शान्त है, ऐसे तुम्हारे कथामृतको विस्तारके साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्वजन्ममें बहुत दान किये हैं (वे बड़े पुण्यात्मा हैं) ॥ ९ ॥

(कथा सुननेसे ही सन्तुष्ट हो तो मेरे दर्शनकी अभिलाषा क्यों करती हो ऐसा यदि कहो तो) हे मायावी प्रियतम ! ध्यानमात्रसे ही मङ्गलकारी तुम्हारा सुन्दर हास्य, प्रेमपूर्वक कटाक्षोंसे किया गया

रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥
चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून्नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

अवलोकन,—विहार और एकान्तमें होनेवाले मनोहर संकेत, ये सब हमारे मनको क्षुब्धकर रहे हैं अतः कथामात्रसे हमारी शान्ति नहीं होगी ॥१०॥

(इस श्लोकका और अगले श्लोकका यह भाव है कि गोपी कहती है कि हम तो आपके ऊपर अतिप्रेम होनेसे आर्द्रचित्त हो रही हैं और न जाने आप हमसे क्यों कपट कर रहे हैं) हे नाथ ! हे कान्त ! जब आप गौ चराते हुए व्रजसे बाहर जाते हैं, तब आपके कमलसदृश सुन्दर चरण कंकड़, पत्थरके छोटे-छोटे टुकड़े, तृण और अङ्कुरोंसे दुःख पाते हैं ऐसा सोचकर हमारा हृदय व्यथित हो उठता है ॥११॥

हे वीर ! सायङ्कालके समय काले घुँघुराले केशसे आवृत और गोधूलिसे व्याप्त अतएव भ्रमरपंक्ति और परागसे आवृत कमलके सदृश अपने मुखारविन्दको हमें बार-बार दिखाते हुए आप हमारे मनमें अपने सम्पर्ककी इच्छा प्रदीप्त करते हैं (अर्थात् सायुज्य भक्ति तथा सङ्ग नहीं देते हैं, इस कारण कपटी हैं) ॥१२॥

(इस अग्रिम श्लोकका भाव यह है कि गोपियाँ प्रार्थना करती हैं कि आप कपट त्यागकर हमपर कृपा करें) हे मानसिक व्यथाओंको दूर करनेवाले ! हे रमण ! शरणागतोंको इष्टफल देनेवाले ब्रह्माजीसे पूजित, पृथ्वीके भूषण, ध्यानमात्रसे आपत्तियोंके निवर्तक और सेवा करते समय भी अति आनन्द देनेवाले अपने चरणकमलोंको हमारे हृदयपर रक्खो, (यहाँपर भगवान्का सम्बोधन आधिहन् है । आधिका अर्थ है—मानसिक चिन्ता) ॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥
अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥१५॥
पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

हे वीर ! आप हमें अपना अधरामृत अर्पण करें जो कि सुरतवर्द्धन (अर्थात् प्राप्त होनेपर अधिकाधिक इच्छा बढ़ानेवाला) और शोकका नाशक है, बजायी जाती हुई मुरली जिसका भलीभाँति रस ले रही है तथा जो मनुष्योंकी सार्वभौम आदि सुखोंमें होनेवाली इच्छाको भुला देनेवाला है ॥१४॥

(गोपियाँ इस अग्रिम श्लोकमें करुण वाणीसे कहती हैं कि क्षण-भर आपके न दीखनेसे दुःख और दीखनेसे सुखका अनुभव करके हम सब कुछ छोड़कर यतियोंके समान आपके पास आयी हैं, आप हमें क्यों छोड़ते हैं ?) जब आप प्रातःकाल वनको जाते हैं तो आपके दर्शनके बिना हमको आधा क्षण भी, एक युगके समान प्रतीत होता है, अर्थात् उतने समयतक बड़ा दुःख प्रतीत होता है । (जब सन्ध्या समय आप लौटकर आते हैं) तो घुँघुराले केशोंसे शोभायमान आपके सुन्दर मुखके निरन्तर दर्शन करती हुई हम लोगोंकी आँखोंके पलक बनानेवाले ब्रह्माजी सचमुच हृदयशून्य मालूम पड़ते हैं, उन्होंने पलक बनाकर अपनी जड़ता ही दिखलायी । उतने समयतक हम आपके दर्शनसुखसे वञ्चित रहती हैं ॥१५॥

हे अच्युत ! गानके ताल और स्वरको जाननेवाले (या हमारे आगमनके तात्पर्यको जाननेवाले) आपके द्वारा गाये हुए गीतोंसे मोहित होकर हम अपने पति, पुत्र, कुल, भ्राता और बान्धवोंका त्यागकर आपके समीप आयी हैं । हे शठ ! आपके सिवा दूसरा कौन पुरुष रात्रिमें स्त्रियोंको त्याग सकता है ? ॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥
व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वि-
त्कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

(अब अग्रिम श्लोकसे कहती है कि आपके द्वारा त्यागी हुई हम अबलाओंके हृदयमें आपके प्रथम दर्शनसे जो रोग उत्पन्न हो गया है उसकी आप पुनर्मिलनके द्वारा ही चिकित्सा कीजिये) आपके वासना-प्रवर्तक एकान्तसंकेत, हास्ययुक्त मुख, प्रेमयुक्त अवलोकन और अति विशाल तथा लक्ष्मीका गृहरूप वक्षःस्थल देखकर हमें आपके सामीप्यकी बड़ी इच्छा होती है और मन बारंबार मोहित होता है ॥१७॥

हे अङ्ग ! (हे प्रभो !) आपका अवतार सभी व्रजवासी लोगोंका दुःख दूर करनेके लिये और संसारके कल्याणके लिये हुआ है । अतः मनसे आपकी इच्छा करनेवाली हम अबलाओंके हृदयरोगको नष्ट करने-वाली अत्यन्त गुप्त ओषधि,—जो केवल आपके ही पास है, उसे हमें उदारतापूर्वक दे दीजिये ॥१८॥

(अब अति प्रेमसे व्याकुल होकर कातर स्वरमें कहती हैं—) हे प्रिय ! आपके जिन कोमल चरणोंको हम अपने कठिन वक्षःस्थलमें धीरे-धीरे रखती थीं, उस चरणकमलसे आप इस समय वनमें फिर रहे हैं, तो वह पदकमल मार्गके कंकड़ों और काँटोंसे क्या क्लेश नहीं पाता होगा ? अवश्य पाता होगा, ऐसा जानकर आप ही जिनके जीवन हैं, ऐसी हम गोपियोंकी बुद्धि मोहित हो रही है ॥१९॥



पञ्चम प्रकरण

रासलीला

उत्तरार्ध

युग्मश्लोकी गोपीगीत

दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन्यर्हि सन्धितवेणुः ॥
सरसि सारसहंसविहंगाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः[2] ॥

गोपियाँ भगवान्का दर्शन करनेके लिये अति उत्कण्ठित होकर अनेकों प्रकारके गीत गाने लगीं, और नाना प्रकारके प्रलाप करती हुई अन्तमें ऊँचे स्वरसे रोने लगीं। उस समय जिनका मुखारविन्द हास्य-युक्त है, वे पीताम्बरधारी भगवान् पुष्पमाला धारण किये हुए उस स्थान-में प्रकट हुए। गोपियाँ, इस प्रकार अकस्मात् प्रकट हुए भगवान्को, अपने प्रफुल्लित नेत्र-कमलोंसे देखकर एक साथ इस तरह खड़ी हो गयीं जैसे मूर्च्छासे जागे हुए पुरुषमें चेतना आनेपर उसके हाथ, पैर आदि अङ्ग एक साथ हिलने-चलने लग जाते हैं। तदनन्तर गोपियोंने अपने पृथक्-पृथक् भावोंसे भगवान्के मुखकमलका दर्शन किया, और विरहसे उत्पन्न हुए तापको ऐसे त्याग दिया जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष ईश्वरको पाकर संसारके तापको त्याग देता है।

तब गोपियोंने सब जीवोंके अन्तर्यामी उन श्रीकृष्ण भगवान्को बैठनेके लिये अपने ओढ़नेके वस्त्र दिये। वे उनपर बैठ गये। गोपियों-

---

१. भा० स्क० १० अ० ३२ से ३५ तक।

२. अर्थ इस प्रकरणके श्लोक १० और ११ की टीकामें देखिये।

ने भगवान्‌की पूजा की । उस समय वहाँ कोई प्राकृत कामकी वार्ता नहीं हुई । गोपियोंने भगवान्‌की प्रशंसा की और उनके अन्तर्धान होनेका अपराध उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये वे बोलीं—'हे कृष्ण ! कोई पुरुष अपनी सेवा करनेवालेकी बदलेमें सेवा करता है, कोई सेवाकी अपेक्षा न करके सेवा न करनेवालेकी सेवा करता है, और कोई अपने प्रति उपकार करने-वाले और न करनेवाले किसीकी भी सेवा नहीं करता, अब आप बताइये कि इन तीनोंमें क्या गुण और क्या दोष हैं ?'

भगवान्‌ने कहा—'प्रथम प्रकारके पुरुषोंकी सेवा स्वार्थके लिये होती है, इसी कारण उनमें सच्चा प्रेम और सच्चा सुख या धर्म नहीं होता है । दूसरे प्रकारके पुरुषोंकी दो कोटियाँ होती हैं, प्रथम दयालु, दूसरा प्रेमी जैसे माता-पितादि । उनमें प्रथम कोटिके पुरुषोंको धर्म प्राप्त होता है और द्वितीय कोटिवाले पुरुषोंको केवल सौहृद (प्रेम), तीसरे प्रकारके पुरुषोंकी चार कोटियाँ हैं, आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही अर्थात् निर्दयी' ।

यह सुनकर गोपियाँ आपसमें संकेत करके हँसीं । उनका आशय यह था कि भगवान् बहिर्दृष्टि होनेसे आत्माराम नहीं हैं, इन्होंने वेणुके नादद्वारा हमको बुलाया, इस कारणसे आप्तकाम भी नहीं हैं और चतुर होनेके कारण अकृतज्ञ भी नहीं हैं (मूर्ख नहीं हैं) किन्तु निर्दयी तो हैं । भगवान् इस भावको समझ गये और बोले 'अरी सखियो ! मैं तो इनमेंसे कोई नहीं हूँ । मैं अपने भक्तोंकी सेवा इस कारण नहीं करता कि जिससे उनको निरन्तर मेरा ध्यान बना रहे । जैसे निर्धन पुरुषको यदि धन मिल जाय और फिर वह नष्ट हो जाय तो वह उस धनकी चिन्तामें भूख, प्यास आदि कुछ भी नहीं जानता; इसी प्रकार मेरा भक्त भी मेरे अन्तर्धान होनेपर मेरी चिन्तामें निमग्न होकर, देहका भी अनुसन्धान नहीं रखता है किन्तु निरन्तर मेरा ही ध्यान रखता है। तुमने तो मेरी प्राप्तिके लिये योग्य-अयोग्यका विचार, धर्म-अधर्मका विचार और बान्धवोंके स्नेहका परित्यागतक कर दिये हैं । तुम्हारी सेवाका मैं क्या प्रत्युपकार

करूँ ? तुम्हारे सत्कारका प्रत्युपकार तुम्हारी ही सुशीलतापर छोड़ता हूँ ।

यह बात सुनकर गोपियोंको परम शान्ति मिली । तब गोपियाँ हर्षयुक्त होकर खड़ी हुईं और परस्पर एकने दूसरेका हाथ पकड़कर मण्डल-सा बना लिया । इस प्रकार उन्होंने भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर जो रास अधूरा रह गया था उसे पूर्ण करनेकी इच्छा प्रकट की । इस नृत्यमें एक अद्भुत बात यह थी कि हर दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक श्रीकृष्ण खड़े हुए थे अर्थात् जितनी गोपियाँ थीं उतने ही श्रीकृष्ण हो गये थे । फिर क्या था, स्वर, ताल, वाद्य, वीणा आदिके सहित अलौकिक दिव्य नृत्य होने लगा[1] । जैसे कोई छोटा बच्चा किसी दर्पणगत अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है, अर्थात् कभी उस प्रतिबिम्बके एक अङ्गको पकड़ता है, कभी दूसरे अङ्गको, कभी एक अङ्गको नोचता है, कभी दूसरे अङ्गको घसीटता है । ऐसे ही भगवान्‌ने गोपियोंके साथ क्रीड़ा की[2] । भाव यह है कि गोपियाँ भगवान्‌की विभूति (अङ्ग) थीं, अपने अङ्गका हर एक स्पर्श करता है, भगवान्‌ने भी ऐसा ही किया, तो इसमें क्या आपत्ति हुई ?

ऐसी ही एक लीला श्रीभगवती देवीकी है, जब वे नाना योगिनियों-को साथ लेकर शुम्भासुरको मारनेके लिये दौड़ीं, तो शुम्भासुरने कहा 'तुम इतनी हो और मैं अकेला हूँ, इस कारण तुम्हारी विजय हो रही है ।' श्रीभगवतीने यह कहकर कि ये सब योगिनियाँ मेरी ही विभूति हैं, सब योगिनियोंको अपनेमें समेट लिया और वहाँ एक भगवतीजी रह गयीं और उन्हींने अकेले शुम्भासुरका संहार कर दिया ।

यही बात गोपियोंके प्रसंगमें भी समझनी चाहिये, ये सभी भगवान्‌की

---

१. इस नृत्यका वृत्तान्त भागवतके तीसवें अध्यायमें दिया गया है अतएव यहाँपर उसका अधिक विस्तारसे उल्लेख नहीं किया गया ।

२. एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥
(भा० १० । ३३ । १७)

विभूतियाँ ही थीं। अतः यह रासनृत्य कोई साधारण नृत्य नहीं था। यह अंशोंका अपने अंशीमें मिल जाना था। इस नृत्यमें एक विशेष बात यह भी हुई कि गोपोंने जागनेपर सब गोपियोंको अपने पास सोयी हुई देखा और उनको इनके बाहर जानेके सम्बन्धमें कोई शङ्का ही नहीं हुई।

इस प्रकरणमें उन्हींको सन्देह हो सकता है जिनको आत्मदृष्टि प्राप्त नहीं हुई। यहाँ महाराज परीक्षितको भी शङ्का हो गयी थी। तब उन्होंने प्रश्न किया 'भगवान्का अवतार तो धर्मकी मर्यादा रखने और उसकी रक्षा करनेके लिये हुआ था, फिर उन्होंने परस्त्रीस्पर्शादि जुगुप्सित कर्म क्यों किये?' इसका समाधान श्रीशुकजीने इस प्रकार किया कि यदि श्रीकृष्णको सब प्रकार समर्थ मानो तो उनपर किसी कर्मका दोष नहीं आ सकता।

समरथको नहिं दोष गुसाइँ। सुरसरि रबि पावककी नाइँ॥

इसपर कह सकते हैं कि ऐसा होनेपर तो इतर मनुष्य भी उनका अनुकरण करेंगे। किन्तु हमारा यह कथन है कि जो लोग ऐसा करेंगे वे नाशको प्राप्त हो जायँगे, जैसे रुद्र भगवान्के सिवा यदि कोई अन्य पुरुष समुद्रसे निकले हुए कालकूट विषको पीता तो वह अवश्य नाशको प्राप्त हो जाता।

किन्तु यहाँ फिर प्रश्न होता है कि ऐसी अवस्थामें सदाचारका क्या मूल्य रहा? इसका हम यह उत्तर देते हैं कि 'तेजस्वी पुरुषका आचरण मर्यादाके अनुकूल ही रहता है। यदि उन महान् पुरुषोंका आचरण उनके स्वरूप और तेजसे लौकिक व्यवहारके प्रतिकूल प्रतीत हो तो उतने अंशमें इतर पुरुष उसका अनुकरण न करें।'

यदि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार या ईश्वर हैं और जिनकी आज्ञासे पशु, पक्षी, सर्प और मनुष्य आदि सकल प्राणी अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हैं, उन भगवान्का धर्माचरणजन्य पुण्य और अधर्माचरण-जन्य पापसे कैसे सम्बन्ध हो सकता है? भक्त जिनके चरणकमल-

परागकी सेवासे तृप्त होकर निर्भय विचरते हैं, योगिजन जिनका ध्यान करके सकल बन्धनोंसे छुटकारा पाकर अपनी इच्छानुसार विचरते हैं, और ज्ञानी जिनके एकत्वका अनुभव करके स्वतन्त्र हो जाते हैं उन अपनी इच्छासे श्रीकृष्ण-अवतार धारण करनेवाले भगवान्‌का लोक-विरुद्ध आचरणसे बन्धन कैसे हो सकता है ? वस्तुतः भगवान्‌का कोई भी आचरण धर्मविरुद्ध होता ही नहीं, भूल होती है, उसे समझनेमें। बिना भगवत्कृपाके भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मका तत्त्व समझमें नहीं आता। और तत्त्व समझे बिना उनकी बाह्य क्रियाका अनुकरण करनेसे अवश्य ही हानि होती है। इसीसे भगवान्‌की सब लीलाओंका अनुकरण मनुष्य कदापि नहीं कर सकता।

श्रीशुकदेवजीके द्वारा यहाँ गोपियोंको परस्त्री मानकर महाराज परीक्षितकी शङ्काका समाधान किया गया है। किन्तु गोपियोंको परस्त्री नहीं समझना चाहिये, क्योंकि भगवान् तो अन्तर्यामीरूपसे, गोपियों, उनके पतियों और सभी प्राणियोंके भीतर उनकी बुद्धि आदिमें विराजमान हैं; वही भगवान्, अपनी लीलासे यहाँ देहधारी हुए हैं। इसीसे गोपियोंके साथ क्रीड़ा करनेमें उनको कोई दोष नहीं आता। एक बात यह भी है कि जो लोग बहिर्मुख हैं और साहित्यसेवी हैं, उनके भाव भी इस चरित्रके चिन्तन करनेसे बदल जाते हैं। कारण यह है कि भगवान्‌का चिन्तन किसी प्रकार हो, उससे मनुष्यका अन्तःकरण भगवदाकार बन जाता है। जिस प्रकार द्वेष और अनिच्छापूर्वक भगवत्स्मरण होनेसे ही कंस और शिशुपालादिका मोक्ष हो गया, इसी न्यायसे साहित्यसेवी और विषयी प्राणी भी भगवद्भक्तिमें तत्पर हो जाते हैं। फिर एक बात यह भी है कि जैसा पहिले कह चुके हैं, गोपियोंके पतियोंने तो यही जाना कि उनकी स्त्रियाँ उनके समीप ही हैं। इससे भी यह क्यों न माना जाय कि भगवान्‌ने जिन गोपियोंसे रासलीला की थी वे तो सब दिव्य-शरीरधारिणी भगवत्स्वरूपा थीं अतएव जो लोग भगवान्‌का तत्त्व समझे बिना केवल उनका अनुकरण करनेका बहाना बताते हुए परस्त्रीस्पर्श करते हैं उन्हें तो महान् पापी ही जानो।

यह रासक्रीड़ा रातभर होती रही, ब्राह्ममुहूर्त्त होनेपर गोपियाँ घर जानेकी इच्छा न होनेपर भी बड़े कष्टसे अपने-अपने घरको चली गयीं। इस प्रकार रासलीलाके प्रकरणका उपसंहार होता है। किन्तु पीछे भी गोपियोंकी वृत्ति भगवान्‌में लगी रहती थी। उन्हें जब अवसर मिलता तभी वे वनको चली जाती थीं, और भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम-जीके साथ अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओंके आनन्दका अनुभव करती थीं। एक समय शङ्खचूड़ नामका राक्षस, इन गोपियोंको बलात्कारसे पकड़ ले गया। भगवान्‌ने उसी समय उसका अन्त कर दिया और उसके मस्तकसे मणि निकालकर बलरामजीको अर्पित कर दी[1]।

गोपियोंके दिन इस प्रकार आनन्दसे बीतते थे किन्तु गोपियाँ प्रायः वनको नहीं जा सकती थीं और इस समय इनको अपार विरह-वेदना होती थी। एक समय इन गोपियोंने युग्मश्लोकोंसे (दो-दो श्लोकोंसे) भगवान्‌के विरहमें गीत गाये वे इस प्रकार हैं।



---

१. इसी प्रकरणमें भगवान्‌की एक और लीला इस प्रकार है कि एक समय नन्दजीसहित भगवान् और सब गोप अम्बिकावनकी यात्राको गये। वनमें एक अजगर नन्दजीको निगल गया। भगवान्‌ने सर्पको चरणसे प्रहार किया। इसपर सर्पने नन्दजीको छोड़ दिया और स्वयं सर्पयोनिसे मुक्त होकर विद्याधर हो गया। इसको किसीके शापसे अजगरयोनि मिली थी, भगवान्‌के स्पर्शसे इसका उद्धार हो गया।
(भा० १० । ३४)

युग्मश्लोकी गोपीगीत[1]

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥
व्योमयान[2]वनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥
हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।

हे गोपियो ! बायें कन्धेपर बायाँ कपोल रक्खे हुए एवं भौंहोंको नचाते हुए भगवान् कृष्ण जब कोमल अङ्गुलियोंको सातों स्वरोंके छेदोंपर रखकर ओठपर रक्खी हुई वंशीको बजाते हैं तब विमानपर बैठी हुई सिद्धोंकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके साथ रहनेपर भी जिनके वंशीगीतको सुनकर पहले तो आश्चर्यमें पड़ जाती हैं फिर कामविवश होकर लज्जित होती हुई इस प्रकार मोहित हो जाती हैं कि उन्हें अपने वस्त्रोंतककी सुधि नहीं रहती। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सह सकती हैं ?) ॥ २-३ ॥

अरी अबलाओ ! यह चमत्कार सुनो, हार[3]के समान जिनका हास्य है, जिनके हृदयस्थलमें स्थिर बिजलीके समान लक्ष्मीजी रहती हैं, ऐसे ये नन्दसुत जब अपने विरहसे दुःखित हुई हमको सुख देनेके लिये वेणु बजाते हैं तब दूरसे वंशीका शब्द सुनकर जिनका चित्त हरा गया है ऐसे व्रजके बैल, मृग और गौओंके झुण्ड-के-झुण्ड दाँतोंसे काटे गये

---

१. भा० स्क० १० । ३५

२. व्योमयानाः सिद्धाः तेषां वनिताः । (श्रीधरः)

३. यथा—विहसत आभा दशनकी, जाय भई हिय हार ।
दबी जात आलस भरी, का मालाके भार ॥ (विहारी)

दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ ५ ॥
बर्हिणस्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित्सबल आलि स गोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥
अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।

ग्रासको ज्यों-का-त्यों मुँहमें रक्खे हुए, कान खड़े किये हुए और नेत्र मूँदकर सोते हुए-से चित्रलिखितके समान निश्चल खड़े हो गये। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सहें?) ॥ ४-५ ॥

अरी सखि! मोरके पर, गेरु आदि धातु और कोमल पत्तोंसे मल्लोंकी वेषभूषाका अनुकरण करनेवाले कृष्ण भगवान् बलरामजीसे युक्त होकर जब कभी गोपोंके साथ गायोंको अपने वंशीगीतसे बुलाते हैं तब वंशीका शब्द सुननेसे पवनसे उड़ायी गयी भगवान्‌के चरणकमलकी धूलिकी मानो आकांक्षा करती हुई नदियोंका सञ्चार रुक जाता है; सचमुच वे भी हमारी भाँति अल्पपुण्या हैं क्योंकि उस धूलिको पाती नहीं हैं, केवल उनकी तरङ्गमयी भुजाएँ प्रेमसे काँपती हैं और उनका जल निश्चल हो जाता है। हम गोपियाँ भी ऐसी ही अल्पपुण्या हैं पवनसे उड़ायी गयी भगवान्‌के चरणधूलिकी इच्छा करती हुई प्रतिबद्धगति होकर खड़ी रहती हैं, हमारी भुजाएँ प्रेमसे काँपने लगती हैं और हमारी आँखोंमें जल निश्चलरूपसे भर जाता है। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सहें?) ॥ ६-७ ॥

(स्थावरोंमें भी अत्यन्त आश्चर्य देखा जाता है, इस आशयसे कहती हैं) हे गोपियो! निश्चल लक्ष्मीसे युक्त आदिपुरुषके समान जिनकी कीर्ति अनुचरोंद्वारा गायी जाती है, वे वनमें फिरनेवाले

वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९ ॥
दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन्यर्हि सन्धितवेणुः ॥१०॥
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्तमीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

भगवान्, गोवर्धन पर्वतके चारों ओर चरनेवाली गौओंको जब वंशीकी ध्वनिसे नाम लेकर बुलाते हैं तब जिनकी शाखाएँ भारसे नम्र हैं, जो फल और फूलोंसे लदी हुई हैं, तथा मारे प्रेमके, जिनके काँटेरूपी रोमाञ्च खड़े हुए हैं ऐसी वनलताएँ अपनेमें उत्पन्न विष्णुको (पूर्णानन्दको) सूचित करती हुई जिस प्रकार आँसू बहाती हैं वैसे ही वृक्ष अर्थात् उन लताओंके पतियोंको भी वैसा ही आनन्द होता है । (ऐसे श्रीकृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥ ८-९ ॥

सुन्दर पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण वनमालामें पिरोयी हुई दिव्य गन्धवाली तुलसीके मधुसे मत्त हुए भौंरोंके झुण्डोंद्वारा ऊँचे स्वरसे गाये गये और अपने अनुकूल गान (भ्रमरगान) का सत्कार करते हुए जब अपने अधरोष्ठमें वंशीको रखते हैं अर्थात् भ्रमर-स्वरसे वंशी बजाते हैं तब सरोवरमेंके सारस, राजहंस और अन्यान्य पक्षी जिनका चित्त सुन्दर गीतसे खिंच गया है, भगवान्के समीप आकर मौनव्रत धारण किये हुए (सुखाकारवृत्ति होनेसे) नेत्र बंद करके एकाग्र-चित्तसे श्रीहरिकी उपासना करते हैं—यह कैसा आश्चर्य है । (ऐसे श्रीकृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?)॥ १०-११ ॥

सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥१३॥
विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥१४॥
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।

हे गोपियो ! कानोंमें फूलोंकी मालाके आभूषणोंसे अलंकृत एवं बलरामजीके साथ गोवर्धन पर्वतके शिखरोंपर स्थित श्रीकृष्ण स्वयं हर्षयुक्त होकर जब तमाम प्राणिमात्रको आनन्द देते हुए वंशी बजाते हैं तब मेघ, यह सोचकर कि कहीं महापुरुष भगवान् कृष्णका लङ्घन न हो जाय, मन-ही-मन भयभीत हुआ सामने नहीं आता और जोरसे गर्जता भी नहीं है किन्तु वहींपर स्थित होकर मुरलीकी ध्वनिके पीछे-पीछे बहुत धीमी गर्जना करता है। और अपने ही समान संसारके सन्तापको दूर करनेवाले होनेके कारण अपने समान-धर्मा मित्र कृष्णभगवान्के ऊपर फूलोंकी वृष्टि करता है (अदृश्य देवताओंद्वारा की गयी वृष्टिका मेघमें आरोप करके यह कहा गया है) अथवा फूलरूपी छोटी-छोटी बूँदोंकी वृष्टि करता है एवं अपनी घटासे उनके ऊपर छत्र-छाया करता है। (ऐसे श्रीकृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥ १२-१३ ॥

हे साध्वी यशोदे ! नाना प्रकारकी गोपक्रीड़ाओंमें चतुर आपका पुत्र (श्रीकृष्ण) जब अपने बिम्बतुल्य अधरोंमें वेणु लगाकर अपने ही द्वारा आविष्कृत (ऋषभ, गान्धारादि) स्वरभेदोंका आलाप करता है तब इन्द्र, शिव और ब्रह्मा आदि (गायनशास्त्रके) देवाधिदेव जिधरसे वह मन्द, मध्यम और ऊँचा स्वर आता है उस ओर अपनी

कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥
निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन्खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥१६॥
व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥१७॥
मणिधरः क्वचिदागणयन्गा मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन्भुजमगायत यत्र ॥१८॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।

गर्दन झुकाकर निश्चल भावसे उस गानको सुनकर स्वयं गानशास्त्रवेत्ता होते हुए भी उसके तत्त्वको न समझनेके कारण मोहको प्राप्त होते हैं। (ऐसे श्रीकृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥ १४-१५ ॥

गजराजके समान गतिवाले श्रीकृष्णभगवान् ध्वजा, वज्र, कमल, अङ्कुश आदि अनेक प्रकारके चिह्नोंसे युक्त कमलपत्रके समान चरणोंसे, व्रज-भूमिको गौओंके खुरोंसे खुदनेके कारण उत्पन्न हुए कष्टको दूर करते हुए वेणु बजाते जब चलते हैं और विलासके साथ देखते हैं तब उनकी चालसे और विलासयुक्त कटाक्षसे तीव्र इच्छावाली और वृक्षोंके समान निश्चेष्ट दशाको प्राप्त हुई हम गोपियाँ मोहित होकर अपने वस्त्रों और अलकोंको सँभालना भूल जाती हैं। (ऐसे कृष्ण-विरहको हम कैसे सहें ?) ॥ १६-१७ ॥

मनोहर गन्धयुक्त तुलसीकी मालासे शोभायमान तथा (गौओंकी गिनती करनेके लिये बनायी गयी) मणियोंकी माला धारणकर गौओं-की गिनती करते हुए कृष्ण प्यारे सखाके कन्धेमें हाथ रखकर, किसी स्थानपर भुजाएँ उठाकर जब वेणु बजाते हैं तब बजायी गयी उस वंशीके नादसे जिनका चित्त आकृष्ट हो गया ऐसे काले हिरनोंकी स्त्रियाँ (हिरनियाँ) हम गोपियोंके समान अपने गृहकी

गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥
कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन्मलयजस्पर्शेन ।
बन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥
वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन्खुररजश्छुरितस्रक् ।

आशा छोड़कर मधुरता आदि गुणसमूहोंके समुद्र श्रीकृष्णभगवान्के पास आकर चारों ओर निश्चल खड़ी रहती हैं। (ऐसे कृष्णविरहको हम कैसे सहें ?) ॥ १८-१९ ॥

(किसी गोपीने कहा) हे पवित्र यशोदे ! तुम्हारे पुत्र नन्द-नन्दन, कुन्दके पुष्पोंकी मालाओंसे कौतुकी वेश बनाकर गौ और गोपोंसे घिरकर अपने प्रेमियोंको हर्षित करते हुए जब यमुनातटपर क्रीड़ा करते हैं तब मन्द पवन, चन्दनकी सुगन्धि और शीतल स्पर्शसे श्रीकृष्णका सत्कार करता हुआ अनुकूल चलने लगता है और गन्धर्वादि उपदेवताओं-के समूह, बन्दियोंके समान गाना-बजाना और पुष्पोंकी वर्षासे उनकी सेवा करते हैं। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥२०-२१॥

(भगवान्को आते हुए देखकर प्रसन्न हुई गोपियाँ एक दूसरेसे कहती हैं—) देखो सम्पूर्ण व्रज और गौओंपर दया करनेवाले एवं गोवर्धन पर्वतको धारण करनेवाले श्रीकृष्ण सायंकालके समय सब गौओं-को इकट्ठा करके वंशी बजाते हुए और अनुचर गोपोंद्वारा अपना यशोगान सुनते हुए आ रहे हैं, राहमें वृद्ध (ब्रह्मादि) पुरुष उनके चरणोंकी वन्दना करते हैं देवकीके उदरसे उत्पन्न हुए ये चन्द्रमारूप श्रीकृष्ण यद्यपि गोधूलि-से धूसरित माला धारण किये हुए एवं श्रान्त हैं, अपने शरीरकी कान्तिसे

दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥
मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन्कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन्व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

हमारे नेत्रोंको परम आनन्दित करते हुए हम सुहृदोंके मनोरथको देनेकी इच्छासे आ रहे हैं। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥ २२-२३ ॥

(अति संभ्रमसे समीपमें आये हुए भगवान्‌को देखकर कहने लगीं) जिनके नेत्र मदसे किञ्चित् झूम रहे हैं, जो अपने प्रेमियोंका आदर करनेवाले हैं, जो वनमाला पहने हुए हैं, जिनका मुख पके हुए बेरके समान पाण्डुवर्ण है ऐसे श्रीकृष्णजी सुकुमार कपोलोंको सुवर्णके कुण्डलोंसे शोभित करते हुए आ रहे हैं जिनका चलना गजराजके समान है—जिनका मुख चन्द्रके समान प्रसन्न है ऐसे यदुपति (श्रीकृष्ण) व्रजके गौओं तथा हमारे दिनताप और विरहतापको दूर करते हुए अत्यन्त समीप आ रहे हैं, जैसे दिनके तापको दूर करनेके लिये सायंकालमें चन्द्रमाका उदय होता है वैसे ही इनका उदय हुआ है। (ऐसे कृष्णके विरहको हम कैसे सहें ?) ॥२४-२५॥



षष्ठ प्रकरण

गोपियोंसे विदाई

गोपी-आक्रन्दन

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्रक्।
वेणुं क्वणन्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम[1,2]॥

सभी दिन एकसे नहीं होते। गोपियोंके प्राणोंके भी प्राण भगवान्‌को कई लीलाएँ करनी थीं। कई पुरुषों और स्त्रियोंका उपकार करना था। फिर कंसका भी उद्धार शीघ्र ही करना था। उसका भय बढ़ गया था। उसने अधिक उत्पात करने आरम्भ कर दिये थे। कंसने एक यज्ञ करनेका बहाना करके, अक्रूरजीको वृन्दावनमें भेजकर, श्रीकृष्णबलरामसहित सब गोपोंको यज्ञ देखनेके लिये इस विचारसे मथुरामें बुलाया कि वे आवें तो उनका अन्त कर दूँ।

अक्रूरजीके वृन्दावनमें आनेका कारण सुनकर गोपियाँ अत्यन्त दुःखित हुईं। कितनी ही गोपियोंके मुखकी कान्ति, गरम-गरम निःश्वासवायुसे मलिन हो गयी; कितनी ही ऐसी दुर्बल हो गयीं कि उनके पहने हुए वस्त्र और हाथोंके कङ्कण निकलकर गिरने लगे और चोटीके बन्धन खुलकर, उनमेंसे फूल बिखरने लगे, कितनोंकी समग्र वृत्तियाँ हटकर भगवान्‌में लग गयीं और शरीरकी भी सुधि न रही, जैसे मुक्त पुरुषोंको

---

१. भा० १०। ३८-३९

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ३० की टीकामें देखिये।

अपने शरीरकी सुधि नहीं रहती। कितनी ही अन्य गोपियाँ भगवान्के प्रेमयुक्त हास्यका और मनोहर चित्र-विचित्र बातोंका स्मरण करके मोहको प्राप्त हुईं। उस समय श्रीकृष्णकी अति सुन्दर गति, रासनृत्य, प्रेमावलोकन, शोकनाशक वार्तालाप, गोवर्धनधारण आदि चरित्रोंका चिन्तन करनेवाली; किन्तु अब ये लीलाएँ—देखनेको नहीं मिलेंगी इस कारण भयभीत तथा भगवद्विरहसे डरी हुई, कृष्णगतप्रणय कितनी ही गोपाङ्गनाएँ परस्पर मिलकर नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहाती हुई कहने लगीं।





गोपी-क्रन्दन

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनंक्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१९॥
यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥
क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।

हे विधातः ! तुम्हारे अन्दर तनिक भी दया नहीं है, क्योंकि तुम प्राणियोंको मैत्री और स्नेहसे परस्पर मिलाकर फिर मनःकामना पूर्ण किये बिना ही उनका आपसमें वियोग कर देते हो, इस कारण तुम्हारी लीला छोटे बालककी चेष्टाके समान प्रयोजनशून्य है ॥१९॥

हे विधातः ! तुम काले घुँघुराले केशोंसे आवृत, सुन्दर कपोल और उन्नत नासिकासे युक्त, शोकको दूर करनेवाली सुन्दर मन्द मुसकान-से मनोहर, मुकुन्दका सुन्दर मुख हमें दिखाकर फिर उसे हमारी दृष्टिसे अलग कर रहे हो; अतः तुम्हारा कर्म निन्द्य है ॥२०॥

हे विधातः ! तुम बड़े क्रूर हो, क्योंकि तुम अपने ही दिये हुए हमारे चक्षुओंको मूर्खोंके समान हरकर ले जाते हो । (यदि कहो कि श्रीकृष्णको अक्रूर ले जाता है इसमें हमारा क्या दोष ? तो सुनो—) अक्रूर नामसे तुम ही आये हो दूसरा नहीं । (यदि कहो मैं तो श्रीकृष्णको ले जाता हूँ तुम्हारे नेत्रोंको नहीं, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि) तुम्हारे दिये हुए चक्षुओंसे हम श्रीकृष्णके किसी अङ्ग (नेत्र-मुखादि)

१. भा० स्क० १० अ० ३९ ।

येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥
न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतींस्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥
सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम् ।
याः सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् २३
तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैर्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि ।

में तुम्हारी अखिल सृष्टिकी चतुराईको देखती थीं और अब उनके वियोगसे तुम हमको अन्धी कर देते हो, क्योंकि ऐसा दूसरा दर्शनीय नहीं है (भाव यह है कि तुम इस कारण भगवान्‌का वियोग करके हमको अन्धी करते हो, हमने तुम्हारी सब चतुराइयोंका रहस्य जान लिया) ॥२१॥

अस्थिर स्नेहवाले तथा नूतन वस्तुओंमें प्रेम करनेवाले ये नन्दकुमार जिन्होंने स्वयं ही हमें अपनी मन्द मुसकान आदिके द्वारा विह्वल बना रक्खा है और हम अपने घर-बान्धव, पुत्र और पतियोंको छोड़कर जिनकी दासियाँ बनी हुई हैं—आज हम गोपियोंके ऊपर दृष्टिपात भी नहीं करते यह बड़े खेदकी बात है। (इसलिये इनको हम लौटावेंगी) ॥२२॥

मथुराकी स्त्रियोंकी यह रात्रि सुन्दर प्रभातवाली (शुभसूचक सगुनसे युक्त) होगी और उनकी कामनाएँ निश्चय पूर्ण हो जायँगी क्योंकि वे पुरवासिनी स्त्रियाँ अपने लोचनपुटोंसे नगरीमें प्रवेश करनेवाले श्रीकृष्णके कटाक्षसे बढ़े हुए हास्यरससे युक्त मुखका पान करेंगी (अर्थात् उन्हें प्रेमसे निहारेंगी) ॥२३॥

(इस समय श्रीकृष्ण जा रहे हैं, किन्तु हमारे स्नेहके कारण या नन्द आदिके कहनेसे क्या फिर लौट आयँगे ? इसपर कहती हैं—) हे अबलाओ ! श्रीकृष्ण यद्यपि धैर्यवान् हैं और नन्दजी प्रभृतिकी आज्ञामें भी हैं तथापि नगरकी स्त्रियोंकी मधुके समान मीठी-मीठी वाणियोंसे चित्त

कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥
अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥
मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥
अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥

खिंच जानेके कारण और उनके लज्जायुक्त हास्यों और मनोरथविलासोंसे उनमें आसक्त हो जानेसे फिर ग्राममें रहनेवालियोंकी तरफ कैसे आवेंगे (अर्थात् नहीं आवेंगे) ॥२४॥

आज रास्तेमें तथा मथुरामें जो लक्ष्मीजीके पति और माधुर्य, सुन्दरता आदि गुणोंके आश्रयभूत देवकीनन्दनको देखेंगे, उन दाशार्ह, भोज, अन्धक, वृष्णि और सात्वत आदि यादवोंकी दृष्टियोंको निश्चय परम आनन्द प्राप्त होगा ॥२५॥

[अब अक्रूरजीको लक्ष्य करके कहती हैं—] इस प्रकारके कर्म करनेवाले निर्दयी पुरुषका 'अक्रूर' यह श्रेष्ठ नाम युक्त नहीं है । यह तो बड़ा ही क्रूर है, क्योंकि अत्यन्त दुःखमें निमग्न हुई हम सबोंको बिना समझाये ही, हमारे प्रिय प्राणोंसे भी प्रियतम श्रीकृष्णजीको ऐसे स्थानमें ले जाता है, जहाँ हमारी दृष्टि नहीं पहुँच सकती ॥२६॥

(अहो ! हमारे जीवनको धिक्कार है !) ये कठोर हृदयवाले श्रीकृष्ण जानेके निमित्त रथपर बैठ गये हैं, वृद्ध लोगोंने (उनका अविनय देखकर) उनकी उपेक्षा कर दी है, अर्थात् उन्हें नहीं लौटाया । और उनके पीछे ये मदोन्मत्त गोप भी छकड़ोंपर बैठकर जानेकी उतावली कर रहे हैं । हमारा दैव भी हमारे प्रतिकूल चेष्टा कर रहा है । (भाव यह है कि यदि दैव हमारे अनुकूल होता तो इनमेंसे किसीको कुछ सङ्कट उपस्थित हो जाता या वज्र टूट पड़ता ऐसा कुछ भी नहीं होता है ।) ॥२७॥

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजा-
द्दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥
यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥२९॥
योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥३०॥

(यदि यह कहो कि वृद्धोंके सामने कैसे जाओगी ? तो कहती हैं—) कि हम सब एकत्रित हो माधवके समीप जाकर उनसे मथुरा जानेका निषेध करें क्योंकि आधे पलभर भी जिनसे अलग होना कठिन है, ऐसे मुकुन्दके संगसे दैवयोगसे (वियोग होनेके कारण) दीनचित्त हुई हम लोगोंका कुलके वृद्ध बन्धुजन क्या कर सकते हैं ? (इस समय मृत्युका भी भय नहीं है, बान्धवोंका भय तो कहाँसे होगा ?) ॥२८॥

(इस कारण अब साहस करना चाहिये) क्योंकि रासक्रीड़ामें जिनके स्नेहयुक्त प्रिय हास्य, मनोहर भाषण, कटाक्षपूर्वक अवलोकन और आलिङ्गनसे हमने बहुत-सी रातें[1] एक क्षणके समान बितायीं, अब हे गोपियो ! उन श्रीकृष्णके बिना दुःसह विरह-दुःखको हम कैसे सहें ? ॥२९॥

(अन्तमें कहती हैं कि दुःख सहना तो दूर रहा हमारा जीवित रहना भी कठिन है) जो सायंकालके समय गोधूलिसे धूसरित माला पहने, वंशी बजाते हुए, बलरामजीके साथ गोपोंसे घिरकर व्रजमें प्रवेश करते हुए मन्द-मन्द मुसकान और कटाक्षयुक्त अवलोकनसे हमारे चित्तको हरते थे, उन श्रीकृष्णके बिना हम कैसे जीवेंगी ? ॥३०॥

१. यह एक रात्रि इतनी बड़ी हुई कि कई रातें मालूम पड़ीं ।

सप्तम प्रकरण

उद्धवजीद्वारा गोपियोंको सन्देश

भ्रमरगीत

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति[२] ॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जो लीलाएँ मथुराके मार्गमें तथा मथुरामें कीं उनका विवरण तीसरे अध्यायके दूसरे प्रकरणमें लिखा जायगा । यहाँ गोपियोंकी भक्तिका प्रसंग है, इसलिये यहाँ तो माधुर्यविषयका ही संकलन करते हैं ।

भगवान्‌ने मथुरा पहुँचनेके कुछ समय पीछे उद्धवजीको गोकुलमें भेजा, क्योंकि गोपियोंने पति, पुत्रादि त्यागकर अपना मन सर्वदा भगवान्‌के प्रति लगा रक्खा था । किन्तु भगवान् अब दूर हो गये थे, अतः उनको ध्यान आया कि 'गोपियाँ मेरे विरहके कारण होनेवाली उत्कण्ठासे विह्वल होकर मोहित हो रही होंगी । वे तो अबतक परमधामको पहुँच जातीं, किन्तु मैंने यह कहकर आशा दिला दी थी कि मैं शीघ्र ही लौटकर आ जाऊँगा । इस कारण वे अपना अन्तःकरण मुझमें रखकर बड़ी कठिनतासे प्राण धारण कर रही होंगी ।' अतः भगवान्‌ने यह सन्देश भेजा कि तुम्हारा और मेरा वियोग कभी नहीं हो सकता ।

---

१. भा० दशम स्क० अध्याय ४६, ४७ का पूर्वार्ध ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक १८ की टीकामें देखिये ।

उद्धवजी भगवान्‌की इस आज्ञाको स्वीकार कर गोकुलको चले और सन्ध्या समय वहाँ पहुँचे । उन्होंने नन्द और यशोदाको बहुत ही दुःखित देखा। यद्यपि वे यह समझ गये थे कि श्रीकृष्ण, बलराम साक्षात् भगवान् हैं और दैत्योंका वध करनेके लिये ही भूमिपर अवतीर्ण हुए हैं, तथापि उनका प्रेम निस्सीम था । अतः वे उद्धवजीके सामने प्रेमसे कातर तथा विह्वल हो गये। उद्धवजीने उनके प्रेमकी बड़ी प्रशंसा करके कहा 'तुमने जो भगवान्‌में प्रेमसे बुद्धि लगा दी है वह श्लाघनीय है, क्योंकि वे श्रीकृष्ण और बलराम ही सकल जगत्‌के कारण हैं। वे ही सकल प्राणियोंमें प्रवेश करके प्राणियोंके और विभिन्न उपाधियोंके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवोंके नियन्ता प्रधान पुरुष हैं। जो पुरुष प्राणान्तके समय उनमें अपने शुद्ध मनको स्थापित करता है, वह अनायास ही मुक्त हो जाता है । इस कारण हे नन्दजी ! हे यशोदे ! जब तुम मनुष्यावतार धारण करनेवाले पूर्ण नारायणपर भक्ति करते हो, तो तुमको और कौन-सा शुभ कर्म करना शेष रहा ? हे महाभागो ! तुम खेद न करो, कृष्ण हमारे समीप ही हैं, ऐसा देखो, क्योंकि वे तो सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं। वे अहङ्कार-रहित और समदृष्टि हैं। उन परमेश्वरको कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, कोई उत्तम या अधम नहीं है; उनकी न कोई माता है न पिता; न अपना है न पराया; न देह है न जन्म और न कर्म ही है। तथापि इस लोकमें साधुओंकी रक्षा और क्रीड़ाके निमित्त वे देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें अवतार धारण करते हैं। वे निर्गुण होकर भी अपनी लीलाओंके साधन तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) को स्वीकार करते हैं और उनसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि क्रीड़ाएँ होती हैं। वास्तवमें वे अकर्ता हैं। जैसे अपने चारों तरफ घूमनेवालेको यह पृथिवी चारों ओर घूमती प्रतीत होती है, ऐसे ही कर्म तो मन-बुद्धिसे बनते हैं, किन्तु अहङ्कारसे यह भ्रम होता है कि आत्मा कर्मोंके वशमें है । यह बात नहीं है कि भगवान् हरि केवल तुम दोनोंके ही पुत्र हों। ये तो सभीके पुत्र, आत्मा, पिता और माता हैं। जो कुछ पदार्थ देखने-

में या सुननेमें आता है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, स्थावर, जङ्गम, छोटा, बड़ा, जो कुछ उच्चारण करनेमें आता है वह भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है'।

यह सुनकर नन्द-यशोदाजी कुछ शान्त-से हुए किन्तु अन्य गोपियों-की समस्या कठिन थी। उद्धवजीकी आकृति भगवान्‌के ही सदृश थी और वे वैसे ही वस्त्र धारण किये हुए थे। गोपियाँ उद्धवजीके चारों ओर जमकर खड़ी हो गयीं। जब उनको विदित हुआ कि ये श्रीकृष्णजीका सन्देश लाये हैं तो उद्धवजीके सम्मुख भगवान्‌से किशोर और बाल-अवस्थामें की गयी लीलाओंको स्मरण कर, उनका वर्णन करती हुई कुल-कानको छोड़कर रोती हुई उद्धवजीसे कहने लगीं—'हम समझ गयीं कि श्रीकृष्णने आपको अपने माता, पिता, बान्धव आदिका प्रिय करनेकी इच्छासे भेजा होगा; नहीं तो इस गोकुलमें उनके स्मरण करने योग्य क्या है ? बान्धवोंके सिवा अन्यमें प्रीति क्षणिक होती है; वह कार्य-समाप्तितक ही रहती है। माता, पिता, बान्धवादिका स्नेह छोड़ना ऋषि-मुनियोंको भी कठिन है। हमको भला वे क्यों स्मरण करेंगे ? हमारी प्रीतिका भगवान्‌ने अनुमोदनतक नहीं किया, हम तो सब कुछ त्यागकर उनके पास गयीं और उन्होंने हमको अशरण छोड़ दिया।'

अब गोपियाँ निराश हो गयी थीं। उनमेंसे किसीने यह विचारा कि अब उस ओर ध्यान ही न दें और भगवान्‌का भी विस्मरण करें। इसपर किसी गोपीने वहाँ एक भौंरा देखा और उद्धवजीको लक्ष्य करके यह कल्पना करने लगी कि श्रीकृष्णने हमारी प्रसन्नताके लिये यह दूत भेजा है। तब वे व्यङ्गपूर्वक गान करने लगीं—



भ्रमरगीत[1]

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥१२॥
सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।

(किसी सखीने एक भौंरेकी लाल मूँछोंको देखकर यह कल्पना की कि इसकी मूँछोंमें श्रीकृष्णजीकी मालासे केसर लगा होगा तब वह इस प्रकार कहने लगी—) अरे भौंरे ! अरे कपटीके मित्र ! तू हमारे चरणोंको मत छू । तेरी मूँछें सौतके वक्षःस्थलसे मसली गयी श्रीकृष्णकी वनमालाके केसरसे रँगी हुई हैं । तुझ भौंरेके स्वामी श्रीकृष्ण ही उन मानवती पुरवासिनी स्त्रियोंके इस प्रसादको धारण करें, उन्हें ही वे प्रसन्न करें, हमें प्रसन्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? यह हमें प्रसन्न करनेकी चेष्टा यादवोंकी सभामें उपहासास्पद है । जिसका दूत होकर तू इस प्रकार पैर पकड़कर मनानेकी झूठी चेष्टा कर रहा है, वे तेरे स्वामी कैसे होंगे ? ॥ १२ ॥

(क्यों इस प्रकार उनकी निन्दा करती हो, उन्होंने तुम्हारा क्या अपकार किया ? इसपर कहती हैं—) जैसे तू (भौंरा) फूलोंकी सुगन्धि लेकर तत्काल उनका त्याग कर देता है; वैसे ही श्रीकृष्णजीने भी, मोहित करनेवाली अपनी अधरसुधा एक बार ही हमें पिलाकर, तत्काल हमारा त्याग कर दिया है । अहो ! लक्ष्मीजी उनके चरणकमलकी क्योंकर सेवा करती हैं ? (मेरी समझमें तो यह आता है कि) नारद आदिकी परम पुनीत वाणियोंसे, अथवा

[1] भा० स्क० १० अध्याय ४७ ।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसख सखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।

उत्तमकीर्ति श्रीभगवान्‌की बनावटी बातोंसे लक्ष्मीजीका मन आकृष्ट हो गया है, इसीलिये वह उनकी सेवा करती हैं (परन्तु हम लक्ष्मीजी-के समान अन्धी नहीं हैं) ॥ १३ ॥

(भौंरा अनेक शब्द करता है, गोपी समझी कि वह हमको प्रसन्न करनेके निमित्त भगवान्‌का गान करता है, इस कारण कहती है,) अरे भौंरे ! तुम्हारे कथनकी ओर ध्यान न देनेवाली हमलोगोंके सामने श्रीकृष्णके गुणोंको बार-बार तू क्यों कहता है । हम उन्हें खूब जानती हैं । इस समय जो श्रीकृष्णजीकी सखियाँ हैं, उनके सम्मुख ही उनकी प्रशंसा करो क्योंकि अब श्रीकृष्णजीने उनकी इच्छा पूर्ण की है अतएव तू उनसे जो माँगेगा वही वे तुझे देंगी ॥ १४ ॥

(यदि उद्धव कहे कि हे मातः ! ऐसा मत कहो तुम्हारा स्मरण करके भगवान्‌ने तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मुझको यहाँ भेजा है, इसपर कहती हैं—–) अरे ! जिनका सुन्दर हास्ययुक्त भ्रूविलास छलसे भरा हुआ है, उन श्रीकृष्णके लिये स्वर्ग, पृथ्वी और पातालमें रहनेवाली कौन-सी स्त्रियाँ हैं जो दुर्लभ हों अर्थात् कोई भी स्त्री उनके लिये दुर्लभ नहीं है । अरे ! जिसके चरणरजकी लक्ष्मीजी भी सेवा करती हैं, उनके सामने हमारी क्या गिनती है ? तथापि उनकी उत्तमश्लोकता दोनोंके ऊपर

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥
विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥१६॥
मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।

कृपा करनेमें ही है अर्थात् दीनोंपर दया करनेवाले सत्पुरुषोंमें उत्तम-श्लोक शब्दका प्रयोग उचित हो ऐसा करो (भाव यह है कि श्रीकृष्णको उत्तमश्लोक कहते हैं परन्तु उनके लिये इस शब्दका प्रयोग हमारे ऊपर दया करनेसे ही सङ्गत होगा) ॥ १५ ॥

(भौंरा एक स्थानसे उड़कर दूसरे स्थानपर बैठता है और शिर झुकाकर सूँघता है; ऐसी कल्पना यहाँ भी है कि उद्धवजी गोपियोंके चरणमें पड़े हों । अथवा पादमूलके पास आये हुए भौंरेको यह क्षमा माँगने आया है ऐसा समझकर कहती हैं–) अरे भौंरे ! अपने शिरपर रक्खे हुए मेरे पैरोंको छोड़ । श्रीकृष्णसे सीखकर आये हुए और दूतकर्म तथा मीठे-मीठे वचनोंसे बहकानेमें अत्यन्त निपुण तुम्हारे सब चरित्रोंको मैं जानती हूँ । तुम भी उस कृष्णके समान अविश्वसनीय हो (यदि कहो कि भगवान्ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? तो सुनो–) जिस श्रीकृष्णके लिये हमने पुत्र, पति और स्वर्ग आदि लोकोंका त्याग किया उस चञ्चल चित्तवालेने हमें ही छोड़ दिया; ऐसे कृतघ्नके साथ सन्धि करनेकी क्या गुंजाइश है ? ॥१६॥

(कोई गोपी कहती है कि उन श्रीकृष्णके पूर्व कर्मोंका स्मरण कर मैं उनसे बहुत डरती हूँ) रामावतारमें जिसने क्रूरतावश व्याधके समान वानरोंके राजा बालिको मारा, तथा अपनी स्त्रीके वशमें होकर कामातुरा शूर्पणखाको (नाक-कान कटाकर) कुरूप कर दिया और (इससे पूर्व)

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥

वामनरूपसे बलिसे पूजित होकर फिर उसको वरुणके पाशोंसे बाँध (पातालमें गिरा) दिया, जैसे काक किसी वस्तुको थोड़ा खाकर नीचे गिरा देता है, ऐसे काले-कलूटेकी मित्रतासे भर पाया । (शङ्का--यदि ऐसा है तो नित्य उनका चरित्र क्यों गाती हो ? समाधान-) तथापि उनकी कथारूप अर्थका त्याग करना हमारे लिये कठिन है ॥ १७ ॥

(यद्यपि हम यह भलीभाँति जानती हैं कि कृष्णकी कथा भी धर्म, अर्थ और कामरूप लताको जड़से उखाड़कर फेंक देनेवाली है तथापि हम उसे छोड़ नहीं सकतीं; क्या करें--लाचार हैं, ऐसा कहती हैं--) कृष्णके चरितरूपी अमृतबिन्दुका एक बार भी सेवन करनेसे जिनके राग-द्वेष आदि द्वन्द्वधर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे बहुत-से भोगहीन पुरुष, तुरन्त दुःखी हो अपने गृह, कुटुम्ब आदिको छोड़कर पक्षियोंकी भाँति इधर-उधर घूमकर प्राणरक्षामात्र करते हैं । (इसलिये उनकी कथा हेय है तो भी हम उसे नहीं छोड़ सकतीं) निन्दा-पक्षमें श्रौत अर्थ है । पारमार्थिक अर्थ यह है--

श्रीकृष्ण भगवान्के चरितरूपी अमृतबिन्दुका एक बार भी आस्वाद लेनेसे जिनके राग-द्वेष आदि द्वन्द्वधर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे हंसोंकी भाँति सार और असारके विवेकमें निपुण महान् धीर बहुत-से पुरुष उसी क्षणमें तुच्छ गृह-कुटुम्बको छोड़कर परमहंसता धारण करते हैं । (अतएव परम पुरुषार्थरूप होनेसे श्रीकृष्ण भगवान्की कथा नहीं छोड़ी जा सकती है) ॥१८॥

---

१. ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति । (बृ० ४ । ४ । २२)

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥
प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

(शङ्का—इस समय ऐसा क्यों कहती है, पहले जब कि भगवान् तुम्हारे साथ एकान्तमें क्रीड़ा करते थे उस समय तुमने उनसे क्यों नहीं कहा था ? समाधान—हे दूत ! इस बातको रहने दो) जैसे काले हिरनकी भोली-भाली हिरनियाँ व्याधके मधुर गीतको सत्य समझती हुई उसके समीप जाकर उस कुटिल व्याधके बाणोंसे वेधित होकर दुःख भोगती हैं, ऐसे ही हम कुटिल श्रीकृष्णके वचनोंको सत्य मानती हुई उनके चरणाङ्गुलिके नखोंका स्पर्श करके उसके वियोगसे दुःख भोगती हैं । इस कारण हे दूत ! अब दूसरी कोई बात कहो ? ॥१९॥

(एक बार लौटकर गये और फिर आये हुए भौंरेसे कहती हैं—) हे अङ्ग ! हे कृष्णसख ! प्रियतम कृष्णका भेजा हुआ तू क्या फिर आया है ? तो तू मेरा पूजनीय है अतः तू मुझसे क्या चाहता है ? जो कुछ चाहिये उसे माँग ले । (यदि हमको जहाँ कृष्ण हैं वहाँ ले जाना चाहता है तो) जो सदा स्त्रीयुक्त रहते हैं ऐसे श्रीकृष्णके पास हमको कैसे ले जायगा ? (यदि उद्धवजी कहें कि ले जानेमें कौन कठिनाई है तब कहती हैं) हे सौम्य ! जिनके वक्षःस्थलमें लक्ष्मी निरन्तर वास करती हैं उनको हमारी क्या आवश्यकता है ? ॥२०॥

---

१. वे वाक्य ऐसे हैं 'न ममोदितपूर्वं वा अनृतम्' 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्' ।



अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

(जब भौंरा कानके पास भन-भन करता है, तब ऐसी यहाँपर कल्पना है कि कोई गोपी उद्धवजीके कुछ गुप्त भाषण करनेपर बोली—) हे सौम्य ! मैं आपसे पूछती हूँ कि क्या श्रेष्ठ नन्दराजाके पुत्र मथुरामें (आनन्दसे तो) हैं ? क्या वे यशोदासहित नन्दजीका, अपने घरका, बान्धव और गोपोंका स्मरण करते हैं ? क्या वे कभी हम दासियोंकी भी चर्चा छेड़ते हैं ? क्या वे कभी अगरके समान सुगन्धित अपने हस्त-कमलको हमारे मस्तकपर रक्खेंगे ? ॥ २१ ॥



अष्टम प्रकरण

परिशिष्ट

माधुर्य-भक्ति[1]

उद्धवजीकृत गोपीस्तुति

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्[2] ॥

उद्धवजी गोपियोंको श्रीकृष्णजीके दर्शनके लिये इस प्रकार उत्कण्ठित हुई देखकर भगवान्‌के सन्देशोंसे उनको समझाने लगे । उद्धवजीने कहा 'अरी गोपियो ! तुम कृतार्थ हो, सर्वलोकपूजित हो, क्योंकि तुम्हारा मन भगवान्‌में स्थिर हो रहा है । दान, व्रत, तप, होम, जप, इन्द्रिय-संयम ये सब साधन भगवान्‌की भक्तिके निमित्त हैं और वह भक्ति तुमको प्राप्त हो गयी है ।' गोपियोंको श्रीकृष्णचन्द्रका सन्देश सुननेकी उत्कण्ठा थी; वे उद्धवजीको एकान्तमें ले गयीं और आसन देकर उनके भाषणकी प्रतीक्षा करने लगीं ।

तब उद्धवजीने कहा भगवान् श्रीकृष्णने यह सन्देश भेजा है 'मैं सब देहोंमें विराजमान हूँ । जैसे पञ्च महाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश) सब पदार्थोंमें हैं ऐसे ही मैं भी मन, प्राण, इन्द्रियों और गुणोंके अधिष्ठानरूपसे सबमें व्याप्त हूँ । मैं ही अपनी मायाका आश्रय लेकर जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहार करता हूँ । आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यद्यपि आत्मा गुणोंसे युक्त नहीं है तथापि मायाके कार्य-भूत, मनकी सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत्‌रूपा वृत्तियोंके कारण प्राज्ञ, तैजस तथा

---

१. भा० १० । ४७ का उत्तरार्ध और ४८ का पूर्वार्ध ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ६३ की टीकामें देखिये ।

विश्वरूपसे प्रतीत होता है; स्वयं अपने शुद्ध स्वरूपसे प्रतीत नहीं होता । यदि मनका निरोध कर लिया जाय तो तीनों अवस्थाओंका लय होकर आत्मज्ञान हो जायगा । अतः तुम्हें मेरा ज्ञानमय स्वरूप प्राप्त करना चाहिये और मेरा जो सौन्दर्य, माधुर्यादि स्वरूप सगुण विग्रह है उसको स्वप्नवत् मृषा समझकर उसकी उपेक्षा करनी चाहिये । पुरुष जब स्वप्नसे जागता है और उसका मन सावधान हो जाता है तब समझता है कि मैंने अपने ही मनकी कल्पनासे स्वप्नके पदार्थ देखे हैं और वे सब मिथ्या हैं, यही न्याय जाग्रत्के पदार्थोंमें भी उपयुक्त है । यदि मन पदार्थोंसे हटा लिया जाय तो जाग्रत्के पदार्थ भी मिथ्या प्रतीत होंगे ।

'इस कारण आलस्यको छोड़कर मनका निरोध करना चाहिये । यही सिद्धान्त वेद, योग और सांख्यशास्त्रोंका है । यही ध्येय, त्याग, तप, दया, सत्य आदि अनुष्ठान करनेका है, अब मैं सुदूर मथुरामें रहूँगा तो तुम मेरा अधिक चिन्तन करोगी । यह नियम है कि प्रेमियों-का ध्यान जैसे निश्चल भावसे परदेशमें रहनेवाले पतिमें लगा रहता है, वैसा समीपस्थ पतिमें नहीं रहता । अतः तुम सकल व्यापारोंसे छूटे हुए अपने मनको पूर्ण रीतिसे मेरे ऊपर स्थिर करो, मेरा ही चिन्तन करो, इससे तुम शीघ्र ही मेरे स्वरूपको प्राप्त करोगी ।'

इस व्याख्यानका गोपियोंपर कोई प्रभाव न हुआ । ऐसा मालूम हुआ मानो उन्होंने कुछ सुना ही नहीं । तब उद्धवजीने भगवान्का अन्तिम सन्देश कहा । वे बोले 'भगवान्ने कहा है कि मेरा यह कथन कि तुम मुझको ही प्राप्त होगी, केवल मधुर-सा प्रतीत होनेवाला रोचक वाक्य मत समझना; क्योंकि हे कल्याणियो ! क्या तुमने नहीं देखा कि वृन्दावनमें रात्रिमें क्रीड़ा करते समय जो गोपियाँ मेरे साथ रासक्रीड़ामें सम्मिलित नहीं हो सकीं और पतियोंके रोकनेके कारण गोकुलमें ही रह गयीं वे मेरी लीलाओंका चिन्तन करनेके कारण मेरे स्वरूपको ही प्राप्त हो गयी थीं ।' रासक्रीड़ाओंका स्मरण आते ही गोपियोंमें पूर्व-प्रेम जाग उठा और वे मूर्छासे जागे हुएके समान सँभलकर उद्धवजीसे

बोलीं 'क्या श्रीकृष्णचन्द्र अपने सम्बन्धियोंके साथ अच्छी तरहसे हैं? क्या वे अब मथुराके साथियोंके सामने हम ग्वालिनियोंको याद करते हैं? क्या गोकुलमें रहते समय चन्द्रमाका उदय होनेपर खिलनेवाले कमलकुन्दके पुष्प और हमारे साथ की हुई रासक्रीड़ाका उन्हें स्मरण आता है?' कोई सखी पूछने लगी 'जैसे इन्द्र मेघोंद्वारा वर्षा करके सूखे हुए वनको सजीव कर देता है, वैसे ही क्या श्रीकृष्ण अपने मुख, हास्य आदि अङ्गोंके दर्शन, स्पर्श आदिके विरहाग्निसे तपी हुई हमको सजीव करते हुए गोकुल आयँगे?'

कोई तीसरी गोपी बोली—'श्रीकृष्णके यहाँ आनेकी आशा छोड़ दो, अब वे राजकन्याओंको वरकर माता, पिता आदि सम्बन्धियोंसे घिरकर यहाँ क्यों आवेंगे? पिङ्गला वेश्याका वचन[1] सत्य है कि आशा न करना ही परम सुख है और करना ही परम दुःख है किन्तु हम यह सब बात जानते हुए भी श्रीकृष्णमें दुर्निवार आशा लगाये ही रहती हैं। इसका कारण यही है कि उन उत्तम कीर्तिमान् भगवान्के एकान्तमें किये हुए भाषणको छोड़नेमें कोई समर्थ नहीं है। अतः श्रीकृष्णका हमें विस्मरण नहीं होता। हे उद्धव! यह वन, पर्वत, नदी श्रीकृष्णके चरणोंसे अङ्कित हैं, ये हमको बार-बार नन्दकुमारका स्मरण कराते हैं, इस कारण हममें उनको भूलनेकी शक्ति नहीं है। श्रीकृष्णचन्द्रकी सुन्दर गति, उदार हास्य, मनोहर कटाक्ष और मधुर वाणी ये सब हमारी बुद्धिको आकर्षित करते हैं। इस कारण हम उनको कैसे भूलें?'

ऐसा कहकर और यह समझकर कि इस भगवद्विरहजनित तापको दूर करनेमें भगवान् ही समर्थ हैं, वे पुकारने लगीं—हे नाथ! हे रमा-नाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखदलन! हे गोविन्द! दुःखसागरमें

---

१. परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥
(भा० १०।४७।४८)

निमग्न इस गोकुलका तुम ही उद्धार करो[1]। उद्धवने जब गोपियोंकी यह दशा देखी तो वे सब ज्ञान भूल गये। उनके हृदयके उद्गार इस प्रकरणके अन्तमें लिखे गये हैं। उस समय उद्धवजीको गोपियोंके समझानेका कोई उपाय न सूझा। अतएव उन्होंने पहले कहा हुआ सन्देश फिर दुहराया। गोपियोंको यह जानकर कि श्रीकृष्ण हमारी आत्मा ही हैं कुछ शान्ति मिली और उन्होंने उद्धवजीकी गुरुभावसे पूजा की।

जबतक उद्धवजी गोकुलमें रहे तबतक उन्होंने भगवान्‌की लीलाओंका गान करके सकल गोकुलको आनन्दित किया। और जब वे मथुराको जाने लगे तब नन्द प्रभृतिने कहा 'हे उद्धव! आप हमारे कृष्ण-तत्त्वके उपदेष्टा गुरु हैं, इस कारण आपसे प्रार्थना है कि हमारे मनकी वृत्तियाँ निरन्तर श्रीकृष्णजीके चरणकमलका आश्रय करनेवाली हों, हमारी वाणी श्रीकृष्णका नामोच्चारण करनेवाली हो। हमारा शरीर श्रीकृष्णको नमस्कारादि करनेमें प्रवृत्त[2] हो। हम ईश्वरकी इच्छासे कर्म-वश चाहे देव, मनुष्य आदि किसी भी योनियोंमें भ्रमण करें वहीं हमें श्रीकृष्णरूप ईश्वरमें प्रीति हो।'

माधुर्यभक्तिका विवेचन जहाँतक गोपियोंका सम्पर्क है सम्पूर्ण हुआ। किन्तु अभी इस भक्तिका एक बड़ा उत्कृष्ट स्थल बाकी है, उसको इसी स्थानपर लिख देनेसे एक प्रकारसे इस भावकी भक्तिके निरूपणकी पूर्ति हो जायगी, वह स्थल है कुब्जाप्रकरण। इसकी कथा श्रीमद्भागवत-

---

१. हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे॥
(भा० १०।४७।४२)

२. मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥
(भा० १०।४७।६६-६७)

में इस प्रकार आती है कि कुब्जा कंसकी एक दासी थी। उसका कार्य चन्दन इत्यादिसे नित्यप्रति कंसको अलंकृत करना था। इस काममें भी विशेषज्ञकी आवश्यकता थी ताकि वह चन्दनादिको यथा-स्थान शरीरमें लगा दे। जहाँ भारतवर्षके सब प्रकारके कला-कौशलका नाश हो गया है वहाँ यह विद्या भी लुप्त हो गयी है। अस्तु, जब भगवान् मथुरामें घूमने गये जैसा कि आगेके प्रकरणोंमें कहा जायगा, भगवान्की दृष्टि कुब्जापर पड़ी। इस कुब्जाने भगवान्का शृङ्गार कर दिया और भगवान्ने इसके प्रत्युपकारमें उसके चिबुकपर हाथ लगाया और अपने पैरोंसे उसके पैर दबाकर एक झटका दिया तो वह सीधी हो गयी। भगवान्के स्पर्शसे मोहित होकर उसने भगवान्से प्रार्थना की कि वे उसके घर चलकर उसपर अनुग्रह करें। भगवान् कई दिनोंके पीछे उसके घर गये और उसका स्पर्शमात्र किया। इससे कुब्जा दिव्य आनन्दको प्राप्त कर कृतार्थ हो गयी। भगवान्का दिव्य विग्रह ही ऐसा था कि ऋषियोंतकको उनका आलिङ्गन करनेकी इच्छा हुई। कुब्जाकी तो बात ही क्या है। हमारी समझमें वहाँ ग्राम्यकामकी कोई शङ्का नहीं बन सकती। यदि ऐसी ही बात होती तो कुब्जाका मनोरथ इस थोड़े-से स्पर्शसे ही पूर्ण नहीं हो सकता था, आगे भी उसका अधिकाधिक सम्पर्क होता। कहा भी है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

हमारे इस माधुर्यभक्तिके प्रतिपादनसे यह खूब समझमें आ जायगा कि भगवान्का किसीके साथ ग्राम्यकामका कहीं कोई भी सम्बन्ध नहीं था। इस कुब्जाके विषयमें यह किंवदन्ती है कि यह श्रीरामावतारमें शूर्पणखा नामकी राक्षसी थी और भगवान्से प्रगाढ़ प्रेम होनेके कारण इसको कुब्जादेहमें भगवान्का स्पर्श हुआ। यह

---

१. कामके भोगसे कामकी शान्ति नहीं होती, भोगसे तो काम अधिक बढ़ता है। जैसे अग्निमें घी डालनेसे अग्नि अधिक बढ़ती है।

विषय मिथिलामाहात्म्यनामक ग्रन्थमें है । यह भी गाथा है कि शूर्पणखाने अन्तमें भगवान्‌की प्राप्तिके निमित्त एक यज्ञ किया और भगवान्‌का स्मरण करती हुई उस यज्ञमें अपने शरीरको भस्म कर दिया। यही कारण है कि इस समय उसको भगवान्‌का स्पर्श मिलकर उसकी इच्छा पूर्ण हुई ।

अब यह माधुर्यप्रकरण समाप्त होता है। इसके अध्ययनसे अपनेको ज्ञानी माननेवाले पुरुषोंको भगवान्‌के प्रति प्रेम-भक्ति उत्पन्न हो । श्रीउद्धवजीके वचनोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रकरण भक्तिका उत्पादक है ।



उद्धवजीकृत गोपीस्तुति[1]

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५९॥
क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।

इस पृथिवीमें केवल इन गोपियोंका ही जन्म सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा गोविन्द भगवान्के ऊपर परम प्रेम करनेवाली हैं[2] । जिस प्रेम-को संसारसे भयभीत मुनि, मुमुक्षु, मुक्त और हम भक्त लोग भी चाहते हैं। भगवान्की कथामें प्रेम रखनेवाले प्राणीकी ब्राह्मणजन्मों (शौक्ल, सावित्र और याज्ञिक जन्मों) से क्या विशेषता हो सकती है ? जहाँ कहीं वह पैदा हुआ सर्वोत्तम ही है ॥५९॥

(इस श्लोकका भाव हमारे एक मित्रने इस तरह प्रतिपादन किया था कि भगवत्-प्राप्तिका साधन है एकान्तवास, घर-बार, पुत्र-पतियों-का त्याग। यदि ऐसा न किया जाय और घरके काम-काज, पति-पुत्रादिकी सेवामें रहते हुए भगवत्-भजन किया जाय तो यह आचार 'व्यभिचारदुष्ट' कहा जाता है । ऐसे व्यभिचारदुष्टको भगवान्की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु यह आश्चर्य है कि गोपियोंको पति-पुत्रादि-के साथ रहते हुए और घरके काम-काज करते हुए भगवत्-प्राप्ति हुई, अतः उद्धवजी कहते हैं कि ईश्वरकृपा ही बड़ाईका कारण है) भला जङ्गलमें विचरनेवाली व्यभिचारके दोषसे दूषित हुई ये

१. भा० स्क० १० अ० ४७

२. इसीको ४४ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें पुष्ट किया है। यथा—
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥



उद्धवजीकृत गोपीस्तुति

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥६०॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥६१॥

स्त्रियाँ कहाँ? और इनका यह भगवान्‌में निरन्तर प्रेम कहाँ? सच है ईश्वर भजन करनेवाले अज्ञानीके ऊपर भी अपने-आप अनुग्रह करते हैं। देखो यदि अमृतका सेवन, उसके प्रभावको न जाननेवाला भी करे तो भी वह अमर हो जाता है। (यहाँपर 'व्यभिचारदुष्टाः' शब्दका प्रयोग करनेका अभिप्राय यह नहीं है कि गोपियाँ व्यभिचारिणी थीं, किन्तु उनका पति-पुत्रादि छोड़कर भगवान्‌के पास अकेली जाना यह एक प्रकारका व्यभिचार-सा लोकदृष्टिमें देखा जाता है। श्रीमान् वंशीधर-जी अपनी भागवतकी टीकामें कहते हैं कि उपपतिबुद्धिसे भगवान्‌की आराधना करना शास्त्रमें व्यभिचार नहीं समझा जाता) ॥ ६० ॥

(अब कहते हैं कि यह गोपियोंके ऊपर हुआ भगवान्‌का अनुग्रह अत्यन्त अपूर्व है; क्योंकि) रासके उत्सवमें श्रीकृष्णजीकी भुजाओंसे, कण्ठमें आलिङ्गन होनेसे व्रजसुन्दरियोंको जो प्रसाद (आनन्द) प्राप्त हुआ, वह कमलके समान कान्ति और गन्धवाली स्वर्गकी वनिताओंको भी नहीं प्राप्त हो सका, औरोंकी तो बात ही क्या है, सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि भगवान्‌के वक्षःस्थलमें एकान्त रमण करने-वाली लक्ष्मीको भी यह आनन्द (प्रसाद) नहीं मिला ॥६१॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६२॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६३॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६४॥

(उद्धवजी कहते हैं कि इन गोपियोंके भाग्यकी क्या बात है, अब मेरी प्रार्थना है—) अहो ! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे कुछ भी मैं होऊँ, क्योंकि इन्होंने दुस्त्यज (कठिनाईसे भी नहीं छोड़े जा सकनेवाले) अपने बान्धव और कुलकी श्रेष्ठ रीतियोंको त्यागकर श्रीकृष्ण भगवान्‌का भक्तिमार्ग पाया, जिसको श्रुतियाँ भी ढूँढ़ा करती हैं ॥६२॥

(फिर उन गोपियोंकी स्तुति करते हैं—) जिन चरणकमलकी लक्ष्मीजी, आप्तकाम ब्रह्मादि देवता और योगेश्वर अपने हृदयमें पूजा करते हैं, उन श्रीकृष्णजीके चरणकमलोंको जिन गोपियोंने रासक्रीड़ामें अपने वक्षःस्थलमें रक्खा था और उसका आलिङ्गन करके अपना ताप दूर किया था (ऐसी गोपियोंके चरणकमलोंको मैं नमस्कार करता हूँ) ॥ ६३ ॥

(गोपियोंके महत्त्वका प्रतिपादन कर फिर नमस्कार करते हैं—) नन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरणरेणुको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्‌की लीलाओंका गान तीनों भुवनोंको पवित्र करता है॥६४॥



नवम प्रकरण

ब्रह्मज्ञानवती गोपियाँ

गोपीकृत विनती

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-

शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।

येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः

स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः[2] ॥

भगवान्‌ने गोपियोंको पुनः मिलनेका वचन दिया था, वह अवसर कई वर्ष पीछे प्राप्त हुआ । एक समय सूर्यग्रहणका पर्व आया । उस समय श्रीकृष्ण और बलराम सब यादवोंसहित अतिपुण्यकारक कुरुक्षेत्रमें गये, उसी समय भरतखण्डके बहुत-से लोग वहाँ गये, और नन्दादि गोप तथा गोपियाँ भी गयीं । वहाँ परस्पर मिलनेसे सबके मनमें आनन्द उमड़ आया, नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी और शरीरमें रोमाञ्च खड़े हो गये । श्रीकृष्ण-बलरामने अपने माता-पिता नन्द-यशोदाको नमस्कार और आलिङ्गन किया । उस समय प्रेमसे कण्ठ भर आनेके कारण वे कुछ भी बोलनेमें समर्थ न हुए ।

---

१. भा० स्क० १० अ० ८२

२. भा० १०। ८२ के अन्तर्गत श्लोक ३१ का अर्थ—

तुमसे भगवान्‌का दर्शन, स्पर्श, अनुगमन, वार्तालाप, सोना, बैठना, भोजन, विवाह और दैहिक सम्बन्ध है, इस कारण तुम्हारा जन्म सफल है क्योंकि प्रवृत्तिमार्गमें रहनेवाले तुमलोगोंके घरमें स्वर्ग और मोक्षका भी लोभ छुड़ानेवाले श्रीकृष्ण स्वयं रहे हैं ।

तदनन्तर रोहिणी और देवकीने यशोदाजीसे कहा हम तुम्हारे मित्रभावका बदला नहीं दे सकतीं, क्योंकि तुमने बलराम और श्रीकृष्णकी ऐसी रक्षा की है जैसे नेत्रोंकी रक्षा पलक करते हैं। तुमने यह दिखा दिया कि सत्पुरुषोंमें अपने-परायेका भेदभाव नहीं रहता।

जिस समय माताओंकी ये बातें हो रही थीं उस समय एक ओर भगवान् गोपियोंसे मिले। अहो! जो ब्रह्माजीको यह दोष देती थीं कि उन्होंने ऐसे पलक बनाये जो कि भगवान्के प्रति दृष्टिको रोकते हैं, आज बहुत कालके अनन्तर उन्हें भगवान्का दर्शन हुआ। उस समय वे प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर और उनको नेत्रोंद्वारा हृदयमें पहुँचाकर दृढ़ आलिङ्गन करके भगवद्रूपताको प्राप्त हो गयी थीं। यह गति योगियोंको भी दुर्लभ है। भगवान्ने गोपियोंसे पूछा 'जब हमारा चित्त मथुरा पहुँचकर शत्रुपक्षके नाश करनेमें लगा था तब क्या तुम हमको स्मरण करती थीं? क्या तुम मेरी निन्दा तो नहीं करती थीं कि मैं अकृतज्ञ हूँ?' गोपियाँ कुछ भी उत्तर देनेमें समर्थ न हो सकीं।

फिर भगवान् स्वयं व्याख्यान देने लगे—'ईश्वर ही प्राणिमात्रका संयोग-वियोग करता है। जैसे वायु मेघकी घटा, तृण और धूलिका एक स्थानमें संयोग करके तत्काल वियोग कर देता है। यह बहुत ही अच्छा हुआ कि इस वियोगमें तुम्हारा मेरे ऊपर अत्यन्त प्रेम बढ़ा। मेरी भक्ति मोक्ष देनेमें समर्थ है। यदि वह प्रेमयुक्त हो तो इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य हो सकता है? हे स्त्रियो! जिस प्रकार आकाश, वायु, पृथिवी, तेज और जल ये पञ्चभूत घट-पटादि समस्त पदार्थोंके आदि, अन्त, मध्य और बाहर वर्तमान हैं ऐसे ही मैं भी सकल पदार्थोंमें वर्तमान हूँ। इसके सिवा जैसे घटादि कार्य पृथिवीसे भिन्न नहीं हैं और पृथिवीमें रहते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज शरीर अपने कारणभूत—पञ्च महाभूतोंमें ही रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। आत्मा तो महाभूतोंमें साक्षीरूपसे व्याप्त है, कारणरूपसे नहीं। इस कारण केवल आत्मा ही सत्य है, शरीरादि विनाशी और

परिणामी होनेसे सत्य नहीं हैं। गोपियाँ तो शुद्ध अन्तःकरणवाली और पापरहित थीं, वह आत्मतत्त्वको समझ गयीं और शरीरका नाश होनेपर भगवान्‌के स्वरूपमें लीन हो गयीं तब उन्होंने एक ही श्लोकसे उनकी स्तुति की।

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः[1]॥

गोपियोंने कहा—हे कमलनाभ! अगाध ज्ञानी तथा बड़े-बड़े योगियोंद्वारा हृदयमें ध्यान करने योग्य और संसारकूपमें निमग्न प्राणियोंके उद्धारका अवलम्बनरूप आपका चरण-कमल घर-बारका सेवन करती हुई भी हम गोपियोंके मनमें निरन्तर बना रहे।



१. भा० १० । ८२ । ४९

तीसरा अध्याय

किशोरलीला

प्रथम प्रकरण

वृन्दावनकी शेष लीलाएँ

नारदकृत स्तुति

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः[2] ॥

हमने माधुर्यप्रकरणको एक साथ अलग लिखनेका निश्चय कर लिया था, इसी कारण पिछले अध्यायमें कहीं-कहींपर श्रीमद्भागवतके क्रमका अनुसरण नहीं हो सका । अब फिर श्रीमद्भागवतके क्रमके अनुसार श्रीकृष्णचरित्रका चित्रण करते हैं ।

व्रजमें तो गोप-गोपियोंका यह नित्य-नियम था कि भगवान्का किसी-न-किसी प्रकार दर्शन किया जाय । इस समय गोकुलमें उत्सवोंकी बड़ी धूम थी, इसे अरिष्टासुर दैत्य न सह सका । वह बृहत्काय बैलके स्वरूपवाला दैत्य पृथिवीको कँपाता हुआ गोकुलमें आ पहुँचा । उसे देखकर गोपियाँ और गोप डर गये । भगवान्ने उसके सींगोंको पकड़कर घुमाया और भूमिमें पटककर पैरोंसे कुचलकर उसका अन्त कर दिया ।

इसी बीचमें नारदजी कंसके पास आये । उनसे कंसको ज्ञात हुआ

---

१. भा० १० । ३६ और ३७

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ११ और १२ की टीकामें देखिये ।

कि पूतनादि राक्षसोंके वध करनेवाले श्रीकृष्ण हैं, जो देवकीके आठवें पुत्र हैं, और उनको वसुदेवजीने गोकुलमें पहुँचा दिया था। इसपर कंस खलबला उठा और खड्ग उठाकर वसुदेवजीको मारनेके लिये दौड़ा। तब नारदजीने ये युक्तियुक्त वचन कहे--'हे कंस! वसुदेवजीको मरा सुनकर कृष्णादि भाग जायँगे, ऐसी दशामें तुम्हारे हाथसे शत्रुओंका वध न हो सकेगा, इस कारण तुम वसुदेवजीको बन्धनमें रखकर शत्रुओंको मारनेका उपाय करो।' नारदजीकी सलाह कंसके चित्तमें जँच गयी। उसने देवकीसहित वसुदेवजीको लोहेकी बेड़ियोंसे बँधवाकर कैद करा दिया।

कंसने अपने प्रधान नायकोंको बुलाकर यह कुमन्त्रणा की कि राम-कृष्णादि गोपोंको यज्ञ देखनेके लिये मथुरा बुलाया जाय और उसी समय मल्लक्रीड़ा हो। जब राम-कृष्ण अखाड़ेके द्वारपर पहुँचें तब उन्हें महावत लोग कुवलयापीड हाथीसे कुचलवाकर मार दें। यदि यह न हो सके तो चाणूर और मुष्टिक उनको मल्लयुद्धमें मार डालें।

तदनन्तर सब ग्वालबालोंसहित राम-कृष्णका संहार करनेके लिये केशी दैत्य गोकुलमें भेजा गया। केशी दैत्य एक पर्वताकार अश्वका रूप धारणकर वृन्दावनमें पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने अपने पिछले पैरोंसे कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्रपर प्रहार किया। भगवान्‌ने उसके पैर पकड़े और उसे चारों ओर घुमाकर चार सौ हाथकी दूरीपर पटक दिया। इतनेपर भी वह राक्षस मरा नहीं, कुछ देरके लिये मूर्छित होकर फिर भगवान्‌की तरफ मुँह फैलाकर दौड़ा। तब भगवान्‌ने उसके मुँहमें अपना हाथ दे दिया। उस हाथको भगवान्‌ने इतना कड़ा किया कि उसके दाँत उखड़ गये और प्राण घुटने लगे तब वह भूमिपर गिरकर मर गया। यह देखकर देवताओंने भगवान्‌के ऊपर फूल बरसाये और भगवान् गोकुलको सुखी करते हुए गोपालोंके साथ पशुओंकी रक्षा करने लगे।

एक समय श्रीकृष्ण और बलरामादि गौ चरानेके लिये गोवर्धन पर्वतपर गये, और वहाँ खेलने लगे। कोई मेढ़े बने, कोई उनको चुराकर

छिपानेवाला बना और कुछ बालक रक्षक बने। इसी समय उस वनमें मायासुर-का पुत्र महामायावी व्योमासुर आया और गोपका वेष धारणकर उसने मेढ़े बने हुए गोपोंको क्रम-क्रमसे किसी कन्दरामें छिपाकर; उसका द्वार एक बड़ी शिलासे बन्द कर दिया। अन्तमें वहाँपर मेढ़े बने हुए गोपोंमें केवल पाँच शेष रह गये। भगवान्ने व्योमासुरका कर्म जानकर उसको इस प्रकार पकड़ लिया जैसे सिंह भेड़ियेको पकड़ लेता है। तब उस असुरने गोपरूपको त्यागकर अपना पर्वताकार विशाल रूप धारण कर लिया; किन्तु वह अपनेको छुड़ानेमें समर्थ नहीं हुआ। अन्तमें भगवान्ने उसे भूमिमें पटककर घूँसोंसे मार डाला।

व्रजके उपद्रव शान्त हो गये। गोप सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे। भगवान्को अन्यत्र भी शान्ति स्थापित करनी थी; इसी कारण नारद ऋषि एक दिन एकान्तमें भगवान्के समीप आगेका कार्यक्रम सूचित करनेको आये। कई महानुभावोंका कहना है कि नारद ऋषि भगवान्के हृदय हैं। सब क्रियाएँ हृदय (मन) की प्रेरणासे होती हैं। यही कारण है कि भगवान्के कार्य सिद्ध करनेके लिये, नारदजी कभी राक्षसोंको सलाह देते हैं और कभी देवताओंको प्रेरणा करते हैं। इस समय नारदजी भगवान्की स्तुति करते हुए आगेके कार्यकी सूचना करते हैं।



नारदकृत स्तुति[1]

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥११॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥१२॥
आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसंकल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥१३॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च ॥१४॥

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अपरिच्छिन्नरूप ! हे योगेश्वर ! हे जगदीश्वर ! हे वासुदेव ! हे जगन्निवास ! हे यादवश्रेष्ठ ! हे प्रभो ! आप जीवोंकी भाँति परिच्छिन्न नहीं हैं किन्तु घट-घट-व्यापी एक आत्मा हैं। जैसे काष्ठोंमें अग्नि रहती है वैसे ही सब प्राणियोंमें आप स्थित हैं, तो भी अतिगूढ़ होनेके कारण आपको वे नहीं देख पाते; क्योंकि आप बुद्धिरूप गुहामें रहनेवाले सबके साक्षी महापुरुष ईश्वर हैं ॥ ११-१२ ॥

(शङ्का——मैं ईश्वर हूँ और सब ईशितव्य है यह कैसे जाना समाधान——) आपको किसी साधनकी आवश्यकता नहीं, आप स्वतन्त्र सत्यसङ्कल्प और ईश्वर हैं। आप पहले अपनी मायाशक्तिसे गुणों (सत्त्व, रज, तम) को उत्पन्न करते हैं फिर उनसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं ॥ १३ ॥

वही आप राजारूपी दैत्य, प्रमथ और राक्षसोंका संहार करनेके लिये और धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये प्रकट हुए हैं ॥ १४ ॥

---

१. भा० १०।३७

दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसन्त्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥
चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१६॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥
उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥
स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥२०॥

इस घोड़ेके रूपको धारण करनेवाले केशी दैत्यको आपने अनायास मार डाला, यह अच्छा ही हुआ । जिसके हिनहिनानेसे भयभीत देवता स्वर्गको छोड़कर भाग जाते थे ॥१५॥

हे प्रभो! मैं परसों चाणूर, मुष्टिक, अन्यान्य योद्धाओं, कुवलयापीड हाथी और कंसको आपके हाथसे मारे हुए देखूँगा ॥१६॥

इसके पश्चात् शंखासुर, कालयवन, मुर और नरकासुरका वध, पारिजातवृक्षका हरण तथा इन्द्रका पराजय देखूँगा ॥१७॥

फिर पराक्रमादि ही जिनका मूल्य है अर्थात् पराक्रमसे पायी हुई राजकन्याओंके साथ विवाह देखूँगा और हे जगत्पते ! तदनन्तर द्वारकामें राजा नृगका पापसे (गिरगिटयोनिसे) छुटकारा पाना देखूँगा ॥१८॥

जाम्बवतीके साथ स्यमन्तक मणिको लाना, और ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रोंको महाकालसे लाकर उसे देना ॥१९॥

पौण्ड्रकका वध, काशीपुरीका दहन, दन्तवक्त्रका वध, राजसूययज्ञमें शिशुपालका वध ॥२०॥

यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन्भवान् ।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥२१॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥
विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम्॥

और द्वारकामें रहते हुए पृथिवीपर कवियोंद्वारा गाये जाने योग्य आप जो-जो पराक्रमपूर्ण कार्य करेंगे उन सबको मैं देखूँगा ॥२१॥

फिर पृथिवीके भारको हरनेवाले कालरूप आपको अर्जुनके सारथि-के रूपमें कई अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करते हुए देखूँगा ॥२२॥

(इस प्रकार विज्ञापन करके फिर दो श्लोकोंसे भगवान्‌को नमस्कार करते हैं—) केवल शुद्धज्ञानमूर्ति परमानन्दरूप, अपनी स्थितिसे आप्त-काम, सत्यसंकल्प तथा अपनी चेतनशक्तिसे रची हुई मायाके कार्य-रूप गुणप्रवाहसे सदा निवृत्त आपको नमस्कार है ॥२३॥

आप ईश्वर हैं और दूसरेके वशमें नहीं रहनेवाले हैं। अतएव आपने अपने अधीन रहनेवाली मायासे सम्पूर्ण विशेषोंकी (यादवोंकी) रचना की है, और इस समय क्रीड़ाके लिये मनुष्यशरीर धारण किया है। मैं, यादव, वृष्णि और सात्वतोंमें सर्वश्रेष्ठ आपको नमस्कार करता हूँ ॥२४॥



द्वितीय प्रकरण

अक्रूरजीका वैकुण्ठदर्शन[1]

अक्रूरजीद्वारा सगुण-निर्गुणभेदोंसे स्तुति

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुभूतं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्ब्रह्माविरासीद्यत एष लोकः ॥[2]

द्वितीय अध्यायके छठे प्रकरणमें लिखा जा चुका है कि कंसद्वारा भेजे गये अक्रूरजी भगवान्को ले जानेके लिये गोकुलमें आये; और गोपियोंसे विदा लेनेके पीछे राम और कृष्णको रथमें बैठाकर चले गये । नन्दजी तथा अन्य गोपगण गाड़ियों और छकड़ोंमें भेंटें रखकर रथके पीछे-पीछे चले ।

अक्रूरजीके रथके घोड़े वायुके समान वेगवान् थे । वे शीघ्र ही यमुनाजीके तटपर पहुँच गये । अक्रूरजीने रथको वृक्षोंकी झाड़ियोंमें खड़ा कर दिया, और श्रीकृष्ण और बलरामको रथसे उतारकर यमुनाके पास ले गये । उन दोनों भाइयोंने यमुनाजीके इन्द्रनीलमणिके समान श्यामवर्ण जलसे हाथ, पैर और मुँह धोये तथा जल पिया । तब अक्रूरजी उनको फिर रथमें बैठाकर उनसे आज्ञा लेकर स्नान करनेके लिये यमुनाजीकी ओर लौटे । उन्होंने विधिपूर्वक यमुनाजीमें मध्याह्नस्नान आरम्भ किया । वे जलमें डुबकी मारकर प्रणवादि मन्त्रका जप करने लगे ।

उसी समय उन्होंने यमुनाजीके भीतर एक स्थानमें श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखा । किन्तु जब उन्होंने अपना मस्तक जलसे ऊपर उठाकर रथकी ओर देखा तो श्रीकृष्ण और बलरामको पूर्ववत् रथमें

---

१. भा० १० । ३९ और ४० का उत्तरार्ध ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक १ की टीकामें देखिये ।

बैठे पाया । अक्रूरजीने यह देखनेके लिये कि, मुझे जलके भीतर जो दर्शन हुआ था वह सत्य है या झूठ, फिर डुबकी लगाई । अबकी बार वे क्या देखते हैं कि वहाँ नीले वस्त्र धारण किये श्रीशेष भगवान् विराजमान हैं । उनके सहस्र मस्तकोंमें रत्नोंसे देदीप्यमान सहस्र किरीट सुशोभित हो रहे हैं । सिद्ध, चारण, गन्धर्व और असुर उनकी स्तुति कर रहे हैं तथा उनके कुण्डलाकार आधे शरीरपर भगवान् शयन कर रहे हैं । भगवान् पीताम्बर पहने हुए हैं और उनका वर्ण मेघके समान श्याम है । उनके चार भुजाएँ हैं, शान्त मुद्रा है, कमलके फूलके समान कुछ-कुछ लाल नेत्र हैं, प्रसन्न हास्ययुक्त मुख है, सुन्दर भ्रुकुटी है, ऊँची नासिका है, सुन्दर कान हैं, मनोहर कपोल हैं, लाल-लाल अधर है, घुटनोंतक लम्बी और मांसल भुजाएँ हैं, ऊँचे कन्धे हैं, उनके वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजी विराजमान हैं । कम्बुके समान कण्ठ है । गहरी नाभि है तथा पीपलके पत्तेके समान पेट है जिसमें तीन वलियाँ पड़ी हुई हैं । उनका कटितट अति विशाल है, सुन्दर श्रोणी है, हाथीकी सूँडके समान मनोहर जङ्घाएँ हैं—थोड़ी ऊँची एड़ी है, लाल-लाल नख हैं, बहुतसे रत्नोंसे जड़ा हुआ किरीट है, तथा कड़े-तोड़े, बाजूबन्द, मेखला, यज्ञोपवीत, हार और नूपुर आदि आभूषणोंके कारण उनकी अपूर्व शोभा है । वे दाहिने हाथमें कमल और शेष तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा धारण किये हैं । उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, तथा कण्ठमें कौस्तुभमणि और वनमाला सुशोभित है । ब्रह्मा एवं रुद्रादि देवता, मरीचि, नारद एवं सनकादि देवर्षिगण तथा नन्द, सुनन्द और प्रह्लाद आदि पार्षदगण उनकी स्तुति कर रहे हैं । लक्ष्मी, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और मायारूप बारह शक्तियाँ उनकी सेवा कर रही हैं । ऐसे भगवान्को देखकर अक्रूरजीकी प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया, आनन्दसे नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे धैर्यपूर्वक हाथ जोड़कर भगवान्को नमस्कारकर गद्‌गदवाणीसे स्तुति करने लगे ।



अक्रूरकृत स्तुति[1]

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्ब्रह्माविरासीद्यत एष लोकः ॥ १ ॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ २ ॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात्परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ३ ॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।

अखिल प्रपञ्चके कारण महदादिके भी कारण, अविनाशी आदिपुरुष आप नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ, जिनके नाभिसे उत्पन्न हुए कमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और उनसे इस लोकका आविर्भाव हुआ ॥१॥

(अखिल प्रपञ्चके कारणत्वको प्रकट करते हैं—) पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, (आकाशका आदिकारण—) अहङ्कार, महत्तत्त्व, मूल प्रकृति, पुरुष, मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और उनके अधिष्ठाता देवता (दिग्वातादि) ये सब जो जगत्के कारण हैं वे आपहीकी श्रीमूर्तिसे उत्पन्न हुए हैं ॥२॥

ये मायादिक पदार्थ जड होनेके कारण सर्वात्मा आपके रूपको नहीं जानते हैं। (मायादि जड है यह कैसे जाना ? उत्तर—) ये गृहीत हैं अर्थात् प्रत्यक्षादिसे देखे गये हैं, अजड प्रत्यक्ष आदिसे नहीं देखा जाता ऐसा आशय है। (शंका—जड़ भले ही न जाने, जीव तो जानता होगा ? समाधान—) ब्रह्मा भी आपके गुणोंसे बँधे रहनेके कारण आपके (गुणातीत) रूपको नहीं जानते हैं, (फिर अन्य जीव कैसे जानेंगे अर्थात् नहीं जानेंगे) ॥३॥

यदि आपको कोई नहीं जानता है, तो मोक्ष किसीका भी नहीं होगा ?—इस शङ्काका पाँच श्लोकोंसे समाधान करते हैं—किसी भी मार्गसे

---

१. भा० स्क० १० अध्याय ४० ।

साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥ ४ ॥
त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥ ५ ॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥ ६ ॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥ ७ ॥
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन्समुपासते ॥ ८ ॥

भजन करनेवालोंको आप प्राप्त होते हैं इस आशयसे कहते हैं—सांख्ययोग-मतावलम्बी योगी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतके साक्षी महापुरुष—अन्तर्यामी ईश्वररूप आपका ध्यान (पूजन) करते हैं ॥४॥

कर्मयोगी द्विजगण ऋग्, यजु और सामवेदमें प्रतिपादित यज्ञोंद्वारा जो यजन करते हैं वह नाना रूपवाले इन्द्रादि देवताओंके नामोंसे वस्तुतः आपहीकी पूजा करते हैं ॥५॥

ज्ञानयोगी सर्वत्र रागरहित होकर सब वैदिक और लौकिक कर्मोंको त्यागकर समाधिस्थ होकर ज्ञानयज्ञके द्वारा ज्ञानस्वरूप आपका ही यजन करते हैं ॥६॥

तथा वैष्णव-दीक्षासे युक्त पुरुष आपके बताये हुए पाञ्चरात्र आदि विधिके अनुसार आपहीको मुख्य मानते हुए (वासुदेव, संकर्षणादि अनेक रूपोंसे) नाना मूर्तिवाले और महानारायणरूपसे एक मूर्तिवाले आपका ही यजन करते हैं ॥७॥

हे भगवन् ! अन्य उपासक (शैव) आपको शिवजीसे उपदिष्ट बहुत आचार्योंद्वारा प्रतिपादित होनेसे विविध, पाशुपत, शैव आदि मार्गसे शिवरूप आपकी ही उपासना करते हैं ॥८॥

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥
यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥
तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।

हे सर्वदेवमय ! अन्य क्षुद्र देवताओंके भक्त यद्यपि उन-उन देवताओंमें भेद-बुद्धि रखते हैं तथापि यह उनकी बुद्धिका ही भेद है वस्तुभेद नहीं है; वास्तवमें वे ईश्वररूप सकलदेवमय आपका ही यजन करते हैं ॥ ९ ॥

(अब दृष्टान्तसहित कहते हैं कि सब मार्ग अन्तमें आपही-के पास पहुँचते हैं) हे प्रभो ! जैसे पर्वतोंसे उत्पन्न हुई नदियाँ वर्षासे पूर्ण होकर, कई स्रोतोंसे समुद्रमें प्रवेश करती हैं, इसी प्रकार विचार करनेपर ज्ञात होता है कि अनेक मार्ग आपहीमें पहुँचते हैं, नाना प्रकारसे भजन करनेवालोंका पर्यवसान आपहीमें है—अर्थात् वे आपहीमें प्रवेश करते हैं ॥१०॥

(इसका कारण बतलाते हैं) सत्त्व, रज और तम आपकी शक्तिरूप प्रकृतिके गुण हैं और उनमें स्थावरसे लेकर ब्रह्माजीपर्यन्त सब जीव अपनी उपाधिद्वारा प्रविष्ट हैं । (वे गुण प्रकृतिमें प्रविष्ट हैं और प्रकृति आपमें प्रविष्ट है । अतः क्रमसे उपाधिका विलय होनेसे सबका प्रवेश आपमें ही होता है) ॥११॥

(शङ्का—'आपकी प्रकृति' यह कहनेसे प्रकृतिके साथ मेरा सम्बन्ध प्रतीत होता है तो अन्य जीवोंमें और मुझमें क्या अन्तर समझते हो ? समाधान—) आपको नमस्कार है, आपकी दृष्टि अलिप्त अर्थात् विषयासक्त नहीं है क्योंकि आप (अपनेसे भिन्न वस्तुका अभाव होनेके

गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥
अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन्पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः सपाला बहुजीवसंकुलाः ।
यथा जले संजिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

कारण) सर्वात्मा और सबकी बुद्धिके साक्षी हैं इस कारण आपकी बुद्धि विषयासक्त नहीं है । अविद्याजनित यह जन्ममरणरूप संसार देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीराभिमानियोंको ही होता है, (आपको प्राप्त नहीं होता है इस कारण आपमें और जीवमें महान् अन्तर है) ॥१२॥

(सर्वात्मा कहनेसे सगुणरूपकी कल्पना करके उसीकी स्तुति करते हैं—) अग्नि आपका मुख है, पृथिवी चरण है, सूर्य चक्षु हैं, आकाश नाभि है, दिशा श्रोत्र है, सत्यलोक शिर है, इन्द्रादि बाहु हैं, समुद्र उदर है, वायु प्राण और बल है ॥१३॥

वृक्ष और ओषधियाँ परम पुरुष आपके रोम हैं, मेघ शिरके बाल हैं, पर्वत हड्डियाँ और नख हैं । रात-दिन निमेष है, ब्रह्माजी लिङ्ग-इन्द्रिय और वर्षा वीर्य है ॥१४॥

(इतना ही नहीं, किन्तु यह सब प्रपञ्च आपका ही अवयव है । ऐसा होनेपर भी प्रपञ्चके जन्मादि षट् विकारोंका आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि यह प्रपञ्च आपमें कल्पित है, इसीका समर्थन करते हैं–) हे अव्ययात्मन् ! यह बहुतसे जीवोंसे व्याप्त, लोक-पालोंसे युक्त लोक, मनोमय (मनकी वृत्तिसे ज्ञेय) पुरुष आपमें कल्पित है; जैसे जलमें असंख्य अण्डोंके समूह अथवा गूलरमें असंख्यात कीड़े (आपसमें एक दूसरेकी बातको न जानकर रहते हैं वैसे ही यह ब्रह्माण्ड और उसके भीतरके ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जीव भी उत्पन्न तथा लीन होते हैं इससे आपमें कोई विकार नहीं होता है) ॥१५॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥
नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ १७ ॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥ १८ ॥
नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥ १९ ॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।

इस लोकमें क्रीड़ाके लिये आप जो-जो मत्स्यादिरूप धारण करते हैं, उन रूपोंका अनुचिन्तन करनेसे जिन मनुष्योंके शोक-मोह दूर हो गये हैं वे लोग आपके यशका गान करते हैं ॥१६॥

(अब उन-उन अवतारोंका नाम लेकर नमस्कार करते हैं—) वेदोंका उद्धार करनेके लिये प्रलयकालके समुद्रमें विचरनेवाले मत्स्यरूप आपको नमस्कार है । मधु और कैटभनामक दैत्योंको मारनेके लिये हयग्रीवरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥१७॥

मन्दराचलको धारण करनेवाले कूर्मरूप आपको नमस्कार है, पृथिवीके उद्धार करनेके लिये क्रीड़ा करनेवाले वाराहरूप आपको नमस्कार है ॥१८॥

हे साधु पुरुषोंके भयको दूर करनेवाले ! अद्भुत नृसिंहरूपधारी आपको प्रणाम है और त्रिलोकीको आक्रान्त करनेवाले वामनरूप आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

घमंडी क्षत्रियोंके वंशरूपी वनको छिन्न-भिन्न करनेके लिये (परशु धारण करनेवाले) भृगुकुलपति (परशुराम) रूप आपको

नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥ २० ॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ २१ ॥
नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ २२ ॥
भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २३ ॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥ २४ ॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।

नमस्कार है । रावणका अन्त करनेवाले रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामरूप आपको नमस्कार है ॥ २० ॥

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप चतुर्व्यूहसे विख्यात सात्वतोंके स्वामी आपको नमस्कार है ॥ २१ ॥

दैत्य और देवताओंको मोहित करनेके लिये शुद्ध बुद्धरूपको धारण करनेवाले आपको नमस्कार है, म्लेच्छप्राय क्षत्रियोंका संहार करनेवाले कल्किरूप आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! यह सब जीवलोक आपकी मायासे मोहित हो रहा है और असत् देहादिमें 'मैं और मेरा' ऐसा अभिमान रखकर कर्ममार्ग-में भटक रहा है ॥ २३ ॥

हे विभो ! मैं भी स्वप्नवत् क्षणभङ्गुर देह, पुत्र, घर, स्त्री, धन और स्वजनोंमें, मूर्खतावश सत्यबुद्धि रखकर भ्रममें पड़ा हूँ ॥२४॥

(मूर्खताको स्पष्ट करते हैं—) मेरी अनित्य कर्मफलमें नित्यत्व बुद्धि, अनित्य देहादिमें आत्मबुद्धि, दुःखरूप गृहादिमें सुखबुद्धि है ।

द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥ २५ ॥
यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥ २६ ॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥ २७ ॥
सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥

अतः सुख-दुःखादि द्वन्द्वमें क्रीड़ा करनेवाला मैं अज्ञानसे परिपूर्ण हूँ और परमप्रेमास्पद आपको नहीं जानता हूँ ॥ २५ ॥

(इसी बातको दृष्टान्तपूर्वक कह देते हैं—) जैसे अज्ञानी पुरुष जलसे उत्पन्न हुए शैवालसे आच्छादित जलको छोड़कर केवल प्रतीत होनेवाले मृगतृष्णाके जलकी ओर दौड़ता है वैसे मायासे आवृत मैं आपको छोड़कर देहादिमें आसक्त हो रहा हूँ ॥ २६ ॥

मेरी बुद्धि विषयवासनामय है अतएव मैं काम और कर्मोंसे क्षोभको प्राप्त और अति बलवान् इन्द्रियोंसे इतस्ततः खींचे जाते हुए मनको वशमें करनेके लिये असमर्थ हूँ ॥ २७ ॥

इस प्रकार इन्द्रियाधीन होकर भी मैं असाधु पुरुषोंके लिये दुर्लभ आप परमेश्वरकी शरणमें आया हूँ। (शङ्का—इन्द्रिय-परतन्त्र कैसे शरणमें आ सकता है? समाधान—) हे ईश! इसे भी मैं आपका अनुग्रह ही मानता हूँ। (शङ्का—साधुसंगसे यह बात हो सकती है मेरी शरणमें आनेकी क्या आवश्यकता है? समाधान—) जब आपके अनुग्रहसे जीवके संसारकी समाप्तिका समय आता है तब हे पद्मनाभ! आपके भक्तोंकी उपासनासे आपकी ओर मति होती है। (भाव यह है कि तुम्हारी कृपाके बिना साधुओंका समागम नहीं मिलता है और साधु-समागमके बिना आपमें बुद्धि नहीं होती है; यदि ऐसा न हुआ तो मुक्ति भी प्राप्त नहीं होती है) ॥ २८ ॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ २९ ॥
नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३० ॥

(अब पैरोंमें पड़कर दो श्लोकोंसे नमस्कार करते हैं—) चैतन्य-मूर्ति, सकल ज्ञानोंके कारण, पुरुषको सुख-दुःख देनेवाले काल, कर्म, स्वभावके भी ईश्वर अथवा नियन्ता, अनन्त शक्तिसम्पन्न परिपूर्ण ब्रह्म-रूप आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥

हे हृषीकेश ! हे वासुदेव ! हे सकल प्राणियोंके आश्रय, (नाश-के उपरान्त निवासस्थान अर्थात् संकर्षणरूप) आपको नमस्कार है, हे प्रभो ! मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥३०॥



तृतीय प्रकरण

मथुराकी लीलाएँ[1]

अक्रूरकृत स्तुति

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम्[2] ॥

अक्रूरजीके स्तुति करनेपर भगवान्‌ने अपना रूप उस तरह समेट लिया जैसे अभिनय करनेके पीछे नट अपना सारा साज समेट लेता है। अक्रूरजी अपना मध्याह्नका कृत्य समाप्त कर रथके समीप आये और कहा—'हे ब्रह्मरूप कृष्ण ! मैंने आपके विश्वरूपका दर्शन किया और आपका ही सर्वत्र आश्चर्यमय रूप देखा ।' इतना कहकर अक्रूरजीने मथुराकी ओर रथ हाँका और वहाँ पहुँचनेपर नन्दादि गोपोंको नगरके समीप एक बागमें बैठे देखा, क्योंकि अक्रूरजीको स्नानादिमें विलम्ब हो गया था। फिर वे भगवान्‌की आज्ञासे कंसको सूचना देनेके लिये चले गये और भगवान्‌ने अक्रूरजीको उनके घर कंसवधके पश्चात् जानेका वचन दिया।

भगवान् तीसरे पहर बलरामजी और अन्य गोपोंके साथ मथुराजीकी शोभा देखनेके लिये गये । वहाँके सब स्त्री-पुरुष भगवान्‌का रूप देखकर मोहित हो गये और स्थान-स्थानपर उनकी पूजा करने लगे। एक स्थानपर उन्होंने एक धोबीके पास सुन्दर साफ वस्त्र देखकर उन्हें माँगा । वह रजक (धोबी) बड़े घमण्डसे बोला 'अरे वनवासियो ! क्या

---

१. भा० १० । ४१ से ४५ तक और ४८ का उत्तरार्ध ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक २७ की टीकामें देखिये ।

ऐसे वस्त्र तुमने कभी स्वप्नमें भी देखे हैं ? ये वस्त्र तो राजा कंसको ही शोभा देंगे। यदि तुमको जीनेकी आशा हो तो ऐसे वस्त्र किसीसे मत माँगना।'

धोबीका अन्त समय आ गया था। अतः भगवान्ने जो एक चपेटा मारा तो वह मर गया[1]। आगे चलकर भगवान्ने अन्य दुष्टोंका भी वध किया, जिससे उनके ऐश्वर्यकी सूचना कंसतक पहुँच जाय और वह सँभल जाय।

तदनन्तर भगवान्, बलराम एवं गोपोंने वे वस्त्र पहिन लिये। मार्गमें एक दर्जी मिला, उसने जिस रंगका वस्त्र जिस अङ्गपर चाहिये वैसा ही ठीक करके उन्हें पहिना दिया। फिर भगवान् सुदामा मालीके घर गये, उसने सुन्दर मालाओंसे भगवान्का पूजन किया। रास्तेमें जाते हुए भगवान्ने कुब्जाके टेढ़े शरीरको सीधा कर दिया[2]।

इसी प्रकार सब मथुरावासियोंको हर्षित करते और उनकी भेंट-पूजा स्वीकार करते वे उस स्थानपर पहुँचे जहाँ धनुर्यज्ञ रचा गया था। वह अद्भुत धनुष इन्द्रके धनुषके समान बहुत-से सुवर्णके आभूषणोंसे अलङ्कृत था। भगवान्ने पहरेदारोंके मना करनेपर भी उस विशाल धनुषको बायें हाथसे उठाकर तोड़ दिया। टूटनेके समय उसका घोर शब्द चारों दिशाओं, आकाश तथा पातालमें फैल गया।

ऐसा घोर शब्द सुनकर कंसको बड़ा भय हुआ। धनुषके रखवाले भगवान्को पकड़नेके लिये उद्यत हुए, किन्तु भगवान् और बलरामजीने उसी धनुषके टुकड़ोंसे उनको मार भगाया। भगवान् फिर निःशङ्क हो नगरमें विचरने लगे। नगरके लोगोंने समझा कि ये कोई देवताओंमें श्रेष्ठ

---

१. किसी महानुभावका कहना है कि यह उसी धोबीका अवतार था जिसने श्रीसीताजीकी निन्दा की थी और जिस कारणसे उन्हें वनवास हुआ था। श्रीरामावतारमें शान्तरस था अतः रजकको दण्ड न मिला अब उसका उद्धार भगवान्के हाथसे हो गया।

२. कुब्जाकी कथा दूसरे अध्यायके आठवें प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है।

हैं। सन्ध्या समय भगवान् तथा उनके साथी अपने-अपने स्थानको लौट आये।

दूसरे दिन मल्लयुद्ध होनेवाला था जिसके लिये एक रंगमण्डप बनवाया गया। वहाँ एक बड़े मञ्चपर कंस अपने कुसंगियोंके साथ बैठा था। चारों ओर पुरवासी और माण्डलिक राजा थे। स्त्रियोंके लिये स्थान अलग सुसज्जित था। नन्दादि गोप भी अपनी-अपनी भेंटें कंसको देकर एक मचानपर बैठ गये। रंगभूमिके बीचमें चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल आदि मल्ल इकट्ठे हुए, और उसके द्वारपर पर्वताकार मदोन्मत्त कुवलयापीड हाथी खड़ा किया गया। जब श्रीकृष्ण और बलराम रंग-मण्डपके द्वारपर पहुँचे तो पूर्व षड्यन्त्रके अनुसार महावतने हाथीको उनकी ओर बड़े वेगसे पेल दिया। भगवान्ने उस महावतको ललकारा कि जिससे वह सँभल जाय। किन्तु वह कहाँ माननेवाला था? कुवलयापीडने अपनी सूँड़से भगवान्को लपेट लिया। भगवान्ने ज़ोरसे झटका देकर अपनेको छुड़ाया। और उसकी पूँछ पकड़कर सौ हाथ पीछे घसीट ले गये। जब हाथी दाहिनी ओर लौटा, तो भगवान् बायीं ओर हो गये तथा जब वह बायीं ओर लौटा तो भगवान् दाहिनी ओर हो गये। इस प्रकार अनेक प्रकारके खेल करते हुए भगवान्ने हाथीकी सूँड़ पकड़कर खींची और उसको नीचे गिरा दिया। फिर उसके शरीर-को पैरसे दबाकर सहजहीमें उसका दाँत उखाड़ लिया और उसी दाँतसे महावतको भी मार डाला। हाथीका भी अन्त हो गया।

तत्पश्चात् गोपोंसे घिरे हुए श्रीकृष्ण और बलरामने रुधिरसे सने हुए उन दाँतोंको कन्धेपर रखकर उस रंगमण्डपमें प्रवेश किया। उस समय उनकी शोभा ऐसी प्रतीत हुई मानो भगवान् शृङ्गारादि रसोंकी मूर्ति हैं। जिसकी जैसी भावना थी, उसने उनको वैसा ही देखा। मल्लोंने वज्रसमान (रौद्ररसरूप), मनुष्योंने श्रेष्ठ राजाके समान (अद्भुतरसरूप), स्त्रियोंने मूर्तिमान् कामदेवके समान (शृङ्गाररसरूप), नन्दादि गोपोंने स्वजनके समान (सख्य अथवा हास्यरसरूप), दुष्ट राजाओंने दण्ड देनेवालेके समान (वीररसरूप), देवकी-वसुदेवजीने बालकके समान (वात्सल्य

वा करुणारसरूप), कंसने मृत्युके समान (भयानकरसरूप), अविद्वानों-ने विराट्[1]के समान (बीभत्सरसरूप), योगियोंने परम तत्त्वके समान (शान्तरसरूप) और यादवोंने उन्हें परम देवताके समान (भक्ति-रसरूप) देखा—इस समय कंस और भी ज्यादा भयभीत हो गया।

उस मण्डपमें जितने स्त्री-पुरुष थे वे गोकुलकी लीलाओंको स्मरण करके भगवान्का गुणगान करने लगे। चाणूर उन लोगोंके भाषणको न सह सका, उसने कृष्ण-बलरामको सम्बोधित करके मल्लयुद्धके लिये ललकारा। तब भगवान् श्रीकृष्णने ये यथोचित वचन कहे—'हम ग्रामनिवासी हैं, हम युद्धकी कला क्या जानें ? अभी तो हम बालक हैं, अपनी बराबरीवालोंके साथ युद्ध कर सकते हैं। आपलोग तो पूर्ण-वयस्क शूरवीर और इस विद्यामें निष्णात हैं, आपके साथ हमारी प्रति-योगिता कैसे हो सकती है ?'

चाणूरने कहा, आपने तो हजार हाथियोंके समान बलवाले कुवलयापीड हाथीको भी सहजहीमें मार दिया अतः आप और बलरामजी न तो बालक हैं, और न किशोर[2] ही।

इसपर इन मल्लोंके वधका निश्चय करके भगवान् और बलरामजी युद्धके लिये उद्यत हुए। भगवान् चाणूरके साथ और बलरामजी मुष्टिकके साथ युद्ध करने लगे। अनेक प्रकारकी युद्धकलाका प्रदर्शन करनेके उपरान्त भगवान्ने चाणूरकी भुजा पकड़कर उसको चारों ओर घुमाया और भूमिपर पटककर मार दिया। तथा बलरामजीने मुष्टिकको ऐसा चपेटा मारा कि वह रुधिर वमन करता हुआ मर गया। तदनन्तर श्रीकृष्ण और बलरामजीने शल, तोशल आदिको मारा यह देखकर बाकी सब मल्ल भाग गये।

---

१. भगवान्के प्रभावको न जाननेवाले कंसके पुरोहितादिको वे विराट् (प्राकृत) मनुष्य सदृश प्रतीत हुए। उनके शरीरपर हाथीके रक्तके छींटे पड़े थे इस कारण उन्हें बीभत्सरूप कहा है।

२. इससे प्रतीत होता है कि भगवान् बाल और किशोर अवस्थाके अन्तरालमें थे अर्थात् ११ वर्षके थे। देखिये भा० १०।४४।८ और १०।४५।८।

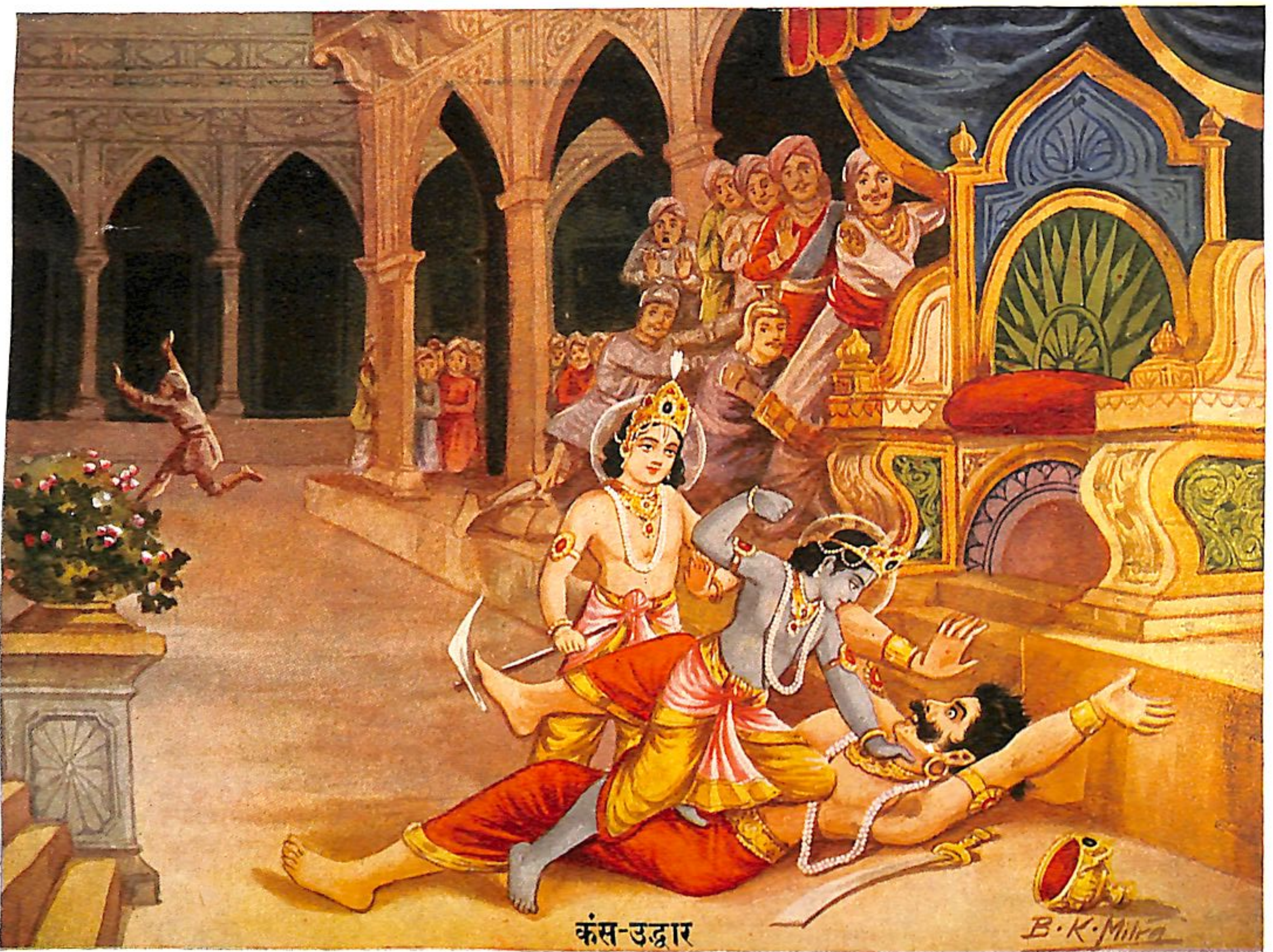
उस समय वहाँ बाजे बज रहे थे। मल्लोंका वध और पराजय होनेपर भगवान्‌की जयजयकार होने लगी। भगवान् और गोप उस बाजे-के साथ-साथ नृत्य करने लगे। कंसने बाजा बन्द करनेकी आज्ञा दी और कहा कि 'इन दुराचारी बलराम और कृष्णको नगरसे बाहर निकाल दो। नन्दको बाँध लो। वसुदेवको तुरन्त मार डालो, शत्रुओंके पक्षपाती पिता उग्रसेनको भी अनुचरोंसहित मार दो।'

भगवान्‌को भक्तोंका दुःख असह्य होता है। वे लघिमा सिद्धिके बलसे उछलकर अति शीघ्रतासे कंसके पास ऊँचे मचानपर जा चढ़े। कंसने मृत्युरूप भगवान्‌को देखकर हाथमें ढाल-तलवार उठायी। और चारों तरफ घुमाने लगा। तब जिस प्रकार गरुड़ सर्पको पकड़ता है उसी प्रकार भगवान्‌ने उसके केशोंको पकड़कर उसे ऊँचे मचानसे रंग-मण्डपमें गिरा दिया। फिर उसके ऊपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका भार लिये भगवान् स्वयं कूद पड़े। इससे कंसका देहावसान हो गया। और वह भगवत्कृपासे परम पदको प्राप्त हुआ। क्योंकि वह प्रतिदिन आठों पहर उद्विग्न बुद्धिसे खाते, पीते, बोलते, चलते, फिरते, सोते और श्वास लेते समय उन चक्रधारी ईश्वरको अपने सामने खड़ा देखता था। इस कारण अन्तमें उनके ही दुर्लभ रूपको प्राप्त हुआ[१]।

इसके उपरान्त कंसके कङ्क, न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाई बदला लेनेके लिये भगवान्‌की ओर दौड़े। किन्तु बलरामजीने बातकी बातमें उन सबका संहार कर दिया। कंसकी मृत्युका समाचार पाते ही उसकी रानियाँ शोक करती हुईं कृष्णके समीप आयीं। भगवान्‌ने उन्हें सान्त्वना दी और कंस आदिकी अन्त्येष्टिक्रिया करवायी। फिर भगवान्‌ने देवकी, वसुदेव और उग्रसेनको बन्धनसे छुड़ाकर उग्रसेनका राज्याभिषेक किया। तथा अपने माता-पितासे नम्रतापूर्वक, यह कहते हुए कि हम अपने

---

१. स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्वदन्वा विचरन् स्वपञ्छ्वसन्।
दरदर्श चक्रायुधमग्रतो यस्तदेव रूपं दुरवापमाप॥
(भा० १०। ४४। ३९)



कंस-उद्धार

बाल्यावस्थाके विनोदसे आपको सुख नहीं दे सके और न अबतक कंस-के कारागारसे आपकी मुक्ति ही कराकर कुछ सत्कार कर सके, क्षमा-याचना की। भगवान्‌की इस मोहिनी वाणीसे मोहित हुए देवकी और वसुदेवजी कुछ न कह सके और उनको गोदमें बैठाकर आनन्दके आँसू बहाने लगे।

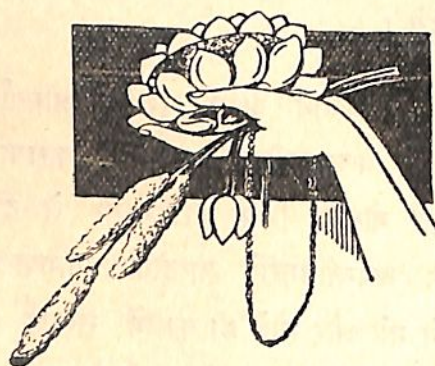
अब भगवान्‌को नन्दजीसे विदा होना था अतः वे उनके पास गये और आदरपूर्वक बोले 'आपने हमारे ऊपर अपने शरीरसे भी अधिक प्रेम किया है और आपहीने हमारा पालन-पोषण किया है, इस कारण आप और माता यशोदाजी हमारे माता-पिता हैं। अब आप सब गोपालोंके साथ गोकुलको पधारिये, हम भी कुछ दिन यहाँ अपने सुहृदों-को सन्तोष करके फिर आपके दर्शन करनेके लिये आयँगे।' भगवान्‌की यह वाणी सुनकर नन्दजी स्नेहसे विह्वल हो गये, उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और बलराम तथा कृष्णचन्द्रका आलिङ्गन करके गोपोंसहित गोकुलको चल दिये।

तदनन्तर वसुदेवजीने अपने पुरोहित श्रीगर्गाचार्यजीसे विधि-पूर्वक श्रीकृष्ण और बलरामजीका यज्ञोपवीत कराया और अपने पूर्व सङ्कल्पके अनुसार गोदान किया। तदनन्तर ये दोनों भाई ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अवन्तीनगरीमें सान्दीपनि नामवाले गुरुजीके यहाँ विद्याभ्यासके लिये गये और थोड़े ही कालमें सम्पूर्ण विद्याएँ पढ़ लीं। दक्षिणामें गुरुपत्नीने अपना पुत्र माँगा जो समुद्रमें डूबकर मर गया था। भगवान् समुद्रके पास गये और पता चला कि पञ्चजननामक राक्षसने पुत्रको मार डाला है। भगवान्‌ने उस राक्षसको मारा और उसके शरीरसे उत्पन्न हुए पाञ्चजन्य नामक शङ्खको ले लिया। गुरुपुत्र वहाँ भी न मिला। तब भगवान् यमलोकमें गये और उस शङ्खका शब्द किया। यमने भगवान्‌की बड़ी पूजा की और गुरुपुत्र उनको दे दिया। इस

प्रकार भगवान्‌ने गुरुजीको उनका पुत्र लाकर दे दिया। और फिर गुरुजीसे आज्ञा और आशीर्वाद पाकर मथुरा लौट आये।

भगवान्‌को मथुरामें पहुँचकर पाण्डवोंका स्मरण हुआ और अक्रूर-जीको उनके पास भेजनेका सङ्कल्प किया तथा उन्होंने अक्रूरजीसे जो उनके घर जानेकी प्रतिज्ञा की थी उसका भी स्मरण हुआ। अतः भगवान् उनके घर गये, अक्रूरजीने भगवान्‌की यथाविधि पूजा और स्तुति की जो इस प्रकरणमें लिखी गयी है।

अक्रूरजी कुछ काल हस्तिनापुरमें रहे। वहाँसे लौटकर पाण्डवोंकी विपत्तियाँ (कौरवोंका विष देना तथा लाक्षागृहमें जलानेका प्रयत्न करना इत्यादि) भगवान्‌को सुनायीं।



दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्‌दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१७॥
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥
आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।
ईयते बहुधा ब्रह्मञ्छ्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥१९॥
यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान् केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥

(व्यवहारदृष्टिका आश्रय करके कहते हैं—) आप दोनोंने मल्ल आदिसहित कंसका वध किया, अपने कुलको अपार दुःखसे बचा दिया और उन्नत किया यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १७ ॥

(परमार्थदृष्टिसे कहते हैं—) जगद्रूप आप दोनों प्रधान और पुरुषरूप जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण हैं, आपसे अतिरिक्त कोई भी कारण या कार्य नहीं है ॥ १८ ॥

हे परमेश्वर ! अपनी रजोगुणादि शक्तियोंसे आपहीके द्वारा उत्पन्न किये गये इस जगत्‌में कारणरूपसे आप प्रविष्ट होकर स्थित हैं और सब देखे गये और सुने गये पदार्थोंमें नाना प्रकारसे भासते हैं ॥ १९ ॥

(एक ही अनेक प्रकारका भासता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—) जिस प्रकार रूपान्तरसे अपनी ही अभिव्यक्तिके स्थानभूत इन चराचर भूतोंमें पृथिवी आदि प्रमुख तत्त्व कारणरूपसे एक होकर भी नाना भासते हैं। ऐसे आप कारणरूप भौतिकोंमें (नर-मृगादि शरीरोंमें अथवा बाल, युवावस्थाओंमें) नाना प्रकारसे प्रतीत होते हैं ॥२०॥

१. भा० १० । ४८

सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥
त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

अपने शक्तिरूप रज, तम और सत्त्वगुणोंसे आप ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं, किन्तु आप उन रज आदि गुणोंसे या सृष्ट्यादि कर्मोंसे बँधते नहीं; क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप हैं, अतः आपमें बन्धनका कारण अविद्या कहाँ है ? (तात्पर्य यह है कि माया अपने आश्रयको आवृत नहीं करती है) ॥२१॥

(आपके बन्धनकी बात ही क्या है ? अविद्योपाधिक जीवका भी वस्तुतः बन्धन नहीं है) क्योंकि देह, इन्द्रियादि उपाधियोंके अनिर्वचनीय (मिथ्या) होनेसे आत्माका जन्म नहीं है और जन्मका कारणभूत भेद-भाव नहीं है। (शङ्का—क्या यह अङ्गीकार करते हो कि मेरा मोक्ष है ? समाधान—आपका मोक्ष भी नहीं है क्योंकि प्रथम बन्ध सिद्ध हो तब मोक्ष बन सकता है)। इसलिये सिद्ध है कि आपका बन्ध या मोक्ष कुछ नहीं है। (शङ्का—मेरा ऊखलसे बन्धन और यमुनाकुण्डसे छुटकारा स्वयं देख चुके हो तब मेरे बन्ध और मोक्ष क्यों नहीं हैं ? समाधान—) आपमें जो बन्ध और मोक्ष-सा दीखता है, वह हमारे अज्ञानके कारणसे है ॥२२॥

(शङ्का—क्या भगवान्का अवतार और लीलाएँ कल्पित हैं ? समाधान—नहीं वह तो आपकी लीलाएँ हैं।) प्राणिमात्रके हितके लिये आपका कहा हुआ यह पुरातन वेदप्रतिपादित मार्ग है। जब-जब यह दुष्ट पाखण्डमार्गोंसे (वेदविरुद्ध मार्गोंसे) पीडित होता है तब-तब आप शुद्ध सत्त्वगुणी शरीरको धारण करते हैं ॥२३॥

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥
अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥
कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया-
द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।

हे प्रभो ! वही आप अब असुरोंके अंशभूत राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओंके संहारसे भूमिका भार दूर करनेके लिये तथा यादव-कुलके यशका विस्तार करनेके लिये इस भूलोकमें वसुदेवजीके घर अपने अंशभूत बलभद्रजीके साथ अवतीर्ण हुए हैं ॥२४॥

हे प्रभो ! हे अधोक्षज ! सब ब्रह्मा आदि देवता, पितर, भूत और राजा आपकी मूर्ति हैं, और आपका चरणजल (गङ्गाजी) तीनों लोकोंको पवित्र करता है, ऐसे जगद्गुरु आपने जिन गृहोंमें प्रवेश किया है (जहाँ आप आये हैं) वे हमारे गृह आज तपोवनसे भी अधिक पुण्य तीर्थ हो गये हैं ॥२५॥

(भगवान्‌को अपने घरमें आये हुए देख अक्रूरजी कृतकृत्य होकर कहते हैं—) कौन ऐसा विवेकी है, जो आप भक्तवत्सल, सत्यवक्ता, सुहृद्, कृतज्ञको छोड़कर दूसरेके शरणमें जायगा ? क्योंकि आप भक्तोंके

सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥
दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

समस्त अभिमत फल तो देते ही हैं किन्तु अपने स्वरूपको भी उनके अधीन कर देते हैं । जिसका कि वृद्धि या ह्रास कुछ नहीं होता है ॥२६॥

हे जनार्दन ! जिनके स्वरूपका ज्ञान सनकादिक योगेश्वरोंको और इन्द्रादि देवेश्वरोंको भी दुर्लभ है, ऐसे आप बड़े सौभाग्यसे मेरे घरमें दृष्टिगोचर हुए हैं। मेरे ऊपर पुत्र, स्त्री, धन, माता, पिता, घर और देहके मोहपाशरूपसे जो आपकी माया है उसको आप शीघ्र नष्ट कर दें ॥२७॥



चतुर्थ प्रकरण

मथुरा छोड़ना

राजा मुचुकुन्दकृत स्तुति

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतशोकं पाहि मापन्नमीश[2] ॥

अभी भगवान्‌के अवतारका बहुत प्रयोजन शेष था । व्रजसे बाहर रहनेवाले बहुतसे दुष्ट शेष थे, जिनमें मगध देशका राजा कंसका श्वशुर जरासन्ध मुख्य था । जरासन्धने जब अपनी लड़कियोंसे उनके पति कंसका वध करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र अन्तपर्यन्त सुना तो वह क्रोधके आवेशमें आकर भगवान्‌से युद्ध करनेके लिये तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर चला । उसने चारों ओरसे मथुराको घेर लिया । भगवान् और बलरामजीने युद्ध करके उसकी सारी सेनाका संहार कर दिया और जरासन्धको बलरामजीने बाँध लिया, किन्तु श्रीकृष्णजीने उसको इसलिये छुड़ा दिया कि वह और भी बहुतसे दुष्टोंकी सेना इकट्ठी करके लावेगा और उनका भी संहार अनायास ही हो जायगा ।

जरासन्ध खिन्नचित्त होकर वनकी ओर भाग गया किन्तु अपने मित्र शिशुपालादिके समझानेपर फिर युद्धके लिये मथुरामें आया और इस बार भी अपनी सेनाका संहार कराकर लौट आया, इस प्रकार वह सत्रह बार भगवान्‌से हारकर भागा ।

---

१. भा० १० । ५०-५१

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ५९ की टीकामें देखिये ।

भगवान्‌की लीला अति अद्भुत है। वे बड़े ही कौतुकी हैं। उन्होंने अठारहवीं बार यह ठानी कि इस समय जरासन्धके सामनेसे भाग जाना चाहिये। उस समय ऐसे ही सामान जुट गये। जिनके कारण मानो श्रीकृष्णचन्द्र असमञ्जसमें पड़ गये। एक ओर तो कालयवननामक[1] वीर तीन करोड़ म्लेच्छोंके साथ भगवान्‌से लड़नेके लिये मथुराके समीप आ गया और दूसरी ओरसे जरासन्धके आनेकी भी सूचना मिली। ऐसी स्थितिमें यदि भगवान् एक ओर युद्ध करते हैं तो दूसरा आक्रमणकारी मथुराको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसलिये उन्होंने विश्वकर्माद्वारा समुद्रके बीचमें द्वारकानामक एक नगर बनवाया। इस नगरकी शोभा निराली थी। प्रत्येक घरका द्वार राजमार्गकी ओर खुला था। तथा पीछेकी ओर गलियाँ तथा दोनों बगलोंमें आँगन थे। जहाँ तहाँ नगरमें और घरोंमें देव-मन्दिर थे। भगवान्‌ने अपनी मायासे सब मथुरावासियोंको द्वारकामें पहुँचा दिया और आप कालयवनसे लड़नेके लिये मथुरामें आये।

भगवान् बिना आयुध धारण किये नगरके बाहर निकले। कालयवनने उनको पहचान लिया और भगवान्‌को पकड़नेके लिये पैदल दौड़ा। उसको देखकर भगवान् भागे, और कालयवन भी उनके पीछे दौड़ा। दोनोंमें केवल एक पगका अन्तर रहता था। तथापि कालयवन उनको न पकड़ सका। सामने एक गुफा मिली, भगवान्‌ने उसमें प्रवेश किया। कालयवन भी उसमें घुसा और वहाँ एक पुरुषको सोया हुआ देखा। कालयवनने सोचा कि भगवान् हो साधुका वेश बनाये सो रहे हैं, उसने एक ठोकर मारी तब वह सोया हुआ पुरुष जाग उठा। धीरे-धीरे नेत्र खोलकर सब ओर देखने लगा तो सामने कालयवनको देखा। उसकी क्रोधयुक्त दृष्टि पड़ते ही वह (कालयवन) भस्म हो गया।

ये मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द थे। इन्होंने देवताओंकी ओरसे

१. कालयवन एक बड़ा वीर था। उसको यह घमण्ड हुआ कि पृथिवीमें मुझसे बढ़कर और कोई योद्धा नहीं है। एक समय उसने नारदजीसे सुना कि यादव मेरे समकक्ष हैं। अतः अपनी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई कर दी। नारदजीने भगवान्‌के रूपादिकका भी वर्णन कालयवनसे कर दिया था।

दैत्योंके साथ बहुत कालपर्यन्त अहर्निश युद्ध करके उनको पराजित किया था। इस लड़ाईमें इतना समय लगा कि मुचुकुन्दके स्त्री-पुत्रादि और सकल प्रजाका अन्त हो गया। मुचुकुन्दने देवताओंसे यह वर माँगा कि मैं जितना चाहूँ सुखपूर्वक सोता रहूँ और जो मुझे जगावे उसका मेरी दृष्टि पड़ते ही नाश हो जाय। इस प्रकार कालयवनका नाश होनेके अनन्तर श्रीभगवान् प्रकट हुए। मुचुकुन्दने भगवान्‌का दर्शन प्राप्त कर सब वृत्तान्त जान भगवान्‌की स्तुति की। भगवान् उसकी भक्ति देखकर प्रसन्न हुए और उसको उपदेश दिया कि चित्तको भगवदाकार कर पृथिवीपर विचरो। इसका कारण यह था कि उसने अपने राज्यकालमें मृगयामें पशुहिंसा की थी इस कारण उसके मोक्षका समय नहीं आया था। भगवान्‌ने मुचुकुन्दसे यह भी कहा कि दूसरे जन्ममें तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणका जन्म पाकर सब प्राणियोंमें मित्रता[1] का व्यवहार करनेसे मुक्त हो जाओगे।

कालयवनकी मृत्युके उपरान्त जब भगवान् मथुरामें लौटकर उसके साथियोंका संहार कर रहे थे तभी जरासन्धने अपनी तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर धावा किया। भगवान् भागे और जरासन्ध भी उनके पीछे अपशब्द कहता हुआ दौड़ा। भगवान् और बलरामजी भागते हुए गन्धमादन पर्वतपर चढ़ गये। जरासन्धने पर्वतमें आग लगा दी और भगवान्‌को जला हुआ समझकर लौट गया।



१. यथा स्मृतिः 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'।

विमोहितोऽयं जन ईशमायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥४७॥
लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४८॥
ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४९॥

हे भगवन्! यह स्त्री-पुरुषरूप जनसमुदाय आपकी मायासे मोहित होकर संसारकी ओर प्रवृत्त हो रहा है (आपका परमार्थ स्वरूप नहीं देखता हुआ आपका भजन नहीं करता है) किन्तु परस्पर धोखा खाकर सुखकी इच्छासे दुःखदायक घरोंमें आसक्त होता है ॥ ४७ ॥

(कामसुख तो सूकरादि योनियोंमें भी है और भगवद्भजन तो मनुष्यशरीरके अतिरिक्त अन्य योनियोंमें नहीं है। अतः कहते हैं कि जो मनुष्ययोनिको प्राप्त करके आपको नहीं भजते वे अतिमूढ़ हैं) हे अनघ! अनायाससे (आपके अनुग्रहसे) इसी कर्मभूमि (भारतवर्ष) में सकल अङ्गयुक्त और दुर्लभ इस मनुष्यशरीरको पाकर जो दुर्बुद्धि पुरुष आपके चरणकमलका भजन नहीं करता है, वह विषयसुखोंमें आसक्त होकर उसी प्रकार गृहरूपी अन्धकूपमें पड़ता है जैसे पशु तृणके लोभसे अन्धे कुएँमें पड़ता है ॥ ४८ ॥

(अब कहते हैं कि मेरी भी उन्हींकी-सी दशा है जिनकी मैं निन्दा कर रहा हूँ) हे अजित! राज्यकी सम्पदासे बढ़ा हुआ मदवाला मैं मरणशील शरीरको आत्मा समझकर पुत्र, स्त्री, भण्डार तथा भूमिमें अत्यन्त आसक्त रहा हूँ, मेरा यह काल राज्य आदिकी अपार चिन्तासे निष्फल बीत गया है ॥ ४९ ॥

१. भा० १०। ५१

कलेवरेऽस्मिन्घटकुड्यसन्निभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वागणयन्सुदुर्मदः ॥५०॥
प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५१॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५२॥
निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः ।

(अपना मदोन्मत्त होना कहते हैं—) दुष्ट मदसे युक्त हुआ और घट या भीतके समान अतितुच्छ इस जड़ देहमें राजाका अभिमान रखनेवाला मैं रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेनासहित भूमिमें कालरूप आपको कुछ न गिनकर, विचरता रहा । (इस कारण यह काल निष्फल गया) ॥ ५० ॥

यह कार्य ऐसा करना चाहिये और वह कार्य ऐसा करना चाहिये इस प्रकार कार्यसम्बन्धिनी चिन्तामें संलग्न, अतिलोभयुक्त और विषयों-की उत्कट इच्छावाले पुरुषपर सावधानीसे रहनेवाले कालरूप आप इस तरह आक्रमण करते हैं, जिस तरह कि भूखसे व्याकुल अपने जबड़ेको चाटनेवाला साँप अपने भट्ठे में अन्न भरनेवाले चूहेपर आक्रमण करता है॥५१॥

जीवित अवस्थामें राजा नामसे प्रसिद्ध, सुवर्णके आभूषणोंसे भूषित, रथोंमें या मदोन्मत्त हाथियोंके ऊपर बैठकर भ्रमण करनेवाला यह शरीर समय पाकर दुरत्यय कालरूप आपके आक्रमण करनेपर विष्ठा, कीट या भस्मके नामसे पुकारा जाता है । (भाव यह है कि मरनेके उपरान्त इस शरीरको किसी जानवरने खा लिया तो विष्ठा हो जायगा, यदि कहीं पड़ा रहा तो उसमें कीड़े पड़ जायँगे, यदि जला दिया तो भस्म हो जायगा) ॥५२॥

(चक्रवर्ती राजा भी परतन्त्र है) हे ईश ! सम्पूर्ण दिशाओंको जीत-कर, शत्रुजन्य विवादकी सम्भावनासे रहित, श्रेष्ठ सिंहासनमें बैठा हुआ और

गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५३॥

करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।

पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५४॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५५॥

मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।

यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ॥५६॥

अपने बराबरीवाले राजाओंसे पूजित हुआ मनुष्य, ग्राम्य सुखसे युक्त गृहोंमें स्त्रियोंके क्रीड़ामृगके समान नाचता फिरता है ॥ ५३ ॥

(अति तृष्णावाले चक्रवर्ती राजाको भोग भी प्राप्त नहीं होता) मनुष्य अगले जन्ममें भी चक्रवर्ती होनेके लिये या इन्द्रपदके लिये विषयभोगको छोड़कर तपमें प्रवृत्त हो नाना शुभ कर्म एवं दान करता है इस प्रकार बढ़ी हुई कामनावाला वह पुरुष इस लोकमें भी सुख भोगनेमें समर्थ नहीं होता ॥५४॥

(आठ श्लोकोंसे बहिर्मुखोंके संसारका प्रपञ्च प्रतिपादन करके अब उसकी भक्तिसे निवृत्ति बताते हैं—) हे अच्युत ! आपके अनुग्रहसे जब संसारमें पड़े हुए मनुष्यके बन्धनका नाश होनेका समय आता है तब सत्सङ्ग प्राप्त होता है । जब सत्सङ्ग प्राप्त हुआ तब सर्वसंगसे निवृत्त होनेपर कार्य-कारणके नियन्ता सद्‌गतिरूप आपके प्रति भक्ति उत्पन्न होती है । (और वह मुक्त हो जाता है ।) ॥५५॥

मेरा तो आपके मिलनेके पहले अनायास ही राज्यादि-सम्बन्ध छूट गया, अतः हे ईश ! इसको मैं आपका अनुग्रह ही मानता हूँ । क्योंकि अकेले विचरनेवाले और तप करनेके लिये वनमें जानेकी इच्छा करनेवाले विचारवान् चक्रवर्ती राजा भी इस राज्यसम्बन्धसे छुटकारा पानेके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं ॥५६॥

न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥५७॥
तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५८॥
चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतशोकं पाहि मापन्नमीश ॥५९॥

(भगवान्ने 'वर माँग' कहा था, उसका उत्तर मुचुकुन्द देते हैं––) हे विभो ! हे हरे ! सब भोगोंके त्यागी अकिञ्चन भी जब जिसकी प्रार्थना करते हैं, उस आपके चरण-सेवनके अतिरिक्त अन्य वरकी मैं इच्छा नहीं करता हूँ—क्योंकि आप-जैसे मोक्ष देनेवालोंकी आराधना करके कौन ऐसा विचारशील पुरुष होगा, जो अपनेको बन्धनमें डालनेवाले विषयभोगको माँगेगा ? ॥५७॥

हे ईश ! रजोगुण, तमोगुण या सत्त्वगुणसे प्राप्त ऐश्वर्यादिका त्याग करके मैं ज्ञानस्वरूप, निर्गुण, निरञ्जन और अद्वय परमपुरुष आपकी शरणमें आया हूँ ॥५८॥

हे ईश ! हे ज्ञानद ! मैं इस संसारमें चिरकालके कर्मफलोंसे पीड़ित हूँ, उनकी दत्त वासनाओंसे तपाया हुआ हूँ, जिनके इन्द्रियरूप छः शत्रु पराजित नहीं हुए हैं और इसी कारण अशान्त भी हूँ, दैवयोगसे आप परमात्माके सत्य, अभय और शोकरहित चरणकमलकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये ॥५९॥



चौथा अध्याय
द्वारकालीला
प्रथम प्रकरण
रुक्मिणीके साथ विवाह[1]
रुक्मिणीका पत्र[2]

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून्व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥

मुचुकुन्दजी तप करनेके निमित्त बदरिकाश्रम चले गये। भगवान् जरासन्धसे न लड़े और रण छोड़कर द्वारकाको भाग आये। द्वारकावासियोंने भगवान्का बड़ा स्वागत किया और ब्राह्मणोंने जयघोष किया। यह एक अद्भुत बात है कि भगवान्का युद्धक्षेत्रमें जरासन्धके सामनेसे भागना भी उनकी कीर्तिका स्मारक हुआ। इसी कारण दक्षिण प्रान्तमें उनका नाम 'रणछोड़' पड़ा। वहाँके लोग आजतक इसी नामसे भगवान्का अर्चन, पूजन करते हैं।

इधर द्वारकामें एक ब्राह्मण भगवान्से मिलनेके लिये एक पत्र लेकर आया। यह पत्र विदर्भ देशके राजा भीष्मककी कन्या रुक्मिणीका था, इस कन्याने भगवान्के चरित्र और कीर्ति बहुतसे लोगोंसे सुनी थी। इस कारण इसने निश्चय कर लिया था कि मैं भगवान्के साथ ही विवाह

---

१. भा० १०। ५२ से ५४ तक

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ४३ की टीकामें देखिये।

करूँगी। भगवान्‌के कानोंमें भी उसके शील, गुण और सुन्दरताकी ख्याति पड़ चुकी थी और उन्होंने भी उसे अपने योग्य समझ रक्खा था। राजा भीष्मक भी यही चाहते थे कि इन दोनोंका विवाह हो। किन्तु उसके पुत्र रुक्मीकी यह तीव्र इच्छा थी कि रुक्मिणी शिशुपालको दी जाय। अन्तमें यही निश्चय स्थिर भी रहा। भ्राताका यह निश्चय जानकर रुक्मिणी चित्तमें अत्यन्त दुःखी हुई और उसने श्रीकृष्ण भगवान्‌को पानेका एक उपाय सोचा। एक सुशील ब्राह्मणको पत्र देकर शीघ्रतासे भगवान्‌को लिवा लानेके लिये उसने भेजा। भगवान् पत्र पाते ही ब्राह्मण-सहित अपने दिव्य रथमें बैठकर विदर्भ देशको चल दिये; क्योंकि विवाहके तीन ही दिन बाकी रह गये थे।

भगवान्‌के जानेके उपरान्त बलरामजीने भी कलहकी आशङ्का समझ कुछ यादवोंकी सेना लेकर विदर्भ देशको प्रस्थान किया। राजा भीष्मकने बड़े आदरसे भगवान्‌के ठहरनेके स्थान और भोजनादिका प्रबन्ध कर दिया, क्योंकि उन्होंने समझा कि ये विवाहके उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये आये हैं। उधर शिशुपाल भी अपने मित्र जरासन्ध एवं शाल्व आदि राजाओं तथा अगणित सेनाके साथ वहाँ पहुँचा हुआ था।

इधर रुक्मिणीजी सूर्योदयसे पहले भगवान्‌के आनेकी प्रतीक्षा कर रही थीं। वे ब्राह्मणको न देखकर चिन्तित हो गयीं और कई प्रकारकी तर्कना करने लगीं। उन्होंने विचारा कि 'क्या भगवान्‌ने मेरा पत्र भेजना उद्धतपना समझा? क्या मुझे भगवान्‌ने अपने अनुरूप नहीं समझा? क्या मैं ऐसी भाग्यहीना हूँ कि विधाता, रुद्र और गौरी भी मेरी सहायिका नहीं हो रही हैं?'

वह बाला जिसका चित्त गोविन्दने हर लिया है, दुःखके आँसुओं-से भरे नेत्रोंको मूँदकर बैठ गयी। इस प्रकार गोविन्दके आनेकी बाट देखनेवाली रुक्मिणीजीको शुभ सूचना देनेके लिये उनकी बायीं भुजा और बायीं आँख फड़कने लगी, तब रुक्मिणीजीने आँखें खोलीं तो उस

ब्राह्मणको आते देखा और उसके लक्षण देखकर भगवान्‌के आगमनका अनुमान कर लिया ।

ब्राह्मणने आकर रुक्मिणीजीसे कहा 'श्रीकृष्ण आ गये हैं' और उनकी प्रशंसा भी की तथा यह भी बतलाया कि वे युद्धमें समस्त राजाओं-को जीतकर उसका पाणिग्रहण करेंगे । यह सुनकर रुक्मिणीजी उस ब्राह्मणपर इतनी प्रसन्न हुईं कि उन्हें उसके उपकारका बदला चुकाने-के लिये सर्वस्वदान भी तुच्छ जान पड़ा अतः उस समय उन्होंने केवल नमस्कार ही किया ।

तदनन्तर अपनी कुलप्रथाके अनुसार रुक्मिणीजी अम्बिकादेवीकी पूजा करनेके लिये पैदल ही चलीं । इस समय वे मौनव्रत धारण किये हुए थीं और श्रीभगवान्‌के चरणोंका ध्यान करती हुई अपनी सखी तथा चेरियोंके मध्यमें चारों ओरसे अस्त्र-शस्त्रधारी योद्धाओंसे घिरी हुई जा रही थीं । मन्दिरमें पहुँचकर उन्होंने यथाविधि पूजा की और यह वर माँगा कि भगवान् मेरे पति हों । पूजा करके जब रुक्मिणीजी बाहर आयीं और धीरे-धीरे चलते हुए उन्होंने अपनी दृष्टि इधर-उधर डाली तो वहाँ जो वीर थे वे मोहित हो गये । इस समय रुक्मिणीजीकी दृष्टि अकस्मात् भगवान्‌के ऊपर पड़ी तो वे उनके रथकी ओर जानेको उद्यत हुईं । भगवान्‌ने अपना रथ उनकी ओर बढ़ाया और शिशुपालादि सब वीरोंके देखते-देखते रथ खड़ाकर रुक्मिणीजीका हाथ पकड़ उन्हें अपने रथमें चढ़ा लिया और तुरन्त वहाँसे चल दिये ।

तब जरासन्ध आदि राजा तथा सब सेना भगवान्‌के पीछे दौड़ी और बाणोंकी वर्षा करने लगी । इन सबको श्रीबलदेवजी आदि यादवोंने मार भगाया । इससे शिशुपाल बहुत हताश हुआ । तब जरासन्धने लौटकर उसे समझाया 'तुम चिन्ता न करो, दैववश यह अनहोनी बात हो गयी । देखो मैंने सत्रह बार युद्धमें परास्त होकर फिर अठारहवीं बार

श्रीकृष्णको जीता था, किन्तु इस समय दुर्दैववश हम यादवोंकी थोड़ी-सी सेनासे ही तिरस्कृत हो गये हैं । जब हमारा समय अनुकूल होगा तो हम भी इनको जीत लेंगे । शिशुपालादि तो समझकर लौट गये किन्तु रुक्मी अपनी बहिनको छुड़ानेके लिये यह प्रतिज्ञा करके भगवान्के पीछे दौड़ा कि यदि मैं रुक्मिणीको न ला सका तो कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा, अन्तमें ऐसा ही हुआ । वह परास्त हुआ और भगवान्ने उसके दाढ़ी-मूँछ मुड़ाकर उसे छोड़ दिया । रुक्मी उसी स्थानपर भोजकट नामक एक नगर बसाकर रहने लगा ।

भगवान् रुक्मिणीसहित सकुशल द्वारकामें पहुँच गये और वहाँ वैदिक रीतिके साथ रुक्मिणीजीसे विवाह किया । रुक्मिणीजीने भगवान्को जो पत्र लिखा था वह आगे दिया जाता है ।



श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥३८॥
तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ।

हे भुवनसुन्दर ! हे अच्युत ! सुननेवाले मनुष्योंके कर्णछिद्रसे अन्तःकरणमें प्रवेश करके तीनों तापोंको हरनेवाले तुम्हारे गुणोंको सुनकर तथा नेत्रधारी पुरुषोंके नेत्रोंको सकल प्रयोजन प्राप्त करानेवाले तुम्हारे रूपको सुनकर, मेरा निर्लज्ज चित्त आपमें आसक्त हो गया है ॥३७॥

(शङ्का—ऐसा उद्धतपना कुलीन कन्याके लिये योग्य नहीं है—समाधान—) यह सन्देह मनमें मत लाओ, क्योंकि हे मुकुन्द ! हे नृसिंह ! ऐसी कौन-सी कुलीन, बहुगुणवती तथा धैर्यवती कन्या है जो सत्कुलमें उत्पन्न, सुन्दरस्वभाव और रूपयुत, सर्वविद्यावान्, धनाढ्य और अनुपम तेजस्वी तथा सम्पूर्ण जन्तुओंको आनन्द देनेवाले आपको विवाहके योग्य कालमें पतिरूपसे न वरेगी ? अर्थात् सभी वरेंगी अतः मुझमें दोषकी आशङ्का नहीं होनी चाहिये ॥३८॥

हे विभो ! इस कारण मैंने आपको अपना पति वर लिया है और अपना देहादि भी आपको पत्नीरूपसे अर्पण कर दिया है। आप यहाँ आकर मुझे

१. भा० स्क० १० अ० ५२

मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
　　　　गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३९॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
　　　　गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान् परेशः ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
　　　　गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥४०॥
श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
　　　　गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
　　　　मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥

अपनी भार्या बनाकर ले जाइये । हे अम्बुजाक्ष ! आप वीर हैं, आपके भागको शिशुपाल सिंहके भागको शृगालके समान शीघ्र आकर स्पर्श न करे ॥ ३९ ॥

यदि मैंने किसी जन्ममें पूर्त[1], इष्ट[2], दान, नियम[3], व्रत या देव, विप्र और गुरुकी पूजा आदिसे भगवान् परमेश्वरकी बड़ी आराधना की है तो उससे प्रसन्न हुए आप गदाग्रज (श्रीकृष्ण) ही यहाँ आकर मेरा पाणिग्रहण करें, दूसरे शिशुपालादि न करें ॥ ४० ॥

(शङ्का—तुम्हारे बान्धवोंने तो तुमको शिशुपालादिको दे दिया है भगवान् वहाँ आकर क्या करेंगे ? समाधान—) हे अजित ! विवाहके एक दिन पहले बिना सेनाके गुप्तरूपसे आप विदर्भ देशमें आकर, फिर सेनापतियोंसे चारों ओर घिरकर, तदनन्तर शिशुपाल, जरासन्धादि राजाओंकी सेनाका विध्वंस करके राक्षसविधिसे विवाह करके (शङ्का—राक्षसविवाहमें तो मूल्य देकर कन्याको ले जाते हैं, समाधान—) पराक्रमरूपी मूल्य देकर मुझे ले जाइये ॥ ४१ ॥

१. कूपादि बनवाना । २. अग्निहोत्रादि । ३. तीर्थयात्रादि ।

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥४२॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून्व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥४३॥

यदि आप यह कहें कि तुम्हारे बन्धु आदिका वध किये बिना ही अन्तःपुरमें रहनेवाली तुमको मैं कैसे विवाहकर ला सकता हूँ ? तो इसका उपाय मैं बतलाती हूँ—इस कुलमें यह प्रथा है कि विवाहके पहले दिन कुलदेवीकी पूजाकी बड़ी यात्रा होती है, उस अवसरपर नववधू गिरिजाकी पूजा करनेके लिये नगरके बाहर जाती है (वहाँ मेरे हरण करनेमें बन्धु आदिकोंका वध नहीं होगा) ॥ ४२ ॥

(यदि यह शङ्का हो कि अनर्थोत्पादक आग्रहसे क्या लाभ, शिशुपाल भी गुणकर्मसे प्रख्यात है; तो समाधान करती है—) हे अम्बुजाक्ष ! आपके चरण-कमलकी रेणुमें महादेव तथा उनके समान अन्य ब्रह्मादिक भी अपने अज्ञानको दूर करनेके लिये स्नान करनेकी इच्छा करते हैं, आपका प्रसाद यदि मैं न पाऊँगी तो उपवासादि व्रतसे देहको सुखाकर प्राणोंको बार-बार अनेक जन्मतक त्यागती रहूँगी, तो किसी जन्ममें आपका प्रसाद मिलेगा ही ॥ ४३ ॥



द्वितीय प्रकरण

श्रीकृष्णजीके विवाह

जाम्बवान् तथा भूमिदेवीकृत स्तुतियाँ

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥२६॥
त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम् ॥२७॥
यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः ।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥२८॥

भगवान् उस समय युवावस्थामें स्थित थे, उनके रुक्मिणीजीसे एक पुत्र हुआ, उसका नाम प्रद्युम्न रक्खा गया । यह कामदेवका, जिसको शिवजीने भस्म कर दिया था, अवतार था । कामदेवका शत्रु शम्बरासुर

---

१. भा० १० । ५५ से ५९ तक

२. भा० १० । ५६ में जाम्बवान्की की हुई स्तुतिका अर्थ ।

मैं जानता हूँ कि सब भूतोंका जो प्राणबल, इन्द्रियशक्ति, अन्तःकरणशक्ति और शरीरसामर्थ्य है, वह सब तुम्हीं हो, तुम ही विष्णु, पुराणपुरुष (निमित्तकारण) प्रभविष्णु, (उपादानकारण) और अधीश्वर (सबके नियन्ता) तथा संहारकर्ता हो ॥ २६ ॥

प्रद्युम्नको उत्पन्न होनेके दशवें दिन चुराकर ले गया, और उसे समुद्रमें डाल दिया।

वहाँ प्रद्युम्नको एक मत्स्य निगल गया किन्तु वह मत्स्य दैवयोगसे धीवरोंके हाथ लगा और उन्होंने उसको शम्बरासुरको भेंट किया। रसोइयोंने उस मत्स्यको काटा तो उसके पेटसे एक सुन्दर बच्चा निकला। शम्बरासुरके भोजनालयकी अधिष्ठात्री मायावती कामदेवकी स्त्री रतिकी अवतार थी। उसने प्रद्युम्नको पहचान लिया और बिना शम्बरासुरको जनाये वह उसका पालन करने लगी। जब प्रद्युम्न बड़े हुए तब मायावतीके अनुरोधसे उन्होंने शम्बरासुरका वध किया। और फिर दोनों स्त्री-पुरुष आकाशमार्गसे विमानद्वारा द्वारकामें आ गये।

रुक्मिणीके विवाहके पश्चात् भगवान्‌ने सत्राजित्‌की पुत्री सत्यभामासे विवाह किया। यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—सत्यभामाके पिता सत्राजित्‌ने सूर्यका तप किया था और सूर्यनारायणने उन्हें स्यमन्तक नामकी दिव्य मणि दी थी। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने सत्राजित्‌से कहा कि यह मणि राजाके योग्य है अतः तुम इसे उग्रसेनजीको दे दो। किन्तु उसने मोहवश ऐसा न किया।

एक दिन सत्राजित्‌का भाई प्रसेन स्यमन्तक मणिको कण्ठमें बाँधे घोड़ेपर सवार हो वनमें मृगयाके निमित्त गया। वहाँ एक सिंहने प्रसेनको घोड़ेसहित मार दिया। उसी पर्वतकी गुफामें जाम्बवान् भी रहते थे,

---

तुम ही ब्रह्मादिके निमित्त और महदादि रचने योग्य पदार्थोंके परमार्थभूत उपादान कारण हो। यद्यपि तुम असङ्ग हो तथापि नाश करनेवालोंके नियन्ता काल और सकल जीवोंके उपादान हो॥ २७॥

जिनके किञ्चित् क्रोधयुक्त कटाक्षमात्रसे उस समुद्रने मार्ग दिया जिसमेंके बड़े-बड़े मत्स्य खलबला उठे थे, जिन्होंने समुद्रपर पुल बँधवाकर अपना यश स्थापित किया, लङ्का भस्म कर डाली और जिनके बाणोंसे कटकर रावणादिके शिर भूमिपर गिरे वे मेरे स्वामी श्रीरघुनाथजी तुम्हीं हो इस कारण मेरा अपराध क्षमा करो॥ २८॥

वे सिंहको मारकर उस मणिको लेकर अपनी गुफामें चले गये। जब प्रसेन नहीं लौटा तो सत्राजित्ने समझा कि यह भगवान्‌हीकी करतूत है। तब धीरे-धीरे यह समाचार भगवान्के कानोंतक पहुँचा। वे कई आदमियोंको साथ ले उसे वनमें ढूँढ़नेके लिये गये। वहाँ उन्होंने एक गुफाके सामने प्रसेनको मरा हुआ पाया। भगवान् गुफामें घुस गये और जाम्बवान्‌से युद्ध होने लगा। अन्तमें जाम्बवान्ने परास्त हो भगवान्को पहचान लिया। उन्होंने भगवान्की स्तुति की (जो इस प्रकरणके आदिमें लिखी है) और स्यमन्तकमणिसमेत अपनी रूपवती कन्या जाम्बवती भगवान्को दे दी। भगवान्ने द्वारकामें लौटकर उसके साथ विवाह किया और वह मणि सत्राजित्को दी। इससे सत्राजित् बहुत लज्जित हुआ और उसने अपनी पुत्री सत्यभामाका विवाह श्रीकृष्णजीके साथ कर दिया तथा स्यमन्तकमणि भी दहेजमें दे दी। किन्तु भगवान्ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि आपके कोई पुत्र नहीं है, अतः अन्तमें तो यह मणि हमें मिल ही जायगी।

इस मणिके विषयमें और भी कुछ बातें ज्ञातव्य हैं। सत्यभामाका विवाह शतधन्वाके साथ होनेवाला था। किन्तु उसके साथ नहीं हुआ इसलिये उसने रात्रिके समय सोते हुए सत्राजित्को मार डाला और स्यमन्तकमणि ले ली। इस समय भगवान् इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये गये हुए थे। अपने पिताका वध हुआ देख सत्यभामाजी तुरन्त उनके पास पहुँचीं और अत्यन्त विषादपूर्वक भगवान्‌से अपने पिताका बदला लेनेके लिये प्रार्थना की। भगवान् शतधन्वाका वध करनेको लौट आये। शतधन्वाने अक्रूरजी तथा कृतवर्मासे सहायता माँगी, किन्तु उन्होंने भगवान्‌से विरोध करना अच्छा नहीं समझा। अन्तमें निराश हो शतधन्वा मणिको अक्रूरजीके पास रखकर भाग गया। भगवान्ने पीछा करके उसका प्राणान्त कर दिया किन्तु उसके पास मणि न मिली। उन्होंने लौटकर बलरामजीसे कहा—'मैंने उसे व्यर्थ ही मारा उसके पास मणि नहीं थी।' बलभद्रजीने कहा—'वह किसीके पास रख दिया होगा, तुम द्वारका लौटकर उसका पता लगाओ। मैं राजा

विदेहसे मिलना चाहता हूँ, वे मेरे बड़े प्रिय हैं।' यह कहकर वे मिथिला चले गये।

इधर अक्रूरजी भी तीर्थयात्राको निकल गये। वे काशी आदि देशोंमें जहाँ-जहाँ जाते थे वहीं स्यमन्तकमणिके प्रभावसे सारी समृद्धियाँ प्राप्त हो जाती थीं। तथा वहाँके महामारी आदि सारे उपद्रव दूर हो जाते थे। अक्रूरजी उस मणिसे प्राप्त हुए सुवर्णकी वेदियाँ बनाकर नित्य यज्ञ करते थे और बड़ा दान किया करते थे। इधर स्यमन्तक-मणिके न रहनेसे द्वारकामें दुष्काल उपस्थित हुआ। तब बहुतसे वृद्धजनोंकी सम्मतिसे भगवान्ने अक्रूरजीको द्वारकामें बुलाया। उनके आते ही यथेष्ट वृष्टि हुई, और सब प्रकार सुकाल हो गया। इससे भगवान् समझ गये कि मणि अक्रूरजीके पास है। अतः उन्होंने उनको बुलाकर कहा 'आप सब सभासदोंके सामने मणि दिखला दें। तब अक्रूरजीने सारी सभाके सामने मणि भगवान्को दे दी। इससे भगवान्-पर लगा हुआ दोष निवृत्त हो गया। भगवान्ने यह मणि अक्रूरजीके पास ही रहने दी क्योंकि उसका प्रयोग बड़े आचारवान्हीसे हो सकता था।

इस मणिका इतिहास बड़ा गूढ़ है। भगवान्की लीला अति गहन है। इस कथासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ द्रव्यका सम्पर्क हुआ—वहाँ राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि अनर्थ उसके साथ-साथ स्वयं ही आ जाते हैं।

सत्यभामाके विवाहके पीछे भगवान्ने कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणासे विवाह किया। इनमें विशेष उल्लेखनीय सत्याका विवाह है। उसके पिता राजा नग्नजित्ने यह प्रण किया था कि जो पुरुष अकेला ही मेरे सात बलवान् साँडोंको एक साथ नाथ देगा उससे ही मैं अपनी कन्याका विवाह करूँगा। भगवान्ने अनायास ही सातों साँडोंको एक ही रस्सीसे एक साथ नाथकर सत्याके साथ विवाह किया।

इस प्रकार भगवान्‌की रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा ये आठ पटरानियाँ हुईं। इनके अतिरिक्त भगवान्‌ने और भी सोलह सहस्र एक सौ कन्याओंके साथ उतने ही रूप धारणकर विवाह किया। इन कन्याओंको नरकासुरने देवता, गन्धर्व और राजाओंको युद्धमें हराकर बन्दी कर रक्खा था। भगवान्‌ने नरकासुरका संहार कर जब उन कन्याओंको कारागारसे मुक्त किया तो वे श्रीकृष्णजीके रूप-लावण्यसे उनके ऊपर अत्यन्त मोहित हो गयीं और उनको अपने मनमें वर लिया। नरकासुरके मारे जानेपर भगवान्‌ने उसकी माता भूमिके प्रार्थना करनेपर सारा राज्य नरकासुरके पुत्र भगदत्तको दे दिया, आगे हम भूमिकी की हुई भगवान्‌की स्तुति देते हैं।



भूमिकृत स्तुति

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२५॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२६॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन्भूतात्मन्परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२८॥

हे देवदेवेश ! हे शङ्खचक्रगदाधर ! हे परमात्मन् ! भक्तोंकी इच्छाके अनुकूल स्वरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥२५॥

कमलनाभिवाले (जगत्कारण) कमलमालायुक्त (सत्कीर्तियुक्त) कमललोचन (तापको शान्त करनेवाले) कमल-चरण (सेवायोग्य) आपको नमस्कार है ॥२६॥

आप निरतिशय ऐश्वर्यवान्, सब भूतोंके आश्रय, व्यापक, सब कार्यजातसे पहले विद्यमान, जगत्की कारणभूत मायाके भी कारण और पूर्ण ज्ञानरूप आपको नमस्कार है ॥२७॥

हे परमात्मन् ! स्वयं जन्मरहित होकर जगत्की सृष्टि करनेवाले अनन्तशक्तिसम्पन्न ब्रह्मरूप स्थावर-जङ्गमोंको उत्पन्न करनेवाले, पिता आदि समस्त उत्कृष्टापकृष्टरूप आपको नमस्कार है ॥२८॥

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान्परः ॥२९॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥
तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

(शङ्का—इस विश्वकी उत्पत्ति गुणोंसे और गुणोंकी उत्पत्ति प्रधानसे होती है । पुरुष इनको क्षोभित (चालन) करता है और इसका भी निमित्त काल है । तब भगवान्का इसमें क्या हाथ है ? समाधान--) हे प्रभो ! हे जगत्पते ! तुम्हारी जब सृष्टि करनेकी इच्छा होती है तब उत्कट (कार्योन्मुख) रजोगुणको धारण करते हो, अर्थात् रजोगुणप्रधान ब्रह्मरूप होकर सृष्टि करते हो । तथा जगत्का नाश करनेमें उत्कट तमोगुणको धारण करते हो अर्थात् रुद्ररूप होकर संहार करते हो । जगत्के पालन करनेके लिये उत्कट सत्त्वगुणको धारण करते हो अर्थात् विष्णुका रूप धारण करके पालन करते हो । तथापि तुम उन गुणोंसे लिप्त नहीं होते हो । तुमसे काल, प्रधान और पुरुष व्यतिरिक्त नहीं है । तुम सबसे व्यतिरिक्त हो इस कारण तुम्हीं सबकी सृष्टि करनेवाले हो ॥ २९ ॥

हे भगवन् ! मैं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, देवता, मन, इन्द्रिय, अहङ्कार, महत् और यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आप अद्वितीयमें प्रतीत होते हैं यह भ्रम है । (यह ऐसा ही भ्रम है जैसा चाँदीका शुक्तिमें होता है) ॥ ३० ॥

हे शरणागतोंके दुःख हरनेवाले ! भौमासुरके इस पुत्र (भगदत्त) को मैंने आपके चरणोंमें डाला है, परन्तु यह भययुक्त है, आप इसकी पालना कीजिये और सकल दोषोंको दूर करनेवाला अपना कर-कमल इसके सिरपर रखिये ॥ ३१ ॥

तृतीय प्रकरण

रुक्मिणीके साथ भगवान्‌का विनोद

रुक्मिणीकृत स्तव

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः[1][2]

इन आठ पटरानियोंसे भगवान्‌के दश-दश पुत्र और एक-एक कन्या हुई । १६,१०० स्त्रियोंके भी अगणित पुत्र हुए । तथा इसी प्रकार इन पुत्रोंके भी सैकड़ों स्त्रियोंसे करोड़ों पुत्र-पौत्र हुए ।

अब भगवान् गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे । उनके मन्दिरमें चँदवे तने हुए थे, जिनमें मोतियोंकी झालरें लटक रही थीं । वह भवन रत्नमय दीपकोंसे प्रकाशमान और अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी लताओंसे शोभित था । वहाँ रत्नजटित पलङ्गपर बिछाये हुए दूधके फेनके समान श्वेत कोमल गद्देपर आनन्दसे बैठे हुए जगत्‌के नियन्ता श्रीहरिकी रुक्मिणीजी पतिबुद्धिसे सेवा कर रही थीं ।

इस समय रुक्मिणीजीके मनमें शायद यह बुद्धि आ गयी कि सब रानियोंमें भगवान्‌को मैं ही अधिक प्रिय हूँ । इस कारण भगवान् रुक्मिणीजीसे हँसकर कहने लगे 'तुमने शिशुपाल आदि राजाओंको क्यों नहीं वरा, वे तो वंश, धन, सुन्दरता और उदारतामें तुम्हारे पिताके समान ही थे । हम तो राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आये हैं । बलवान् पुरुषोंके साथ वैर बाँधनेवाले हैं और राजा ययातिके शापसे राज्यके भी अधिकारी नहीं हैं । हमारा आचार अस्पष्ट होनेके कारण समझमें नहीं आता है, हमारी स्त्रियाँ दुःख पाती हैं क्योंकि हम उनके

---

१. भा० १० । ६०, ६१ ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ४३ की टीकामें देखिये ।

वशमें नहीं रहते । हम निर्धन हैं और दरिद्री पुरुषोंको प्रिय हैं, दरिद्री पुरुषोंसे प्रेम करनेवाले हैं । इस कारण हे सुमध्ये ! धन आदि सम्पत्तिसे युक्त पुरुष मेरी सेवा नहीं करते । विवाह और मैत्री ये समान बल, जाति, कुल, ऐश्वर्य और सुन्दरतावालोंमें ही हो सकते हैं । हे रुक्मिणी ! तुमने नारदादि भिक्षुओंसे हमारी स्तुति सुनकर मुझ गुणहीनको वृथा वर लिया। अतः तुम पुनः किसी योग्य क्षत्रियको वर लो । यदि कहो कि आप मुझे क्यों वर लाये ? तो सुनो । तुम्हारा भाई रुक्मी और शिशुपालादि अत्यन्त अभिमानी हो गये थे और मुझसे द्वेष करते थे । उनका गर्व दूर करनेके लिये ही मैं तुम्हें लाया था । मैं तो उदासीन हूँ, निजानन्द मिलनेसे पूर्ण-मनोरथ हूँ, और इसी कारण स्त्री, पुत्र तथा अन्यान्य सम्पत्तियोंकी इच्छा नहीं करता, केवल साक्षीरूपसे उनके साथ रहता हूँ ।'

इन मर्मघाती वचनोंको सुनकर रुक्मिणीजी अपार शोकसागरमें डूब गयीं । उन्हें शङ्का हुई कि क्या भगवान् मुझको त्याग देंगे ? उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे, कण्ठ रुक गया और वे मूर्च्छित होकर इस प्रकार पृथिवीपर गिर गयीं जैसे केलेका वृक्ष पवनसे उखड़कर धड़ामसे नीचे गिर जाता है । भगवान् अपने विनोदका उलटा प्रभाव देखकर कुछ भयभीत हुए और रुक्मिणीजीका अपनेमें प्रेमबन्धन देखकर उठे तथा उन्हें सँभालकर पलङ्गपर बिठाया और उनके मस्तकर अपना हाथ रक्खा। उनको समझानेका उपाय करने लगे । जब रुक्मिणीजीको कुछ होश हुआ तो भगवान्ने उनके आँसू पोंछे और कहा 'हे सुन्दरि ! मैं तुम्हारा रोष देखना चाहता था और तुम्हारी वह वाणी सुनना चाहता था कि जिस समय तुम्हारी त्योरी चढ़ी हुई हो, ओठ प्रेमके कोपसे फड़क रहे हों और नेत्र कुछ लाल-लाल हो रहे हों । यदि कहो कि इस प्रकारके कलहमें आपको क्या सुख मिलता है ? तो हे सुन्दरि ! गृहस्थोंको गृहस्थमें यह भी लाभ है कि वे किसी समय घरमें प्रियतमाके साथ हास्य-विनोद कर लेते हैं ।'

इस प्रकार भगवान्‌के समझानेपर रुक्मिणीजीने जान लिया कि यह सब भाषण केवल भगवान्‌का विनोदमात्र था ! अतः वे भगवान्‌की स्तुतिके व्याजसे उसका प्रत्युत्तर देने लगीं ।

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह
यद्वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥३४॥
सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।

(हम कुल, ऐश्वर्य आदिमें तुम्हारी बराबरीके नहीं हैं, हमको तुमने क्यों वरा ? इसका समाधान—) हे अरविन्दलोचन ! आप अनन्त गुण-पूर्ण हैं । आपका यह कहना कि तुम मेरी बराबरीकी नहीं हो, सर्वथा सत्य है । अपने निजानन्दमें रमण करनेवाले और तीनों गुणोंके अथवा तीनों देवताओं ब्रह्मा आदिके भी नियन्ता आप कहाँ और सत्त्व-रज-तम-गुणात्मक प्रकृतिरूप सकल अज्ञ पुरुषोंसे सेवित मैं कहाँ ? आपकी और मेरी समानता कदापि नहीं हो सकती । [यद्यपि रुक्मिणीजी लक्ष्मीकी अवतार हैं और अधीश्वरोंकी उपास्य देवी हैं तथापि अपनी नम्रता दिखलानेके लिये उन्होंने अन्तिम पद कहा है] ॥ ३४ ॥

(राजाओंसे डरकर हमने समुद्रकी शरण ली है इस वाक्यका समाधान—यहाँ 'राजन्ते इति राजानः' इस व्युत्पत्तिसे 'राजानः' से शब्दादि गुण लिये जाते हैं, नरपति नहीं लिये जाते और ऐसे राजाओंसे भक्तोंको भय होता ही है । भक्तोंका भय आपका भी भय है इस कारण) हे उरुक्रम ! यह सत्य है कि शब्दादि गुणोंके भयसे, मानो समुद्रके समान अगाध भक्तोंके अन्तःकरणमें चैतन्यघन आत्मस्वरूप आप निश्चलरूपसे प्रकाशित होते हैं । (हम बलवान् मनुष्योंसे वैर बाँधने-वाले हैं ऐसा जो कहा है यह भी सत्य है क्योंकि) आप बहिर्मुख

१. भा० १० । ६० ।

नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥३५॥
त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।
तस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥
निष्किञ्चनो ननु भवान्न यतोऽस्ति किञ्चि-
द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।

इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे कलह करते हैं (उनमें आपकी प्रतीति नहीं होती है)। (हमने राज्यसिंहासनका परित्याग कर दिया है ऐसा जो कहा है वह भी यथार्थ ही है, क्योंकि) राजाका आसन अविवेकरूप होनेके कारण गाढ़ अन्धकाररूप है—अतः आपके सेवकोंने भी उसका त्याग किया है, तो फिर आपने उसका त्याग किया तो इसमें कहना ही क्या है। (अर्थात् आपने अविवेकमय पदका त्याग करके उचित ही किया) ॥ ३५ ॥

(हम स्पष्ट मार्गवाले और लोकमार्गके विरुद्ध बर्ताव करनेवाले हैं ऐसा जो कहा है उसका समाधान—) आपके चरणकमलके मकरन्द (परमानन्द) का अनुभव करनेवाले मुनियोंका भी अस्पष्ट मार्ग जब नरपशुओंकी समझमें नहीं आ सकता तो आपका मार्ग अस्फुट है इसमें कहना ही क्या है ? हे भूमन् ! जब आपके अनुगामी (भक्त) पुरुषों-का मार्ग अलौकिक-सा है तो फिर आप ईश्वरका मार्ग अलौकिक है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥३६॥

('हमलोग निष्किञ्चन दरिद्र हैं और सदा दरिद्रोंसे प्रेम करनेवाले हैं, अतएव धनी पुरुष हमारी सेवा नहीं करते' इस पूर्वोक्त श्लोकमें आये हुए तीन दोषोंका निष्किञ्चनका अर्थ 'ऐश्वर्यवान्' लगाकर समाधान करती हैं—) हे प्रभो ! आपके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है अतएव आप निष्किञ्चन कहे जाते हैं क्योंकि अन्य जनोंसे पूज्य ब्रह्मादिक भी आप-

न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः
प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥
त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥
त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।

की पूजा करते हैं ऐसे सर्वेश्वर आप दरिद्र कैसे हो सकते हैं ? ('निष्किञ्चनप्रिय' होनेके विषयमें कहती हैं) दूसरोंसे पूजा ग्रहण करनेवाले ब्रह्मादिक लोकेश्वरोंको आप प्रिय हैं और वे भी आपको प्रिय हैं । धनके अभिमानसे अन्धे (विवेकहीन) और अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पुरुष आयु हरनेवाले कालरूप आपको नहीं जानते हैं अतः आपकी सेवा नहीं करते हैं ॥३७॥

('विवाह समान वित्तवालोंमें ठीक है' इस वाक्यका समाधान करती हैं—) आप सकल पुरुषार्थमय अर्थात् धर्मादि फल देनेवाले हैं और परमानन्दरूप हैं, आपको पानेकी इच्छासे सुमतिसम्पन्न पुरुष सब प्रकारके व्यवहारोंका त्याग करते हैं । हे विभो ! उन विवेकी पुरुषोंको तुम्हारा सेव्यसेवकलक्षणसम्बन्ध प्यारा है और परस्परमें अनुरक्त अतएव सुखी एवं दुःखी स्त्री-पुरुषोंको तुम्हारा सम्बन्ध प्यारा नहीं लगता ॥३८॥

('नारदादि भिक्षुओंसे हमारी प्रशंसा सुनकर तुमने हमको व्यर्थ वरा है इस वाक्यका समाधान करती हैं—) हे भगवन् ! आप सबके आत्मा (परमप्रिय) अपने भक्तोंको आत्मस्वरूप देनेवाले हैं और प्राणियोंको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुँचानेवाले हैं, मुनिजनोंद्वारा आपकी गुणगाथा गायी गयी है; इसीलिये मैंने आपकी भ्रुकुटिके विलाससे

हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये ॥३९॥
जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं
तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥
यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।

प्रेरित कालके वेगसे जिनका ऐश्वर्य नष्ट होता है, ऐसे ब्रह्मा, इन्द्र आदि-का भी परित्याग करके आपका वरण किया है। शिशुपाल आदिकी तो गणना ही क्या है? (इससे उस वाक्यका भी परिहार हो गया कि रुक्मिणीने दूरदृष्टि न रखकर भगवान्का वरण किया है) ॥३९॥

(अपने अज्ञानका परिहार करके और दूसरे पुरुषोंके वर्णन करने-के कोपसे आविष्ट हुई रुक्मिणीजी भगवान्के ऊपर ही अज्ञान स्थापित करती हैं–) हे गदाग्रज! हे ईश! जैसे सिंह पशुओंको भगाकर अपने भागका हरण कर लेता है, वैसे ही आपने शार्ङ्गधनुषके टङ्कारशब्दसे ही जरासन्धादि राजाओंको भगाकर अपना भागरूप मेरा हरण किया है इस कारण आपका यह कहना कि 'राजाओंके भयसे हमने समुद्रकी शरण ली' असंगत है ॥ ४० ॥

('हमारा आचार स्पष्ट नहीं है इस कारण हमारी स्त्रियाँ दुःख पाती हैं' इन वाक्योंका समाधान–) हे कमलनयन! आपकी प्राप्तिकी इच्छासे नरश्रेष्ठ अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि राजा अपना एकाधिपत्य राज्य छोड़कर आपकी आराधना करनेके निमित्त

राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनु पदवीं त इहास्थिताः किम्॥४१॥
कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-
माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् ।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य
मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥४२॥
तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-
मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥

वनमें चले गये । क्या आपके मार्गका आश्रय करनेवाले वे इतर मनुष्यों-के समान इस संसारमें क्लेश पाते हैं ? अर्थात् नहीं पाते क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वे मुक्त हो गये हैं ॥४१॥

('अपने योग्य दूसरे पतिका वरण करो' इस वाक्यका दो श्लोकों-से उत्तर देती हैं—) क्या अपना हित और अहित जाननेवाली और स्वयं मनुष्यस्वभावयुक्त होकर, कोई स्त्री सब गुणोंके आलय, सब मनुष्योंको मोक्ष देनेवाले, लक्ष्मीके निवासस्थान और सत्पुरुषोंसे कीर्तित आपके चरणकमलके परागका आस्वाद लेकर फिर उसका अनादर करके आपसे अन्य भयभीतका सेवन करेगी ? अर्थात् कोई नहीं करेगी । आप समस्त जगत्के नियन्ता और आत्मा हैं । इस लोक और परलोकमें अपने भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। मैंने भजन करनेयोग्य आपका भजन किया है । भगवन् ! मेरी यह प्रार्थना है कि देव, मनुष्य आदि जन्मों-से संसारमें भ्रमण करनेवाली जो मैं हूँ, मेरी शरण आपका चरणकमल हो । असत्य संसारका नाश करनेवाले आप अपने भक्तोंको अपने स्वरूपमें लीन कर देते हैं ॥४२–४३॥

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाया-
द्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता ॥४४॥
त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥४५॥
अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६॥

[राजाओंके जो बहुत-से गुण बताये थे उनका ईर्ष्या और शाप-पूर्वक दो श्लोकोंसे वर्णन करती हैं] हे अच्युत ! हे अरिकर्षण ! महादेवजी और ब्रह्माजीकी सभाओंमें गायी गयी आपकी कथाएँ जिन स्त्रियोंके कर्णगोचर नहीं हुईं वे आपसे वर्णित राजाओंको वरें; जो कि स्त्रियोंके घरमें गर्दभसमान बोझा ढोनेवाले, वृषभोंके समान क्लेश पानेवाले, श्वानोंके समान सदा तिरस्कृत, बिल्लीके समान कृपण और हिंसक, सेवकोंके समान जूठा खानेवाले हैं । [वे मेरे वरने योग्य नहीं हैं] ॥४४॥

जिसने आपके चरणकमलके मकरन्दका आस्वाद नहीं लिया वह मूर्ख स्त्री बाहरसे त्वचा, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख, केशोंसे ढके हुए और भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कीड़े, विष्ठा, कफ, पित्त तथा वातसे भरे हुए जीवित ही मृतकके समान पुरुषका पतिबुद्धिसे सेवन करती है ॥ ४५॥

['हम तो उदासीन हैं' इस उक्तिपर कहती हैं] हे अम्बुजाक्ष ! आप निजानन्दमें रमण करनेवाले हैं इस कारण मुझमें उपेक्षादृष्टि रखते हैं तथापि मुझे आपके ही चरणकमलमें प्रीति प्राप्त हो । [शङ्का—ऐसी प्रीतिसे क्या लाभ ? समाधान—आपका चरणानुराग ही यहाँ लाभ है, इसलिये कहती हैं] जब आप इस विश्वकी वृद्धिके निमित्त रजोगुणकी अधिकता प्राप्त करते हैं तब मुझ प्रकृतिको देखते हैं । यह आपका ईक्षण (देखना) ही हम सब शक्तियोंके ऊपर परम कृपा है ॥४६॥

चतुर्थ प्रकरण

बाणासुरका अभिमान-भंजन[1]

ज्वर तथा रुद्रकृत स्तुतियाँ

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्[2]॥

बाणासुरके अभिमानका नाश एक निराले ढंगसे हुआ। वह राजा बलिका पुत्र था, और शिवजीका परम भक्त था। उसके सहस्र भुजाएँ थीं, इस कारण वह बड़ा बली था। एक समय वह शिवजीके पास गया और कहने लगा कि मेरे हाथ खुजलाते हैं किन्तु मेरे साथ कोई युद्ध करनेको उद्यत नहीं होता। शङ्करजीने कहा 'रे मूढ़ ! जब तेरी ध्वजा अपने आप टूट पड़ेगी तब तेरा गर्व-नाश करनेवाले मेरे समान योद्धाके साथ तेरा युद्ध होगा।' यह सुनकर कुबुद्धि बाणासुर हर्षयुक्त होकर उस समयकी प्रतीक्षा करने लगा।

इसकी उषा नामकी एक कन्या थी। उषाने स्वप्नमें एक अति सुन्दर पुरुषको देखा और उसी अवस्थामें उसने पतिरूपसे उसका वरण भी कर लिया। जागनेके अनन्तर उसने सब हाल अपनी प्रिय सखी चित्रलेखासे कहा और किसी प्रकार उसका पता लगानेकी प्रार्थना की। चित्रलेखाको योगकी सिद्धियाँ सिद्ध थीं। उसने देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, दैत्य, विद्याधर, पक्षी और मनुष्योंके सुन्दर चित्र बनाये। उषा भगवान् कृष्णके पौत्र और प्रद्युम्नके पुत्र यादवश्रेष्ठ अनिरुद्धका चित्र देखकर सङ्कुचित हो गयी और उन्हींको अपना मनमोहन बतलाया। तब चित्रलेखा अपनी शक्तिसे सोते हुए अनिरुद्धको उठाकर ले आयी। अनिरुद्ध गुप्तरीतिसे उषाके साथ रहने लगे। धीरे-धीरे द्वारपालोंको यह

---

१. भा० १०। ६२-६३

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ३४ की टीकामें देखिये।

विदित हो गया कि राजकुमारीके पास कोई पुरुष रहता है। उन्होंने अपना सन्देह बाणासुरके पास जाकर निवेदन किया। यह वृत्तान्त सुनकर बाणासुर क्रोधसे भरकर उषाके महलमें गया और अनिरुद्धको नागपाशमें बाँधकर कारागृहमें डाल दिया।

यह हाल नारदजीसे द्वारकावासियोंने सुना। तब भगवान् कृष्ण तथा बलराम आदिने बहुत-से यादवोंके साथ बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरपर चढ़ाई कर दी। बाणासुरकी रक्षा करनेके लिये भगवान् शङ्कर उपस्थित हुए। और जब बाणासुर विशेष व्याकुल हुआ, तो वे स्वयं भगवान्से लड़ने लगे। बहुत देरतक घमासान युद्ध होनेपर श्रीमहादेवजीने भगवान्पर माहेश्वर ज्वर छोड़ा। उसे भगवान्ने वैष्णव ज्वरसे परास्त कर दिया। तब माहेश्वर ज्वरने भगवान्की स्तुति की जो इस प्रकरणमें लिखी है। भगवान्ने उसको छोड़ दिया। व्यास भगवान् कहते हैं कि इस स्तुतिका पाठ करनेसे ज्वरकी पीड़ा छूट जाती है।

बाणासुर भगवान्से फिर भी लड़ता रहा, और भगवान् शङ्कर भी उसका साथ देते रहे। जब भगवान्ने शंकरजीपर जृम्भणास्त्र छोड़ा तो वे कुछ बैठकर जँभाई लेने लगे। इतनेमें भगवान्ने बाणासुरकी बहुत-सी भुजाएँ काट डालीं। तब भक्तोंके ऊपर दया करनेवाले रुद्र भगवान्ने चक्रधारी श्रीकृष्णके रोषको शान्त करनेके लिये स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी है। तब भगवान्ने प्रसन्न होकर कहा कि 'हे भोलानाथ! आपने जो इस बाणासुरसे कहा था कि 'तुम्हारा घमंड कोई दूसरा योद्धा चूर करेगा', आपके उस कथनकी पूर्तिके लिये ही मैंने उसकी भुजाएँ काटी हैं। यह तो प्रह्लादके वंशमें उत्पन्न हुआ है और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इस वंशका कोई असुर मेरा वध्य नहीं है। इसके दर्पको दूर करनेके लिये इसकी भुजाएँ काटी हैं, अब शेष चार भुजाएँ सर्वदा बनी रहेंगी। यह आपके पार्षदोंमें मुख्य होगा। तदनन्तर उषासहित अनिरुद्धको लेकर भगवान् द्वारकाको लौट आये।

ज्वरकृत स्तुति[1]

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥२५॥
कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्संघातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥

(ज्वर अपनेको परम शक्तिमान् मानता था । किन्तु जब वह श्रीकृष्ण भगवान्को सन्ताप देनेमें असमर्थ होकर आप ही सन्तप्त होने लगा, तब उसने भगवान्की प्रार्थना की ।) आप अनन्त शक्तिशाली हैं, ब्रह्मादिके भी ईश्वर हैं, सब प्राणियोंकी चेतनाशक्तिरूप हैं एवं केवल चैतन्यघनस्वरूप हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ । संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करनेवाले, वेदप्रतिपादित और सकल क्रियाओंसे रहित ब्रह्म आप ही हैं ॥ २५ ॥

(ज्वरका पराक्रम सब साकार पदार्थोंपर चल सकता है, किन्तु निराकार भगवान्के ऊपर नहीं चल सकता इस कारण स्तुति करता है कि भगवन् ! तुम ही सबके प्रभु हो ।) गुणोंका क्षोभक काल, अदृष्ट, फल देनेवाला दैव, कर्म, स्वभाव, (उसी दैवका संस्कार) सुख-दुःख-भोक्ता जीव, द्रव्य, (शब्दादि सूक्ष्मभूत) शरीर, प्राण, अहङ्कार, विकार, (ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्च महाभूत) लिङ्ग शरीर और इसीका बीजाङ्कुरवत् प्रवाह यह सब आपकी माया है । इस मायाके निषेधका जिस स्वरूपमें पर्यवसान होता है ऐसे आपकी मैं शरणमें आया हूँ । (भाव यह है कि जैसे बीजसे अङ्कुर और फिर अङ्कुरसे बीज होता चला आता है ऐसे ही शरीरसे कर्म, फिर कर्मसे शरीर होता रहता है ।) ॥ २६ ॥

१. भा० १० । ६३

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैर्देवान्साधूँल्लोकसेतून्बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान्हिंसया वर्तमानाञ्जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥
तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन्यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥

(शङ्का—देवकीके पुत्रको ऐसा सामर्थ्य कहाँसे हो सकता है ? समाधान—) लीलासे स्वीकार किये गये विविध प्रकारके मत्स्यादि अवतारोंसे आप देवता, साधुओं और वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाका पालन करते हैं और हिंसाके द्वारा कुमार्गमें प्रवृत्त दैत्योंका वध करते हैं इसी प्रकार यह भी आपका अवतार भूमिके भारको दूर करनेके निमित्त है । [आप किसीके पुत्र नहीं हैं ।] ॥ २७ ॥

प्रथम शान्त, अन्तमें असह्य प्रतीत होनेवाले आपके तेजरूपी ज्वरसे मैं सन्तापको प्राप्त हो रहा हूँ । जीवको तबतक ही ताप होते हैं जबतक वे आशासे बँधे हुए आपके चरणकमलका सेवन नहीं करते ॥२८॥



त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो द्यौः शीर्षमाशाः श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥

(अपने भक्तकी रक्षाके लिये कहते हैं कि आपको न जानकर बाणासुरने युद्ध किया क्योंकि) आप वह परज्योतिःस्वरूप ब्रह्म हैं, जो वेदोंमें भी वाणी और मनसे अग्राह्य कहा गया है और शुद्ध अन्तःकरण-वाले पुरुष आपको आकाशके समान व्याप्त तथा सर्वदोषरहित देखते हैं ॥ ३४ ॥

(निर्गुणका बोध होना तो कठिन है ही किन्तु आपकी लीलासे धारण किये गये इस ब्रह्माण्डदेहका भी ज्ञान नहीं हो सकता ऐसा कहनेके लिये दो श्लोकोंसे विराट् स्वरूपकी स्तुति करते हैं—) आपकी नाभि आकाश है, मुख अग्नि है, वीर्य जल है, मस्तक स्वर्ग है, कान दिशाएँ हैं, चरण भूमि है, मन चन्द्रमा है, चक्षु सूर्य है, आत्मा (अहङ्कार) मैं शिव हूँ, पेट समुद्र है और बाहु इन्द्र है, जिसके रोम ओषधियाँ हैं, केश मेघ हैं, बुद्धि ब्रह्मा है, शिश्न प्रजापति है, हृदय धर्म है, ऐसे आप अवयवरूपी सब लोकोंसे वर्णन किये गये विराट् पुरुष हैं ॥ ३५–३६ ॥

---

१. भा० १० । ६३

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥३८॥
यथैव सूर्यः पिहितः स्वछायया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥
यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।

(शङ्का—श्रीकृष्णदेह विराट् किस प्रकार है ? समाधान—) हे अकुण्ठधामन् ! (अच्युतस्वरूप) यह आपका अवतार धर्मकी रक्षाके लिये तथा हमारे अनुग्रहके लिये हुआ है, क्योंकि हम सब लोकपाल आपसे रक्षित होकर सातों लोकोंका पालन करते हैं अर्थात् स्वतन्त्र नहीं हैं ॥ ३७ ॥

यद्यपि आप एक सजातीय-विजातीय भेदरहित तीन अवस्थावाले पुरुषोंके प्रकृतिभूत पुरुष, शुद्ध, स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप सबके कारण और स्वयं कारणरहित ईश्वर हैं; तथापि समस्त विषयोंका प्रकाश करनेके लिये अपनी मायासे प्रत्येक शरीरमें जीवरूपसे प्रतीत होते हैं ॥ ३८ ॥

(शङ्का—तब क्या भगवान् संसारी हैं ? समाधान—नहीं) हे भूमन् ! जैसे सूर्य दूसरेकी दृष्टिमें मेघरूप अपनी छायासे ढका हुआ, उस मेघको और मेघसे आच्छादित घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसे ही जीवोंको आवृत करनेवाले अहङ्कारसे जीवोंकी दृष्टिमें आच्छादित हुए आप स्वप्रकाश होनेके कारण सत्त्व, रज, तम आदि उपाधियोंको और उनसे उपहित जीवको प्रकाशित करते हैं । (भाव यह है कि स्वप्रकाश सर्वसाक्षी होनेसे आप संसारी नहीं हैं) ॥ ३९ ॥

(फिर इसीका प्रतिपादन करते हैं कि आप मायाके आश्रय हैं और जीवको मोहित करते हैं, इस कारण संसार जीवको प्राप्त होता है आपको नहीं प्राप्त होता) जिनकी मायासे मोहितबुद्धि होकर जीव

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥
नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो द्यौः शीर्षमाशाः श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥

(अपने भक्तकी रक्षाके लिये कहते हैं कि आपको न जानकर बाणासुरने युद्ध किया क्योंकि) आप वह परज्योतिःस्वरूप ब्रह्म हैं, जो वेदोंमें भी वाणी और मनसे अग्राह्य कहा गया है और शुद्ध अन्तःकरण-वाले पुरुष आपको आकाशके समान व्याप्त तथा सर्वदोषरहित देखते हैं ॥ ३४ ॥

(निर्गुणका बोध होना तो कठिन है ही किन्तु आपकी लीलासे धारण किये गये इस ब्रह्माण्डदेहका भी ज्ञान नहीं हो सकता ऐसा कहनेके लिये दो श्लोकोंसे विराट् स्वरूपकी स्तुति करते हैं—) आपकी नाभि आकाश है, मुख अग्नि है, वीर्य जल है, मस्तक स्वर्ग है, कान दिशाएँ हैं, चरण भूमि है, मन चन्द्रमा है, चक्षु सूर्य है, आत्मा (अहङ्कार) मैं शिव हूँ, पेट समुद्र है और बाहु इन्द्र है, जिसके रोम ओषधियाँ हैं, केश मेघ हैं, बुद्धि ब्रह्मा है, शिश्न प्रजापति है, हृदय धर्म है, ऐसे आप अवयवरूपी सब लोकोंसे वर्णन किये गये विराट् पुरुष हैं ॥ ३५–३६ ॥

---

१. भा० १० । ६३

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥३८॥
यथैव सूर्यः पिहितः स्वछायया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥
यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।

(शङ्का—श्रीकृष्णदेह विराट् किस प्रकार है ? समाधान—) हे अकुण्ठधामन् ! (अच्युतस्वरूप) यह आपका अवतार धर्मकी रक्षाके लिये तथा हमारे अनुग्रहके लिये हुआ है, क्योंकि हम सब लोकपाल आपसे रक्षित होकर सातों लोकोंका पालन करते हैं अर्थात् स्वतन्त्र नहीं हैं ॥ ३७ ॥

यद्यपि आप एक सजातीय-विजातीय भेदरहित तीन अवस्थावाले पुरुषोंके प्रकृतिभूत पुरुष, शुद्ध, स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप सबके कारण और स्वयं कारणरहित ईश्वर हैं; तथापि समस्त विषयोंका प्रकाश करनेके लिये अपनी मायासे प्रत्येक शरीरमें जीवरूपसे प्रतीत होते हैं ॥ ३८ ॥

(शङ्का—तब क्या भगवान् संसारी हैं ? समाधान—नहीं) हे भूमन् ! जैसे सूर्य दूसरेकी दृष्टिमें मेघरूप अपनी छायासे ढका हुआ, उस मेघको और मेघसे आच्छादित घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसे ही जीवोंको आवृत करनेवाले अहङ्कारसे जीवोंकी दृष्टिमें आच्छादित हुए आप स्वप्रकाश होनेके कारण सत्त्व, रज, तम आदि उपाधियोंको और उनसे उपहित जीवको प्रकाशित करते हैं। (भाव यह है कि स्वप्रकाश सर्वसाक्षी होनेसे आप संसारी नहीं हैं) ॥ ३९ ॥

(फिर इसीका प्रतिपादन करते हैं कि आप मायाके आश्रय हैं और जीवको मोहित करते हैं, इस कारण संसार जीवको प्राप्त होता है आपको नहीं प्राप्त होता) जिनकी मायासे मोहितबुद्धि होकर जीव

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥४०॥
देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४१॥
यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥४२॥
अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥४३॥
तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।

पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्त होकर दुःखसागर संसारमें कभी देवता आदि योनियोंमें, कभी स्थावरादि योनियोंमें उत्पन्न होते हैं–(वह भगवान् कैसे मोहित होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे) ॥ ४० ॥

(इस प्रकार जीव-ईश्वरकी व्यवस्थाका निरूपण करके भजन न करनेवालेकी दो श्लोकोंसे निन्दा करते हैं) कर्माध्यक्ष (देव) आपसे प्राप्त हुए इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर भी जो इन्द्रियोंका संयम न करके आपके चरणकी सेवा नहीं करता है वह अपनेहीको धोखा देनेवाला और शोचनीय है ॥ ४१ ॥

आप आत्मा प्रिय ईश्वर हैं; जो पुरुष आपका त्याग करके अनात्मस्वरूप पुत्रादि विषयोंकी सेवा करता है वह पुरुष अमृतको छोड़कर विष खानेके लिये प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥

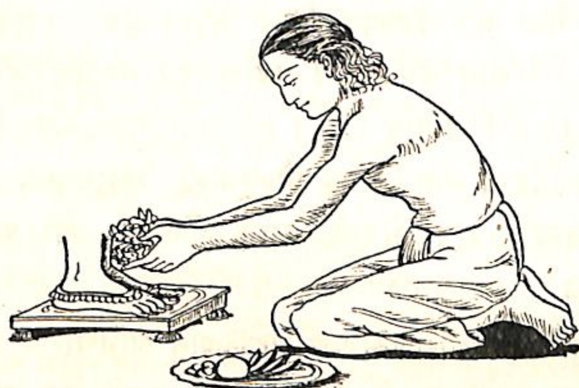
इस कारण मैं, ब्रह्माजी, अन्य देवता और निर्मल अन्तःकरणवाले मुनि सब प्रकारसे आत्मस्वरूप अतिप्रिय आप ईश्वरके शरण हैं ॥४३॥

(अब उन कारणोंका प्रतिपादन करते हुए कि भगवान् क्यों भजनीय हैं, भगवान्की भक्तिके लिये प्रार्थना करते हैं) जगत्की उत्पत्ति,

अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥
अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाभयं दत्तममुष्य देव ।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४५॥

स्थिति और लयके कारण, सम, अत्यन्त शान्त बुद्धिके प्रवर्तक, सर्वात्मक, जीव और जगत्के अधिष्ठान, आप ईश्वरको संसारसे मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भजता हूँ ॥ ४४ ॥

(भक्तिकी प्रार्थना करके अब अपने भक्त बाणासुरके कल्याणकी प्रार्थना करते हैं–) यह बाणासुर मेरा प्रिय है और प्रेम करनेवाला आज्ञाकारी सेवक है, इस कारण हे देव ! मैंने इसे अभय वचन दिया है । आपने जैसा प्रह्लादके ऊपर अनुग्रह किया वैसे ही इसके ऊपर भी अनुग्रह कीजिये । (भाव यह है कि मेरा वचन सत्य कीजिये) ॥४५॥



पञ्चम प्रकरण

पौण्ड्रक और राजा नृगका[1] उद्धार

नृगकृत स्तुति

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥[2]

जिस समय भगवान् द्वारकामें विराजमान थे, उस समय करूष-देशाधिपति राजा पौण्ड्रकने दो कृत्रिम भुजाएँ तथा शङ्ख-चक्रादि आयुध धारणकर यह घोषित कर दिया कि मैं ही वासुदेव हूँ अतः सबको मेरी ही उपासना करनी चाहिये । उसने भगवान्के पास भी अपना दूत भेजा और कहलाया कि वे अपना झूठा वासुदेव नाम त्याग दें नहीं तो मेरे साथ युद्ध करें । यह सुनकर भगवान् हँसे और दूतको विदाकर युद्धके लिये चल दिये । इस समय पौण्ड्रकका मित्र काशीपति भी तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ पौण्ड्रककी सहायताके लिये आया । भगवान्ने समरमें सब सेनाके साथ पौण्ड्रक और काशीराजको भी मार डाला ।

तदनन्तर काशीराजके पुत्र सुदक्षिणने अभिचार (मारण) मन्त्र-का प्रयोग कर अग्निकुण्डमें हवन किया । उससे एक उल्का (कृत्या) निकलकर द्वारकाको जलाने लगी । किन्तु भगवान्के सुदर्शनचक्र चलाने-

---

१. भा० १० । ६४ से ६६ तक ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक २६ की टीकामें देखिये ।

पर वह कृत्या उलटी वाराणसीमें लौट गयी और उसने सुदक्षिण तथा सब ऋत्विजोंके सहित सम्पूर्ण पुरीको भस्म कर दिया। भगवान्ने द्वारकामें कई और प्राणियोंका भी उद्धार किया जिनमें विशेष उल्लेखनीय राजा नृगका वृत्तान्त है।

राजा नृग इक्ष्वाकुके सुपुत्र थे और बड़े दानी थे। वे नित्यप्रति अलङ्कारोंसे विभूषित एक सहस्र दूध देनेवाली गौएँ वेदज्ञ ब्राह्मणोंको दान दिया करते थे। केवल गौ ही नहीं, किन्तु भूमि, सुवर्ण, घर, घोड़े, हाथी, दासीसहित कन्याएँ, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न इत्यादि भी दान करते थे। उन्होंने अग्निष्टोमादि कई यज्ञ भी किये, तथा बावड़ी, कुएँ, तालाब और देवस्थान भी बनवाये।

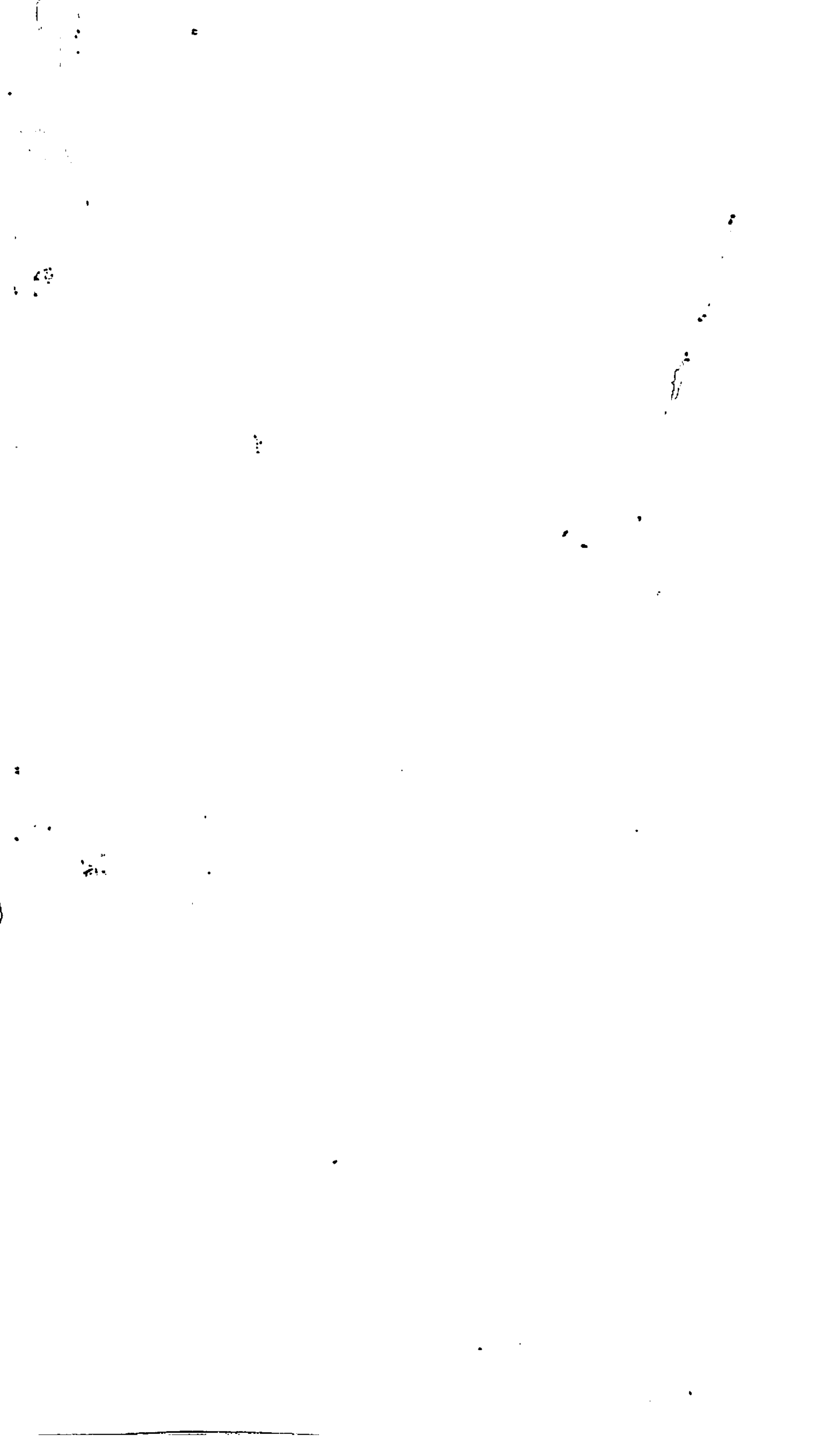
एक समय किसी प्रतिग्रह न लेनेवाले ब्राह्मणकी गौ बछड़ेसहित

नोट—भा० स्क० १० अ० ६५, ६७, ६८, ७८, ७९ में श्रीबलदेवजीका चरित्र आता है, वह इस ग्रन्थका विषय नहीं है, इस कारण यहाँ सूक्ष्म प्रकारसे लिखा जाता है।

जब भगवान् द्वारकामें राजा नृग प्रभृतिका उद्धार कर रहे थे, उस समय बलरामजी गोकुलमें गये हुए थे। वहाँ उनने यमुनाजीका मार्ग अपने हलसे बदल दिया। इसके पश्चात् उन्होंने रैवतकपर्वतपर क्रीडा करते समय द्विविदनामक एक दुष्ट वानरका वध किया। एक समय श्रीकृष्णचन्द्रके पुत्र साम्बने स्वयंवरमेंसे दुर्योधनकी लक्ष्मणा नामकी कन्याका हरण किया और कौरवोंने साम्बको बाँध लिया। इस समाचारको सुनकर बलरामजी हस्तिनापुर गये और जब कौरवोंने उनकी बात न मानी तब वे अपने हलसे हस्तिनापुरको गङ्गामें उलट देनेके लिये तत्पर हुए। जिस समय उन्होंने हल चलाया उस समय वह पुर जलमें गिरना ही चाहता था कि कौरवोंने लक्ष्मणासहित साम्बको बलरामजीके सम्मुख उपस्थित कर दिया। इससे उनका क्रोध शान्त हो गया। फिर दुर्योधनने बहुत कुछ दहेज देकर लक्ष्मणाको साम्बके साथ विदा कर दिया। अब भी हस्तिनापुर दक्षिणकी ओर ऊँचा और गंगाजीकी ओर झुका हुआ-सा दिखायी देता है। एक बार बलरामजी तीर्थयात्रा करते नैमिषारण्यमें पहुँचे, वहाँ उन्हें देखकर शौनकादि सभी ऋषियोंने अभ्युत्थान किया किन्तु व्यासगद्दीका मान रखनेके लिये सूतजी नहीं उठे। इसपर कुपित होकर बलरामजीने उनका वध कर दिया। इससे बलरामजीको ब्रह्महत्याका पाप हुआ। अतः उसके प्रायश्चित्तके लिये उन्होंने एक वर्षपर्यन्त भारतवर्षके तीर्थोंकी सम्पूर्ण परिक्रमा की और कृच्छ्रव्रत किया। तदनन्तर उन्होंने बल्वलनामक दानवका वध किया।

अपने स्थानसे खुलकर राजा नृगकी गायोंमें आ मिली और उसने विना जाने वह गौ दूसरे ब्राह्मणको दे दी। उस गायके स्वामीने अपनी गाय एक ब्राह्मणको ले जाते देखकर कहा कि यह गाय मेरी है। ब्राह्मणने कहा, यह गाय राजा नृगने अभी-अभी मुझे दी है। दोनों ब्राह्मण राजाके पास गये और प्रतिग्रह न लेनेवाले ब्राह्मणको राजाने उस गायके बदले जितनी गायें चाहे उतनी ही देनेका वचन दिया। ब्राह्मणने यह स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह समझता था कि गाय बेचना महान् पाप है और वह रुष्ट होकर चला गया, इस प्रकार धर्ममें अन्तर पड़नेके कारण राजा नृग गिरगिट योनिको प्राप्त हुआ और द्वारकाके किसी कूपमें पड़ा रहा। एक समय बालकोंने उस बृहत्काय गिरगिटको कुँएसे बाहर निकालना चाहा, किन्तु वे निकाल न सके। तदनन्तर बालकोंके बुलानेपर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ पहुँच गये और अपने बायें हाथसे खींचकर उस गिरगिटको बाहर निकाल लिया। भगवान्‌के स्पर्शसे वह गिरगिट रूपको त्यागकर दिव्यरूप हो गया। अपने पूर्व पुण्यके बलसे भगवान्‌की स्तुति करता हुआ स्वर्गको चला गया।







नृग-उद्धार

नृगकृत स्तुति[1]

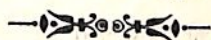
स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥
देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥
नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥

हे विभो! जो योगेश्वरोंद्वारा उपनिषद्‌रूपी चक्षुसे शुद्ध हृदयमें केवल चिन्तनीय—ध्यान करने योग्य हैं [न कि साक्षात् दर्शनीय] इन्द्रियजन्य ज्ञानकी जिनतक पहुँच नहीं है ऐसे परमात्मस्वरूप आप; जिसकी बुद्धि अनेकों दुःखोंसे (अर्थात् गिरगिटयोनिके दुःखोंसे) अन्धी हो गयी है, ऐसे मुझ अज्ञानीके दृष्टिगोचर कैसे हुए हैं। आप तो उन्हीं महानुभावोंको प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं जिनके संसारकी समाप्ति हो गयी है औरोंको नहीं देते ॥२६॥

हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे गोविन्द! हे पुरुषोत्तम! हे नारायण! हे हृषीकेश! हे पुण्यश्लोक! हे अच्युत! हे अव्यय! ॥२७॥

हे प्रभो! हे कृष्ण! मुझ देवगतिको प्राप्त होनेवालेको आज्ञा दीजिये, मैं कर्मवश जिस अवस्थाको प्राप्त होऊँ उसी अवस्थामें मेरा चित्त आपके चरणकमलोंमें रत रहे ॥२८॥

आप सबके कारण, अनन्तशक्ति, ब्रह्म, कृष्ण, वासुदेव (सर्वभूताश्रय) और इष्टापूर्तका फल देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥२९॥



---

१. भा० १०। ६४

षष्ठ प्रकरण

भगवान्‌का गार्हस्थ्य जीवन[1]

नारदकृत स्तुति तथा वन्दी राजाओंका प्रार्थनापत्र

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥
दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥[2]

---

१. भा० १० । ६९ से ७१ तक ।

२. भा० १० । ६९ के अन्तर्गत नारदकृत स्तुतिका अर्थ—

हे विभो ! हे अखिललोकनाथ ! जो आप सकल साधुओंमें मित्रभाव रखते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं, आपमें यह आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि जगत्‌की उत्पत्ति और रक्षाके लिये और धर्मादि पुरुषार्थका फल देनेके लिये आपका अवतार अपनी इच्छाके अनुसार हुआ है । (भाव यह है कि साधुकी रक्षा और खलोंको दण्ड देना युक्त ही है) ॥१७॥

मैं भक्तोंके मोक्षदायक, अति दुर्लभ होनेसे ब्रह्मादि योगेश्वरोंसे केवल हृदयगम्य, और संसारकूपमें निमग्न पुरुषोंके उतरनेके अवलम्बनरूप आपके चरणोंके दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गया हूँ, अब जैसे आपकी स्मृति बनी रहे वैसा अनुग्रह कीजिये जिससे सदा आपका ध्यान करता हुआ मैं विचरूँ ॥१८॥

भगवान् द्वारकामें अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। नारदजीको यह जाननेकी इच्छा हुई कि भगवान्ने नरकासुरके वधके उपरान्त इतनी स्त्रियोंके साथ विवाह किया। उनके साथ गृहस्थधर्म कैसे चला रहे हैं। नारदजी द्वारकामें आये और रुक्मिणीजीके महलमें गये। वहाँ देखा कि भगवान् पलंगपर लेटे हैं और रुक्मिणी पंखा कर रही हैं। भगवान्ने उठकर नारदजीको प्रणाम किया और यथाविधि पूजा की। नारदजीने भगवान्की स्तुति की जो इस प्रकरणके आदिमें लिखी गयी है।

फिर नारदजी किसी दूसरी स्त्रीके महलमें गये, वहाँ देखा कि भगवान् उद्धवजीके साथ पाँसा (चौपड़) खेल रहे हैं। भगवान्ने उठकर अभ्युत्थान किया और उपयुक्त शब्दोंमें उनका स्वागत किया। वहाँसे उठकर नारदजी तीसरे घरमें गये और वहाँ देखा कि भगवान् छोटे-छोटे बालकोंको प्यार कर रहे हैं।

तदनन्तर नारदजीने किसी घरमें भगवान्को स्नान करते, कहीं ब्राह्मणोंको भोजन कराते, कहीं ब्राह्मणोंके भोजन करनेके बाद शेष अन्नको खाते हुए, कहीं मौनव्रत धारण करके गायत्री जपते हुए देखा। कहीं घोड़ों तथा कहीं हाथियोंपर और हाथमें ढाल-तलवार लेकर मृगयाको जाते हुए देखा। कहीं उद्धव आदि मन्त्रियोंके साथ प्रजाके कल्याणके लिये सलाह-सम्मति करते हुए, कहीं स्त्रियोंके साथ जलक्रीड़ा करते, कहीं गोदान करते, कहीं एकान्तमें बैठकर पुरुषोत्तम आत्माका ध्यान करते और कहीं गुरुओंकी वस्त्र-आभूषणादिसे सेवा करते देखा। कहीं पुत्रोंके साथ, कहीं जामाताओंके साथ बैठे, कहीं यज्ञ करते, कहीं वेश बदलकर जाते हुए देखा।

नारदजीने ये सभी लीलाएँ एक ही घड़ीमें देखीं और भगवान्से कहने लगे कि आपकी मायाको प्रत्यक्ष रूपसे देखना कठिन है; परन्तु आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे हम इतना ही जानते हैं कि माया आपके स्वरूपमें ही स्फुरित होती है। हम आपके वास्तविक स्वरूपको

कुछ नहीं समझ सकते हैं। नारदजी कौतुकयुक्त और विस्मित हो गये। और भगवान्‌को बार-बार नमस्कार करके चले गये।

भगवान् अपने नित्यकर्मोंको यथाविधि करते थे। काण्वशाखा-वलम्बी होनेसे सूर्योदयके पूर्व स्नान, सन्ध्या, हवन, पितृतर्पण आदि करते थे। फिर वृद्धोंका और ब्राह्मणोंका पूजन करते थे। नित्य सुवर्णयुक्त हजारों गायोंका दान करते थे, फिर घृतमें अपना मुँह देखते थे। इस प्रकार प्रातःक्रिया करके अपनी देवसभामें जाते थे और वहाँ सब मन्त्री तथा अन्य पुरुषोंसे बातचीत करते थे।

एक समय एक नूतन पुरुष वहाँ आया, वह उन बीस हजार आठ सौ राजाओंका प्रार्थनापत्र लाया था, जिनको जरासन्धने कारागारमें बंद कर रक्खा था और उन्होंने उसमें भगवान्‌से अपनी मुक्तिकी प्रार्थना की थी। इस समय नारदजी भी इस कार्यका सम्पादन करनेके लिये वहाँ आ गये। भगवान्‌ने नारदजीसे पाण्डवोंकी कुशल पूछी, क्योंकि पाण्डवोंके राजसूययज्ञके बहानेसे ही जरासन्धका वध करना था और भीमके हाथसे जरासन्धकी मृत्यु हो सकती थी। नारदजीने पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञका निमन्त्रण कह सुनाया और भगवान्‌ने इन्द्रप्रस्थके लिये प्रयाण कर दिया।



कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥
लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे शरणागतोंके दुःख-नाशक ! इस जन्ममरणरूपी संसारसे डरे हुए और भेदबुद्धि रखनेवाले हम आपके शरणागत हुए हैं ॥२५॥

(अब, भेददर्शीको संसारभय होता है, यह वर्णन करते हुए नमस्कार करते हैं) इस संसारमें हमारे सदृश सब मनुष्य निषिद्ध या काम्य कर्मोंमें रत रहते हैं और आपके पाञ्चरात्र या गीता[2]में उपदिष्ट कर्मोंमें या आपकी पूजामें, जिससे उद्धार होता है, असावधान रहते हैं; तबतक ही जो बलवान् काल इस जीवकी जीवित रहनेकी आशाको तत्काल तोड़ देता है, ऐसे कालरूप आपको नमस्कार है ॥२६॥

(यह तो लोककी गति है, किन्तु हम आपके भक्त हैं इस कारण आश्चर्यसे पूछते हैं—) हे ईश ! आप जगदीश्वरने जब अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये और खलोंको दण्ड देनेके लिये, अपने अंश (सङ्कर्षण) के

१. भा० स्क० १० अ० ७०
२. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता ९ । २७)

कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥
स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥
तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

साथ अवतार लिया है तो फिर दूसरे (जरासन्धादि खल) लोग आपकी आज्ञा ('न मे भक्तः प्रणश्यति' आदि) का उल्लङ्घन करके क्यों आपके भक्तोंको पीड़ित करते हैं? अथवा क्या आपसे रक्षित हमारे समान प्राणियोंको अपने पूर्वकृत कर्मफल भोगने ही पड़ते हैं? इन दोनों ही बातोंको हम नहीं जानते हैं। (भाव यह है कि दोनों बातें अयुक्त हैं) ॥२७॥

(अब अपने ही दुःखका प्रतिपादन करते हैं—) हे ईश ! आपकी मायासे अत्यन्त दीन हुए हमलोग (विषयोंमें आसक्त होकर) क्लेश पाते हैं, और आपके अनुग्रहसे निष्काम पुरुषोंको जो आत्मसुख प्राप्त है उसका त्याग कर हम स्वप्नसुखके सदृश स्त्री-पुत्रादिकोंकी और परतन्त्र राजोचित सुखकी इच्छाको सदा भयपूर्ण मृतकतुल्य शरीरके द्वारा भारके समान वहन करते हैं ॥ २८ ॥

(अपनी मायाद्वारा विहित कर्मबन्धको आप ही छुड़ाइये) आपके चरण-कमल शरणागतोंके बन्धके नाशक हैं, इस कारण आप जरासन्ध-रूपी कर्मपाशसे बँधे हुए हमलोगोंको छुड़ाइये। क्योंकि जैसे सिंह भेड़ोंको घेर लेता है वैसे ही अकेले ही दश सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाले इस जरासन्धने हम सभी राजाओंको रोक रक्खा है ॥२९॥

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥३०॥

हे अजित ! हे चक्रधर ! जरासन्धने आपके साथ हुए अठारह बारके युद्धोंमें सतरह बार आपसे हार खायी, पश्चात् अनन्त पराक्रमी स्वेच्छया मनुष्यलीलाको स्वीकृत करनेवाले आपको एक बार जीतकर वह घमण्डमें चूर हो गया है और आपकी प्रजा (हम लोगों) को दुःख देता है, उससे हमारा उद्धार कीजिये ॥३०॥



सप्तम प्रकरण

जरासन्ध और शिशुपालादिका वध[1]

कारागृहमुक्त राजा तथा युधिष्ठिरकृत स्तुति[2]

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ४ ॥

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिव पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।

---

१. भा० स्क० १० अ० ७२—७४

२. भा० स्क० १० अ० ७२ के अन्तर्गत युधिष्ठिरजीकी स्तुतिका अर्थ—

हे कमलनाभ ! हे ईश ! जो पुरुष आपकी पापनाशक चरणपादुकाओंका सेवन, ध्यान तथा माहात्म्यवर्णन करते हैं, वे शुद्धचित्त होकर मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं और यदि वे विषयोंकी आशा करते हैं तो उनको भी पाते हैं, जो कि अन्य चक्रवर्तियोंको भी प्राप्त नहीं हैं ॥ ४ ॥

हे देवदेव ! हे विभो ! इस लोकके प्राणी आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावको देख लें । कौरव और सृञ्जयोंमें जो आपका भजन करते हैं और जो आपका भजन नहीं करते उन दोनोंकी स्थितिको आप दिखा दीजिये ॥ ५ ॥

(शङ्का—भगवान् राग-द्वेषरहित हैं, उनमें यह भेदभाव कैसे हो सकता है ? समाधान–) यद्यपि आप निरुपाधि, सर्वात्मा, समदृष्टि, आनन्दरूप ब्रह्म हैं, आपकी 'यह मेरा है, यह पराया है' इस प्रकार भेदबुद्धि नहीं है; तथापि सर्वदा समानदृष्टि होनेपर जो पुरुष

संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

भगवान्के इन्द्रप्रस्थ पहुँचनेपर युधिष्ठिरने स्तुतिपूर्वक उनका स्वागत किया। इस प्रकरणके आदिमें उसका उल्लेख किया गया है। युधिष्ठिरने निवेदन किया 'हे प्रभो! हे गोविन्द! मैं राजसूय-यज्ञ करनेके बहाने आपका पूजन करना चाहता हूँ। यदि आपकी सम्मति हो तो यह काम किया जाय।' भगवान्ने कहा, आपके लिये यह काम कठिन नहीं है, आपके भाई सब राजाओंको जीतकर यज्ञकी सामग्री इकट्ठी कर सकते हैं। जरासन्ध बली तो है, किन्तु भीम उसको पछाड़ देगा। तदनन्तर भगवान्, भीम और अर्जुन ब्राह्मणका वेश धारणकर जरासन्धके निवासस्थान गिरिव्रजको चले गये।

इन तीनों (भगवान्, भीम और अर्जुन) ने जरासन्धसे प्रार्थना की और कहा 'हम याचक हैं जिसकी हमें इच्छा है उसे हमारे समर्पण करो। जैसे सहनशील पुरुषोंके लिये कुछ भी दुःसह नहीं है, विषयासक्त पुरुषोंके लिये कुछ भी अकरणीय नहीं है, ब्रह्मको व्यापक समझनेवालोंके लिये कोई भी पराया नहीं है वैसे ही उदार पुरुषोंके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। हरिश्चन्द्र विश्वामित्रका ऋण चुकानेके लिये स्त्री-पुत्रादि बेचकर स्वयं चाण्डालत्वको प्राप्त होनेपर भी खिन्न नहीं हुए। रन्तिदेव अपने कुटुम्बसहित ४८ दिनतक उदकके बिना रहे, तदनन्तर प्राप्त हुआ जल याचकोंको देकर ब्रह्मलोकको गये। इसी प्रकार मुद्गल ब्राह्मण छः मास कुटुम्बसहित उपवास करके ब्रह्मलोकको गया। राजा शिवि शरणमें आये हुए कबूतरकी रक्षा करनेके लिये अपना मांस बाजको देकर स्वर्गको गया। राजा बलिने ब्राह्मणका वेश धारण करनेवाले श्रीहरिको सर्वस्व देकर उन्हींको अपना द्वारपाल बना लिया। कपोत

कल्पवृक्षकी सेवा करता है उसीको फल मिलता है अन्यको नहीं मिलता, वैसे ही जो आपकी भलीभाँति सेवा करता है उसके ही ऊपर आपकी सेवाके अनुरूप कृपा होती है इसमें कोई वैषम्य-नैर्घृण्य आदि दोष नहीं आता ॥ ६ ॥

व्याधरूप अतिथिको स्त्रीका और अपना मांस देकर विमानमें बैठ स्वर्गको गया और व्याध उन दोनोंका धैर्य देखकर, स्वयं विरक्त होकर वनमें चिता बनाकर उसमें भस्म हो गया और निष्पाप होकर स्वर्गमें जा पहुँचा ।'

इस वचनको सुनकर राजा जरासन्ध गद्गद हो गया, किन्तु उन तीनोंके शरीरका गठन और हाथमें धनुषके खींचनेसे उत्पन्न हुए चिह्नों-को देखकर सोचने लगा 'शायद मैंने इनको कभी देखा है, और ये ब्राह्मण नहीं हो सकते ।' अन्तमें दानकी महिमाका विचारकर वह बोला—'हे ब्राह्मणो ! जो तुम्हें रुचिकर हो उसे माँग लो यदि मेरा मस्तक तुम्हें अच्छा लगेगा तो मैं उसे भी दे दूँगा ।'

तत्पश्चात् भगवान्, भीम और अर्जुनने अपना-अपना परिचय दिया और जरासन्धसे कहा कि हम द्वन्द्वयुद्ध करना चाहते हैं, हममेंसे किसी-के साथ युद्ध करो । इसपर जरासन्ध बड़ा हँसा और बोला—अरे मूढो ! यदि तुम्हें युद्ध ही अभीष्ट है तो उसे देता हूँ । किन्तु हे कृष्ण ! तू डरपोक है, और भयसे मथुरा नगरी छोड़कर द्वारका भाग गया है, इस कारण तुझसे मैं न लड़ूँगा और न अर्जुनसे लड़ूँगा क्योंकि वह मेरे वय और बलमें समान नहीं है । हाँ, भीमसे लड़ूँगा क्योंकि वह मेरे समान बलशाली है ।

ऐसा कहकर उसने भीमसेनको अपना शस्त्रागार दिखाया और उसमेंसे एक गदा छाँट लेनेके लिये कहा । जरासन्ध एक गदा लेकर युद्धके लिये उद्यत हुआ । यह युद्ध सत्ताईस दिनतक चलता रहा । रात्रिमें ये तीनों जरासन्धके घरमें रहते थे । जरासन्धने आतिथ्य करनेमें किसी प्रकारकी कोई कमी न रक्खी। अन्तमें भीम थक गया, उस-ने श्रीकृष्णजीसे अपना हाल कहा । तब भगवान्‌को जरासन्धके जन्म-वृत्ता-न्तका स्मरण हो आया । जन्मसमयमें जरासन्धके शरीरके दो विभाग हुए थे । जरा नामकी राक्षसीने उसके दोनों टुकड़ोंको जोड़ दिया था । युद्धके समय भगवान्‌ने एक घासका तिनका उठाकर उसको बीचसे फाड़ दिया । भीमने सङ्केत समझकर मौका मिलनेपर जरासन्धके शरीरके दो

टुकड़े कर दिये। जरासन्धके मरनेके पश्चात् उसके पुत्र सहदेवका राज्याभिषेक कर दिया। बन्दी राजा छुड़वा दिये गये। इन राजाओंद्वारा की गयी स्तुतिका इस प्रकरणके अन्तमें उल्लेख किया जायगा।

तदनन्तर भगवान्, भीम और अर्जुन हस्तिनापुरको लौट आये। वहाँका सब वृत्तान्त महाराज युधिष्ठिरसे कह दिया। अब युधिष्ठिरने यज्ञकी तैयारी की और ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंको होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विजोंके रूपमें वरण किया।

तदनन्तर यह प्रश्न छिड़ा कि सभापति कौन हो ? सहदेवने प्रस्ताव किया कि भगवान् श्रीकृष्णके सामने अन्य व्यक्ति सभापतिके आसनपर बैठने योग्य नहीं है। क्योंकि ये सर्वदेवरूप और देशकालधनादिरूप हैं। यह विश्व और यज्ञ उनके रूप हैं। अग्नि, आहुति और मन्त्र उनके ही आराधनके साधन हैं; ज्ञान और उपासनासे उनका ही प्रतिपादन होता है। वे सृष्टिके पहिले सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे रहित थे। हे सभासदो ! यह दृश्यमान जगत् उनका ही स्वरूप है क्योंकि ये दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा न रख स्वयं जन्मरहित होकर अपनेहीद्वारा इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशके कारण हैं। सब लोग इन्हींके अनुग्रहसे तप, योग आदि नाना प्रकारके सत्कर्म करके धर्मादि पुरुषार्थको सिद्ध करते हैं।

सभी सभासदोंद्वारा सहदेवके प्रस्तावका अनुमोदन होनेपर भगवान्ने आसन ग्रहण किया, दमघोषका पुत्र शिशुपाल, श्रीकृष्णजीके गुणोंका वर्णन सुनकर अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ और भगवान्के प्रति अनादरपूर्ण कठोर वचन कहने लगा। ग्वाला, क्षत्रियकुलदूषण, वर्ण, आश्रम और कुलसे भ्रष्ट, सकल धर्मोंसे बहिष्कृत, यथेच्छ आचरण करनेवाला, गुणहीन, ययातिके शापसे राज्यभ्रष्ट, चोर, मथुरासे निकाला हुआ, इत्यादि अनेक दुर्वचन उसने कहे। शिशुपालके इस व्यवहारपर और राजा क्रुद्ध हो गये। पाण्डव भी उसको मारनेके लिये उद्यत हो गये। शिशुपाल भी तलवार खींचकर धर्मराजकी तरफ बढ़ा। भगवान्

जानते थे कि यह दूसरेके हाथसे नहीं मरेगा क्योंकि वह उनका पार्षद था। और यह भी उन्हें विदित हो गया कि इसके पापका घड़ा अब भर चुका है क्योंकि भगवान्‌ने उसकी माँको शिशुपालके एक सौ अपराध क्षमा करनेका वचन दिया[1] था। बस, फिर क्या था भगवान्‌ने छुरेके समान धारवाले चक्रसे उस आततायीका मस्तक धड़से अलग कर दिया। उस समय शिशुपालके शरीरसे एक तेज निकला वह श्रीकृष्णकी देहमें समा गया। यह शिशुपालका तीसरा शरीर था। पहिले हिरण्यकशिपु और रावणके देहमें प्रकट हुआ था और रात-दिन घबड़ायी हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के ही ध्यानमें लगा रहता था। अतः तन्मय होनेके कारण सायुज्यमुक्तिको प्राप्त हुआ।



---

१. जब शिशुपाल उत्पन्न हुआ तो इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। उसकी माँसे नारदजीने कहा था यह बड़ा पराक्रमी और चक्रवर्ती राजा होगा। इसकी मृत्यु उसीके हाथसे होगी, जिसकी गोदमें बैठनेसे इसकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ गिर पड़ेंगी। शिशुपालकी माँ इस बालकको, जो उसके यहाँ आता था उसीकी गोदमें बिठाती थी। एक दिन उसके भतीजे श्रीकृष्ण वहाँ आये और उनकी गोदमें बैठते ही शिशुपालकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ गिर गयीं। तब शिशुपालकी माताके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने यह वचन दिया था कि वे उसके एक सौ अपराध क्षमा करेंगे।

कारागृहमुक्त राजाओंद्वारा की गयी स्तुति[1]

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥
नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥
राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥ १० ॥
मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥

हे देवदेवेश ! हे शरणागतोंके दुःखनाशक ! हे अव्यय ! हे कृष्ण ! आपको नमस्कार है । कारागारसे छुड़ाये हुए और दुःखके कारण सब विषयोंसे विरक्त हम आपकी शरणमें आये हैं, हमको इस भयानक संसारसे मुक्त कीजिये ॥ ८ ॥

हे नाथ ! हे मधुसूदन ! हे विभो ! हम इस जरासन्धके प्रति किसी तरहकी दोषदृष्टि नहीं रखते हैं कि इसने हमारा राज्य छीन लिया है हम तो इसको भी आपका अनुग्रह ही समझते हैं ॥ ९ ॥

राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उच्छृंखल राजा अपनी भलाई नहीं समझ सकता और आपकी मायासे मोहित होकर इन अनित्य सम्पत्तियोंको नित्य मान बैठता है ॥ १० ॥

जैसे मूढ़बुद्धि मृग आदि मृगतृष्णाको जलपूर्ण तालाब समझ बैठते हैं वैसे ही अविवेकी पुरुष सृष्टि आदि विकारसे उत्पन्न (संसारके) मायिक पदार्थोंको परमार्थस्वरूप देखते हैं ॥ ११ ॥

---

१. भा० १० । ७३

जानते थे कि यह दूसरेके हाथसे नहीं मरेगा क्योंकि वह उनका पार्षद था। और यह भी उन्हें विदित हो गया कि इसके पापका घड़ा अब भर चुका है क्योंकि भगवान्‌ने उसकी माँको शिशुपालके एक सौ अपराध क्षमा करनेका वचन दिया[1] था। बस, फिर क्या था भगवान्‌ने छुरेके समान धारवाले चक्रसे उस आततायीका मस्तक धड़से अलग कर दिया। उस समय शिशुपालके शरीरसे एक तेज निकला वह श्रीकृष्णकी देहमें समा गया। यह शिशुपालका तीसरा शरीर था। पहिले हिरण्यकशिपु और रावणके देहमें प्रकट हुआ था और रात-दिन घबड़ायी हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के ही ध्यानमें लगा रहता था। अतः तन्मय होनेके कारण सायुज्यमुक्तिको प्राप्त हुआ।



---

१. जब शिशुपाल उत्पन्न हुआ तो इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। उसकी माँसे नारदजीने कहा था यह बड़ा पराक्रमी और चक्रवर्ती राजा होगा। इसकी मृत्यु उसीके हाथसे होगी, जिसकी गोदमें बैठनेसे इसकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ गिर पड़ेंगी। शिशुपालकी माँ इस बालकको, जो उसके यहाँ आता था उसीकी गोदमें बिठाती थी। एक दिन उसके भतीजे श्रीकृष्ण वहाँ आये और उनकी गोदमें बैठते ही शिशुपालकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ गिर गयीं। तब शिशुपालकी माताके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने यह वचन दिया था कि वे उसके एक सौ अपराध क्षमा करेंगे।

कारागृहमुक्त राजाओंद्वारा की गयी स्तुति[1]

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥
नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥
राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥ १० ॥
मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥

हे देवदेवेश ! हे शरणागतोंके दुःखनाशक ! हे अव्यय ! हे कृष्ण ! आपको नमस्कार है । कारागारसे छुड़ाये हुए और दुःखके कारण सब विषयोंसे विरक्त हम आपकी शरणमें आये हैं, हमको इस भयानक संसारसे मुक्त कीजिये ॥ ८ ॥

हे नाथ ! हे मधुसूदन ! हे विभो ! हम इस जरासन्धके प्रति किसी तरहकी दोषदृष्टि नहीं रखते हैं कि इसने हमारा राज्य छीन लिया है हम तो इसको भी आपका अनुग्रह ही समझते हैं ॥ ९ ॥

राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उच्छृंखल राजा अपनी भलाई नहीं समझ सकता और आपकी मायासे मोहित होकर इन अनित्य सम्पत्तियोंको नित्य मान बैठता है ॥ १० ॥

जैसे मूढ़बुद्धि मृग आदि मृगतृष्णाको जलपूर्ण तालाब समझ बैठते हैं वैसे ही अविवेकी पुरुष सृष्टि आदि विकारसे उत्पन्न (संसारके) मायिक पदार्थोंको परमार्थस्वरूप देखते हैं ॥ ११ ॥

---

१. भा० १० । ७३

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥ १२ ॥
त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥ १३ ॥
अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १४ ॥

हे विभो ! हे कृष्ण ! हम पहले (अपने राज्यके शासनकालमें) लक्ष्मीके मदसे अन्धे होकर इस पृथिवीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छासे परस्पर डाह करते थे और आगे आनेवाले मृत्युरूप आपको कुछ भी न गिनते हुए हम दयारहित एवं दुरभिमानयुक्त हो धनके लिये अपनी प्रजाको पीड़ा पहुँचाते थे ॥ १२ ॥

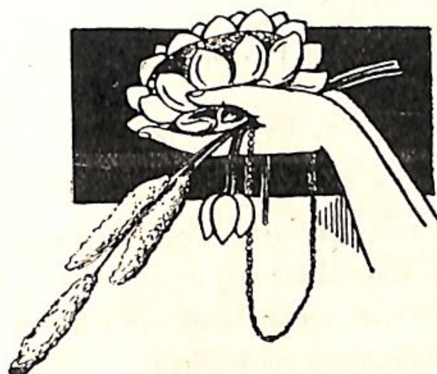
वे ही हम इस समय अदृश्य वेगवान् और बड़े पराक्रमी कालस्वरूप आपसे सब सम्पत्तियोंके भ्रष्ट हो जानेके कारण गर्वरहित होकर आपकी कृपासे ही आपके चरणोंका स्मरण करते हैं । [भाव यह है कि राज्यच्युति भी आपका अनुग्रह ही है] ॥ १३ ॥

हे विभो ! हम इस कारण प्रतिक्षण क्षीण होते हुए और रोगोंके उत्पत्तिस्थान अपने शरीरसे सेवन करने योग्य मृगतृष्णारूप जलके सदृश राज्यकी कुछ इच्छा नहीं करते हैं इसी प्रकार सुननेमें प्रिय लगनेवाले कर्मोंसे सम्पाद्य स्वर्गादि फलकी भी इच्छा नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १६ ॥

जिस उपायका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे इस संसारमें भ्रमण करते हुए भी हम आपके चरणकमलोंका स्मरण करना न भूल जायँ उस उपायको आप हमसे कहिये ॥ १५ ॥

हे कृष्ण ! हे वासुदेव ! हे हरे ! हे परमात्मन् ! हे शरणागत-दुःखभञ्जक ! हे गोविन्द ! आपको नमस्कार है ॥ १६ ॥



अष्टम प्रकरण

सुदामाका चरित्र और वसुदेवजीका यज्ञ[1]

सुदामा तथा ऋषियोंद्वारा की गयी स्तुति

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥
भक्ताय चित्रा भगवान्हि संपदो राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥[2]

प्रायः सब खलोंका वध हो चुका था केवल शाल्व, दन्तवक्त्र और विदूरथ बचे थे । इनका भी भगवान्‌ने अन्त कर दिया और आनन्द-से द्वारकामें रहने लगे ।

एक समयकी बात है कि भगवान्‌का सहपाठी और बालकालका

---

१. भा० स्क० १० अ० ७६ से ८४ तक ।

२. भा० स्क० १० अ० ८१ के अन्तर्गत सुदामाजीकृत स्तुतिका अर्थ—

[भगवान् श्रीकृष्णका अपने भक्तोंमें अतिशय प्रेम देखकर उनकी भक्तिकी प्रार्थना करते हैं–] मुझे अनेक जन्म-जन्मांतरोंमें उन्हीं भगवान् कृष्णका प्रेम, हितवार्ता, उपकारकता और सेवकत्व प्राप्त हो । उन्हीं महानुभाव कृष्णके साथ विशेषरूपसे आसक्तिको प्राप्त हुआ मैं उनके भक्तोंकी अमूल्य संगतिको प्राप्त होऊँ ॥३६॥

(शङ्का—भक्तिका फल सम्पत्ति जब मिल चुकी तो फिर भक्तिकी प्रार्थना क्यों करते हो ? समाधान–) धनी पुरुषोंकी मदजनित अधोगतिको देखते हुए स्वयं विचारवान् भगवान् अपने भक्तोंको धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य और पुत्र-कलत्र आदि नहीं देते । मुझ अविवेकीमें भक्ति न देखकर ही भगवान्‌ने यह सब धन-दौलत मुझे दिया है । अतः मैं केवल भक्ति ही चाहता हूँ ॥३७॥

मित्र सुदामा नामका ब्राह्मण स्त्रीके बहुत कहने-सुननेपर भगवान्से मिलनेके लिये आया। यह ब्राह्मण अतिदीन और दरिद्र था। मलिन वस्त्र ओढ़े अपनी काँखमें एक फटे कपड़ेसे बँधी कुछ चावल (चूड़ा) की पोटली छिपाये भगवान्के समीप उपस्थित हुआ। भगवान् उसको देखकर रुक्मिणीके पलंगसे उठ दौड़े और इस दुर्बल ब्राह्मणको छातीसे लगा लिया। रुक्मिणी और उसकी सहेलियोंने ब्राह्मणके शरीरपर सुगन्धयुक्त तैल मला और स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र पहिनाये। सुन्दर स्वादयुक्त भोज्य पदार्थ खिलाये।

तदनन्तर सुदामाका हाथ पकड़कर भगवान् गुरुकुलवासके समयकी वार्ता करने लगे। भगवान्ने पूछा 'क्या तुमको उस रात्रिकी बात याद है जब आँधी और वर्षाके कारण हम वनमें व्याकुल हो रहे थे और प्रातःकाल गुरु (सान्दीपनि) जी हमको खोजनेके लिये आये थे। उन्होंने हमको आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारी विद्या सफल हो क्योंकि हम देहका अनादर करके वनमें लकड़ी (समिध्) लानेके लिये गये थे और वहाँ हमने खूब कष्ट उठाया था।'

भगवान्ने और भी अनेक बातें पूछीं और हास्यमें कहा कि क्या हमारी भावजने हमारे लिये कुछ भेजा है ? सुदामाने लज्जित होकर मस्तक (सिर) नीचे कर लिया। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, उन्होंने सुदामाका वह वस्त्र खींचा जिसमें चावल (चूड़े) बँधे हुए थे और 'यह क्या है ?' कहकर पोटली खोल ली और बड़े आदरसे यह कहकर कि 'यह भेंट मुझे अत्यन्त प्रिय है' एक मुट्ठी चावल खा लिया। जब दूसरी मुट्ठी भरी तो लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूप रुक्मिणीजीने परमात्मा श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया और कहा 'हे विश्वात्मन्! आपके एक मुट्ठीभर अन्न खानेसे इस ब्राह्मणको मेरी कृपासे जो अर्थ इस लोक और परलोकमें प्राप्त हो सकता है वह मिल गया है अब क्या आप चावलकी दूसरी मुट्ठी खाकर मुझे भी इसके अधीन कर देना चाहते हैं ?' ब्राह्मण इस विषयको कुछ नहीं समझा। उसने भगवान्से द्रव्यकी प्रार्थना भी नहीं की और भगवान्ने भी उससे कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन ब्राह्मणको यह कहकर विदा कर दिया कि फिर कभी आइयेगा। ब्राह्मण भी आनन्द और आश्चर्ययुक्त होकर चला गया। उसने अपना अहोभाग्य

समझा कि भगवान्‌ने उसकी ऐसी सेवा की । उसने यह बड़ा उपकार समझा कि भगवान्‌ने धन न दिया क्योंकि धनके गर्वसे मनुष्य भगवान्‌के चरणोंका स्मरण नहीं करता । ऐसा विचार करता हुआ आनन्दयुक्त जब वह अपने घरके पास पहुँचा तो उसे वह अपना पुराना घर नहीं दिखायी दिया । किन्तु उसके स्थानपर एक विशाल भवन दीख पड़ा । उसमें उसने उत्तम वस्त्र पहिने हुए और अलङ्कारयुक्त एक स्त्रीको अनेक दासियोंके साथ देखा । वह इसीकी स्त्री थी । जब स्त्रीने उस अपने पतिदेवको बुलाया तब ब्राह्मणने समझा कि यह सब भगवान्‌की कृपादृष्टिका फल है ।

एक समय सूर्यग्रहणका पुण्ययोग आया । भगवान् और सब कुटुम्बवर्ग कुरुक्षेत्र गये । इस यात्राका कुछ वृत्तान्त द्वितीय अध्यायके नवें प्रकरणमें गोपियोंकी कथाके साथ लिख दिया गया है । कुरुक्षेत्रमें भगवान्‌के दर्शन करनेके लिये कई ऋषि भी आये थे । श्रीभगवान्‌ने उनका बड़ा सत्कार किया और विनीत भावसे कहा 'हमें आज जन्म लेनेका फल मिल गया क्योंकि देवताओंको भी दुर्लभ आपके दर्शन-सुखका हम अनुभव कर रहे हैं । स्थूलबुद्धि पुरुष आपके उपदेशोंको ग्रहण नहीं कर सकते । तीर्थ और देवता तो काल पाकर मनुष्यको पवित्र करते हैं किन्तु साधु तो दर्शनमात्रसे ज्ञान-भक्ति आदिका उपदेश करके पवित्र कर देते हैं । इस कारण जिस पुरुषको वात, पित्त और कफसे युक्त इस शवसमान जड शरीरमें अहंबुद्धि है और स्त्री-पुत्रादिमें 'यह मेरे हैं' ऐसी बुद्धि है, ईश्वर और देवताओंके दिव्य विग्रह छोड़कर केवल मृत्तिका, पाषाण आदिकी स्थूल मूर्तिमें पूजनीय बुद्धि है और तीर्थरूप साधुओंमें सर्वज्ञरूप बुद्धि नहीं है, ऐसे पुरुष गौ या गर्दभके समान हैं ।'

ऋषि भगवान्‌के दीन वचन सुनकर आश्चर्ययुक्त हुए, तदनन्तर उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की और जानेको उद्यत हुए । वसुदेवजीने उनको वहीं रोक लिया और उनको एक महान् यज्ञ करानेके लिये ऋत्विक् बना लिया । यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया । वसुदेवजीने सम्पूर्ण नन्दादि मण्डलीको वस्त्र तथा अलङ्कारोंसे विभूषित करके और ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणा देकर कुरुक्षेत्रसे विदा किया और स्वयं सब बान्धवोंके साथ द्वारकामें आ गये ।

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिताः विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥
अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥
अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥

दक्ष, कश्यप आदि विश्वस्रष्टाओंके अधीश्वर और तत्त्ववेत्ताओं-में श्रेष्ठ हमलोग भी जिनकी मायासे मोहित हुए हैं जो आप ईश्वर होकर भी मनुष्यचेष्टासे गुप्त होकर अनीश्वरवत् आचरण करते हैं अहो—आपकी लीलाएँ विचित्र हैं ॥ १६ ॥

(यह प्रतिपादन करते हैं कि भगवत्तत्त्व आप श्रीकृष्ण ही हैं) अक्रिय होकर भी आप उपादानरूप अपनेसे इस जगत्को बहुत प्रकारसे सृष्टि, रक्षा और नाश करते हैं किन्तु स्वयं बन्धनको प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे पृथिवी अपने कार्योंकी उत्पत्तिसे नानारूप और नामवाली (घटपटादि नामवाली) होती है। (अन्तमें पृथिवी ही सत्य रहती है, जैसे कि श्रुति कहती है 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्') इसी प्रकार आप विभुका चरित्र मनुष्योंका अनुकरण-मात्र है वास्तविक नहीं है ॥ १७ ॥

(अब तीन श्लोकोंसे कहते हैं कि आपका चरित्र लोकसंग्रहके लिये है—) यद्यपि आप वर्णाश्रमोंके प्रवर्तक एवं पुरुषोत्तम हैं; तथापि भक्तोंकी रक्षा करने और खलोंको दण्ड देनेके लिये समय-समयपर शुद्ध सत्त्वगुणी स्वरूप धारण करके केवल लीलासे सनातनधर्म और वेद-धर्म (मार्ग) का पालन करते हैं ॥ १८ ॥

१. भा० १० । ८४

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥ १९ ॥
तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मञ्छास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥
अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया संगम्य सद्गत्या यदन्तःश्रेयसां परः ॥ २१ ॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२ ॥
न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥ २३ ॥

वेद ही आपका शुद्ध हृदय है अर्थात् अन्तरङ्ग रूप है जिसमें विद्यमान कार्य कारण और इन दोनोंसे पर केवल सत्स्वरूप ब्रह्म तप, स्वाध्याय और संयमसे प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

हे कृष्ण ! आपका हृदय वेद है; अतः वेदप्रवर्तक ब्राह्मणकुल वेदसे अवगत होनेवाले आपका श्रेष्ठ प्राप्तिस्थान है यह जानकर आप उसका सम्मान करते हैं इस कारण आप ब्राह्मणभक्तोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

(अब यह लोकसंग्रहमात्र है, हम आपकी संगतिसे कृतार्थ हो गये हैं ऐसा कहते हैं—) सत्पुरुषोंकी गतिरूप आपकी संगति पाकर आज हमारी विद्या, तप, ज्ञान और जन्म सफल हो गये हैं क्योंकि आपकी संगति ही परम गति है अर्थात् कल्याणोंकी अवधि है उसे छोड़ दूसरा उत्तम फल नहीं है ॥ २१ ॥

अपनी योगमायासे जिनकी महिमा आच्छन्न है ऐसे अकुण्ठित-बुद्धि परमात्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥ २२ ॥

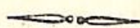
मायारूप परदेसे ढके हुए सबके आत्मा, काल और ईश्वररूप आपको ये राजा और आपके साथ रहने और भोजन करनेवाले यादव भी नहीं जानते हैं ॥ २३ ॥

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥
एवं त्वां नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥२५॥
तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

जैसे सोया हुआ पुरुष, स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंको सत्य समझकर अपनेको (मनसे भासित होनेवाला अयथार्थ सिंहादि रूप समझता है) और उससे पृथक् अपने यथार्थ देवदत्तादि रूपको नहीं जानता ॥ २४ ॥

इसी प्रकार स्वप्नादितुल्य अयथार्थ विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूपा मायासे जिनके चित्तको भ्रम हो गया है, वे स्मृतिका नाश हो जानेसे आत्मस्वरूप आपको नहीं जान सकते हैं ॥ २५ ॥

आज हमने आपके उन चरणकमलोंके दर्शन पाये हैं जो पापसमूहको नाश करनेवाली जाह्नवीके आश्रय हैं और योगारूढ पुरुष ही जिनका केवल मनमें ध्यान कर सकते हैं (अर्थात् दर्शन नहीं पाते हैं) इस कारण आप अपने भक्तोंपर भक्तिप्रदानका अनुग्रह कीजिये । (शङ्का– भक्तिकी क्या आवश्यकता है, तप ही करते रहो ? समाधान—) वृद्धिको प्राप्त हुई भक्तिसे जिनका जीवकोश (लिङ्गशरीर) दूर हो गया है वे ही पूर्वकालिक भक्त तुम्हारी गतिको प्राप्त हुए हैं, दूसरे आपकी गतिको नहीं प्राप्त हुए ॥ २६ ॥



नवम प्रकरण

देवकीके छः मृत पुत्रोंका उद्धार

राजा बहुलाश्व, बालि, वसुदेव और श्रुतदेवकृत स्तुतियाँ

भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥३२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३३॥
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।

वसुदेवजीने ऋषियोंद्वारा की गयी स्तुति सुनकर यह जान लिया कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं। तब उन्होंने ईश्वररूपसे भगवान्‌की स्तुति की, उसका इस प्रकरणके अन्तमें उल्लेख है। देवकीको जब यह ज्ञात हुआ

---

१. भा० स्क० १० अ० ८५ । ८६

२. भा० स्क० १० अ० ८६ के अन्तर्गत राजा बहुलाश्वकृत स्तुतिका अर्थ—

हे विभो ! आप स्वयंज्योति और सब प्राणियोंके साक्षी आत्मा हैं। आपके चरण-कमलका स्मरण करनेवाले हम लोगोंके आप दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३१ ॥

आपने जो यह कहा था कि एकान्तमें भजन करनेवाले भक्तकी अपेक्षा बलरामजी, लक्ष्मीजी और ब्रह्माजी भी मुझे प्रिय नहीं हैं, अपने उस वचनको सत्य करनेके निमित्त, आप हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३२ ॥

आप द्रव्यहीन और शान्त ऋषियोंको अपना स्वरूपतक भी दे देते हैं, ऐसा जाननेवाला कौन-सा पुरुष आपके चरणकमलोंका त्याग करेगा ॥ ३३ ॥

तथा जो आप राजा यदुके वंशमें अवतार धारण करके इस संसारमें दुःख पानेवाले

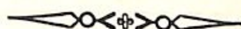
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ।।३४।।
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ।।३५।।

कि अपने गुरु सान्दीपनिजीके मृतपुत्रोंको लाकर श्रीकृष्ण भगवान्ने गुरुपत्नीको दिया तब उसने भगवान्से प्रार्थना की कि मैं उन छः पुत्रोंको देखना चाहती हूँ जिनको कंसने मार डाला था । ये छः देवता थे, ब्रह्माजीके शापसे दैत्ययोनिको प्राप्त हुए थे और हिरण्यकशिपुके यहाँ पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए थे । योगमायाने इनको देवकीके उदरमें डाल दिया था और कंसने इनको मार डाला था । तबसे ये पातालल्लोकमें राजा बलिके पास रहते थे ।

भगवान् इनको माँगनेके लिये पातालल्लोकमें (राजा बलिके पास) गये । राजा बलिने बड़े सत्कारपूर्वक भगवान्की पूजा और स्तुति की, उसका इस प्रकरणमें उल्लेख किया गया है । उन छओं पुत्रोंको लेकर भगवान् देवकीके समीप आये, देवकीजी उन पुत्रोंको देखकर आनन्द-सागरमें डूब गयीं । भगवान्के स्पर्शसे इन छओंको ज्ञात हो गया कि हम देवता हैं और उसी समय देवताओंके स्थान स्वर्गको चले गये ।

इसी प्रकार भगवान्के अनन्त पुण्य चरित्र हैं । उनका सम्पूर्ण-तया विवरण देनेके लिये व्यासजी भी समर्थ नहीं हुए । दशम स्कन्धके अन्तमें इतना और लिखा है कि भगवान्ने मिथिला देशमें जाकर परम-भक्त राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मणको दर्शन दिया। राजा बहुलाश्वने जो भगवान्की स्तुति की वह इस प्रकरणके आदिमें लिख दी गयी है, और श्रुतदेव तथा वसुदेवजीद्वारा कृत स्तुतियाँ अन्तमें लिखी हैं ।

मनुष्योंके तापोंको शान्त करनेके लिये त्रिलोकीमें सब लोगोंके पापसमूहको दूर करनेवाले अपने यशको फैलाते हैं; ऐसे सदा प्रकाशमान बुद्धिवाले, सुशान्त तप करनेवाले नर नारायण ऋषिरूप आप भगवान् कृष्णजीको नमस्कार है ।। ३४-३५ ।।



बलिकृत स्तुति

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३९॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥
दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।

अपनी फणाके एक भागमें पृथिवीको धारण करनेके कारण बृहत् शेषरूप भगवान्को नमस्कार है । जगद्-विधाता श्रीकृष्णको नमस्कार है । ज्ञान और भक्तियोगके प्रवर्तक परमात्मा ब्रह्मको नमस्कार है ॥३९॥

हम रजोगुणी और तमोगुणी स्वभाववालोंको आप दोनोंका दर्शन दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य होता हुआ भी आपकी कृपासे किसीको सुलभ हो जाता है इसीलिये तो आप स्वेच्छासे हमें प्राप्त हुए हैं ॥ ४० ॥

दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथोंके स्वामी तामस हम लोग भी विशुद्ध सत्त्वमूर्ति, वेदस्वरूप आपके विषयमें निरन्तर वैर रखनेवाले हैं ॥ ४१-४२ ॥

कोई शिशुपालादि वैरभक्ति करनेसे और कोई (गोपी आदि)

---

१. भा० स्क० १० अ० ८५

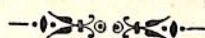
न तथा सत्त्वसंरब्धाः संनिकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥
तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्म-
त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥४५॥
शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।
पुमान्यच्छ्रद्धयातिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥४६॥

कामरूप भक्ति करनेसे तुम्हारे स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। इन्होंने आपकी जैसी समीपता प्राप्त की है वैसी सात्त्विक स्वभाववाले देवता आदिको भी प्राप्त नहीं हुई ॥४३॥

हे योगेश्वरेश्वर ! प्रायः योगेश्वर भी नहीं जानते कि तुम्हारी मायाका क्या स्वरूप है और वह किस प्रकारकी है। तो हम दैत्य किस प्रकार जान सकते हैं ? ॥ ४४ ॥

आप्तकाम पुरुषोंके भी खोजनेयोग्य आपके चरणकमलके आश्रय-से भिन्न घररूप अन्धकूपमेंसे निकलकर वृक्षोंसे गिरे हुए फल आदिसे अपना निर्वाह करता हुआ मैं जिस तरह अकेला या साधुओंके साथ विचरण करूँ वैसा आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें ॥ ४५ ॥

हे विभो ! हे सम्पूर्ण जीवोंके ईश्वर ! जिस आपके अनुशासनके अनुकूल कर्म करनेसे विधिनिषेधरूप बन्धनसे प्राणी मुक्त हो जाता है वैसा ही उपदेश देकर हमको आप निष्पाप कीजिये ॥ ४६ ॥



वसुदेवकृत स्तुति[1]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्सङ्कर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४ ॥
एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन्प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥ ५ ॥

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सङ्कर्षण ! हे सनातन ! मैं जानता हूँ कि आप दोनों इस जगत्के साक्षात् कारण जो प्रकृति-पुरुष हैं उनके भी कारणरूप परमेश्वर हैं ॥३॥

(शंका—यह जगत् अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, ऐसी परिस्थितिमें यह जगत् प्रकृति और पुरुषसे उत्पन्न हुआ है और प्रकृति तथा पुरुषके भी कारण होनेके कारण आप दोनों परमेश्वर हैं यह कैसे कहते हो ? समाधान—) यह जगत् जिस अधिष्ठानमें स्थित है, जिस कर्ता, करण और अपादानसे जिसके सम्बन्धसे जिसके लिये जैसा और जब यह जगत् उत्पन्न है—अर्थात् जो इसके प्रयोज्यकर्ता या कार्यकर्ता हैं वे सब प्रकृति और पुरुषके ईश्वर आप ही हैं ॥४॥

हे अधोक्षज ! अपनेहीमें आप ही उत्पन्न किये गये देव, पशु और मनुष्यादिरूप इस जगत्में अन्तर्यामीरूपसे स्वयं प्रवेश करके जन्मादि विकाररहित होते हुए भी आप (क्रियाशक्तिरूप) प्राण और (ज्ञानशक्तिरूप) जीव होकर इसका धारण और पोषण करते हैं ॥५॥

---

१. भा० १० । ८५

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥
कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।

(शंका—यदि प्राणादिकी विचित्र शक्तियाँ ही कारण हैं तो कारण होनेसे परमेश्वरको सर्वात्मक कैसे कहते हो ? समाधान—प्राणादिका भी कारण परमेश्वर ही है) जगत्को उत्पन्न करनेवाले प्राणादिकी जो शक्तियाँ हैं वह परमेश्वरकी ही हैं, क्योंकि प्राणादि परतन्त्र हैं—(जैसे बाणमें स्वतः लक्ष्यवेधनशक्ति नहीं है किन्तु उसमें जो वेधनशक्ति आती है वह बाण चलानेवाले पुरुषकी है। शंका—परमेश्वरके समान प्राण भी स्वतन्त्र क्यों न समझा जाय ? अर्थात् भगवान् और प्राणवर्गको स्वतन्त्र ही क्यों न समझा जाय ? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि) दोनोंमें समानता नहीं है, प्राण जड़ है और ईश्वर चेतन है, इस कारण प्राण स्वतन्त्र नहीं है, चेतन भगवान्के अधीन है (शंका—प्राणादिमें शक्ति न होनेसे उनमें क्रिया कैसे आती है ? समाधान—) चेष्टा करनेवालेकी ही उनमें शक्ति होती है जैसे वायुकी शक्तिसे तिनके उड़ते हैं और मनुष्यकी शक्तिसे बाणमें वेग आता है ॥ ६ ॥

(परतन्त्रताका ही प्रतिपादन करते हैं—) चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, तारागण और बिजलीका चमकना, पर्वतोंका खड़ा रहना, भूमिका गन्ध, गुण तथा सब प्राणियोंको धारण करना यह सब आपकी शक्तियाँ हैं। (गीता—यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्[1], श्रुतिः—तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति[2]) ॥७॥

हे ईश्वर ! जलमें तृप्ति करने और जीवित रखनेकी शक्ति और

१. गीता १५ । १२

२. मुण्डक० २ । १०

ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥ ८ ॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥
इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥१०॥
भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥
नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१२॥

देवतासे अधिष्ठित होना, जल और उसका रस एवं वायुकी इन्द्रिय और अन्तःकरणका सामर्थ्य, शरीरसामर्थ्य, चेष्टासामर्थ्य और चलन-शक्ति ये सब आपकी ही शक्तियाँ हैं ॥८॥

दिशा और सब दिशाओंके मध्यका अवकाश, सामान्य आकाश और उसकी आश्रित शब्द तन्मात्रा तथा नाद (पश्यन्ती) वर्ण और ओङ्कार (मध्यमा) एवं जिससे पदार्थोंका पृथक्करण होता है वह पद अर्थात् वर्ण पद आदिरूप (वैखरी) आप ही हैं ॥ ९ ॥

इन्द्रियोंकी विषयोंको प्रकाशित करनेकी शक्ति, उनके अधिष्ठाता देवता, उनका अनुग्रह अधिष्ठानशक्ति, बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी प्रतिसन्धान (यथार्थात्मानुसन्धान) शक्ति आप ही हैं ॥१०॥

आकाशादि महाभूतोंका कारण तामस अहंकार, इन्द्रियोंका कारण राजस अहंकार, उनके देवताओंका कारण सात्त्विक अहंकार और जीवों-के संसारका कारण प्रधान (प्रकृति) आप ही हैं ॥११॥

जैसे मिट्टीके विकार घड़े आदिमें मृत्तिका और सुवर्णादिके विकार कटक, कुण्डल आदि आभूषणोंमें सुवर्ण अविनाशी है वैसे इन संपूर्ण नाशवान् पदार्थोंमें अविनाशी परमार्थतत्त्व आप ही हैं ॥१२॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥
तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः ॥१४॥
गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मावबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥
यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण एवं इनके परिणाम महत्तत्त्व आदि पदार्थ साक्षात् परब्रह्म-स्वरूप आपमें योगमायासे कल्पित हैं। (भाव यह है कि मैं मनुष्य हूँ, सुखी हूँ अथवा दुःखी हूँ ये भाव आपके अंशभूत जीवमें आरोपित हैं) ॥ १३ ॥

इस कारण ये पदार्थ हैं ही नहीं; (यदि कहो कि ये नहीं हैं तो इनकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—) जब आपमें कल्पित होते हैं तभी आपमें इनकी प्रतीति होती है और तभी आप इनमें कारण-रूपसे अनुस्यूत प्रतीत होते हैं और जब व्यवहारकी अवस्था नहीं होती है तब केवल आप ही शेष रहते हैं ॥१४॥

(अब यह कहते हैं कि इसी कारण यह संसार अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रतीत होता है) सत्त्व आदि गुणोंके प्रवाहरूप इस संसारमें पड़े हुए अज्ञानी जन सर्वान्तर्यामी आपके दुर्बोध याथात्म्यको न जानते हुए अज्ञानसे और अज्ञानमूलक पुण्य-पाप-कर्मोंसे जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होते हैं ॥१५॥

(भगवत्तत्त्वका निरूपण करके भगवत्प्राप्ति नहीं होनेसे शोक करते हैं—) हे ईश्वर ! इस संसारमें पूर्व जन्मके पुण्यसे प्राप्त अति दुर्लभ, अविकल इन्द्रियोंसे युक्त, अतएव अपने कार्य (साधन) में कुशल मनुष्य

स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥
असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥१७॥
युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥१८॥
तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्त्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१९॥

शरीर पाकर भी आपकी मायासे अपने स्वार्थमें (आपके तत्त्वके अनुसन्धान करनेमें या भक्ति प्राप्त करनेमें) असावधान रहनेवाले मेरी यह आयु व्यर्थ चली गयी ॥१६॥

जो देहको ही आत्मा और इस देहके सम्बन्धी पुत्रादिको आत्मीय समझते हैं उन सम्पूर्ण संसारी जीवोंको आप स्नेहरूपी रस्सियोंसे बाँध देते हैं ॥१७॥

(मैं अब समझ गया हूँ कि) आप दोनों हमारे पुत्र नहीं हैं किन्तु पृथिवीके भारभूत क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये अवतीर्ण हुए साक्षात् प्रकृति और पुरुषके भी ईश्वर हैं; ऐसा ही आपने भी स्वयं श्रीमुखसे कहा है ॥१८॥

इसलिये हे दीनबन्धो ! मैं आज शरणागतोंके संसाररूप भयका नाश करनेवाले आपके चरणकमलकी शरण आया हूँ। आजतक इन्द्रियोंसे जो विषयसेवन किया इतना ही बहुत हो गया, क्योंकि उससे शरीरमें आत्मबुद्धि और आप परमेश्वरमें पुत्रबुद्धि उत्पन्न हुई है ॥१९॥

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नाना तनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगायविभूतिमायाम् ॥२०॥

(शंका—यह कैसे समझा कि मैं परमेश्वर हूँ ? समाधान—) हे उरुगाय ! आपने सूतिकागृहमें हमसे कहा था कि यद्यपि मैं जन्मरहित हूँ तथापि स्वधर्मकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेता हूँ । इस प्रकार यद्यपि आप नाना (वाराहादि) शरीरोंको धारण करते हैं और उनको छोड़ देते हैं तथापि आप आकाशके सदृश असङ्ग हैं; व्यापकस्वरूप आपकी विभूतियों और मायाको कौन जान सकता है ? ॥२०॥



नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यहींदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥ ४४ ॥
यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥ ४५ ॥
शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ४६ ॥
हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।

हे पुरुषोत्तम ! आप हमें आज ही प्राप्त हुए हैं, यह बात नहीं है किन्तु तभी प्राप्त हो गये थे जब कि आप इस ब्रह्माण्डको अपनी सत्त्वादि शक्तियोंसे उत्पन्न करके अपनी सत्तासे उसमें प्रविष्ट हुए थे [केवल आपका दर्शन आज प्राप्त हुआ है] ॥ ४४ ॥

जैसे सोया हुआ पुरुष आपकी मायाद्वारा मोहित हुआ अपने मनकी कल्पनासे जाग्रत् शरीरसे भिन्न स्वप्नसम्बन्धी (देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीर बनाकर उसमें प्रवेश करके नाना प्रकारका प्रतीत होता है उसी प्रकार आप भी नानारूपसे भासते हैं ॥ ४५ ॥

आपका नित्य श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन और परस्पर वार्ता करनेवाले शुद्धचित्त पुरुषोंके हृदयमें ही आप प्रकाशित होते हैं । (मेरे तो आप लोचनगोचर हुए हैं इस कारण मेरा अहोभाग्य है) ॥४६॥

(शङ्का—यदि आप सबके हृदयमें हैं तो इसका क्या कारण है कि किसीके ही हृदयमें आप प्रकाशित होते हैं और किसीके हृदयमें नहीं होते । यदि कहो कि जैसे सूर्य मेघसे आवृत हो जाता है वैसे जीवकी उपाधियोंसे आवृत होनेके कारण नहीं प्रकाशित होते, तब तो आप

---

१. भा० १० । ८६

आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥ ४७ ॥
नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८ ॥
स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम हे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षगोचरः ॥ ४९ ॥

किसीके हृदयमें प्रकाशित नहीं होंगे—समाधान—) जिन लोगोंका चित्त केवल कर्मकाण्डसे विक्षिप्त है उनके हृदयमें स्थित होनेपर भी उनके लिये आप अति दूर हैं, क्योंकि वे अपने अन्तःकरणसे आपको ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु जिनके अन्तःकरणमें आपके श्रवण, कीर्तन-का संस्कार है उनके लिये दूर होते हुए भी आप अत्यन्त समीप हैं॥४७॥

(इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए नमस्कार करते हैं—) देहादि अहंकाररहितोंको मोक्ष देनेवाले, देहादिका अभिमान रखनेवाले जीवोंको आत्मासे भिन्न संसार देनेवाले, प्रधान और उसके कार्य महत्तत्त्वादिके नियन्ता; और अपनी मायासे स्वयं आच्छादित न होकर उस मायासे दूसरोंके ज्ञानको आच्छादित करनेवाले आपको नमस्कार है ॥४८॥

हे देव ! ऐसी महिमावाले आप परमेश्वर अपने दासभूत हम लोगोंको आज्ञा दीजिये कि हम आपका कौन-सा इष्टकार्य करें। आपका दर्शन प्राप्त होना ही मनुष्योंके दुःखरूप संसारका अन्त है ॥ ४९ ॥



दशम प्रकरण

महाभारतके युद्धका अन्त

कुन्ती तथा भीष्मद्वारा की गयी स्तुतियाँ[1]

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्[2] ॥

श्रीकृष्णजीकी फूफी कुन्तीका विवाह इन्द्रप्रस्थके राजा पाण्डुके साथ हुआ था । महाराज पाण्डुके पाँच पुत्र हुए । पुत्रोंकी बालावस्थामें ही महाराज पाण्डुका देहावसान हो गया था । इसलिये पाण्डुके भाई धृतराष्ट्र राजसिंहासनपर आरूढ़ हुए और पाण्डुके पुत्रोंकी रक्षाका भार भी उन्होंने अपने ऊपर लिया । धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे । उनके दुर्योधनादि सौ पुत्र थे । दुर्योधन, पाण्डुके पुत्रोंको कुछ न देकर सारा राज्य स्वयं हड़पना चाहता था, इसीलिये कोई न कोई बहाना निकाल-कर पाण्डवोंको सदा सताया करता था, धृतराष्ट्र भी उसके इस कृत्यसे सहमत था ।

भगवान्ने पाण्डवोंका हाल जाननेके लिये एक समय अक्रूरजीको इन्द्रप्रस्थ भेजा था और स्वयं भी कई बार वहाँ गये थे । भगवान् पाण्डवों-के दुःखोंको खूब जानते थे । उन्होंने दोनों पक्षोंमें अनेक बार सुलह कराना चाहा किन्तु दुर्योधनकी उद्दण्डतासे उनकी सदिच्छा सफल नहीं होने पायी ।

---

१. भा० स्क० १ अध्याय ७ से ९ तक

२. भा० स्क० १ । ८ । ९ के अन्तर्गत उत्तराद्वारा कृत स्तुतिका अर्थ—

हे महायोगिन् ! हे जगत्-पालक ! हे देवदेव ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मेरे भयको दूर करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है क्योंकि संसारके सब जीव मृत्युसे ग्रस्त होनेके कारण रक्षा करनेमें असमर्थ हैं ।

अन्तमें कौरवोंने यह निश्चय किया कि पाण्डवोंको उनका राज्य वापस नहीं देंगे। इस कारण इनमें भीषण युद्ध हुआ जिसका नाम महाभारत है। इस युद्धमें श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें रहे। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्धमें शस्त्र धारण नहीं करूँगा, इसी कारण भगवान्‌को युद्धमें अर्जुनका सारथि बनना पड़ा। यद्यपि भगवान्‌ने युद्धमें शस्त्र नहीं उठाया तथापि युद्धमें सब योद्धाओंको कठपुतलीकी भाँति अपने हाथके सूत्रसे लड़वाकर भूमिका भार दूर करनेके लिये मरवा डाला।

अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु एक बड़ा वीर योद्धा था। महाभारतके समय उसकी अवस्था केवल सोलह वर्षकी थी। एक समय कौरवोंने उसको अकेला पाकर घेर लिया, किन्तु वीर अभिमन्यु लड़ाईमें डटा रहा। कुछ समयके बाद उसके हाथसे अस्त्र गिर पड़ा। बस, फिर क्या था कौरवोंके सहस्रों योद्धाओंने उसपर प्रहार किये और वीर अभिमन्यु धराशायी हो गया। उनकी स्त्री उत्तरा उस समय गर्भवती थी।

कौरवोंकी तरफसे और भी कई अन्याय हुए। अश्वत्थामा द्रौपदीके सोते हुए पाँच पुत्रोंको मारकर उनके शिर दुर्योधनके पास ले गया। दुर्योधन प्रसन्न होनेके बदले इस घृणित कार्यसे दुःखी हुआ, क्योंकि उससे पाण्डव और कौरवोंके वंशका विच्छेद हो गया था।

उधर अर्जुनने अश्वत्थामाके वधकी प्रतिज्ञा की और उसको युद्धमें हराकर द्रौपदीके सम्मुख ले गये। किन्तु द्रौपदीने यह कहकर उसे छुड़ा दिया कि यह ब्राह्मण है और पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्यका पुत्र है, अतएव इसे मारना उचित नहीं है। द्रौपदीने यह भी कहा 'हाय! जैसे मैं अपने बालकोंकी मृत्युसे दुःखित होकर बार-बार अपने मुखपर अश्रुधारा बहाती हुई रो रही हूँ, वैसे ही अश्वत्थामाकी माता गौतमकी पुत्री पतिव्रता कृपी रुदन न करे।' धन्य है ऐसी करुणामयी नारीको।

अश्वत्थामा अपनी कठोरताको कहाँ छोड़नेवाला था। वह अतिनीच प्रकृतिका था। उसने युद्धका अन्त होनेपर भी पाण्डवोंपर ब्रह्मास्त्र

छोड़ा । यह ऐसा महान् अस्त्र था कि इसे कोई भी शस्त्र नहीं काट सकता था । इतनेमें परीक्षितकी माता उत्तरा चिल्लाती हुई भगवान् श्रीकृष्णकी ओर यह कहती हुई दौड़ी आयी कि किसीने मेरे अन्दर अग्नि जला दी है, प्राण सङ्कटमें पड़े हुए हैं आप रक्षा कीजिये । उत्तराकी स्तुति इस प्रकरणके आदिमें लिखी गयी है ।

भगवान् ब्रह्मास्त्रके प्रभावको समझ गये, उन्होंने सुदर्शन चक्रसे पाण्डवोंकी रक्षा की और उनके वंशकी रक्षा करनेके लिये अपनी माया शक्तिसे उत्तराके उदरमें मानो प्रवेश करके उत्तराके गर्भको ढँक लिया । इस प्रकार परीक्षित माताके गर्भमें मृत्युके मुखसे बच गये ।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि भगवान्ने उत्तराके गर्भमें कैसे प्रवेश किया । भगवान्का निर्गुण अथवा सगुण स्वरूप व्यापक है; अतः यह मानना पड़ेगा कि भगवान् उत्तराके गर्भमें भी थे किन्तु वहाँ उनकी अभिव्यक्ति नहीं थी । जब उत्तराने उनकी स्तुति की तब गर्भमें उनकी अभिव्यक्ति हो गयी । जैसे कि सूर्यका प्रकाश रूईको नहीं जला सकता किन्तु यदि उसपर आतिशी शीशासे (काँचसे) सूर्यका प्रकाश पड़ेगा तो रूई जल जायगी । इसी प्रकार भगवान् जिस योग्य स्थलपर जाना चाहें उस स्थलके आधारपर उनका विकास हो जाता है ।

फिर कुन्तीने भगवान्की स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है । उस समय महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका था । कुन्तीके प्रार्थना करनेपर भगवान् कुछ दिन और हस्तिनापुरमें ठहर गये थे । इसी अवसरपर भगवान् सब पाण्डवोंको साथ लेकर कुरुक्षेत्रमें भीष्म-पितामहको देखनेके लिये गये थे ।

भीष्म बाणोंसे आहत होकर शरशय्यामें मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे थे । बाणोंकी शय्यामें सोनेका मतलब यह था कि वे सूर्यके उत्तरायण मार्गमें प्राण छोड़ना चाहते थे और उनको मर्मभेदी बाण दक्षिणायनमें लगे थे । भीष्मजीको वरदान मिला था कि वे जब चाहेंगे तभी उनके प्राण छूटेंगे ।

भगवान्को देखकर भीष्म अति प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने अन्त समयमें भगवान्की वीररसपूर्ण स्तुति की, उसका उल्लेख भी इसी प्रकरणमें है ।



नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१८॥
मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥२०॥[1]

(कुन्ती भगवान्‌की बुआ थीं अतः रिस्तेमें और अवस्थामें बड़ी थीं, तो उन्होंने क्यों नमस्कार किया ? समाधान—) आप प्रकृतिसे पर आद्य पुरुष हैं, आपको नमस्कार है; क्योंकि आप ईश्वर हैं (प्रकृतिके नियन्ता हैं) और परिपूर्ण होनेसे सकल जीवोंके भीतर और बाहर व्याप्त हैं तथापि आपको कोई नहीं देख सकता है ॥ १८ ॥

(इसका हेतु कहती हैं—) आप मायारूप परदेसे ढके हुए हैं, इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते हैं, इस कारण अपरिच्छिन्न हैं । जिस प्रकार साधारण पुरुष बहुरूपियोंके स्वरूपोंको नहीं पहचान सकते हैं कि वे एक ही व्यक्तिके हैं—या भिन्न-भिन्न व्यक्तिके। वैसे ही देहाभिमानी पुरुष आपको नहीं देख सकते । (अतः मैं भक्तियोगको न जाननेवाली मूढ नारी केवल आपको प्रणाम करती हूँ) ॥ १९ ॥

तथा आत्मानात्म विचार करनेवाले मननशील और रागादिसे निवृत्त पुरुष भी अपनी अलौकिक महिमासे आपको नहीं देख सकते हैं । (जब उनकी यह दशा है) तो भक्तियोगका आचरण करनेके लिये या भक्तियोगका स्थापन करनेके लिये अवतीर्ण हुए आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती हैं ? ॥ २० ॥

१. भा० १ । ८

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥२१॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२२॥
यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥
विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।

(ज्ञान और भक्तियोग करनेमें अपनी अशक्ति बतलाकर केवल नमस्कार ही करती हैं—) आप कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्द-गोपकुमार, गोविन्दको नमस्कार है ॥ २१ ॥

जिनके नाभिमें पङ्कज है, जो पङ्कजोंकी माला धारण करनेवाले हैं, जिनके पङ्कजके समान प्रसन्न नेत्र हैं और जो पङ्कजसे अङ्कित चरणवाले हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

(अब यह कहती हैं कि आपकी मेरे ऊपर अपनी मातासे भी अधिक प्रीति है; क्योंकि) हे हृषीकेश ! आपने जिस प्रकार दुष्ट कंसके बन्दीगृहमें पुत्रशोकसे चिरसन्तप्त देवकीको विपत्तिसे छुड़ाया उसी प्रकार हे विभो ! पुत्रोंके साथ मेरी आपहीने बार-बार विपत्तियोंसे रक्षा की है ॥ २३ ॥

(अपनी विपत्तियोंको गिनती हैं—) हे हरे ! दुर्योधनद्वारा खिलाये विषसे, लाहके घरमें लगी हुई अग्निसे, हिडम्बादि राक्षसोंके भयानक दर्शनसे, द्यूतस्थानसे, वनवासके दुःखोंसे, प्रत्येक युद्धमें भीष्म आदिके अस्त्रोंसे और अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे आपने सदा हमारी रक्षा की है ।२४।

हे जगद्गुरो ! हमें सर्वत्र ही बार-बार विपत्तियाँ प्राप्त हों; क्योंकि

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२६॥
नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥
मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

उस समय आपका दर्शन मिलता है जिससे फिर जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त नहीं होता ॥ २५ ॥

(अब कहती हैं कि सम्पत्तियाँ तो मोक्षमार्गमें बाधा डालती हैं—) जिसका मद उत्तम कुलमें जन्म लेनेसे, ऐश्वर्यसे, विद्यासे और सम्पत्तिसे बढ़ गया है, वह पुरुष धन आदिमें आसक्त न रहनेवाले पुरुषोंको प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाले आपके राम, कृष्ण, गोविन्दादि नामोंका उच्चारण नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

जिसके अकिञ्चन (भक्त) ही सर्वस्व हैं, जिनकी धर्म, अर्थ और काम-विषयिणी वृत्तियाँ निवृत्त हो गयी हैं, जो आत्मामें रमण करनेवाले हैं, जो रागादि दोषोंसे रहित हैं और कैवल्यपद (मोक्ष)के देनेको समर्थ हैं ऐसे आपको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २७ ॥

(शङ्का–मैं तो देवकीका पुत्र हूँ, इस प्रकार मेरी स्तुति क्यों करती हो ? समाधान–) मैं आपको कालरूप समझती हूँ, देवकीका पुत्र नहीं समझती क्योंकि आप सबके नियन्ता, आदि-अन्त-रहित, विभु, सर्वत्र समभाव रखनेवाले हैं (मैं तो अर्जुनका सारथी हूँ मुझमें समभाव कैसे बन सकता है ? समाधान–) प्राणियोंमें जो कलह होता है वह उनकी विपरीत बुद्धिसे होता है, उसका आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ २८ ॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्-
द्वेष्यश्च यस्मिन्विषमा मतिर्नृणाम् ॥२९॥
जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्त्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥
गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम ताव-
द्या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥३१॥

हे भगवन् ! आपका कोई प्रिय या शत्रु नहीं है इससे मनुष्योंमें आपकी विषमबुद्धि नहीं है (अर्थात् आप पाण्डवोंके मित्रोंपर अनुग्रह और शत्रुओंका निग्रह नहीं करते)। अवतार लेकर मनुष्योंके अनुसार आपके कर्म करनेपर भी यह समझमें नहीं आता कि आपके मनमें क्या करनेकी इच्छा है ? ॥ २९ ॥

हे विश्वात्मन् ! सबके आत्मा, अज और अकर्ता आपका पशुओंमें वाराहादि रूपसे, मनुष्योंमें रामादि रूपसे, ऋषियोंमें वामनादि रूपसे, जलचरोंमें मत्स्यादि रूपसे जन्म लेना और तत्सम्बन्धी कर्म करना विडम्बना-मात्र ही तो है अर्थात् आपका शुद्ध स्वरूप आत्मा है और कर्म केवल लीलामात्र है ॥ ३० ॥

(आपका मनुष्योंकी नकल करना अत्यन्त आश्चर्यजनक है) आपने जिस समय यशोदाका अपराध किया था अर्थात् दहीके बर्तन फोड़ डाले थे और यशोदाने आपको बाँधनेके लिये रस्सी ली थी उस समय आपने जो अपनी दशा उसको दिखायी थी वह मुझे अत्यन्त मोहमें डालती है । यद्यपि आपसे भय भी डरता है तथापि उस समय भयके मारे आपने मुँह नीचा किया था और आपके नेत्र कज्जलसहित अश्रुजलसे भरे व्याकुल हो रहे थे ॥ ३१ ॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्त्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ ३२ ॥
अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ३३ ॥
भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥ ३४ ॥
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥ ३५ ॥

(आप दुर्जय हैं, क्योंकि जगत्को मोहित करते हैं इस हेतु आपके जन्मके अनेक कारण कहे जाते हैं, इसी विषयका चार श्लोकोंसे प्रतिपादन करती हैं—) कोई कहते हैं कि जैसे मलयगिरिकी कीर्ति बढ़ानेके लिये चन्दन उत्पन्न होता है, वैसे ही अजन्मा होकर भी आपने पुण्यकीर्ति युधिष्ठिरका यश फैलानेके लिये यदुके वंशमें जन्म लिया है ॥३२॥

दूसरे कहते हैं कि अजन्मा होकर भी आपने देवकी और वसुदेवजीकी पूर्व प्रार्थनाको पूर्ण करनेके लिये, संसारका कल्याण करनेके निमित्त और दैत्यों-का नाश करनेके लिये वसुदेवजीकी पत्नी देवकीके गर्भसे जन्म लिया*॥३३॥

कोई कहते हैं कि दैत्योंके अतिभारसे समुद्रमें डूबती हुई नावके समान क्लेश पाती हुई पृथिवीका भार हरनेके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे भगवान्ने अवतार लिया। (यह अवतारका प्रधान कारण प्रतीत होता है)॥ ३४ ॥

और कोई दूसरे कहते हैं कि आप ऐसे चरित्र करनेके लिये जन्म लेते हैं जिनका वे पुरुष श्रवण और स्मरण करें जो अविद्या-काम-कर्मसे दुःख पा रहे हैं (परमानन्दस्वरूपका अज्ञान अविद्या है उससे काम (देहाभिमान) होता है और तब मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है) ॥३५॥

---

* देवकी और वसुदेवजी पूर्व जन्ममें पृश्नि और सुतपा थे। उन्होंने प्रार्थना की थी कि भगवान् हमारे पुत्र हों। इसीलिये भगवान्ने इनके यहाँ पुत्ररूपसे जन्म लिया।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥ ३६ ॥
अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजा-
त्परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥ ३७ ॥
के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥ ३८ ॥
नेयं शोभिष्यते तत्र तथेदानीं गदाधर ।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥ ३९ ॥

जो पुरुष आपके चरित्रोंका सर्वदा श्रवण, गान, कीर्तन, स्मरण और आदर करते हैं वे ही भयके प्रवाहसे (जन्ममरणरूप प्रवाहसे) बचानेवाले आपके चरणकमलोंका शीघ्र दर्शन पाते हैं ॥ ३६ ॥

(अब चार श्लोकोंसे प्रार्थना करती हैं कि आप अभी यहाँसे (हस्तिनापुरसे) न जाइये) क्योंकि हे प्रभो ! हे भक्तकामद ! आपकी ही कृपासे जीवित रहनेवाले भक्तोंको, जो राज्य छीन लेनेके कारण झंझटमें पड़े हैं और जिनको आपके चरणकमलसे अन्यका भरोसा नहीं है, आप अभी मत छोड़िये ॥ ३७ ॥

यदि हमारे ऊपर आपका कृपाकटाक्ष न हो तो ख्याति और समृद्धिसे प्रसिद्ध होकर भी हम पाण्डव यदुओंके सहित दीन ही हैं, जैसे कि इन्द्रियोंके स्वामी जीवके देहसे निकल जानेपर नेत्र आदि इन्द्रियाँ निरर्थक हो जाती हैं ॥ ३८ ॥

हे गदाधर ! इस समय यहाँकी भूमि आपके वज्र, अङ्कुशादि चरणचिह्नोंसे जैसी विलक्षण शोभा पा रही है आपके द्वारका चले जाने-पर वैसी शोभित नहीं होगी ॥ ३९ ॥

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्कौषधिवीरुधः ।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥ ४० ॥
अथ विश्वेश विश्वात्मन्विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥ ४१ ॥
त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ ४२ ॥
श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रु-
ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ४३ ॥

आपके दर्शनमात्रसे हमारे देशकी व्रीहि-यवादिक ओषधियाँ और द्राक्षादि लताएँ उत्तम प्रकारसे हुई हैं। हमारे देश, वन, नदी और समुद्र सकल सम्पत्तियोंसे वृद्धि पा रहे हैं ॥ ४० ॥

हे विश्वेश ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वमूर्ते ! यादव और पाण्डवोंके प्रति मेरे स्नेहरूपी दृढ़ पाशको काट डालिये । (भाव यह है यदि आप द्वारका गये तो पाण्डवोंको दुःख होगा, यदि न गये तो यादवोंको दुःख होगा इस कारण यह प्रार्थना है) ॥ ४१ ॥

हे मधुपते ! जैसे गङ्गाजी सब रुकावटोंको हटाती हुई समुद्रकी ओर बहती जाती हैं इसी प्रकार मेरी बुद्धि किसी दूसरे विषयमें न लगकर निरन्तर अनन्य भावसे आपमें अखण्डित प्रीति करे ॥ ४२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुनसखा ! हे यादवोंमें श्रेष्ठ ! हे पृथिवीके भारभूत दुष्ट राजाओंके वंशको अग्निके समान ध्वस्त करनेवाले ! हे अक्षीणप्रभाव ! हे गोविन्द ! हे गौ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख दूर करनेके लिये अवतार धारण करनेवाले ! हे योगेश्वर ! हे अखिलगुरो ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ३४

इस आयुकी समाप्तितक नाना प्रकारके उपायोंसे मैंने अपनी निष्काम बुद्धि यादवोंमें श्रेष्ठ सर्वव्यापक (श्रीकृष्ण) भगवान्में समर्पित की है; क्योंकि ये अपने परमानन्दमें मग्न रहते हुए भी किसी समय क्रीड़ा करनेके लिये मायाको स्वीकार करते हैं, जिस मायासे सृष्टिका प्रवाह चलता है (इससे यह सूचित हुआ कि वह माया आपके स्वरूपका तिरोधान नहीं करती है जिस प्रकार कि जीवको अपने वशमें कर लेती है) ॥ ३२ ॥

(अब श्रीकृष्णजीके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसमें प्रीति चाहते हैं—) तीनों लोकोंमें सबसे सुन्दर तमालके समान नीलवर्णवाले तथा सूर्यके किरणोंके समान चमकते हुए पीत वस्त्रधारी घुँघुराले बालोंसे शोभायमान कमलसदृश मुखवाले, अर्जुनके सारथिके ऊपर मेरी निष्काम प्रीति हो ॥ ३३ ॥

(फिर भी अर्जुनके सारथिका वर्णन कर उसमें अपनी प्रीति चाहते हैं—) युद्धमें घोड़ोंके खुरोंकी धूलिसे कुछ धूसर वर्ण और इधर-उधर उड़ते हुए अलकोंसे जिनके मुखकमलपर भक्तवत्सलताद्योतक स्वेदबिन्दु बिखर रहे हैं, मेरे तीखे बाणोंसे जिनकी त्वचा बिंध गयी है और जिनका कवच बाणोंकी वृष्टिसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे श्रीकृष्णके ऊपर मेरा मन रमण करे ॥ ३४ ॥

---

१. भा० स्क० १ अ० ९; यह स्तुति वीररसपूर्ण है।

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु॥ ३५॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥३६॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३७॥

(अब उस समयके दृश्यका स्मरण करते हैं, जैसा भगवद्गीतामें कहा है कि युद्ध होनेसे पहले अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्ने रथ दोनों सेनाओंके मध्य खड़ा किया था) अपने मित्र अर्जुनका वचन सुनकर तत्काल पाण्डव और कौरवोंकी सेनाके मध्यमें रथ खड़ा करके और कालदृष्टिसे शत्रुके सैनिकोंकी आयुका हरण करते हुए (अर्जुनकी जय करानेवाले) अर्जुनके सखापर मेरी प्रीति हो ॥ ३५ ॥

(अब अर्जुनको जिस समय गीताका उपदेश दिया गया था उस समयके दृश्यका वर्णन करते हैं) युद्धके समय दूरस्थित कौरवोंकी सेनाके अग्रभागमें मुझे और द्रोण आदिको देखकर स्वजनोंके वधमें दोष समझनेवाले तथा 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसी बुद्धिवाले अर्जुनका अज्ञान जिन्होंने आत्मविद्याका उपदेश देकर दूर किया था उन परमात्मा (श्रीकृष्ण) के चरणोंमें मेरी प्रीति हो ॥३६॥

(अब उस दृश्यका वर्णन दो श्लोकोंसे करते हैं जब कि भीष्मजी-ने प्रतिज्ञा की कि मैं भगवान्से उनकी प्रतिज्ञाके विपरीत अस्त्र उठवाऊँगा और भगवान्ने भक्तकी प्रतिज्ञा पूरी की तथा अस्त्र उठाकर भीष्मको मारनेके लिये उद्यत हुए) अर्जुनके रथमें बैठे हुए भगवान् मेरी प्रतिज्ञा-को सत्य करनेके लिये सहसा रथसे नीचे उतरकर रथका पहिया (चक्र) लेकर क्रोधके आवेशमें अपनी मनुष्यलीलाकी तरफ भी ध्यान न देकर अपने भारसे पृथिवीको पग-पगपर डगमगाते हुए—जिनके ओढ़नेका वस्त्र भी भूमिपर गिर पड़ा है—हाथीको मारनेवाले सिंहके समान मेरी ओर दौड़े; (ऐसे मुकुन्द मुझे प्राप्त हों) ॥३७॥

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान्गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥३९॥
ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।

इस प्रकार जब मेरे ऊपर दौड़े तब जो मुझ आततायीके तीखे-तीखे बाणोंके प्रहारसे आहत हुए और कवच फट जानेके कारण जिनके शरीरपर रुधिर व्याप्त हो गया तथा जो अर्जुनके मना करनेपर भी मेरा वध करनेके लिये सम्मुख आये ऐसे भगवान् मुकुन्द मुझे प्राप्त हों। (भाव यह है कि उस समय लोकदृष्टिसे भगवान् अर्जुनके पक्ष-पाती प्रतीत होते थे परन्तु वास्तवमें भीष्मकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथका पहिया लेकर दौड़े थे) ॥३८॥

(जैसे अकार्य करके भी अपने कुटुम्बकी रक्षा की जाती है उसी प्रकार) जिसने अर्जुनके रथकी रक्षा की, जो एक हाथमें बेत और एक हाथमें बागडोर पकड़े हुए शोभायमान हो रहे थे और जिनको देखकर युद्धमें प्राण त्यागनेवाले वीर भगवत्सारूप्य मुक्तिको प्राप्त हुए, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ प्राणको त्यागते हुएकी भी प्रीति हो ॥३९॥

(केवल क्षत्रियधर्मसे लड़नेवालोंकी ही मुक्ति नहीं होती है किन्तु मदान्ध गोपियोंकी भी मुक्ति हुई है) सुन्दर चाल, विलास (रासादि लीलाओंमें), मनोहर हास्य स्नेहपूर्वक कृपाकटाक्षोंसे जिनका भगवान्ने अति सम्मान किया और जिन गोपियोंने मदान्ध होकर भगवान्के गोव-

---

१. 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥'
'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥'

कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन्किल यस्य गोपवध्वः ॥४०॥
मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥
तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥

र्धनपर्वत-धारण इत्यादि कर्मोंका एकाग्रचित्तसे अभिनय करते हुए भगवान्के स्वरूपको प्राप्त किया; (ऐसे भगवान्में मेरी प्रीति हो) ॥४०॥

(भगवान् सब जगत्के पूज्य हैं) महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मुनि और राजाओंके समूहके मध्यमें जिनके सौन्दर्य और महिमाकी सब प्रशंसा करते थे और जिनकी प्रथम पूजा हुई थी वह अन्तर्यामी भगवान् जगत्के आत्मा मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष विराजमान हैं यह मेरा कैसा अहो भाग्य है ! ॥४१॥

(अब कहते हैं कि मैं कृतार्थ हूँ) मैं अब सकल भेदप्रयुक्त मोहसे रहित होकर उन जन्मरहित भगवान्में लीन होता हूँ जो अपनेसे हो रचे गये प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान हैं, जैसे सूर्य एक ही होकर उपाधिके कारण अनेक प्रतीत होता है ॥४२॥



एकादश प्रकरण

भगवान्‌का इन्द्रप्रस्थसे जाना

द्वारकावासी तथा इन्द्रप्रस्थकी स्त्रियोंद्वारा की हुई स्तुति

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत्परः प्रभुः ॥ ६ ॥
भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माता च सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥
अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्कुरून्मधून्वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥ ९ ॥

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था । भगवान् कुन्तीकी विज्ञप्तिपर कुछ काल और हस्तिनापुरमें टिक गये और पाण्डवोंको आनन्द देते रहे,

---

१. भा० स्क० १ अ० १०-११

२. भा० स्क० १ अ० ११ के अन्तर्गत द्वारकावासियोंद्वारा कृत स्तुतिका अर्थ ।

हे नाथ ! जो ब्रह्मा, सनकादि और इन्द्रादि सकल देवताओंसे वन्दित हैं, जो इस संसारमें परम क्षेमकी इच्छा करनेवालोंका उत्तम आश्रय हैं और जहाँ सबके नाशक कालका भी सामर्थ्य नहीं चल सकता ऐसे आपके चरणकमलोंमें हम अपना मस्तक नवाते हैं ॥६॥

हे विश्वभावन ! आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होइये, आप हमारे माता, मित्र, रक्षक, पिता, श्रेष्ठ गुरु और परम देवता हैं, आपकी सेवासे हम कृतार्थ हैं ॥७॥

आपकी उपस्थितिसे हम आज सनाथ हो गये हैं क्योंकि देवताओंको भी जिसका दर्शन दुर्लभ है ऐसे प्रेमसहित मन्द हास्य और कृपाकटाक्षयुक्त मुखकमल तथा सम्पूर्ण अङ्गोंकी अनुपम सुन्दरतासे शोभायमान आपके स्वरूपका हम दर्शन कर रहे हैं ॥८॥

हे अम्बुजाक्ष ! हे अच्युत ! आप अपने सुहृदोंको देखनेके लिये हमको छोड़कर

वहाँको स्त्रियाँ जिस मार्गसे भगवान् जाते थे वहाँके देवमन्दिरों और राजमहलोंके शिखरों और मकानोंकी छतपर बैठकर फूलोंकी वृष्टि करती थीं और आपसमें स्तुतिपूर्वक भगवान्‌की ही वार्ता करती थीं जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी है ।

तदनन्तर भगवान् पाण्डवोंसे विदा होकर हस्तिनापुरसे चल दिये । यह दृश्य बड़ा हृदयवेधी था । पाण्डव बहुत दूरतक भगवान्‌को पहुँचानेके लिये गये । युधिष्ठिरने अपनी चतुरङ्गिणी सेना भगवान्‌की रक्षाके निमित्त भेज दी । तदनन्तर भगवान्‌ने अपनेसे अतिस्नेह करनेवाले विरहदुःखसे दुःखित और अपने साथ बहुत दूरतक आये हुए पाण्डवोंको विदा करके यादवोंके साथ द्वारका नगरीकी ओर प्रयाण किया । मार्गमें कुरु, जाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, यमुनातटके देश, ब्रह्मावर्त, मत्स्य, सरस्वतीके निकटके देश, निर्जल मरुदेश (मारवाड़) और थोड़े जलवाले धन्वनामक देशोंको लाँघकर सौभीर और आभीरके उपरान्त अपने आनर्तदेश (द्वारका) में पहुँचे । भगवान्‌का दर्शन करके द्वारकावासियोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही । उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की, वह स्तुति इस प्रकरणके आदिमें लिखी गयी है ।

जब हस्तिनापुर अथवा व्रजको जाते हैं तब जैसे सूर्यके बिना नेत्रोंकी भाँति आपके बिना हमारा एक क्षण भी कोटि संवत्सरके तुल्य प्रतीत होता है, एक क्षण भी करोड वर्षोंके समान जान पड़ता है । भाव यह है कि जैसे सूर्यके बिना आँखमें अन्धकार हो जाता है वैसे ही आपके बिना हम भी अन्धे हो जाते हैं ॥९॥



इन्द्रप्रस्थकी स्त्रियोंद्वारा कृत स्तुति[1]

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥२१॥
स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥२२॥
स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।

(भगवान्के तेज और सुन्दरतासे विस्मित हुई सखियोंसे अन्य सखियाँ कहती हैं कि इनके रूप और तेजको देखकर विस्मय नहीं करना चाहिये क्योंकि ये साक्षात् ईश्वर हैं) ये श्रीकृष्ण वही पुरातन पुरुष हैं जो गुणोंमें क्षोभ होनेसे पहले (सृष्टिके पूर्व) अपने निर्विशेष स्वरूपमें स्थित तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) रूपसे प्रसिद्ध था और इसी प्रकार प्रलयमें जब सब शक्तियाँ ईश्वरमें लीन हो जाती हैं तब वे ही शेष रह जाते हैं ॥ २१ ॥

(सृष्टिके पूर्व और प्रलयके अनन्तरकी निष्प्रपञ्च अवस्थाका वर्णन करके अब इन दोनोंके बीचकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—) वे ही अपनी निष्प्रपञ्च आत्मामें अधिष्ठित ईश्वर फिर सृष्टिप्रवाहको कायम रखनेके लिये अपनी कालशक्तिसे प्रेरित अपने अंशभूत जीवोंको मोहित करनेवाली अपनी मायाशक्तिको अङ्गीकार करके, नामरूपरहित जीवात्माके भोगके लिये उपाधि (नामरूप) को उत्पन्न करते हैं और कर्म करनेके लिये वेदको प्रकाशित करते हैं ॥ २२ ॥

(इनका अति दुर्लभ दर्शन हमको प्राप्त हुआ है) इस संसारमें सकल इन्द्रियोंको तथा प्राणोंके जीतनेवाले योगी भक्तिसे निर्मल हुई बुद्धिसे जिनके स्वरूपके दर्शन पाते हैं वे ही ये श्रीकृष्ण हैं, जो अन्तःकरणको

1. भा० १ । १०

पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥२३॥
स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जलदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥२४॥
यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥२५॥
अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥२६॥
अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः।

निर्मल करनेके लिये समर्थ हैं (भाव यह है कि योगादि बुद्धिको निर्मल नहीं कर सकते) ॥ २३ ॥

हे सखि ! वेदों और तदनुसार शास्त्रोंके रहस्योंको बतलानेवालोंने जिनकी सत्कथाका बारम्बार गान किया है वे ही ये श्रीकृष्ण हैं; जो एक ही ईश्वर अपनी लीलासे इस जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं किन्तु उन कर्मोंमें आसक्त नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

प्रत्येक युगमें, जब राजा लोग तामसी बुद्धियुक्त होकर अधर्मसे केवल अपने ही प्राणोंका पालन करते हैं तब ये श्रीकृष्ण भगवान् लोकरक्षाके लिये जैसा उस समय उचित होता है वैसा शुद्ध सत्त्वगुणके द्वारा अनेक प्रकारके अवतार धारण करके अपने ऐश्वर्य, सत्य, ऋत, दया और यशको प्रकट करते हैं ॥ २५ ॥

(अब पाँच श्लोकोंसे श्रीकृष्ण-अवतारकी विशेषता कहती हैं) पुरुषोत्तम लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण भगवान्ने यादवकुलमें जन्म लेकर उसे अति पवित्र कर दिया है, इस कारण वह यादवकुल परम प्रशंसाके योग्य है, और ये बालक्रीड़ाएँ करते व्रजमण्डलमें फिरे हैं इस कारण मधुवन सबसे अति पवित्र है ॥ २६ ॥

यह आश्चर्य है कि यह द्वारकापुरी स्वर्गके यशका तिरस्कार करके पृथिवीके पुण्ययशको बढ़ा रही है क्योंकि यहाँकी सब प्रजा

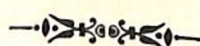
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितस्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥२७॥
नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः ॥२८॥
या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान्हि शुष्मिणः ।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः ॥२९॥
एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥३०॥

भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये मन्द हास्यके साथ देखनेवाले अपने स्वामी श्रीकृष्णजीका दर्शन करती हैं; [भाव यह है कि स्वर्गमें यह सुख नहीं है] ॥ २७ ॥

हे सखि ! इन श्रीकृष्णजीके साथ पाणिग्रहण करनेवाली स्त्रियोंने पूर्व जन्ममें व्रत, तीर्थ, स्नान और हवन आदि करके इन भगवान्का उत्तम रीतिसे पूजन किया होगा क्योंकि ये श्रीकृष्ण भगवान्के अधरामृतका बार-बार पान करती हैं जिसके लिये व्रजकी स्त्रियोंने अपना मन लगाया था किन्तु वे मोहको प्राप्त हुईं (भाव यह है भगवान् व्रज छोड़कर चले गये और व्रजस्त्रियोंको वह रसास्वाद नहीं मिला) ॥२८॥

जिन स्त्रियोंके साथ विवाह करनेमें पराक्रम ही शुल्क (मूल्य) था उनको भगवान् महाबली शिशुपालादि राजाओंका स्वयंवरमें तिरस्कार करके लाये— जिनके पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब इत्यादि हैं और सहस्रों स्त्रियोंको भौमासुरके वधके समय लाये थे ॥ २९ ॥

और पारिजातादि प्रिय वस्तु लाकर आनन्द देनेवाले कमललोचन श्रीकृष्ण जिनके घरसे बाहर नहीं निकलते हैं ऐसी स्वतन्त्रता और शौचाचाररहित स्त्रियोंको अत्यन्त उत्कृष्ट कर दिया है (वे ही ये भगवान् श्रीकृष्ण हैं) ॥ ३० ॥



पाँचवाँ अध्याय

भुवनमण्डल

प्रथम प्रकरण

सृष्टिकी रचनाका एक प्रकार

देवताओंद्वारा कृत स्तुति

नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति॥[1]

यहाँतक श्रीकृष्ण भगवान्‌के चरित्रोंका वर्णन किया गया है। जैसा हम पहले कह आये हैं श्रीमद्भागवत ग्रन्थ श्रीकृष्णचरित्रप्रधान है, इस कारण दशम स्कन्धका विषय पहले लिख दिया गया है। अब हम उसी ग्रन्थकी शैलीका फिर अनुसरण करते हैं। प्रथम स्कन्धमें भगवद्गुणानुवर्णनसम्बन्धी उपोद्घात और भगवान्‌की लीलाएँ हैं जिनका उपयुक्त स्थानोंमें उल्लेख किया गया है। दूसरे स्कन्धमें भागवत-के उद्देश्य संक्षिप्तरूपसे कहे गये हैं, उनका विषय उपोद्घात तथा इस प्रकरणमें आ जाता है। तृतीय स्कन्धमें इस जगत्‌की सृष्टिका गम्भीर विषय वर्णित है, जैसे ऋषियोंने इसे देखा है वैसे ही यहाँ उल्लेख किया गया है। इस पृथिवीके प्रादुर्भावसे पहले—जब ब्रह्माजीने अपने मानसिक बलसे आदिऋषि मरीच्यादिको उत्पन्न किया—वे जन और महर्लोकमें रहते थे। सम्भव है कि उनसे भी व्यासजीको सृष्टिके विषयका कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ हो। किन्तु सृष्टिके विषयमें एकवाक्यता नहीं देखी जाती है। वेदोंमें कहीं क्रमसे, कहीं अक्रमसे, कहीं आकाशसे, कहीं जलसे सृष्टिका

१. भा० स्क० ३ अध्याय ५।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ३८ की टीकामें देखिये।

वर्णन देखा जाता है। इन्हीं सब बातोंका विचार करके वेदान्तमें सृष्टिका आदर नहीं किया गया है।

ऐसा होनेपर भी सब दर्शनों, पुराणों और स्मृतियोंमें यह विषय छेड़ा गया है, क्योंकि सृष्टिकी उपलब्धि प्रत्यक्ष है। यहाँ न्याय यह है कि सृष्टि किसीके संकल्पसे होती है और जबतक उस महान् आत्माका संकल्प रहेगा तबतक सृष्टि रहेगी। यही कारण है कि जिस विशाल सृष्टिको हम देखते हैं वह ज्यों-की-त्यों बनी हुई स्थित है। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि यह सृष्टि मिथ्या है, किसी समय इसका अवश्य अन्त होगा। क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है या बनायी अथवा रची जाती है उसका नाश अवश्य होता है। जब यह विनाशी है तो इसके विषयमें अधिक प्रयास करनेसे क्या लाभ ?

श्रीमद्भागवतमें भी यह सृष्टि कई स्थलोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णित है। सब प्रकारका विवेचन करनेसे कुछ परमार्थ नहीं मिलता।

इस ग्रन्थमें हम दो स्थलोंका विवेचन कर देते हैं, क्योंकि उनमें स्तुतियाँ आयी हैं। पहला स्थल तो वेदान्तके सदृश है और दूसरा स्थल पुराणोक्त है, वह अति रोचक है और उसका ग्रहण शीघ्र हो सकता है। उसीके आधारपर भागवतमें सृष्टि मानी गयी है क्योंकि उसीके क्रमके अनुसार बड़े-बड़े अवतारों, ऋषियों और महानुभावोंका वर्णन आता है।

यहाँपर हम वेदान्तप्रतिपादित सृष्टिके वर्णनका दिग्दर्शन कराते हैं ताकि यह प्रकरण ठीक समझमें आ जाय। वेदान्तके मतमें चेतन ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा पारमार्थिक तत्त्व नहीं है। यह चेतन व्यापक है। जब यह चेतन अपनी शक्तिसे कार्यक्षम होता है तब इसीको मायाशबल ब्रह्म कहते हैं। शक्तिका नाम अव्यक्त है—वह स्वच्छ पदार्थ है और चेतनके आभाससे युक्त होती है। यही समष्टिरूपसे माया और व्यष्टिरूपसे अविद्या कहलाती है। यह ध्यान

१. ब्र० सू० २, ३। सूत्र एकसे साततक।

रखना चाहिये कि माया भगवान्‌के वशमें रहती है क्योंकि उनकी शक्ति है और चेतनके कुछ अंशको आवृत करके देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बदल जाती है। जीवकी इस अवस्था-का नाम प्राज्ञ है और सुषुप्तिमें इसकी उपलब्धि होती है। मायाशबल या मायोपहित चैतन्यको ही ईश्वर कहते हैं। यही ईश्वर, जीव (प्राज्ञ) के भोगके लिये पाँच प्रकारके सूक्ष्म भूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशकी सृष्टि करता है, इनसे अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार), पाँच प्राण, और दश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इस अवस्थाका नाम तैजस है। स्वप्नमें इसकी उपलब्धि होती है। ईश्वरमें भी जब मनकी उत्पत्ति हो जाती है तो उसका नाम हिरण्यगर्भ पड़ जाता है। सूक्ष्म शरीरसे प्राणियोंको भोग न मिलनेपर ईश्वर उन पाँचों सूक्ष्म भूतोंका पञ्चीकरण करता है। अर्थात् हर एक सूक्ष्मभूतके दो-दो टुकड़े करके, आधा भाग अलग रखकर, बचे हुए हर एक आधे टुकड़ेके चार-चार भाग करता है। तदनन्तर इन चौथे भागोंको, अलग रक्खे हुए आधे-आधे टुकड़ोंमें अलग-अलग मिला देता है। इस प्रकार यह स्थूल पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इस अवस्थाका नाम विश्व है—और जाग्रत्‌में इसकी उपलब्धि होती है। विराट् शरीर युक्त होनेसे हिरण्यगर्भकी संज्ञा वैश्वानर हो जाती है। यह विवेचन प्रायः सब सृष्टिके विवेचनमें पाया जाता है। भागवतके अन्तर्गत सांख्यमें प्रायः यही प्रकार है[1]।

इतना आवश्यक प्रकरण दिखाकर प्रकृतको दिखाना उचित होगा। श्रीमद्भागवतमें प्रथम प्रकारकी सृष्टिके विषयमें यह कहा गया है कि आदिमें द्रष्टा और दृश्यबुद्धिसे समझमें न आनेवाला, सकल जीवोंका मूलरूप नियन्ता परमात्मा (भगवान्) अकेला ही था। उस समय उसकी माया आदि शक्तियाँ लीन थीं। तथापि उसकी ज्ञानशक्ति जाग्रत् थी; अतः उसने अपनेको असत्-सा माना। फिर परमात्माको

---

१. भा० स्क० ३ अ० १६

सृष्टि रचनेकी इच्छा हुई । तब मायाशक्तिका आश्रय करके उसने महत्तत्त्व—(समष्टिबुद्धि) की रचना की। उस महत्तत्त्वपर भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही उसमें चेतनका आभास पड़ा और उससे अहंकार उत्पन्न हुआ । उस अहंकारके तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजस और तामस । सात्त्विक अहंकारसे देवता और मन उत्पन्न हुए । राजस अहंकारसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई और तामससे (शब्द गुणवाला) आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे (स्पर्श गुणवाला) वायु, वायुसे (रूप गुणवाला) तेज, तेजसे (रसगुणक) जल और जलसे (गन्ध गुणवाली) पृथ्वी हुई । इन सबके अभिमानी देवता परस्पर विभिन्न होनेके कारण ब्रह्माण्डकी रचना नहीं कर सके । इन देवताओंने भगवान्‌की स्तुति की जो इसी प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है । जब अद्भुत पराक्रमी भगवान्‌ने कालशक्तिको स्वीकार करके तत्त्वोंमें प्रवेश किया तब विराट् शरीर उत्पन्न हुआ । इस विराट्के अङ्गोंसे सब लोक, सब सृष्टियाँ और सब वर्ण उत्पन्न हुए । और देवताओंने अपना-अपना सामर्थ्य पृथक्-पृथक् अङ्गको दिया ।



देवताओंद्वारा कृत स्तुति[1]

नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३८॥
धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवास्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥३९॥
मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडैश्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः ॥४०॥

हे देव ! शरणागतोंके ताप दूर करनेमें छत्रस्वरूप आपके चरणकमलोंको हम नमस्कार करते हैं। जिनके तलुओंका आश्रय करनेवाले साधुजन,—जैसे यात्री अपने घर पहुँचकर मार्गका त्याग कर देते हैं वैसे ही संसारतापको दूरकर (बाहर) फेंक देते हैं ॥ ३८ ॥

हे धातः ! हे ईश ! हे भगवन् ! इस संसारमें सकल प्राणी तीनों तापोंसे दुःखित होकर आत्मसुख नहीं पाते हैं । अतएव हम (अपने तापोंको दूर करनेके लिये) आपके ज्ञानप्रद चरणकमलोंकी छायाका आश्रय लेते हैं ॥ ३९ ॥

(अज्ञातका आश्रयण नहीं हो सकता, अतएव उसके ज्ञानके लिये साधन कहते हैं—) जैसे पक्षी अपने घोंसलेसे निकलकर इधर-उधर घूमकर फिर घोंसलेमें ही प्रवेश करते हैं वैसे ही वेद भी आपसे निकलकर आपहीमें पर्यवसित होते हैं। मन्त्रद्रष्टा, ऋषिवृन्द, अनेक तीर्थ हैं चरणमें जिनके ऐसे आपके मुखकमलरूपी घोंसलेमें रहनेवाले वेदरूपी पक्षियोंसे असंग मनमें आपके जिस पदकमलका अन्वेषण करते हैं, पापोंका नाश करनेवाले जलसे पूर्ण अन्यान्य नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके उद्गमस्थान उस पदकमलकी शरणमें प्राप्त हुए हैं । (अतः गङ्गासेवन करनेवाले भी गङ्गाके उद्गमस्थान आपके चरणको प्राप्त होते हैं ऐसा अर्थ है॥४०॥

---

१. भा० स्क० ३ अ० ५

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥४१॥
विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥४२॥
यत् सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत्ते भगवन्पदाब्जम् ॥४३॥
तान्वा असद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये पराहृतान्तर्मनसः परेश ।

(विषयोंमें जिनका चित्त आकृष्ट है ऐसे पुरुष आपका अन्वेषण कैसे कर सकते हैं ? इसपर कहते हैं—) श्रद्धासे और श्रवणपूर्वक भक्तिसे शुद्ध हुए हृदयमें जिसका ध्यान करके वैराग्यजनित आत्मानुभवरूपी ज्ञानसे पुरुष स्वस्थ हो जाते हैं; ऐसे आपके चरणकमलकी शरणमें हम प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

हे ईश ! हम संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश करनेके लिये अवतार लेनेवाले आपके उस चरणकमलकी शरणमें प्राप्त होते हैं, जो स्मरण करनेपर अपने भक्तोंको मोक्ष देनेवाला है ॥ ४२ ॥

(अन्तर्यामी होनेके कारण भगवान् नित्यसंनिहित हैं अतः उनकी शरणमें जाना निरर्थक है ऐसी शंका करके कहते हैं—) हे भगवन् ! यद्यपि आप सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, तथापि पुत्रदारादिसहित इस तुच्छ शरीररूपी गृहमें 'मैं और मेरा है' इस प्रकार अभिमानपूर्वक दुराग्रह करनेवाले जीवोंसे अति दूरवर्ती आपके चरणकमलका हम भजन करते हैं ॥ ४३ ॥

(हृदयमें स्थित होनेपर भी यदि आपका चरणकमल किसीके लिये दूर है तो औरोंके लिये (ज्ञानियोंके लिये) भी दूर ही होगा; क्योंकि दोनोंके हृदयमें आप समानरूपसे वर्तमान हैं ? इसपर कहते हैं—) हे परेश ! हे उरुगाय ! (श्रेष्ठजनोंसे स्तुत्य) वे विषयी

अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥४४॥
पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥४५॥
तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥४६॥
तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥४७॥

पुरुष, जिनका मन विषयाभिमुख इन्द्रियोंसे विषयोंकी ओर खींचा गया है, तुम्हारी लीलाओंकी कथा वर्णन करनेवाले सत्पुरुषोंको निस्सन्देह नहीं देखते हैं। (भाव यह है कि सत्संग और हरिकथाश्रवणके अभावसे हृदयस्थित होकर भी आप दूर ही हैं) ॥ ४४ ॥

(अब दो श्लोकोंसे इसीको स्पष्ट करते हैं—) हे देव ! आपके कथारूपी अमृत पीनेसे और बढ़ी हुई भक्तिसे जिनका हृदय विशाल हो गया है, और जिन्होंने वैराग्यके बलसे उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे अनायास आपके वैकुण्ठलोकको पाते हैं ॥ ४५ ॥

तथा और भी जितेन्द्रिय पुरुष आत्मसमाधिरूपी आत्मामें अन्तः-करणकी स्थिरतारूपी उपायके बलसे बलवती मायाको जीतकर आपके ही स्वरूपमें प्रवेश करते हैं, इस मार्गमें उनको परिश्रम अधिक करना पड़ता है। परन्तु भक्तिमार्गसे जो आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हैं उन्हें कुछ परिश्रम नहीं होता ॥ ४६ ॥

हे आद्य ! लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे, तीनों गुणों (सत्त्वादि) के स्वभावोंसे आपके द्वारा रचे गये हम सब परस्पर पृथक् होनेसे, आपकी क्रीड़ाके साधन ब्रह्माण्डको आपको समर्पण करनेमें असमर्थ हैं ॥ ४७ ॥

यावद्बलिं तेऽज हराम काले यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥४८॥
त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥४९॥
ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमात्मन्करवाम किं ते ।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ॥५०॥

(असामर्थ्यका ही विस्तार करनेके लिये कार्यकी अतिविचित्रताका प्रतिपादन करते हैं—) हे अज ! जिस प्रकार हम आपको यथासमय सब भोग अर्थात् समष्टि और व्यष्टिरूप ब्रह्माण्डको उत्पन्न कर समर्पण करें, जिस प्रकार अपनी योग्यताके अनुसार हम भी अन्नभक्षण करें और जिस प्रकार इस लोकके प्राणी निर्विघ्न होकर आपको और हमको भोग प्रदानकर स्वयं भी अन्नभक्षण कर सकें ऐसी आप कृपा कीजिये ॥ ४८ ॥

हे देव ! आप कार्यसहित हम देवताओंकी उत्पत्तिके कारण हैं, आप कूटस्थ पुराण पुरुष हैं, आपने सत्त्वादि गुणों और कर्मोंकी उत्पत्ति-स्थान अनादि शक्तिरूप मायामें महत्तत्त्वरूप गर्भ स्थापित किया है ॥४९॥

हे निखिलस्वरूप आत्मन् ! हे देव ! महत्तत्त्व आदि हम सब देवता जो कि कार्य करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं, आपका कौन-सा कार्य करें ? इसके लिये आप अपनी ही ज्ञान और क्रियाशक्ति हमें प्रदान कीजिये, क्योंकि ब्रह्माण्डकी रचनाके लिये हमें आपसे ही सहायता प्राप्त हो सकती है । (भाव यह है कि आपकी दी हुई ज्ञान और क्रिया-शक्तिसे हम लोग सृष्टि कर सकेंगे अन्यथा नहीं) ॥ ५० ॥



द्वितीय प्रकरण

सृष्टिकी रचनाका दूसरा प्रकार

ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥[2]

सृष्टिके विषयमें तृतीय स्कन्धके दूसरे स्थलोंमें सृष्टि इस प्रकार वर्णित है। प्रलयकालमें यह सारा ब्रह्माण्ड समुद्रमें डूब गया था और भगवान् उस जलके ऊपर शेषशय्यामें लेटे हुए थे। जिस प्रकार दाह-शक्ति काष्ठमें रहती है किन्तु प्रकाश नहीं पाती इसी प्रकार प्राणियोंके सूक्ष्म शरीर भगवान्में लीन थे।

जब सृष्टिका समय उपस्थित हुआ तो भगवान्ने अपने शरीरमें स्थित सूक्ष्म भूतोंकी ओर दृष्टिपात किया तो उनके नाभिस्थानसे सूक्ष्म भूतोंका समूह कमलकी कलीके रूपमें बाहर निकला। सब प्राणियोंके पुरातन कर्मोंको सूचित करनेवाले कालके द्वारा भगवान्से उत्पन्न हुई वह कमलकी कली अपने तेजसे एकाएक बाहर आकर खुल गयी और उस कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए।

ब्रह्माजी यह न समझ सके कि मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ? ऐसा विचार कर ब्रह्माजी उस कमलके नालके भीतर घुस गये, किन्तु वहाँ भी कुछ पता न लगा, इस प्रकार १०० वर्ष बीत गये। तदनन्तर

---

१. भा० ३।८—१२

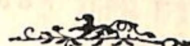
२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ५ की टीकामें देखिये।

ब्रह्माजी उसी कमलमें बैठकर तप (विचार) करने लगे। इस प्रकार फिर एक सौ वर्ष तप करनेपर उन्हें शेषशायी भगवान्के दर्शन हुए। तदनन्तर उनको सृष्टि रचनेका ज्ञान हुआ। उस नाभिकमलमें उन्होंने अपने स्वरूप तथा प्रलयकालके जल, वायु और आकाशको देखा। इन्हीं पाँचोंको अर्थात्—कमल, अपना स्वरूप, जल, वायु और आकाशको सृष्टिका कारण समझा। इसलिये—ब्रह्माजी भगवान्में मन लगाकर स्तुति करने लगे। उक्त स्तुतिका इसी प्रकरणके अन्तमें उल्लेख किया गया है। उस स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् ब्रह्माजीके समक्ष प्रकट हुए और कहा—पहले अपना मन मुझमें लगाओ तब तुम्हें सृष्टि करनेका ज्ञान प्राप्त होगा।

ब्रह्माजीने एक सौ वर्षतक फिर तप किया। तदनन्तर ब्रह्माजीने जलसहित उस वायुको पी लिया और उस कमलसे चौदह लोकोंको उत्पन्न किया। गुप्त कालके द्वारा ब्रह्माजीने तत्तत् लोकके उपयुक्त प्राणी बना दिये। अर्थात् पहले सनक-सनातन-सनत्कुमारादि नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंको उत्पन्न किया।

इनसे सृष्टिकार्यमें किसी तरहकी सहायता न मिलनेपर ब्रह्माजीने मरीचि, अत्रि, नारद आदि दश पुत्रोंको उत्पन्न किया। परन्तु इनसे भी जब सृष्टि आगे नहीं चली तो अन्तमें ब्रह्माजीके शरीरके दो भाग हो गये। एक भागसे मनु और दूसरेसे शतरूपा हुई। इसी शतरूपासे स्वायम्भुवमनुके दो पुत्र हुए, जिनका नाम क्रमशः प्रियव्रत और उत्तानपाद था और तीन कन्याएँ हुईं। इन तीनोंका विवाह ब्रह्माजीके उत्पन्न किये हुए रुचि, कर्दम ऋषि और दक्षप्रजापतिसे हुआ।

उन दो पुत्र और तीनों कन्याओंकी सन्तति-परम्परासे यह जगत भर गया।



ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति[1]

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥
रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥

हे भगवन् ! बहुत कालतक तप करनेके पश्चात् आज मैंने आपको जाना है । अहो ! देहधारी प्राणियोंका यह महान् दोष है कि वे भगवत्तत्त्वको नहीं जानते हैं । सत्य होनेके कारण आप ही जानने योग्य हैं । आपके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है । और आपसे भिन्न जो कोई वस्तु प्रतीत होती है वह भी शुद्ध सत्य नहीं है क्योंकि मायाके सत्त्वादि गुणोंके वैषम्यसे आप बहुत प्रकार भासते हैं ॥ १ ॥

(आप (ब्रह्माजी) भी ब्रह्मके सत्य, निर्गुण स्वरूपको नहीं जानते हैं क्योंकि जो रूप आपने देखा वह सगुण है, निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है । इस शङ्काका दो श्लोकोंसे समाधान करते हैं—) हे भगवन् ! आपकी अवबोधशक्ति (चैतन्यशक्ति) के प्रकट होनेके कारण—जिनसे अज्ञान सदा दूर रहता है, ऐसा आपका यह रूप सहस्रों अवतारोंका एकमात्र बीज है, इसको आपने स्वतन्त्रतापूर्वक भक्तोंके अनुग्रहके लिये स्वीकार किया है । इसके नाभिकमलसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, (इससे यह दिखलाया कि भगवान् अवतारोंके बीजकारण हैं) ॥२॥

---

१. भा० स्क० ३ अ० ९

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥३॥
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
यो नादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥४॥
ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥५॥

हे परमात्मन् ! मैं आपके प्रकाशमान, भेदरहित, आनन्दमात्र और उपास्योंमें मुख्य निर्गुण रूपको इस रूपसे भिन्न नहीं देखता किन्तु वही यह रूप है। इस कारण विश्वकी रचना करनेवाले किन्तु विश्वसे पृथक्, पञ्चमहाभूत और इन्द्रियोंके कारण आपके इस मुख्य रूपका मैंने आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

हे भुवनमङ्गल ! आपने वही यह अपना रूप हम उपासकोंको मङ्गलके लिये ध्यानमें दिखाया है (भाव यह है कि हमारा चित्त अव्यक्तरूपमें संलग्न था अतः हम इस रूपका दर्शन पानेके अधिकारी नहीं थे, तथापि आपने कृपा करके दर्शन दे दिया) इस कारण आपको, जिनका निरीश्वरवादका आश्रय लेकर कुतर्क करनेवाले नारकी जन आदर नहीं करते, मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ॥४॥

हे नाथ ! जो पुरुष वेदरूप वायुद्वारा लाये गये आपके चरण-कमलके मकरन्दका अपने कर्णपुटोंसे आस्वादन करते हैं अर्थात् वेदवर्णित आपकी कथाओंको सुनते हैं और जिन्होंने परमभक्तिसे आपके चरणकमल पकड़े हैं, उन निज भक्तजनोंके हृदयकमलको त्यागकर आप कदापि दूर नहीं जाते हैं ॥ ५ ॥

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥६॥
दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गा-
त्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥७॥
क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण
संपश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥८॥
यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-

जबतक जीव आपके चरणकमलका आश्रय नहीं लेता है तबतक उसको धन, घर, स्त्री, पुत्र, मित्रादिनिमित्त शोक, स्पृहा (इच्छा), तिरस्कार और अति लोभ सताते हैं। और तभीतक सकल दुःखोंके मूल कारण ममत्व अर्थात् 'मैं, मेरा' का दुराग्रह होता है ॥ ६ ॥

सब क्लेशों (अमङ्गलों) का नाश करनेवाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसंगसे इन्द्रियोंको हटाकर विषयोंमें लम्पट और लोभसे ग्रसे मनवाले जो पुरुष लेशमात्र विषयसुखके निमित्त हिंसादोषसे दूषित सकाम कर्म करते हैं उनकी बुद्धि दैवसे मारी गयी समझनी चाहिये ॥७॥

हे उरुक्रम ! क्षुधा, पिपासा, वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बारम्बार पीड़ित हुए (इस संसारको) देखकर मेरा मन दुःखित होता है ॥ ८ ॥

हे ईश ! जबतक पुरुष आपको इन्द्रिय और विषयरूप मायासे

मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहति क्रियार्था ॥ ९ ॥

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥११॥

पृथक् नहीं देखता है, तबतक वह दुःखयुक्त संसारसे निवृत्त नहीं हो सकता है तथा उसके अनुष्ठान व्यर्थ और दुःखकारक होते हैं ॥९॥

हे देव ! दिनमें जिनकी इन्द्रियाँ नाना प्रकारके व्यापारोंमें संलग्न अतएव दुःखी हैं और रात्रिमें जो नाना प्रकारके मनोरथसे जागते रहते हैं; या नाना प्रकारके स्वप्न देखनेसे क्षण-क्षण जिनकी निद्रा टूट जाती है, और जिनका अर्थप्राप्तिका उपाय दैवने सब प्रकारसे नष्ट कर दिया है—आपके श्रवण-कीर्तनसे विमुख ऐसे ऋषि भी जन्म-मरणरूप दुःख पाते रहते हैं ॥१०॥

हे नाथ ! जिनका मार्ग श्रवणरूप भक्तिसे जाना जाता है ऐसे आप निःसन्देह भक्तोंके भक्तियोगसे शुद्ध हुए हृदयकमलमें वास करते हैं। हे उरुगाय ! आपके भक्त अपने मनमें आपके जिस-जिस स्वरूपका चिन्तन करते हैं आप उस-उस स्वरूपसे भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदयया सदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥१२॥
पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥१३॥
शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चक्रमेश्वराय ॥१४॥

एक ही नाना प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान और सबके मित्र आप समस्त प्राणियोंपर दुर्जनोंको नहीं प्राप्त होनेवाली दया करनेसे जिस प्रकार प्रसन्न होते हैं, वैसे सकाम अन्तःकरणयुक्त देवगणोंद्वारा अति उत्तम सामग्रियोंसे आराधन करनेसे भी प्रसन्न नहीं होते ॥ १२ ॥

(सकाम भक्तोंपर आप अति प्रसन्न नहीं होते, अतः हे भगवन् !) यज्ञ आदि नाना प्रकारके कर्म, दान, उग्र तप और ब्रह्मचर्यसे आपकी आराधना करना ही इन सत्कर्मोंका उत्तम फल है; क्योंकि आपके लिये किये हुए धर्मका नाश कभी नहीं होता है (और कामनासे अनुष्ठित धर्म तो फल देकर नष्ट हो जाता है) ॥ १३ ॥

अतः सदा स्वरूपचैतन्यसे भेदभ्रमको नष्ट करनेवाले और चैतन्यशक्तिके आश्रय परमात्माको नमस्कार है, संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयोंकी निमित्तभूत मायाके निवाससे क्रीड़ा करनेवाले ईश्वरके लिये मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५॥
यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।

प्राणत्यागके समय परवश हुए भी जो प्राणी आपके अवतार, गुण और कर्मोंके अनुकरणसे युक्त देवकीनन्दन, सर्वज्ञ, भक्तवत्सल, गोवर्धन-धारी इत्यादि नामोंका उच्चारण करते हैं वे अनेक जन्मोंमें किये गये पापोंको एक साथ त्यागकर सकल आवरणोंसे रहित ऋत (परमार्थ सत्य ब्रह्म) पद पाते हैं मैं उस जन्मरहित ईश्वरकी शरण जाता हूँ ॥ १५ ॥

(अब अवतार, गुण और कर्मोंको वृक्षरूपसे दिखाते हुए प्रणाम करते हैं—) जो पहले एक (अद्वितीय) ही था तदनन्तर स्वयं ही है मूल (अधिष्ठान) जिसमें ऐसे प्रधान (प्रकृति) का सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे विभाग करके सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले मुझ (ब्रह्मा), शङ्कर और स्वयं विष्णुभगवान्‌से वह त्रिपात् (तीन स्कन्धवाला) हुआ; तत्पश्चात् अनेक मरीचि आदि ऋषि और मनु आदि रूप शाखा-प्रशाखावाला होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ ऐसे भुवनाकार भगवान्‌रूप वृक्षके लिये नमस्कार है ॥ १६ ॥

(इस प्रकार गुण, अवतार और कर्मका अनुकरण कहकर अब उसमें कालनामक रूप और उसके कर्मका दो श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हुए प्रणाम करते हैं—) हे विभो ! जबतक प्राणी पापकर्म करनेमें

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥१७॥
यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१८॥
तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥

तत्पर होकर आपके बतलाये हुए भगवदर्चनादि[1] कल्याणकारी कर्ममें प्रमाद करता है तबतक बलवान् काल इसी जन्ममें प्राणीकी जीवित रहनेकी भी आशाको शीघ्र ही काट डालता है (फिर सुख-भोगका तो कहना ही क्या है ?) ऐसे कालरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १७ ॥

(और लोककी बात तो दूर रही) दो परार्धतक रहनेवाले और सबके वन्दनीय सत्यलोकमें रहनेवाला मैं भी आपके उस कालरूपसे डरता हूँ, और आपकी प्राप्तिकी इच्छासे मैंने अनेक वर्षपर्यन्त तप किया और कई प्रकारके यज्ञ किये, ऐसे यज्ञके अधिष्ठाता पुरुषोत्तम भगवान्को नमस्कार है ॥ १८ ॥

यद्यपि आत्मानन्दके आस्वादनसे आपको विषयसुखकी तनिक भी स्पृहा नहीं है तथापि आप स्वयं अपनेद्वारा बनायी हुई धर्ममर्यादाका पालन करनेकी इच्छासे अपने इच्छानुसार तिर्यक्, मनुष्य, देव आदि योनियोंमें मत्स्य, राम, वामन आदि स्वरूपोंको धारणकर लीला करते हैं, ऐसे आप पुरुषोत्तम भगवान्को नमस्कार है ॥ १९ ॥

---

१. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता ९ । २७)

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन ।

(अब दो श्लोकोंसे ब्रह्माजी भगवान्‌की उस समय दृश्यमान मूर्त्तिको प्रणाम करते हैं—) भगवान् यद्यपि तामिस्र, अन्धतामिस्र, मोह, महामोह और तमरूप पाँच वृत्तियोंसे युक्त एवं निद्राकी हेतुभूत अविद्यासे अभिभूत नहीं हैं (अर्थात् उक्त अविद्या उनका पराभव नहीं कर सकती) तथापि तीनों लोकोंको अपने उदरमें समेटकर 'अविवेकियोंका निद्रासुख ऐसा दुःखपूर्ण एवं उपहसनीय है' यह दिखाते हुए, भयङ्कर तरङ्ग-पङ्क्तियोंसे युक्त समुद्रके मध्यमें शेषशय्याका स्पर्श जिसके अनुकूल है ऐसी निद्रा लेते हैं अर्थात् निद्रितजनोंका अनुकरण करते हैं, उस आदि भगवान्‌के लिये नमस्कार है ॥ २० ॥

हे ईड्य ! जिसके अनुग्रहसे तीनों लोकोंकी रचना करनेवाला मैं, जिसके नाभिकमलरूप भवनसे उत्पन्न हुआ हूँ, सम्पूर्ण जगत् जिसके उदरमें वर्तमान है योगनिद्राके अन्तमें प्रफुल्लित कमलके समान सन्तापनाशक नेत्रवाले आपको नमस्कार है ॥ २१ ॥

(अब चार श्लोकोंसे प्रार्थना करते हैं—) सकल लोकोंके हितकारी एक आत्मस्वरूप शरणागतोंके प्रिय भगवान् जिस ज्ञान और ऐश्वर्यसे संसारको सुखी करते हैं उसी ज्ञान और ऐश्वर्यसे मेरी बुद्धिको प्रेरित

तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥२२॥
एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।
तस्मिन्स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥२३॥
नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥२४॥
सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान्विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥२५॥

करें अर्थात् वह भगवान् मेरी बुद्धिको ज्ञान और ऐश्वर्यसे युक्त कर दें। जिससे मैं इस जगत्को पूर्व कल्पके अनुसार रच सकूँ ॥ २२ ॥

शरणागतोंको वर देनेवाले और अपनी शक्तिरूप रमासे युक्त सर्वज्ञत्वादि सब गुणोंसहित अवतार लेनेवाले भगवान् जो-जो कर्म करेंगे उस-उस कर्ममें उन्हीं भगवान्के प्रभावसे युक्त इस जगत्की रचनामें प्रवृत्त हुए मेरे चित्तको वह भगवान् ही लगावे जिससे कि मैं इस कर्ममें आसक्ति और विषम सृष्टि करनेके पापसे मुक्त हो जाऊँ ॥ २३ ॥

प्रलयके समय इस जलमें सोये हुए जिस अनन्तशक्ति भगवान्के नाभिसरोवरसे महत्तत्त्वरूप चित्तका अभिमानी मैं उत्पन्न हुआ हूँ, उसी-के इस विचित्ररूप जगत्को फैलानेवाली मेरी वेदरूप वाणियोंके उच्चारणका अत्यन्त लोप न हो ॥ २४ ॥

वे ही ये परम करुणामय पुराणपुरुष, मेरे कारणभूत भगवान्, प्रेमयुक्त हास्यसे कमलनयनोंको विकसित करते हुए जगत्का उद्भव (और मेरे ऊपर अनुग्रह) करनेके लिये शयनसे उठकर मधुर वाणीसे मेरा खेद दूर करें ॥ २५ ॥

तृतीय प्रकरण

वराह अवतार[1]

सनकादि ऋषिकृत स्तुति[2]

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥ ४६ ॥
तं त्वा विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥ ४७ ॥
नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं

हे अनन्त ! यद्यपि आप सबके हृदयमें विराजमान हैं, तथापि दुष्ट-चित्त पुरुषोंको प्रतीत नहीं होते हैं। वही आप यद्यपि हमारे अन्तःकरणमें सदा स्फुरित होते थे तथापि आपका प्रत्यक्ष दर्शन आज ही हुआ, इसका कारण यह है कि आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता (ब्रह्माजी) ने जिस समय आपके रहस्यका वर्णन किया था उसी समय कर्णोंद्वारा आपने हमारे अन्तःकरणमें प्रवेश किया था ॥ ४६ ॥

हे भगवन् ! आप अपने भक्तोंको शुद्ध सत्त्वमयी मूर्तिसे प्रतिक्षण आनन्द देनेवाले हैं ऐसे शास्त्रप्रसिद्ध आपको ही हम श्रेष्ठ आत्मतत्त्व समझते हैं । निरभिमान और विरक्त मुनिगण क्लेशसे जाने हुए श्रवणादि सुदृढ भक्तियोगोंसे उसी आत्मतत्त्वका अपने अन्तःकरणमें अनुभव करते हैं ॥ ४७ ॥

(स्वयं भक्तिकी प्रार्थना (याच्ञा) करनेके लिये भक्तोंके अतिशय

१. भा० ३ । १३ से १९ तक ।
२. भा० ३ । १५



वराह अवतार

किं त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥ ४८ ॥
कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ४९ ॥
प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः ॥ ५० ॥

सुखका वर्णन करते हैं—) हे भगवन् ! जो आपके चरणोंकी शरणमें रहते हैं और कीर्तनयोग्य पवित्र यशवाली आपकी कथाओंके स्वादको जानते हैं वे मोक्षरूप आपके प्रसादको भी कुछ नहीं गिनते । फिर आपके भौंह टेढ़ी करने मात्रसे जहाँ भय होता है, ऐसे इन्द्रादि पदकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४८ ॥

(अब अपने अपराधको जनाते हुए भक्तिकी प्रार्थना करते हैं—) हे भगवन् ! पहले हमसे कोई अपराध नहीं हुआ था और आज आपके भक्तोंको शाप देनेसे हम सकल पापोंके भण्डार बन गये हैं, अतः नरकमें हमारा जन्म हो । जैसे भ्रमर काँटोंसे विंध जानेपर भी पुष्पोंमें रमण करता है यदि वैसे ही हमारा चित्त सब विघ्नोंको कुछ न गिनकर आपके चरणमें ही रहे, और हमारी वाणी तुलसीके सदृश आपके चरणोंसे शोभा पावे, और हमारे कर्णछिद्र आपके गुणोंके समूहकी कथाओंसे पूर्ण रहें तो हमें नरकमें जन्म लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है ॥ ४९ ॥

हे ईश ! हे पुरुहूत ! (विपुलकीर्ति) आपने जो यह अलौकिक रूप दिखाया है उससे हमारे नेत्रोंको परम आनन्द हुआ है और आप विषयी पुरुषोंके अगोचर होकर भी हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं, ऐसे आपको हमारा नमस्कार है ॥ ५० ॥

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति तथा उनके संकल्पसे सृष्टिका वर्णन पिछले प्रकरणमें किया जा चुका है किन्तु उस समय पृथिवीका आविर्भाव नहीं हुआ था, और वह जलमें निमग्न थी। ब्रह्माजी पृथिवीको जलसे ऊपर निकालनेमें समर्थ नहीं हुए और श्रान्त होकर बैठ गये।

उक्त श्रान्तावस्थामें ब्रह्माजीके नाकसे अङ्गुष्ठके अग्रभागके बराबर एक छोटा-सा वराह बाहर निकला। वह वराह बाहर निकलते ही बढ़ने लगा और कुछ ही समयमें वह हाथीके समान बड़ा हो गया। यह बात ब्रह्माजी और उनके मानसिक पुत्रोंके समझमें नहीं आयी।

कुछ कालके अनन्तर वह वराह पर्वताकार हो गया और दिव्य गर्जना कर उसने पृथिवीको ऊपर लानेके निमित्त जलमें प्रवेश किया। किन्तु हिरण्याक्ष दैत्य पृथिवीको बाहर नहीं निकलने देता था।

हिरण्याक्षकी कथा बड़ी अद्भुत है। यह और इसका ज्येष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपु पहले जन्ममें विजय और जयके नामसे वैकुण्ठलोकमें श्रीहरिके द्वारपाल थे। इन द्वारपालोंने एक समय ब्रह्माजीके मानसिक पुत्र सनक, सनन्दन आदिको, जो श्रीहरिके पास जा रहे थे, ढिठाईके साथ रोका और अपशब्द भी कहे। ऋषियोंने क्रोधसे इनको शाप दिया कि तुम इस लोकसे गिरकर तीन बार दैत्य हो जाओगे।

फिर उन द्वारपालोंके प्रार्थना करनेपर यह कहा कि श्रीहरिके हाथसे तीन जन्म पीछे तुम्हारी मुक्ति हो जायगी[1]। यह सुनकर श्रीहरि लक्ष्मी-सहित द्वारपर आये और ऋषियोंको अभ्युत्थानादिसे सत्कृत करके भीतर ले गये। तब ऋषियोंने भगवान्‌की प्रार्थना की जो इस प्रकरणके आदिमें लिख दी गयी है।

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष कश्यपजीकी स्त्री दितिके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कश्यपजीने दितिको शाप दिया था कि तेरे गर्भसे दैत्य उत्पन्न होंगे क्योंकि दितिने कुसमय कामकी चेष्टा की थी।

---

१. यह विषय भा० स्क० ७ अध्याय १ में भी है।

हिरण्याक्ष अपने बलके अभिमानसे साक्षात् श्रीहरिके अवतार वराह भगवान्से ज़बरदस्ती लड़नेको उद्यत हुआ। वराह भगवान्ने अपने दाँतोंमें उठायी हुई पृथिवी उस पूर्व कल्पके स्थानमें रख दी जहाँसे वह जलमें डूब गयी थी[1] फिर वराह भगवान् और हिरण्याक्षका घोर संग्राम हुआ। अन्तमें भगवान्ने सुदर्शनचक्रसे हिरण्याक्षका अन्त कर दिया। तब ब्रह्मादि ऋषियोंने भगवान्की स्तुति की, जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है।



---

१. आधुनिक कई पुरुष भगवान्की वराह आदि लीलाओंको कल्पित समझते हैं और भी कई स्थलों (यथा अष्टम स्कन्ध) में कहे गये गजेन्द्रमोक्ष तथा समुद्रमन्थनको भी भ्रममूलक समझते हैं। यह सत्य है कि पूर्वापर शास्त्रका विचार न करनेसे अथवा आधुनिक शिक्षासे ऐसा भ्रम हो सकता है। किन्तु यह वराह-अवतार इस लोकका नहीं है, उस समय यह सब पृथिवी जलमय थी। ब्रह्मा और उसके मानसिक पुत्रादि जन, तप और सत्यलोकमें रहते थे (भा० स्क० ३ अध्याय १३ श्लो० १५, ४५)।

समुद्रमन्थन और गजेन्द्रमोक्ष भी इस भारतवर्षमें नहीं हुआ। वह उन लोकोंमें हुआ जो हमको दृष्टिगोचर नहीं होते। यह विषय अध्याय ५ प्रकरण ४ में दिखाया गया है। फिर यह भी बात है कि ये सभी लीलाएँ पहले मन्वन्तरोंकी हैं। इन चौदह मन्वन्तरोंका काल सहस्रयुगपर्यन्त होता है (भा० स्क० ८। १३। ३६)। इसको कल्प कहते हैं और यह ब्रह्माजीका एक दिन है। उपर्युक्त लीलाओंको श्रद्धासे पढ़ना चाहिये क्योंकि ये आप्तपुरुषोंके मुखसे निकले हुए वाक्य हैं।

ऋषियोंद्वारा कृत स्तुति[1]

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥३५॥
रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्॥३६॥
स्रुक् तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयोरिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३७॥
दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ।३८।

(वराह भगवान्‌का स्वरूप यज्ञात्मक है, यह कहकर स्तुति करते हैं—) हे अजित ! हे यज्ञपालक ! आपने बड़ा जयरूप उत्कर्ष दिखाया है। अपने वेदत्रयीरूप शरीरको बारंबार कँपानेवाले जिनके रोमछिद्रोंमें सब यज्ञ लीन हो रहे हैं ऐसे पृथिवीके उद्धारके लिये वराहरूप धारण किये हुए भगवान्‌को नमस्कार है ॥३५॥

हे देव ! यह जो आपका यज्ञात्मक रूप है वास्तवमें पापी पुरुषोंको दृष्टिगोचर नहीं होता । आपकी त्वचामें गायत्री आदि छन्द हैं, रोमोंमें कुशा हैं, नेत्रोंमें घृत और चारों चरणोंमें होता आदि चार कर्म हैं ॥३६॥

हे ईश ! आपके मुखके अग्रभागमें जुहू यज्ञपात्र है, नासिकामें स्रुवा है, उदरमें इडा है, कर्णमें चमस हैं, मुखमें प्राशित्र है, कण्ठमें ग्रह है और हे भगवन् ! आपका चर्वण (भक्षण) ही अग्निहोत्र है ॥३७॥

दीक्षा आपकी बारंबार अभिव्यक्ति (अवतार) है, उपसत् (इष्टि) ग्रीवा है, प्रायणीय और उदयनीय इष्टियाँ दाढ़ें हैं, प्रवर्ग्य जिह्वा है, सभ्यावसथ्य यज्ञरूप मस्तक है, चिति प्राण है ॥३८॥

१. भा० स्क० ३ अ० १३

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिस्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥३९॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥४०॥
दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥४१॥
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥४२॥

हे देव ! सोमरस आपका वीर्य है, तीन सवन आपकी बाल्यादि तीन अवस्थाएँ हैं, अग्निष्टोमादिक सात संस्था आपको त्वचा इत्यादि सात धातु हैं। द्वादशाह आदि जो बहुत यज्ञोंके संघात हैं वे आपकी शरीरकी सन्धियाँ (जोड़) हैं और सब इष्टियाँ आपकी सन्धियोंके बन्धन हैं ॥३९॥

सम्पूर्ण मन्त्र, देवता, घृत आदि द्रव्य, सकल यज्ञरूप और सकल कर्मरूप आपको नमस्कार है। वैराग्य, भक्ति और चित्तस्थैर्य होनेपर जिनका साक्षात्कार (ज्ञान) हो जाता है ऐसे विद्यागुरुरूप आपको नमस्कार है ॥४०॥

हे भूधर ! जैसे जलमेंसे बाहर निकले हुए श्रेष्ठ गजके दाँतोंमें रक्खी हुई पत्तेसहित कमलिनी शोभित होती है वैसे ही आपके दाढ़पर रक्खी हुई पर्वतोंसहित यह धरा (पृथिवी) शोभित होती है ॥४१॥

(ऊपरके श्लोकमें कहा है कि आपसे धारण की गयी पृथिवी शोभित होती है; अब यह कहते हैं कि पृथिवीके धारण करनेसे आप शोभित होते हैं—) अथवा जैसे कुलाचल पर्वत अपने बड़े-बड़े शिखरोंमें मेघोंको धारण करनेसे शोभित होता है, वैसे ही, हे नाथ ! दाँतोंपर पृथिवीको धारण करनेवाला आपका वेदत्रयीरूप वराहशरीर शोभित हो रहा है ॥४२॥

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥
कः श्रद्धीतान्यतमस्तव प्रभो रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ४४
विधुन्वता वेदमयं निजं वपुर्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिर्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः।४५।
स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन्विधेहि शम् ॥४६॥

हे भगवन् ! आप जगत्के पिता हैं अतः स्थावर और जंगमरूप संसारके रहनेके लिये अपनी पत्नीरूप जगन्माता इस भूमिकी भलीभाँति स्थापना करें (स्थापन करनेका प्रकार कहते हैं—) जैसे यज्ञ करनेवाले मनुष्य अरणिमें मन्त्रसे अग्निकी स्थापना करते हैं वैसे ही आपने भूमिमें अपने तेज (सब चीजोंको अपने ऊपर धारण करनेकी शक्ति) की स्थापना की है; इस कारण हम, पितारूप आपके साथ इस माताको नमस्कार करते हैं ॥४३॥

हे प्रभो ! पातालमें पड़ी हुई इस पृथिवीके उद्धार करनेकी मनसे भी इच्छा आपके अतिरिक्त दूसरा कौन मनुष्य कर सकता है ? किन्तु सकल आश्चर्यास्पद आपमें यह उद्धारकार्य आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि आपने ही तो अपनी मायासे इस अतिविस्मयस्वरूप जगत्की रचना की है ॥ ४४ ॥

हे ईश ! अपने वेदरूप शरीरको कम्पित करनेवाले आपने अपनी ग्रीवाके लम्बे-लम्बे केशोंके अग्रभागसे उड़ाये हुए कल्याणकारी पवित्र जलके छींटोंसे हम जन, तप और सत्यलोकवासियोंको अतिपवित्र कर दिया है ॥ ४५ ॥

हे भगवन् ! जो पुरुष आपके अपार कर्मोंका अन्त जाननेकी इच्छा करता है उसकी बुद्धि नष्ट हुई समझनी चाहिये। यह सकल लोक आपकी ही योगमायासे प्राप्त विषयोंसे मोहित हो रहा है, इस कारण हमको सुखप्रदान कीजिये ॥ ४६ ॥

चतुर्थ प्रकरण

भूगोल[1]

नव खण्डोंके अधिष्ठाताओंद्वारा की हुई स्तुतियाँ

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥११॥ गायन्ति चेदम् ॥

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे॥१२॥
इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः॥१३॥

यहाँ भूगोलका विषय इस कारण दिया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्का सगुण विराट् स्वरूप है। भक्तको पहले इस स्वरूपमें मन

---

१. भा० स्क० ५ अ० १६ से २६ तक

२. भा० स्क० ५ अ० १९ के अन्तर्गत भरतखण्डके अधिष्ठाता नारदजी कृत नरनारायणरूप भगवान्की स्तुतिका अर्थ—

स्वभावसे इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, अहङ्काररहित, विरक्त पुरुषोंके धन, ऋषियोंमें श्रेष्ठ, परमहंसोंके परमगुरु, आत्माराम पुरुषोंके अधिपति भगवान् नरनारायणको ओङ्कारपूर्वक नमस्कार है ॥ ११ ॥

इस जगत्की उत्पत्त्यादिके कर्ता होनेपर भी कर्तृत्वरूप अभिमानसे रहित, देहधारण करनेपर भी देहके भूख, प्यास आदि धर्मोंके अधीन नहीं रहनेवाले, द्रष्टा होनेपर भी दृष्टिके विषयोंके विकारसे रहित, निःसंग और सर्वसाक्षी (भगवान्) को नमस्कार है ॥ १२ ॥

हे योगेश्वर ! भगवान् हिरण्यगर्भने योगकी जो चातुरी कही है, वह यह है कि मनुष्य अन्तसमयमें देहाभिमानका त्यागकर भक्तिसे निर्गुण आपमें मनको संलग्न करे ॥ १३ ॥

यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान्कुकलेवरात्ययाद्यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥ १४ ॥
तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावजम् ॥

स्थिर करना चाहिये तब उसका मन निर्गुण अतिसूक्ष्म (स्वप्रकाश) परब्रह्म वासुदेवमें स्थिर करनेयोग्य होता है । फिर यह भी बात है कि इस पुस्तकके ध्येयके अनुसार इस प्रकरणमें कई स्तुतियाँ आयी हैं ।

भागवतग्रन्थके अनुसार यह भूमण्डल सात द्वीपोंमें विभक्त है अर्थात् जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप । आधुनिक भूगोलविद्यासे जम्बूद्वीपसे अतिरिक्त और कोई द्वीप नहीं जाने जा सकते । जम्बूद्वीपके विषयमें भी कई मत हैं । कोई कहते हैं कि यह पृथिवी ही जम्बूद्वीप है, कुछ लोगोंका कहना है कि जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंमेंसे जो एक खण्ड भारतवर्ष है वही सम्पूर्ण पृथिवी है । किन्तु इस बातमें बहुधा विचारवान् पुरुषोंका एकमत है कि जम्बूद्वीपके अतिरिक्त और द्वीप हमलोगोंके दृष्टिगोचर नहीं हैं । बात भी ठीक है । भारतवर्षको छोड़कर शेष द्वीपोंके रहनेवालोंका स्वरूप सुन्दर देवताओंका-सा होता है । वहाँ रहनेवालोंका रजोगुण-तमोगुण

जैसे इस लोक और परलोकके कामनाओंमें आसक्त हुआ अज्ञ पुरुष पुत्र, स्त्री और धनके योगक्षेमकी चिन्ता करता रहता है (अर्थात् मेरे मरनेपर इनका क्या होगा ऐसी चिन्ता करता है) और विष्ठा मल आदिसे भरे हुए देहके नाशसे भयभीत होता है, उसी प्रकार विद्वान् भी भय मानने लगे तो उसका शास्त्रादि जाननेमें केवल परिश्रममात्र ही समझो ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! हे अधोक्षज ! (इन्द्रियातीत) विद्वान्‌की भी जब यह दशा है तो आप ही हमको अपना स्वाभाविक भक्तियोग प्रदान करें जिससे हम आपकी मायासे इस घृणित शरीरमें स्थापित की हुई अहन्ता और ममताका त्याग कर दें, जिसका और उपायोंसे त्यागना कठिन है ॥ १५ ॥

दूर हो जाता है, इनकी आयु कई हजार वर्षकी होती है । ये द्वीप घृत, क्षीर, मट्ठा, दधि और मधुके समुद्रोंसे घिरे हुए हैं, इस कारण यह मानना पड़ेगा कि ये आठ द्वीप भारतवर्षसे भिन्न प्रकारके हैं ।

अब रही जम्बूद्वीपकी बात । इसके नौ खण्ड हैं जिनके बीचमें इलावृतखण्ड है और उसके दक्षिणमें हरिवर्षखण्ड, किम्पुरुषखण्ड भरतखण्ड हैं और तदनन्तर समुद्र है । उत्तरमें रम्यकखण्ड, हिरण्यगर्भ-खण्ड और कुरुखण्ड है और तदनन्तर समुद्र है । पूर्वमें भद्राक्षखण्ड फिर समुद्र है और पश्चिममें केतुमालखण्ड है ।

इन स्थानोंकी स्थिति कई प्रकारसे आजकलके भूगोलसे देखी गयी है, किन्तु कोई निश्चय नहीं हो सका । श्रीमद्भागवतमें भरतखण्डको छोड़कर शेष खण्डोंके अधिवासी सिद्ध, किन्नर आदि दिव्यपुरुष कहे गये हैं । इनमें मधु, दुग्ध, दधि, घृत, गुड़ और अन्नादिके प्रवाहरूप नदियाँ बतायी गयी हैं । यहाँ त्रेतायुगका-सा समय रहता है । यहाँके रहनेवालोंकी आयु हजार वर्षकी बतायी जाती है और इनको भौम स्वर्ग कहा है । यहाँ सब स्वर्गोंके भोग मिलते हैं ।

इस विवेचनसे यहाँ भी आठ द्वीपोंके विषयमें जो न्याय लगाया था कि ये आठ खण्ड हमारे भौतिक देहसे नहीं देखे जा सकते वही न्याय लगाना चाहिये । किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ये हैं ही नहीं । भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रके विभूतिपादके छब्बीसवें सूत्रमें लिखा है—भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्' । अर्थात् सूर्यविषयक संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करनेसे भुवनका ज्ञान होता है । इस सूत्रकी टीकामें व्यास भगवान्ने उन्हीं सब द्वीपों और खण्डोंका वर्णन किया है जो श्रीमद्भागवतमें बताये गये हैं । उपर्युक्त सूत्रसे यह दिखाया है कि उस भूमण्डलका ज्ञान योगसे होता है । इस योगसिद्धान्तको न मानने-का कोई कारण नहीं है ।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवतमें जो भूमण्डलका वर्णन किया गया है, वह वस्तुतः ठीक है। आधुनिक तर्कसे इस विषयको नहीं देखना चाहिये। इसके सिवा श्रीमद्भागवत वर्तमान श्वेतवाराहकल्पमें नहीं लिखा गया। किन्तु इससे पहले सारस्वत[1] कल्पमें लिखा गया था। तबसे इस पृथिवीमें न मालूम कितने परिवर्तन हुए हैं इसे कोई कह नहीं सकता।

आधुनिक भूगोलतत्त्ववेत्ताओंका यह मत है कि—'आस्ट्रेलिया किसी समयमें एक बड़ा द्वीप रहा होगा, जिसका नाम अष्ट्रल एशिया था और यह द्वीप समुद्रमें निमग्न हो गया, कुछ छोटे-छोटे टापू इस समय शेष हैं। हमलोगोंके सामने बिहारके भूकम्पमें जो सन् १९३३ में हुआ था उस प्रान्तका हुलिया बदल गया है।

श्रीमद्भागवतमें इस भूगोलविद्यामें और भी विषय बतलाये हैं। इस पृथिवीके नीचे सात पाताललोक हैं यथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल तथा कई प्रकारके नरक भी बतलाये हैं उनकी संख्या इक्कीस है।

इन नरकोंके न माननेका कोई कारण नहीं है। यदि स्वर्ग है तो नरक अवश्य होगा। यदि स्वर्ग-नरक न हों तो पाप-पुण्यका फल नहीं मिलेगा। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि इसी जन्ममें भले या बुरे कर्मोंका फल मिल जाता है। बुरे कर्म करनेवालोंको हम सब प्रकारसे सम्पन्न देखते हैं और सदाचारी पुरुषोंको दुःखमें निमग्न देखते हैं। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि पुनर्जन्म है और जो सुख-दुःख इस लोकमें नहीं भोगे जाते उनके भोगके लिये स्वर्ग और नरक हैं।

१ यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते॥
सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः। तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते॥
(मात्स्ये)

इस प्रकरणमें नक्षत्रोंका भी वर्णन आया है और उनके स्थान भी बतलाये गये हैं। प्रधान नक्षत्र सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुव, मङ्गल, शनि, बृहस्पति, शुक्र, बुध, राहु, केतु, अश्विनी आदि तारागण हैं।

अन्तमें यह ध्यान रखनेको बात है कि जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंके सब अधिष्ठात्री देवताओंका वर्णन आया है और यह भी लिखा है कि हर खण्डमें किस प्रकारसे भगवान्‌की स्तुति की जाती है। इस प्रकरण-के आदिमें भरतखण्डके जनोंके साथ नारदजीकी स्तुति लिख दी है। शेष स्तुतियाँ यहाँ लिख देते हैं।



इलावृतखण्डके अधिष्ठाता शिवजीकृत संकर्षणरूप भगवान्की स्तुति

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति ॥ १७ ॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥१८॥
न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभिर्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥१९॥
असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।

सकल गुणोंके कार्यके प्रकाशक अनन्त और अव्यक्त, भगवान् महापुरुषको ओङ्कारपूर्वक नमस्कार है ॥ १७ ॥

हे भजनीय ! जिनका चरणकमल भक्तोंकी रक्षा करता है जो ऐश्वर्यादि षड्गुणोंका परम स्थान हैं, जो भक्तोंमें अपना स्वरूप प्रकट करते हैं, जो भक्तोंका पालन करते हैं, भक्तोंका भव-भय दूर करते हैं और अभक्तोंका संहार करते हैं ऐसे आपको मैं भजता हूँ ॥१८॥

(तामसत्वके वर्णनसे प्राप्त अनादरका वारण करते हैं—) जैसे क्रोधके वेगको न जीतनेवाले हम लोगोंकी चित्तवृत्ति विषयोंसे लिप्त होती है वैसे जगत्का शासन करनेके लिये उसकी ओर देखते हुए भी जिसकी दृष्टि, मायासम्बन्धी विषयवासनावाली चित्तवृत्तियोंसे जरा भी लिप्त नहीं होती इस कारण इन्द्रियोंको वशमें करनेकी इच्छा करनेवाला कौन पुरुष ऐसे ईश्वरकी सेवा न करेगा ? ॥ १९ ॥

बाह्य दृष्टिवालोंको अपनी मायासे आप भयङ्कर-से दीखते हैं और आसव या ताड़ीका सेवन करनेवालोंके सदृश लाल-लाल नेत्रवाले प्रतीत होते हैं, इस कारण वे आपकी सेवा नहीं कर सकते । (शङ्का—नागपत्नियाँ भी आपसे डरकर आपकी पूजा न कर सकीं तो

न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥२०॥
यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥२१॥
यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महा-
न्विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्संभवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥२२॥

इन बहिर्मुख पुरुषोंका क्या अपराध ? समाधान—) नागपत्नियोंका मन आपके पादस्पर्शसे लज्जित हो गया इस कारण वे आपकी सेवा न कर सकीं अतः कौन पुरुष आपकी सेवा न करेगा—ऐसे आपके लिये नमस्कार है ॥२०॥

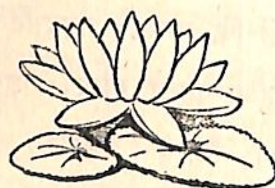
ऋषिलोग जिसे इस विश्वके जन्म, स्थिति और लयका कारण कहते हैं और तीनों गुणोंसे रहित होनेके कारण जिसको वेद 'अनन्त' कहते हैं, जिन्हें अपने सहस्र मस्तकोंमें सरसोंके दानेके समान कहीं-पर स्थित भूमण्डलके भारकी प्रतीति नहीं होती ऐसे आपको नमस्कार है ॥२१॥

(अब यह कहते हैं कि जन्मादि महदादिके द्वारा होते हैं) जिन आपका गुणोंके कारण हुआ पहला स्वरूप महत् था वही चित्‌रूपसे सत्त्वप्रधान होनेके कारण चैतन्य (प्रकाश) का आश्रय है और वही अब वासुदेव और ब्रह्मरूप है जिनसे उत्पन्न हुआ मैं (रुद्र) अपने त्रिगुणात्मक तेजसे (अहंकारसे) देवताओं, महाभूतों और इन्द्रियसमूहकी सृष्टि करता हूँ ॥२२॥

एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥२३॥
यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥२४॥

डोरीसे बँधे हुए पक्षियोंके समान हम सब महत्तत्त्व, अहंकार, देवता और इन्द्रियोंका समूह आपके वश रहते हुए आपके ही अनुग्रहसे इस जगत्को उत्पन्न करते हैं ॥२३॥

सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टिसे मोहित हुआ बेचारा जीव यह बात तो जानता है कि आपसे बनायी गयी कर्मोंके गाँठपर गाँठ लगानेवाली स्त्री-पुत्रादिरूप माया है; किन्तु उसके पार होनेका उपाय नहीं जानता है। ऐसे उत्पत्ति और संहारस्वरूप आपको नमस्कार है ॥२४॥



भद्राश्वखण्डके अधिपति भद्रश्रवाकृत हयग्रीवरूप भगवान्की स्तुति[1]

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥ २ ॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषुः ॥ ३ ॥

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।

हे भगवन् ! मनको शुद्ध करनेवाले धर्मरूप आपको ओंकारपूर्वक नमस्कार है ॥२॥

भगवान्की लीला विचित्र है, अहो ! यह संसारी पुरुष देखता हुआ भी घातक मृत्युको नहीं देखता है (अर्थात् उसका अनुसन्धान नहीं करता है) क्योंकि अतितुच्छ विषयसुखभोगरूप पापका ध्यान करता रहता है । अपने मरे हुए पिता अथवा पुत्रको भस्म करके उसके धनसे अपना निर्वाह करना चाहता है (भाव यह है कि जीव यह नहीं देखता कि हमको भी मरना है) ॥ ३ ॥

हे अज ! यद्यपि विवेकी और उपनिषद्वेत्ता पण्डितजन इस जगत्को नश्वर कहते हैं और शास्त्रदृष्टिसे ऐसा देखते भी हैं तथापि

---

१. भा० स्क० ५ अ० १८

तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४ ॥
विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
विकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः ॥ ५ ॥
वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृता-
न्रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथे हिताय त इति ॥ ६ ॥

आपकी मायासे मोहको प्राप्त हो जाते हैं। आपका चरित्र अतिविचित्र है; इस कारण आप अजन्माको नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

वेदमें मायाके आवरणसे रहित अकर्ता आपमें संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप कर्मका समर्थन किया गया है। सबकी आत्मा और कार्यके भी कारण आपमें कर्तृत्व उचित है। आपके विषयमें यह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि मायासे वस्तुतः निरुपाधिक आपमें अनावृतत्व और अकर्तृत्व भी उचित है ॥ ५ ॥

प्रलयके समय निद्रावस्थामें ब्रह्माजीके मुखसे निकले हुए (अथवा सृष्टिके आदिमें उत्पन्न मधुदैत्यद्वारा चुराये गये) वेद, मनुष्य और अश्वके शरीरको धारण करनेवाले जिसने पातालसे लाकर याचना करनेवाले ब्रह्माजीको दिये उस सत्यसंकल्प भगवान्को नमस्कार है ॥ ६ ॥



हरिवर्षखण्डके वासी प्रह्लादजीकृत नृसिंहरूपसे भगवान्‌की स्तुति[1]

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान्रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः, ॐ क्ष्रौम् ॥८॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥
मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।

भगवान् नृसिंहको ओंकारपूर्वक नमस्कार है । अग्न्यादि प्रकाशमय वस्तुके भी प्रकाशकको नमस्कार है । हे वज्रनख ! वज्रदन्त ! आप प्रकट होइये । (ॐ स्वाहा) जन्म-मरणहेतुभूत कर्मवासनाओंको भस्म कर दीजिये । अज्ञानको दूर कीजिये । (ॐ क्ष्रौम्) इस जीवको जैसे बारम्बार अभय प्राप्त हो वैसा कीजिये । (ॐ ॐ स्वाहा ॐ क्ष्रौम्;) इन बीजोंका उच्चारण कर मन्त्र जपना चाहिये ॥ ८ ॥

सब जगत्‌का कल्याण हो । जगत्‌को दुःख देनेके कारणभूत खल दुष्टता छोड़ें, सब प्राणी बुद्धिपूर्वक परस्पर कल्याणका विचार करें, उनका मन शान्तिका आश्रयण करे, हम सबकी बुद्धि निष्काम होकर अधोक्षज भगवान्‌में लगे ॥ ९ ॥

घर, स्त्री, पुत्र, धन और बान्धवोंमें हम सब प्राणियोंकी आसक्ति न हो; यदि हो तो भगवान्‌के भक्तोंमें ही हो । जिस सत्संगी पुरुषने

---

१. भा० स्क० ५ अ० १८

य: प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवा-
न्सिध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥१०॥

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥११॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥१२॥

केवल प्राणधारणमात्र आहारसे सन्तोष कर रखा है और मनको अपने वशमें कर रक्खा है वही शीघ्र कृतकृत्य होता है। गृह, विषय आदिमें आसक्त पुरुष कभी कृतकृत्य नहीं होता, बल्कि दुःख ही पाता है ॥१०॥

भगवान्‌के भक्तोंकी संगतिसे प्राप्त और भगवान्‌के आविर्भावके हेतुभूत असाधारण प्रभाववाले भगवान् मुकुन्दके यशरूपी तीर्थका श्रवण, कीर्तन और स्मरणसे सदा सेवन करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें गये हुए भगवान् मनके मलको दूर कर देते हैं । इसलिये कौन विवेकी भगवद्भक्तोंकी सेवा न करेगा ॥११॥

जिसकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सम्पूर्ण गुणोंके साथ सब देवता नित्य वास करते हैं। विषयासक्त, हरिविमुख, अतितुच्छ विषयसुखकी इच्छासे संसारमें भ्रमण करनेवाले जनको महान् लोगोंके गुण, धर्म आदि कहाँसे प्राप्त हो सकते हैं? ॥१२॥

हरिर्हि साक्षाद्भगवाञ्छरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥१३॥

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥१४॥

(शङ्का—हरि-विमुख और गृहादिमें आसक्त पुरुषमें बड़प्पन दीखता है तो हरि-भक्तमें क्या विशेषता है ? समाधान—यह उपहास-मात्र है) जैसे मछलीका जीवन जलपर ही निर्भर है, वैसे ही सब देहधारियोंका जीवन भगवान् हरिपर ही निर्भर है। अर्थात् सब प्राणियोंके साक्षात् जीवनहेतु भगवान् हरि ही हैं; ऐसे हरिको छोड़कर अतिप्रसिद्ध पुरुष भी यदि विषयोंमें आसक्त होता है तो उसका महत्त्व केवल अवस्थासे है जैसे कि शूद्रोंमें, स्त्री-पुरुषमें एककी अपेक्षा दूसरेका महत्त्व केवल अवस्थासे होता है यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

इस कारण हे दैत्यो ! तुम तृष्णा, राग, दुःख, क्रोध, अहंकार, काम, भय, दीनता और चिन्ताके मूलकारण तथा जन्ममरणरूप संसारके निरन्तर देनेवाले घरका त्याग कर भगवान् नृसिंहके भयरहित चरणोंकी सेवा करो ॥ १४ ॥



रम्यकखण्डके अधिपति मनुकृत मत्स्यरूप भगवान्‌की स्तुति[1]

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति ॥ २५ ॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥२६॥
यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक्समेत्य च ।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥२७॥

सत्त्वप्रधान, सर्वेन्द्रियनियन्ता, सत्त्वात्मा, इन्द्रिय-अन्तःकरण-देह-शक्तिरूप महामत्स्य भगवान्‌को ओंकारपूर्वक नमस्कार है ॥ २५ ॥

जैसे पुरुष लकड़ीकी पुतली (गुड़िया) को डोरीसे बाँधकर अपने वशमें कर लेता है वैसे ही वेदरूप महानादयुक्त आपने विधि और निषेधके अवलम्बनरूप ब्राह्मण आदि नामोंसे इस विश्वका नियमन किया है; ऐसे आप सब लोकपालक ब्रह्मादिसे भी अदृष्ट होकर, प्राणरूपसे सबके भीतर और वायुरूपसे सबके बाहर विचरते हैं ॥ २६ ॥

दूसरेकी ईर्ष्या करनेवाले इन्द्रादि लोकपाल पृथक्-पृथक् या सब मिलकर प्राणरूप आपके बिना द्विपद (मनुष्यादि), चतुष्पदादि (गौ अश्वादि, पशु), जंगम और वृक्षादि स्थावर, जो कोई यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं, उन जीवोंमेंसे किसीकी भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं। (भाव यह है कि प्राणरूपसे सबकी रक्षा करनेवाले सर्वेश्वर आप ही हैं) ॥२७ ॥

---

१. भा० स्क० ५ अ० १८

भवान्युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरुक्रम तेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥२८॥

हे पराक्रमशील ! अज ! आप बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे ऊफनते हुए प्रलयकालके समुद्रमें औषध और लताओंके आश्रय इस पृथिवीको मेरे (मनुके) सहित धारण करके अपनी शक्तिसे बहुत कालपर्यन्त विचरें। उन प्राणोंके समूहोंको वशमें करनेवाले आपको नमस्कार है ॥२८॥



हिरण्मयखण्डके अधिपति अर्यमाकृत कूर्मरूप भगवान्‌की स्तुति[1]

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणाय नोपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते ॥३०॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भना-
त्तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥ ३१ ॥
जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।

जो सत्त्वगुणप्रधान है, जिसके निवासस्थानका पता नहीं लगता है, जो कालसे अनवच्छिन्न है, सर्वगत है और सबका आधारभूत है, ऐसे कूर्मरूप भगवान्‌को ओंकारपूर्वक नमस्कार है ॥ ३० ॥

अपनी मायाशक्तिसे प्रकाशित किया हुआ जो अखिल पृथिवी आदि जगत् बहुत रूपोंसे निरूपित दिखायी देता है, यह सब दृश्य आपका ही स्वरूप है इसका स्वरूपके द्वारा यथार्थ ज्ञान न होनेसे आप परमेश्वरका भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे मृगतृष्णाके जलके परिमाणका अनुभव नहीं हो सकता है; ऐसे अनिर्वचनीय प्रपञ्चके आकाररूप आपको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

जरायुज (मनुष्यादि), स्वेदज (जूँ आदि), अण्डज (पक्षी आदि), उद्भिज (वृक्षादि), चराचर (जंगम-स्थावर), देव, ऋषि, पितर, भूत,

---

1. भा० स्क० ५ अध्याय १८

द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
　　द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय　　एकः ॥ ३२ ॥
यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
　　रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
　　तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय त इति ॥३३॥

(आकाशादि) इन्द्रियवर्ग, स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि, पर्वत, नदी, समुद्र, जम्बू आदि द्वीप, आदित्यादि ग्रह और नक्षत्र इन अनेक नामोंसे कहे जानेवाले आप एक ही हैं ॥ ३२ ॥

असंख्य नामरूप आकारोंसे युक्त आपमें ज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्त जिन कपिलादि मुनियोंने चौबीस तत्त्वोंके संख्याकी कल्पना की है, वह सब आपके तत्त्वके ज्ञानसे दूर हो जाती है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तरूप आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥



कुरुखण्डकी अधिष्ठात्री भूमिकृत वाराहरूप भगवान्‌की स्तुति[1]

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥ ३५ ॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मन्थन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥ ३६ ॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।

मन्त्रोंसे जानने योग्य, यज्ञक्रतुरूप बड़े अवयववाले, कर्मोंसे स्वच्छ स्वरूप और तीनों युगोंमें प्रसिद्ध महापुरुष वराह भगवान्‌को ओंकार-पूर्वक नमस्कार है ॥ ३५ ॥

जैसे विचारशील पुरुष काष्ठोंमें अन्तर्हित अग्निको मन्थनसे प्रकट करते हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिमें कर्म और उनके फलोंसे आच्छादित जिसके स्वरूपको वशीकृत मनसे विवेकी और जिज्ञासु विद्वान् प्रकट करते हैं अर्थात् इस प्रकार मन्थनसे प्रकट है स्वरूप जिनका, ऐसे परमात्माको प्रणाम है ॥ ३६ ॥

विचारसे यम, नियम, श्रवण, मनन आदिसे विवेकिनी बुद्धिवाले आत्मज्ञ पुरुष जिनके स्वरूपको विषय-इन्द्रियोंके व्यापार, देवता-देश-

---

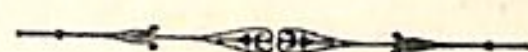
१. भा० स्क० ५ अ० १८

अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥ ३७ ॥
करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रये
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥ ३८ ॥
प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥ ३९ ॥

काल-अहंकारादि मायाके कार्यरूप गुणोंसे वस्तुरूपसे जानते हैं जैसे कि कार्यसे कारण जाना जाता है; ऐसे उन मायातीतस्वरूप भगवान्‌को नमस्कार करती हूँ ॥ ३७ ॥

(निर्गुणरूपसे नमस्कार करके अब परमेश्वररूपसे नमस्कार करती है—) अपने लिये जिसको कोई इच्छा नहीं है, किन्तु जीवोंके निमित्त जिसके दृष्टिमात्रसे (सन्निधिमात्रसे) माया अपने त्रिगुणोंके द्वारा इस प्रकार इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करती है जैसे चुम्बक पत्थरके सन्निधिमात्रसे जड़ लोहा घूमता है; ऐसे गुण और कर्मोंके साक्षी आपको नमस्कार है ॥ ३८ ॥

जो भगवान् रसातलमें गिरी हुई मुझ पृथिवीको दाँतके ऊपर रखकर खेल करते हुए प्रलयके समुद्रसे निकाल लाये, फिर जैसे एक हाथी दूसरेसे युद्ध करता है वैसे हिरण्याक्ष दैत्यको मारकर क्रीड़ा-सी करते रहे; ऐसे आप सर्वसमर्थ भगवान्‌को मैं नित्य नमस्कार करती हूँ ॥ ३९ ॥



किंपुरुषखण्डमें गन्धर्वकृत भगवान् रामचन्द्रजीकी स्तुति[1]

ॐ नमो भगवत उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥ ३ ॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक्प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।

जिनकी कीर्ति पवित्र है; जिनके लक्षण, स्वभाव और आचार श्रेष्ठ हैं; जिन्होंने अपना मन वशमें कर रक्खा है; जो लोकमर्यादानुसार व्यवहार करनेवाले हैं; जो साधुत्वको पहचाननेकी कसौटी हैं और जो ब्राह्मणोंके भक्त हैं; ऐसे महापुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रको ओंकारपूर्वक नमस्कार है ॥ ३ ॥

जिसका परम शुद्ध अनुभवमात्र स्वरूप वेदान्तमें प्रसिद्ध है, जो अपने स्वरूपके प्रकाशसे नाना प्रकारकी जाग्रदादि अवस्थाओंको दूर करनेवाला है, मैं उस साक्षी, शान्तरूप, शुद्धचित्तसे प्राप्त होनेवाले, नामरूपरहित, अहंकारशून्य भगवान्की शरणमें जाता हूँ ॥ ४ ॥

सर्वव्यापक श्रीरामचन्द्रजीका अवतार केवल रावणके वधके लिये ही नहीं हुआ किन्तु मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये भी हुआ । यदि यह अवतार शिक्षाके लिये न माना जाय तो अपने

---

१. भा० स्क० ५ अ० १९

कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ५ ॥
न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥
न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।

स्वरूपमें रमण करनेवाले सर्वात्मा परमेश्वर सीताविरहजनित दुःखको क्यों दिखलाते ? ॥ ५ ॥

धीर मनुष्योंके आत्मा और परम हितकारी भगवान् रामचन्द्रजीको त्रिलोकीके किसी विषयमें आसक्ति नहीं थी अतएव उन्हें सीतावियोग-जनित दुःख नहीं हो सकता तथा भाई लक्ष्मणका त्याग भी नहीं बन सकता (जब रामावतारका प्रयोजन पूर्ण होनेको आया तब देवदूत भगवान्से बातचीत करने आये थे। बातें करते हुए देवदूतने श्री-रामचन्द्रजीसे कहा कि बातें करते समय यदि कोई हमारे पास आवे तो उसे आपको मार देना होगा। भगवान्ने उसके कथनानुसार प्रतिज्ञा कर ली और भीतर कोई प्रवेश न करे यह कहकर लक्ष्मणको पहरेपर छोड़ दिया। उसी समय दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे, उनके शापके भयसे लक्ष्मण भीतर गये। प्रतिज्ञावश श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके विषयमें श्रीवशिष्ठजीसे पूछा; तब वशिष्ठजीके यह समझानेपर कि भाईका त्याग करना ही उसका वध है, श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणको त्याग दिया। यह सत्य-संकल्पत्व, ब्रह्मण्यत्व आदि लोकशिक्षाके लिये ही किया गया, अन्यथा उन्हें ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता ही न थी) ॥ ६ ॥

(अब यह प्रतिपादन करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी सबके सेव्य हैं और उनको प्रसन्न करनेके हेतु केवल सत्कुलमें जन्म आदि नहीं है किन्तु भक्ति ही है—) महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताके हेतु सत्कुलमें जन्म,

तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥७॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥८॥

सौन्दर्य, मीठा बोलना, (तीक्ष्ण) बुद्धि या उच्च जाति नहीं है क्योंकि लक्ष्मणके बड़े भ्राता श्रीरामचन्द्रजीने ऐसे गुणोंसे रहित हम-जैसे वनचारियोंकी मित्रता स्वीकार की है ॥ ७ ॥

देवता असुर वानर अथवा मनुष्य सभीको चाहिये कि वे थोड़ी भी सेवाको बहुत माननेवाले मनुष्यरूपधारी उन श्रीरामचन्द्रजीका सर्वात्मभावसे भजन करें जो समस्त अयोध्यावासियोंको ब्रह्मलोकसे ऊपर स्थित लोकमें ले गये ॥ ८ ॥



छठा अध्याय

सत्ययुगकी लीलाएँ

प्रथम प्रकरण

कपिलजीका अवतार[1]

कर्दम ऋषिकृत स्तुतियाँ

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये[2] ॥

पृथिवी अपने स्थानपर स्थित कर दी गयी । किन्तु ब्रह्माजीकी मानसिक सृष्टिसे प्रजाकी वृद्धि नहीं हुई । ब्रह्माजीने इन्द्रियोंको वशमें कर अपने अभीष्ट ऋषिरूप प्रजाकी सृष्टि की, जिसमें कर्दम ऋषि भी थे ।

कर्दमजी महायोगी थे और भगवान्के पूर्ण भक्त भी थे । उस समय सत्ययुग था, और कर्दम ऋषिने दश सहस्र वर्ष तपस्या की । भगवान्ने तपस्यासे प्रसन्न होकर उनको दर्शन दिया । तब कर्दम ऋषिने भगवान्की स्तुति की, जो इस प्रकरणमें लिखी गयी है ।

भगवान्ने उस स्तुतिसे प्रसन्न होकर कर्दम ऋषिको आज्ञा दी 'मनुजी तुमसे अपनी कन्या देवहूतिके साथ विवाह करनेको कहेंगे और तुम उस कन्यासे विवाह करके प्रजा बढ़ाना । तब मैं (भगवान्) तुम्हारे यहाँ ज्ञानोपदेश करनेके लिये अवतार लूँगा ।'

कुछ समयके बाद मनुजी अपनी कन्या देवहूतिको लेकर कर्दमजीके

---

१. भा० स्क० ३ अध्याय २० से २४ तक

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लो० ३३ की टीकामें देखिये ।

समीप गये और उनसे कन्याको स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। कर्दमजीने स्वीकृति दे दी और राजा मनु कन्याको देकर चले गये।

इतनेमें कर्दमजीको कई हजार वर्षकी समाधि आ गयी। देवहूतिने दास, दासी आदि, सब वैभवके सामान वापिस कर दिये और आप अनन्यभावसे ऋषिकी सेवामें लग गयीं।

जब ऋषिकी समाधि खुली तो उन्होंने एक वृद्धा स्त्री सामने देखी और उससे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि वह देवहूति है। कर्दम ऋषि उसकी सेवासे अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उससे वर माँगनेको कहा। देवहूतिने केवल यही कहा 'आपसे अवतार होनेको था'।

कर्दमजीने अपने योगबलसे एक विमान बुलवाया और देवहूतिसे कहा कि इस विन्दुसरोवरमें स्नानकर इस विमानमें बैठ जा। देवहूतिने ऐसे ही किया। तब वह तुरन्त नवयौवना हो गयी और उस विमानमें सब ऐश्वर्य प्राप्त हो गये तदनन्तर काल पाकर कर्दम ऋषिसे देवहूतिमें कपिलजी उत्पन्न हुए। तब कर्दम ऋषिने एकान्तमें कपिल भगवान्‌की स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है। तदनन्तर कर्दम ऋषिने कपिल भगवान्‌के आज्ञानुसार संन्यास ले लिया क्योंकि पुत्रके उत्पन्न होनेसे वे तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गये।



जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भिराशासते योगिनो रूढयोगाः ॥१३॥
ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥१४॥
तथा स चाहं परिवोढुकामः समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥१५॥

हे ईड्य ! (पूज्य) यह बड़े हर्षकी बात है कि आज हमने सब सत्त्वके समूह अर्थात् सत्त्वके कार्य ज्ञानादिसे पूर्ण, आपके दर्शनसे नेत्रोंकी सफलता प्राप्त की है, जिनके दर्शनकी बहुत जन्मोंके अधिक पुण्यके प्रसादसे योगसिद्ध योगी जन प्रार्थना करते हैं ॥ १३ ॥

(कामी भक्तोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—) हे ईश ! आपका चरणकमल संसारसमुद्र तैरनेके लिये नौकारूप है, किन्तु मन्दबुद्धि पुरुष (जिनकी बुद्धि आपकी मायासे हरी गयी है) क्षुद्र कामनाके लिये आपकी उपासना करते हैं, जो काम नरकमें भी प्राप्त है, और आप उनको वे विषय-भोग भी देते हैं ॥ १४ ॥

(सकाम होनेसे मैं भी निन्दायोग्य हूँ) इसी प्रकार (सकाम भक्तोंकी निन्दा करनेवाला) मैं भी गौकी तरह गृहस्थाश्रमका सकल अर्थ प्रदान करनेवाली अपने समान शीलवाली भार्यासे विवाह करनेकी इच्छा करनेवाला, कामासक्तचित्त होकर कल्पवृक्षके समान सब मनोरथ पूर्ण करनेमें समर्थ आपके चरणोंकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ ॥ १५ ॥

---

१. भा० स्क० ३ अ० २१

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥१६॥
लोकांश्च लोकानुगतान्पशूंश्च हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥१७॥
न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्॥१८॥

हे अधीश ! हे प्रजापालक ! कामके वशमें पड़े हुए जीव आपके वचनरूपी डोरीसे बँधे हुए हैं, मैं भी उसी प्रकार लोक-मर्यादानुसार चलनेवाला हूँ, इस कारण आप कालात्माको बलि समर्पण करता हूँ अर्थात् आपकी कर्ममय आज्ञाका पालन करता हूँ ॥ १६ ॥

(अब दो श्लोकोंसे यह वर्णन करते हैं कि आपके भक्तोंको कालात्मक आपसे भय नहीं रहता है) आपके भक्त कामादिभूत मनुष्यों और उनके पशुतुल्य (अज्ञ) अनुयायियोंका अनादर करके नाना प्रकारके तीनों तापोंको दूर करनेवाले आपके चरणरूप छत्रका आश्रय ग्रहण करते हैं और आपसमें आपके गुणानुवादरूप कथामयी सुधाका पानकर तृषा, क्षुधा इत्यादि देहधर्मोंको त्यागते हैं ॥ १७ ॥

इसी कारण यह कालचक्र जो ब्रह्मरूप धुरामें फिरता है जिसके अधिक माससहित तेरह महीने अरे (दाँत) हैं, जिसके पर्व (जोड़) तीन सौ साठ रात-दिन हैं, छः ऋतु जिसकी नेमि है, जिसके अनन्त लव निमेषरूप पत्ते हैं, चान्द्र आदि तीन मास आधारभूत चक्र हैं तथा जिसका प्रवाह विकराल है; ऐसे चराचर जगत्की आयुको खींचकर भागनेवाला कालचक्र आपके भक्तोंकी आयुको कम नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

---

१. श्रुतिः (जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते) वे तीन ऋण ये हैं देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण ।

एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया द्वितीययात्मन्नधियोगमायया।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥१९॥
नैतद्धताधीश पदं तवेप्सितं यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया लसत्तुलस्या तनुवा विलक्षितः ॥२०॥
तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादसरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥२१॥

(शङ्का—निरुपाधि और उदासीनसे क्यों प्रार्थना करते हो ? समाधान—आप ही मायासे सृष्टि करते हैं इस कारण आप ही उपास्य हैं) हे भगवन् ! आप स्वयं अकेले होकर संसारको उत्पन्न करनेकी इच्छासे अपनेमें धारण की हुई अद्वितीय योगमायाकी शक्तियोंसे मकड़ीके जालेके समान इस जगत्को उत्पन्न करते हैं, पालते हैं और इसका संहार भी करते हैं तात्पर्य यह कि जगत्के उपादान और निमित्तकारण आप ही हैं ॥१९॥

हे अधीश ! जो आप अपनी मायाके द्वारा हमको शब्दादि विषय सुख देते हैं वह यद्यपि आपको इच्छित नहीं है तथापि हमारे अनुग्रह[1]के निमित्त ही देते हैं, क्योंकि आपने तुलसीकी मालासे सुशोभित अपनी सगुणमूर्तिका हमको दर्शन दिया है इससे हमको भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हों ॥२०॥

आप आत्मज्ञानद्वारा सकल प्राणियोंको कर्मोंके फलसे उपराम करनेवाले हैं और अपनी मायाके द्वारा इस जगत्का व्यवहार चलानेके निमित्त अनेकों साधन भी उत्पन्न करते हैं, अर्थात् थोड़ी-सी आराधना करनेपर भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करते हैं हे भगवन् ! ऐसे आपको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

---

१. तीनों ऋण चुकाना अनुग्रह है, इससे मोक्ष मिलता है।

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥ २७ ॥
बहुजन्मविपाकेन सम्यग्योगसमाधिना ।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥ २८ ॥
स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः ।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ॥ २९ ॥
स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥ ३० ॥

अहो ! अपने दुष्कर्मोंसे इस नरकतुल्य संसारमें अनेक प्रकारके तापोंसे दुःख पानेवाले (मेरे समान) जीवोंपर देवता निःसन्देह बहुत कालमें प्रसन्न होते हैं ॥ २७ ॥

अनेक जन्मोंके पुण्यविपाक (परिणाम) से शुद्ध चित्तकी एकाग्रतारूप योगसे संन्यासी पुरुष भी निर्जन स्थानमें आपके जिन चरणोंके दर्शनका प्रयत्न करते हैं ॥ २८ ॥

हे भक्तहितकारी भगवन् ! वे ही आप अपनी कितनी ही अवज्ञाका ध्यान न कर मुझ-जैसे अविवेकीके घर आज उत्पन्न हुए हैं ॥ २९ ॥

यही नहीं, आप भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं, अतएव हे भगवन् ! आप ज्ञानका साधन, सांख्यशास्त्र रचने और अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके निमित्त मेरे घर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ३० ॥

---

१. भा० स्क० ३ अध्याय २४

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥ ३१ ॥

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोधवीर्यश्रिया पूर्णमहं प्रपद्ये ॥३२॥

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥३३॥

आस्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां त्वयावतीर्णार्ण उताप्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः ॥३४॥

हे भगवन् ! यद्यपि आप प्राकृत रूपरहित हैं तथापि आपके भक्तोंको (चतुर्भुजादि) रूपोंमें रुचि होती है, अतः वही आपको भी प्रिय लगते हैं ॥ ३१ ॥

प्रकृति और पुरुषकी यथार्थता जाननेकी इच्छासे विवेकी पुरुषद्वारा जिनका पादपीठ सदा प्रणाम करनेयोग्य है और जो ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, शक्ति तथा सम्पत्तिसे युक्त हैं, ऐसे आपकी मैं शरण हूँ ॥ ३२ ॥

प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, काल, सर्वज्ञता, अहंकार (जिसमें सत्त्व, रज और तम रहते हैं) और लोकपाल (इन्द्रादि) जिसके स्वरूप हैं तथा जो चेतनशक्तिसे सब प्रपञ्चमें व्याप्त हैं ऐसे स्वच्छन्दशक्ति भगवान् कपिलदेवकी मैं शरण हूँ ॥ ३३ ॥

आप प्रजापतिसे मैं आज संन्यासकी प्रार्थना करता हूँ, आपके अनुग्रहसे मैं देवता, ऋषि और पितरोंके ऋणसे मुक्त हुआ हूँ और आपके अवतार लेनेसे मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं; अतः मैं संन्यास-मार्गमें स्थित होकर हृदयमें आपका ध्यान करता हुआ शोकरहित विचरूँगा ॥ ३४ ॥

द्वितीय प्रकरण

कपिलगीता[1]

देवहूतिकृत स्तुतियाँ[2]

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्पणात् ।
येन संभाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥
तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥
य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥
अथ मे देव संमोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ॥१०॥

---

१. भा० स्क० ३ अध्याय २५ से ३३ तक ।

२. भा० स्क० ३ अध्याय २५ के अन्तर्गत देवहूतिकृत स्तुतिका अर्थ—

हे भूमन् ! (सर्वव्यापक) हे प्रभो ! मैं इन असत् इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको तृप्त करनेसे अत्यन्त खिन्न हो गयी हूँ और निरन्तर इनकी तृप्तिका उद्योग करती हुई गाढ़ अन्धकाररूप संसारमें पड़ी हुई हूँ ॥ ७ ॥

आज आपके अनुग्रहसे मैंने इस दुष्पार संसाररूप गाढ़तम अन्धकारके पार जानेका साधन चक्षुरूप आपको अनेक जन्मोंके अन्तमें पाया है, भाव यह है कि अपने साधनके बलसे नहीं पाया ॥ ८ ॥

भगवन् ! अज्ञानसे आवृत चक्षुवाले पुरुषोंके लिये सूर्यके समान आप निश्चय करके आदि भगवान् सब पुरुषोंके ईश्वर ही अवतीर्ण हुए हैं ॥ ९ ॥

इस देहादिमें जो 'मैं और मेरा' यह अभिमान है वह आपहीका उत्पन्न किया हुआ है । इस कारण हे देव ! आप ही इस मोहको दूर करनेके योग्य हैं ॥ १० ॥

तं त्वागताहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः परस्य नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥११॥

देवहूतिकी विनती सुनकर कपिलजी उसको यथार्थ ज्ञान बतानेके लिये उद्यत हुए । पहले कपिलजीने भक्तिका निरूपण किया । उनके[1] मतमें इन्द्रियाँ ही विषयोंका ज्ञान और वेद-प्रतिपादित कर्म करानेवाली हैं। श्रीहरिको विषय करनेवाली इन्हीं इन्द्रियोंकी निष्काम प्रवृत्ति ही भक्ति है । यह भक्ति सूक्ष्म शरीरका नाश कर देती है, जैसे जठराग्नि प्राणियोंके भक्षण किये अन्नको सहजमें ही पचाकर नष्ट कर देती है। भक्तिके द्वारा सत्रह तत्त्वात्मक सूक्ष्म शरीरका नाश होना ही मोक्ष है । इन्द्रियों-को भगवदाकार बनानेके लिये वैराग्य होना चाहिये। यह वैराग्य भगवान्से उत्पादित सृष्टि आदि लीलाओंके बारम्बार चिन्तन करनेसे होता है । फिर उस बढ़े हुए वैराग्य और यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगसे मनुष्य सर्वान्तर्यामी भगवान्को प्राप्त कर लेता है । तदनन्तर कपिलजीने अष्टाङ्गयोगका क्रम इस प्रकार बताया[2] कि शुद्ध स्थानमें आसन बिछाकर सुखपूर्वक दीर्घ कालतक बैठे; फिर प्राणायाम करके शरीरको स्वस्थ करे । जब मन निर्बल हो जाय तब नासिकाके अग्रभागमें ध्यान बाँधकर भगवान्की मूर्तिका ध्यान करे। तदनन्तर भगवान्के मूर्तिके एक-एक अवयवपर अपना मन लगावे । जब ध्यानमार्गसे श्रीहरिमें प्रेम हो जाय तब धीरे-धीरे मूर्तिसे ध्यान हटावे इस प्रकार जब उसके मनमें ध्यान भी नहीं रहता है और ध्येय पदार्थ भी नहीं रह जाता है तब वह केवल आनन्दमात्रका ही अनुभव करता है। वह योगी पहले आत्मामें ही कर्तृभाव देखता था किन्तु अब प्रकृतिके द्वारा कर्म किये जाते हैं ऐसा देखने लगता है।

अपने भक्तोंके संसाररूपी वृक्षको काटनेको कुल्हाड़ीरूप आप-जैसे शरण्यकी शरणमें आयी हूँ तथा तत्त्वज्ञानके जाननेकी इच्छावाली मैं मोक्षके उपायोंको बतानेमें श्रेष्ठ आपको नमस्कार करती हूँ ॥११॥

१. भा० स्क० ३ । २५ । २७ से ३३ तक।

२. भा० स्क० ३ । ५ । ८ से।

उसका शरीर जबतक प्रारब्ध कर्म है तबतक रहता है और अन्तमें वह वास्तविक स्वरूपमें मिल जाता है।

तदनन्तर कपिलजीने सांख्यशास्त्रके अनुसार तत्त्वज्ञान बताया। यह सेश्वर सांख्यवाद है। यह जान पड़ता है कि कपिलजीके पीछे उनके अनुयायियोंने निरीश्वर सांख्यवाद प्रवर्तित किया। भागवतमें सेश्वर सांख्यकी यही प्रक्रिया है और वह वेदान्तसिद्धान्तसे थोड़ा-सा ही भेद रखती है। वेदान्त 'प्रधान तत्त्व' को ऐसा पदार्थ नहीं मानता है जैसा कि सांख्यशास्त्रमें कहा है। इस सांख्यशास्त्रमें 'प्रधान और पुरुष' दो स्वतन्त्र, अनादि पदार्थ माने हैं। पुरुष या आत्माको भी सांख्यवाले असंख्य मानते हैं। वेदान्तमें प्रधान अथवा मायाको ईश्वरकी शक्ति माना है। श्रीमद्भागवतमें कपिलजीने इन दोनों सिद्धान्तोंका समन्वय इस प्रकार किया है कि प्रधान (प्रकृति) ईश्वरसे प्रेरित होकर कार्यक्षम होता है। सृष्टिकी अन्य प्रक्रिया प्रायः उसी प्रकार है जैसे पाँचवें अध्यायके प्रथम प्रकरणमें लिखी है। इस विवेचनाके अनुसार इस विषयमें ज्यादा प्रयास निष्फल है। कपिलजीके कहनेके अनुसार साधना करनेवाली देवहूतिने भगवान् कपिलजीकी स्तुति की।



देवहूतिकृत स्तुति[1]

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं यदशेषबीजं दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥२॥
स एव विश्वस्य भवान्विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसंधिरात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥३॥
स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥४॥

आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए साक्षात् ब्रह्माजीने भी जलमें सोये हुए, पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनरूप, सत्त्व आदि गुणोंके प्रवाहसे युक्त, तथा सकल प्रपञ्चके बीजभूत आपके स्वरूपका केवल ध्यान ही किया, किन्तु वे शीघ्रतापूर्वक उसका साक्षात् दर्शन नहीं कर सके ॥ २ ॥

(प्र०—आप कैसे उत्पत्त्यादि करते हैं ? उत्तर—) गुणोंके प्रवाहसे अपनी सृष्टिशक्तिका कई प्रकारसे विभाग करके आप विश्वकी सृष्टि आदि करते हैं (साक्षात् नहीं) क्योंकि आप निष्क्रिय हैं (प्र०—फिर शक्तिके द्वारा कैसे सृष्टि करते हैं ? उत्तर—) आप सत्यसंकल्प हैं (प्र०—क्यों संकल्प करते हैं ? उत्तर—) जीवोंको भोग प्रदान करते हैं (प्र०—आप एक ही किस प्रकार विचित्र भोग देते हैं ? उत्तर—)आप अतर्क्य और अनन्त शक्तियोंसे युक्त हैं इस प्रकार आप इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं ॥३॥

हे नाथ ! प्रलयके अन्तमें जिसके उदरमें यह सकल विश्व समा जाता है और जिसने मायासे बालकका रूप धारणकर अपने चरणका अंगूठा अकेले चूसते-चूसते वटपत्रपर शयन किया था ऐसे आपको मैंने उदरमें कैसे धारण किया ॥ ४ ॥

---

१. भा० स्क० ३ अ० ३३

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादयस्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥५॥
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥६॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥७॥
तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥८॥

हे विभो ! मैंने तो क्या आपको अपने उदरमें रक्खा, क्योंकि आप पापी दुष्टजनोंका नाश करने और आज्ञानुवर्ती पुरुषोंके कल्याणके निमित्त शरीर धारण करते हैं; इस कारण जैसे आपके वराहादि अवतार हुए थे वैसे ही आपका यह अवतार ज्ञानमार्ग बतानेके लिये स्वेच्छया हुआ है ॥ ५ ॥

जिनके नामोंके सुननेसे, कीर्तनसे, स्मरणसे या जिसको नमस्कार करनेसे साक्षात् चाण्डाल भी उसी समय सोमयाजीके समान आदरणीय होता है, तो हे भगवन् ! उसके विषयमें क्या कहना है जिसको आपका दर्शन प्राप्त हो गया है ॥ ६ ॥

आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर आपका नाम रहता है वह चाण्डाल भी क्यों न हो तो भी आपके नामोच्चारणहीसे श्रेष्ठ है; क्योंकि उसने सब तप कर लिये, सब होम कर लिये, सकल तीर्थोंमें स्नान कर लिया, वेदाध्ययनादि भी कर लिये क्योंकि सभी जप, तप आदि आपके नामके अन्तर्भूत हैं । इसका दूसरा अर्थ यह है कि यह समझो कि उन्होंने जन्मान्तरमें सब तप किये और अब आपके नामकीर्तनसे उनका भाग्योदय हो गया ॥ ७ ॥

विषयोंसे मनको हटाकर जिसका ध्यान किया जाता है, जिसने अपने तेजसे सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहरूप संसारका विध्वंस कर दिया है और जिसके अन्दर वेद भरा पड़ा है ऐसे विष्णु, परब्रह्म और पुरुषोत्तमस्वरूप भगवान् कपिलजीकी मैं वन्दना करती हूँ ॥८॥

तृतीय प्रकरण

दक्षप्रजापतिका यज्ञ[1]

ब्रह्माजीकृत भगवान् शङ्करकी स्तुति[2]

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥४२॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥४३॥
त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।

(यद्यपि आप निकृष्ट पुरुषकी भाँति मुझे नमस्कार कर रहे हैं, तथापि मैं आपके परम ऐश्वर्यको जानता हूँ) जगत्की कारणरूप प्रकृति और बीजरूप पुरुषके भी कारण, अतएव जगत्के परमेश्वर एवं भेदरहित निर्विकार ब्रह्मरूप आपको मैं जानता हूँ ॥ ४२ ॥

(शङ्का—प्रकृति और पुरुषके जनक एवं भेदशून्य, यह कथन परस्पर विरुद्ध है ? समाधान—) हे भगवन् ! जैसे मकड़ी किसी दूसरे सहायकके बिना अपनेसे ही जाला तानती है, उससे खेलती है और फिर उसका अपनेमें लय कर देती है, वैसे ही आप भी अपने अंशभूत पुरुष और प्रकृतिमें (शिव और शक्तिमें) स्थित होकर क्रीडा करते हुए इस जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं (अतः पूर्वोक्त कथन विरुद्ध नहीं है) ॥४३॥

हे भगवन् ! जैसे तन्तुवाय सूत्रसे वस्त्रको बनाता है वैसे ही आपने दक्षरूप निमित्तसे धर्म और अर्थस्वरूप दूध देनेवाली वेदत्रयीकी रक्षाके लिये यज्ञ रचा है, जिनका व्रतधारी ब्राह्मण श्रद्धासे पालन करते हैं; ऐसे

१. भा० स्क० ४ अ० १ से ७ तक

२. भा० स्क० ४ अ० ६

त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥४४॥
त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां कर्तुः स्म लोके तनुषे स्वः परं वा।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥४५॥
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥४६॥

वर्णाश्रम मर्यादारूप सेतु भी आपने ही बनाये हैं। (भाव यह है कि दक्षके मर जानेसे इस समय रक्षकके अभावमें धर्मका लोप हो जायगा और धर्मलोप होनेपर लोककी दुर्गति हो जायगी) ॥ ४४ ॥

(सर्वकर्मफलदाता भी आप ही हैं) हे मङ्गल ! आप शुभ कर्म करनेवाले सकाम पुरुषोंको स्वर्ग देते हैं और निष्काम पुरुषोंको मोक्ष देते हैं एवं अशुभ कार्य करनेवालोंको घोर तामिस्र नरक देते हैं और किसी प्रबल कारणसे उसी कर्मसे किसीको उलटा फल होता है इसका क्या कारण है ? (भाव यह है कि उत्तम कर्म करनेवाले दक्षको दण्ड प्राप्त हुआ—एवं पाप करनेवाले अजामिलको मोक्ष मिला) ॥ ४५ ॥

(इस वैषम्यमें आपका कोप हेतु हो यह बात तो कदापि नहीं हो सकती, ऐसा कैमुतिकन्यायसे कहते हैं—) जैसे क्रोध पशुओंको अपने वशमें करके उनसे अनुचित कार्य करवाता है वैसे जिन्होंने अपना मन आपके चरणोंमें अर्पित कर दिया है, जो सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें आपके स्वरूपको व्यापकरूपसे देखनेवाले, एवं सब प्राणियोंको आत्मस्वरूप अपनेमें देखनेवाले हैं, उन भेददृष्टिरहित सत्पुरुषोंपर प्रायः क्रोधका आक्रमण नहीं होता अर्थात् क्रोध उन्हें अपने वशमें कर उनसे अनुचित कार्य नहीं करवाता, फिर आपको अपने वशमें करे, यह कैसे हो सकता है ?॥४६॥

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम्।
परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्तान्मावधीद्दैववधान् भवद्विधः ॥४७॥
यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥४८॥
भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक्।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतःस्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥४९॥

भेददृष्टिवाले, केवल सकाम कर्ममें दृष्टि रखनेवाले, मलिन चित्तवाले, दूसरोंकी उन्नतिसे जिनका हृदय सदा दुःखित होता है, और जो मर्म-भेदी वाक्योंसे अन्य लोगोंको पीड़ित करते हैं, वे अपने प्रारब्ध कर्मसे ही मार डाले जाते हैं; समर्थ होते हुए भी आप-जैसे अनुपम साधु उनके नाश करनेमें प्रवृत्त न हों, उनकी उपेक्षा ही करें ॥ ४७ ॥

(साधुओंके स्वभावको देखकर आपको अनुग्रह ही करना चाहिये ऐसा दो श्लोकोंसे कहते हैं—) कमलनाभ भगवान्‌की प्रबल मायासे मोहित बुद्धिवाले पुरुष जिस देशमें और जिस कालमें भेददृष्टि रखनेसे साधुओं-का अपराध करते हैं उस देशमें और उस कालमें वे साधु 'यह प्रारब्ध-वश किये गये मेरे अपराधका फल है' ऐसा समझकर दया ही करते हैं और उस अपराधीके नाशके लिये पराक्रम नहीं करते ॥ ४८ ॥

हे प्रभो ! परम पुरुषकी अति प्रबल भी माया आपके चित्तको स्पर्श नहीं कर सकती है; इस कारण आप सर्वज्ञ हैं। अतएव उक्त प्रबल मायासे मोहित चित्तवाले, कर्ममें ही सदा आसक्त रहनेवाले, दक्ष आदिके ऊपर भी आपको अनुग्रह ही करना चाहिये ॥ ४९ ॥

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भोस्त्वयासमाप्तस्य मनोः प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः कुयज्विनो येन मखो निनीयते ॥५०॥

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१ ॥

देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥ ५२ ॥

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५३ ॥

हे प्रभो ! जिस यज्ञमें कुयाज्ञिकोंने (मूर्ख यज्ञ करानेवालोंने) यज्ञका फल देनेवाले यज्ञके भागको पाने योग्य आपके लिये यज्ञका भाग नहीं दिया इसी कारण आपसे वीरभद्रादिद्वारा विनाशित, अतएव बीचमें ही विध्वस्त होनेके कारण समाप्त न हुए दक्षप्रजापतिके उस यज्ञका आप फिर उद्धार कीजिये ॥ ५० ॥

यह यजमान दक्ष जीवित हो जाय, भग देवताको आँखें प्राप्त हो जायँ, भृगुकी मूछ-दाढ़ी फिर बढ़ आवे और पूषा देवताके दाँत भी वैसे ही उग आवें जैसे पहले थे ॥ ५१ ॥

हे मन्यो ! शस्त्रोंसे और पाषाणोंसे जिन देवता और ऋत्विजोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये हैं, आपकी कृपासे वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जायँ ॥५२॥

हे रुद्र ! यज्ञके अन्तमें जो पदार्थ शेष रहेगा वह सब आपका भाग होगा । हे यज्ञविध्वंसक रुद्र ! आपके भागसे आज यज्ञ परिपूर्ण हो ॥ ५३ ॥



दक्षप्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र थे। उन्होंने स्वायम्भुव मनुकी तीसरी कन्या प्रसूतिसे व्याह किया था। उससे उनके सोलह कन्याएँ हुईं। उन कन्याओंमेंसे सती नामकी कन्याका विवाह शिवजीसे हुआ। दक्षप्रजापति कर्मकाण्डके प्रवर्तक थे और शिवजी थे ज्ञानकाण्डके। अज्ञोंको पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। वह विरोध और उसका समाधान इस प्रकरणसे सिद्ध होगा।

एक समय सब देवता, ऋषि, मुनि और अग्नि ब्रह्माजीकी सभामें बैठे थे। जब दक्ष आये तो सब सभासद् उठ खड़े हुए, किन्तु भगवान् भोलेनाथ शङ्कर अपनी सहज समाधिमें लीन थे। इस कारण वे दक्षका अभ्युत्थान न कर सके। दक्षको यह बर्ताव बड़ा अनुचित प्रतीत हुआ। उन्होंने मारे क्रोधके यह नियम प्रचलित कर दिया कि शङ्करको किसी यज्ञका भाग न मिले।

एक समय दक्षप्रजापतिने बृहस्पतिसवनामक यज्ञ किया, उसने महादेवजीके सिवा सब देवताओंको सपत्नीक निमन्त्रण देकर बुलवाया। सतीने सब निमन्त्रित देवोंको विमानोंसे जाते देखकर यह अनुमान किया कि शायद दक्ष उनको बुलाना भूल गये होंगे; अतः महादेवजीसे जानेकी आज्ञा माँगी। शिवजी तो निमन्त्रण न मिलनेका कारण समझ गये थे, उन्होंने सतीसे कहा कि दक्षने हमें द्रोहके कारण नहीं बुलाया। सती न मानी। अन्तमें महादेवजीने आज्ञा दे दी और अपने मणियान, मद आदि पार्षद उनके साथ भेज दिये।

नैहर पहुँचकर सतीका उनकी माताके सिवा और किसीने भी आदर नहीं किया और न शिवजीका यज्ञभाग ही उनके दृष्टिगोचर हुआ। सतीसे शिवजीका अपमान नहीं सहा गया अतः उन्होंने यज्ञशालाके उत्तर-भागमें बैठकर अपने शरीरको योगाग्निसे दग्ध कर दिया।

तदनन्तर शिवजीके गणोंने यज्ञको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और दक्षका शिर भी काटकर जला दिया।

इस प्रकार कर्मकाण्डका लोप देखकर ब्रह्मादि देवता महादेवजीके समीप गये और उनकी स्तुति की जो इस प्रकरणके आदिमें लिखी गयी है। उस प्रार्थनाका भाव यह है कि कर्मकाण्ड भी वेदभाग है, उसका लोप होना युक्त नहीं है। फिर ज्ञानकाण्डमें भी जगह-जगह कहा है कि कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। जबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता तबतक ज्ञान नहीं हो सकता।

महादेवजी तो आशुतोष हैं ही, वे प्रसन्न हो गये। दक्षप्रजापतिके शिरके स्थानपर बकरेका शिर जोड़ दिया गया। इस कारण दक्षका यज्ञ फिर पूर्ण हुआ। यज्ञके अन्तमें यजमान (दक्षप्रजापति) ने जब शुद्ध बुद्धिसे विष्णु भगवान्‌का ध्यान किया तो तत्काल ही विष्णु भगवान् वहाँ प्रकट हुए। तब दक्ष और हर एक देवता, ऋत्विज आदिने एक-एक श्लोकसे भगवान्‌की स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है।



ब्रह्मा और दक्षादिकोंद्वारा की गयी स्तुति[1]

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥२६॥
तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापा-
त्कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः ॥२७॥

दक्ष बोले—शुद्ध चैतन्यस्वरूप, जिनमें जाग्रदादि बौद्धिक अवस्थाएँ नहीं हैं अतएव अद्वितीय (भेदशून्य), अतएव भयरहित ब्रह्मरूप आप अपने स्वरूपमें रहते हुए मायाका तिरस्कार करके स्वतन्त्र होते हुए भी मायासे मनुष्यशरीरका अभिनय करके रागादि-मान्-से प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

ऋत्विज बोले—हे अनञ्जन ! (उपाधिशून्य) यद्यपि आप ही रुद्र आदि देवतारूप हैं तथापि हे भगवन् ! नन्दिकेश्वरके शापसे हमारी बुद्धि केवल कर्मोंमें आग्रह करनेवाली है इस कारण आपके तत्त्वको (ब्रह्मादिसर्वात्मत्वको) हम नहीं जानते हैं; किन्तु धर्मके जनक तीन वेदोंसे प्रतिपादित यज्ञनामक आपका जो रूप है उस स्वरूपको हम जानते हैं, जिसके लिये (अर्थात् यज्ञकी सिद्धिके लिये) आपकी इन्द्रादि देवतासम्बन्धी व्यवस्थाएँ हैं । [इस स्थलमें यही देवता है, अन्य देवता नहीं है इत्यादि नियम आपने चलाये हैं—अथवा जिसके लिये इन्द्रादि देवताओंके रूप विशेषरूपसे आपने ग्रहण किये हैं] ॥ २७ ॥

---

१. भा० स्क० ४ । ७

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्णात्मगेहोरुभारः ।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौ कस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥२८॥
तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥२९॥
यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।

सदस्योंने कहा—हे शरणद ! (आश्रयप्रद) जिस मार्गमें कोई विश्रामका स्थान नहीं है, जो अनेक सङ्कटस्थलोंसे युक्त है, जहाँ कालरूप उग्र सर्प ताक रहा है, क्षुधा-पिपासादि द्वन्द्व जिसमें गड्ढे हैं, जो दुष्ट प्राणियोंसे भयावह है और शोकरूप दावाग्निसे युक्त है, ऐसे संसारमार्गमें जाता हुआ और विषयमृगतृष्णाके लिये शरीर एवं गृहवर्ती ममताके आस्पद (पुत्र-कलत्र, धन आदि) के बोझसे दबा हुआ तथा कामसे पीड़ित अज्ञानी जीवोंका समूह आपके चरणोंकी शरण कब पावेगा ? ॥ २८ ॥

रुद्र बोले—हे वरद ! इस संसारमें सकल तत्तत् कामनासे सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले, आसक्तिरहित मुनियोंसे भी स्वभावतः (आदरसे) पूजनीय, आपके श्रेष्ठ चरणोंमें चित्तको स्थिर करनेवाले मेरे प्रति, यद्यपि विद्याविहीन पुरुष 'यह आचारभ्रष्ट है, इत्यादि अपशब्द बकते हैं; तथापि आपके परम अनुग्रहसे मैं ऐसे कथनको कुछ नहीं गिनता हूँ ॥ २९ ॥

भृगु बोले—जिनकी दुस्तर मायाने जिनके आत्मज्ञानको आच्छादन कर लिया है, अतएव जो अज्ञानरूप अन्धकारमें सो रहे हैं, ऐसे ब्रह्मादिक जीव,

नात्मञ्छ्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान्प्रणतात्मबन्धुः ॥३०॥
नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थभेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो मायामयाद्व्यतिरिक्तो यतस्त्वम्॥३१॥
इदमप्यच्युत विश्वभावनं वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधैर्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥३२॥
यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।

अनन्तकोटि जन्मके उपरान्त, अब भी (अपनेमें अनुगत) आपके तत्त्वको नहीं जानते हैं । ऐसे आप शरणागतोंके मित्र मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३० ॥

ब्रह्माजी बोले—पुरुष पदार्थोंके भेदका ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंसे जिस-जिस वस्तुका प्रत्यक्ष करता है वह दृश्यजात आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि आप ज्ञानके घटादिविषयिणी वृत्तिके, घटादिरूप अर्थके और उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं, इसी कारण आप मायारूप प्रपञ्चसे भिन्न हैं ॥ ३१ ॥

इन्द्र बोले—हे अच्युत ! जगत्का पालन करनेवाला, हमारे मन और चक्षुको आनन्द देनेवाला और दैत्योंका नाश करनेके लिये ऊपर उठायी हुई शस्त्रयुक्त आठ भुजाओंसे युक्त आपका विग्रह उपपन्न ही है । (प्रपञ्चके समान अनिर्वचनीय होनेसे अनुपपन्न नहीं है) ॥ ३२ ॥

ऋत्विजोंकी पत्नियाँ बोलीं—हे यज्ञात्मन् ! ब्रह्माजीने आपकी पूजा करनेके लिये जिस यज्ञकी पहले सृष्टि की थी, आज शिवजीने दक्षके ऊपर क्रोध करनेसे उसका विध्वंस कर दिया है; इस कारण श्मशानकी

तं नस्त्वं शवशयनाभ शान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥ ३३ ॥
अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥३४॥
अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥३५॥
स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः॥३६॥

भूमिके समान उत्सवहीन इस हमारे यज्ञको आप अपनी कमलतुल्य दृष्टिसे पवित्र कीजिये ॥ ३३ ॥

ऋषि बोले—हे भगवन् ! आपका आचरण अद्भुत है क्योंकि आप स्वयं नाना प्रकारके कर्म करते हैं, किन्तु उनसे लिप्त नहीं होते । अन्य पुरुष सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये जिस लक्ष्मीकी सेवा करते हैं वह लक्ष्मी स्वयं आपकी अनुगामिनी है तथापि आप उसका आदर नहीं करते हैं॥३४॥

सिद्ध बोले—यह हमारा मनरूप हाथी क्लेशरूप दावानलसे दग्ध होकर और तृषासे व्याकुल हुआ इस समय आपकी कथारूपी विशुद्ध अमृतपूर्ण नदीमें प्रवेश करके परमानन्दका अनुभव करता हुआ दावानल (संसारताप) का स्मरण नहीं करता है और ब्रह्मैक्यको प्राप्त हुएकी तरह वहाँसे बाहर भी नहीं निकलता है ॥ ३५ ॥

यजमानपत्नी बोली—हे ईश ! मैं आपका स्वागत करती हूँ, आप प्रसन्न होइये, आपको नमस्कार है । हे लक्ष्मीपते ! लक्ष्मीरूप अपनी स्त्रीसहित आप हमारी रक्षा कीजिये । हे अधीश ! जैसे कबन्ध (शिररहित) पुरुष शिरके बिना अन्य कर-चरणादि अङ्गोंसे युक्त होता हुआ भी शोभित नहीं होता वैसे ही आपके बिना प्रयाजादि यज्ञके अङ्गोंसे युक्त भी यह यज्ञ शोभा नहीं पा रहा है ॥ ३६ ॥

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम्।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन् यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥३७॥
प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः।
अथापि भक्त्येश तयोपधावतामनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥३८॥
जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥३९॥

लोकपाल बोले—हे भूमन्! जिस अनुग्राहकके अनुग्रहसे अन्तःकरणमें स्थित रहनेवाले इन्द्रियोंसे प्रपञ्चके सब पदार्थ दीख पड़ते हैं ऐसे आप हमलोगोंसे नाशवान् पदार्थोंको विषय करनेवाली इन्द्रियोंद्वारा क्या देखे जा सकते हैं? अर्थात् नहीं देखे जा सकते। पञ्चभूतोंसे व्यतिरिक्त भी आप जो पञ्चभूतोंसे युक्त-से प्रतीत होते हैं यह आपकी माया है। (यह आपकी माया ही शुद्धचित्त पुरुषोंके लिये शुद्ध सत्त्वमूर्तिरूपसे प्रतीत होती है। हम बहिर्मुख इन्द्रियवालोंके लिये जीवरूपसे प्रतीत होती है अतः आप इन्द्रियगोचर नहीं हैं)॥३७॥

योगेश्वरोंने कहा—हे प्रभो! यह बात निर्विवाद है कि जो परब्रह्म आपको अपनेसे भिन्न नहीं देखता अथवा परब्रह्म आपको समस्त जीवोंसे पृथक् नहीं देखता उस अभेददर्शीसे बढ़कर आपका कोई प्रिय नहीं है; तथापि हे भक्तवत्सल! शास्त्रोंमें सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके कारणरूपसे प्रतिपादित अटूट भक्तिसे आपका भजन करते हुए हमलोगोंके ऊपर कृपा कीजिये॥३८॥

जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये प्राणियोंके अदृष्टसे विविध प्रकारके रज आदि गुणोंसे युक्त अपनी मायासे आपने अपने स्वरूपमें ब्रह्मा आदि पृथक्-पृथक् रूप रचे हैं और अपने स्वरूपमें स्थित रहनेसे भेदभ्रम और उसके हेतु सब गुणोंका भलीभाँति निराकरण कर दिया है, ऐसे आपको नमस्कार है॥ ३९॥

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥ ४० ॥
यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥४१॥
पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमाञ्शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥४२॥

शब्दब्रह्म (अर्थात् यज्ञप्रतिपादक वेद) कहते हैं—सत्त्वगुणको स्वीकार करनेवाले, धर्मके जन्मदाता, निर्गुण और जिसके यथार्थ स्वरूपको न मैं (प्रमाणरूप वेद) और न ब्रह्मादि ही जानते हैं, ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

अग्निने कहा—जिसके तेजसे प्रदीप्त तेजवाला हुआ मैं यज्ञमें घृतमिश्रित होमके पदार्थोंको उन-उन देवताओंके समीप पहुँचाता हूँ, उस यज्ञपालक यज्ञमूर्ति[1]को, जिसका यजुर्वेदके पाँच[2]-पाँच मन्त्रोंसे पाँच[3] प्रकारसे पूजन किया जाता है, ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४१॥

देवता बोले—प्रथम कल्पके अन्तमें जिसने स्वयं रचे हुए इस कार्यरूप संसारको अपने पेटमें रखकर उस प्रलयकालके जलमें शेषशय्यापर शयन किया था और उस समय जन आदि लोकोंमें रहनेवाले सनकादिकने जिनके अध्यात्मपदका अपने हृदयमें विचार किया था, वही आप इस सृष्टिके समय हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं और हम भृत्योंकी पालना करते हैं ॥ ४२ ॥

---

१. 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः ।

२. अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, पशु और सोम ।

३. ओश्रावय, अस्तु-श्रौषट्, यज, ये यजामहे और 'वषट्'कार ।

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य च भूमं-
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥४३॥
त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥४४॥
त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥४५॥

गन्धर्व बोले—हे भूमन् ! हे देव ! ये मरीचि आदि ऋषि और रुद्रप्रमुख ब्रह्मा, इन्द्रादि देवगण आपके ही अंशावतार हैं । यह सम्पूर्ण जगत् आपकी क्रीड़ाका पात्र है; इस कारण हे नाथ ! ऐसे आपको हम सर्वदा नमस्कार करते हैं ॥ ४३ ॥

विद्याधर बोले—सब पुरुषार्थके साधन इस शरीरको पाकर भी यह दुष्टबुद्धि पुरुष अन्यायकी तरफ ले जानेवाले अपने पुत्रादिसे अथवा इन्द्रियादिसे तिरस्कृत होकर भी आपकी मायासे शरीरमें 'मैं और मेरा' अभिमान करके दुःखदायी विषयोंकी लालसा करता है और आपकी अमृतकथाका सेवन करनेवाला आपका भक्त तो पूर्वोक्त अपने मोहका दूरसे परित्याग कर देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण बोले—आप ही यज्ञस्वरूप हैं, आप ही यज्ञकी सामग्री घृतादि हैं, आप ही सब अग्नि, मन्त्र, समिधा, कुशा, यज्ञपात्र, सदस्य, ऋत्विज, स्त्रीसहित यजमान, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोम, घृत और यज्ञपशु हैं ॥ ४५ ॥

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥४६॥
स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥४७॥

हे वेदमूर्ते ! हे यूपसहित एवं यूपरहित यज्ञरूप वराहरूपधारी ! सनकादि योगियोंद्वारा स्तूयमान ! (एवं जिनकी स्तुति की जा रही है !) गर्जते हुए आप सृष्टिके आदिमें पृथिवीको रसातलसे अपने दाँतमें रखकर अनायास ऐसे निकाल लाये जैसे कि गजराज कमलको सूँड़से पकड़कर निकाल लाता है ॥ ४६ ॥

हे यज्ञेश ! यज्ञके भ्रंश होनेसे हमारे सत्कर्म नष्ट हो गये हैं । अब आप अपने दर्शनोंकी इच्छा करनेवाले हमलोगोंके ऊपर प्रसन्न होइये । और इस यज्ञका उद्धार कीजिये, जिनके केवल नामोच्चारणसे यज्ञोंके सब विघ्न टल जाते हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ४७ ॥



चतुर्थ प्रकरण

ध्रुव-चरित्र[1]

ध्रुवकृत स्तुति

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो भूयादनन्तमहताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः[2] ॥

स्वायम्भुव मनुके पुत्र राजा उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामकी दो स्त्रियाँ थीं। सुरुचिमें राजाका अत्यन्त प्रेम था, उसके उत्तम नामका पुत्र हुआ और सुनीतिमें, जिससे ध्रुव नामका पुत्र हुआ था, राजाकी प्रीति विशेष नहीं थी। एक समयकी घटना है, उत्तम राजाकी गोदमें बैठा था और बालक ध्रुवने भी राजाकी गोदमें बैठनेकी इच्छा की; किन्तु राजाने कहीं सुरुचि अप्रसन्न न हो जाय इस भयसे ध्रुवको गोदमें नहीं बैठने दिया। सुरुचि गर्विता तो थी ही, उसने पिताकी गोदमें बैठनेकी इच्छा करनेवाले अपने सौतेले पुत्रसे राजाके सामने ही ताना मारकर कहा—'तू मेरी कोखसे उत्पन्न नहीं हुआ है इसी कारण तू राजाकी गोदमें बैठनेयोग्य नहीं है। यदि तेरी ऐसी ही इच्छा हो कि मैं भी राजाकी गोदमें बैठूँ तो तपस्याके द्वारा ईश्वरकी आराधना कर, भगवान्‌की अनुकम्पासे दूसरे जन्ममें मेरे गर्भसे उत्पन्न होकर तू राजाकी गोदमें बैठ सकेगा।'

ध्रुवजीको ये वचन बाणकी तरह लगे। उन्होंने क्रोधमें आकर अपनी माँसे सब हाल कहा। सुनीतिने दूसरा कोई उपाय न देखकर बालकसे कहा कि सुरुचिके कहनेके अनुसार श्रीहरिकी आराधना करो

---

१. भा० स्क० ४ अ० ८ से १२ तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक ११ की टीकामें देखिये।

तब तुझको सर्वोत्तम स्थान प्राप्त होगा। वह आराधना ऐसी पूर्ण होनी चाहिये जैसे तुम्हारे दादा स्वायम्भुव मनुने यज्ञोंके द्वारा की थी। ईश्वर सर्वान्तर्यामी है। तुझको अपने आचरणसे शुद्ध तथा अनन्य भक्ति-युक्त होकर अपने मनमें पुरुषोत्तम भगवान्की स्थापना करके उनकी सेवा करनी पड़ेगी।

ध्रुवजी अपनी माताके विलापरूप किन्तु अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेवाले कथनको सुनकर अपनी ही विवेकिनी बुद्धिसे मनको वशमें करके पिताके नगरसे निकलकर चले गये। मार्गमें उनको नारदजीसे भेंट हो गयी। नारदजीने कहा कि तुम्हें मोहके कारण अपमानसे असन्तोष हुआ है। तुमको समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ सुख या दुःख होता है वह अपने कर्मोंसे मिलता है और ईश्वर-अनुकूल हुए बिना कोई उद्योग सफल नहीं हो सकता। इसलिये प्रारब्धसे जो कुछ मिल जाय उसमें ही सन्तोष करना चाहिये। अपनेसे अधिक गुणवालेको देखकर प्रसन्न रहना चाहिये, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये; कम गुणवालेपर दया करनी चाहिये, उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये; और समान गुणवालेसे मित्रभाव रखना चाहिये, डाह नहीं करना चाहिये। तुम्हारी माताने जो योगमार्ग बतलाया है वह कठिन है क्योंकि उस मार्ग-का पता सकल सङ्गोंका त्यागकर तीव्र योगवाली समाधि करनेवाले मुनियोंको भी बहुत जन्मोंतक नहीं चलता इस समय इस वृथा हठको छोड़ दो और वृद्धावस्थामें भगवान्को पानेका हठ करना।

यह सुनकर ध्रुवजीने कहा—'आपने यह उपाय उनके लिये बतलाया है जिन्हें सुख-दुःखका भान नहीं होता। मुझ घोर क्षत्रिय-स्वभाववालेका हृदय सुरुचिके कठोर भाषणरूप बाणोंसे बिंध गया है इस कारण उसमें आपका उपदेश नहीं ठहर सकता; इसलिये आप मुझको वह स्थान प्राप्त करनेका मार्ग बताइये जो अबतक किसीको प्राप्त नहीं हुआ।'

नारदजीने कहा कि अपनी माता सुनीतिके कथनानुसार भगवान्में

एकाग्रचित्त लगाकर भगवान्‌का ही भजन करो। तदनन्तर नारदजीने उसको द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का उपदेश दिया और भगवान्‌के ध्यान तथा पूजनकी विधि बतलायी। पाठकोंके लाभार्थ उसका यहाँपर उल्लेख किया जाता है।

ध्यानका प्रकार यह है—स्नान-शौचसे निवृत्त होकर कुश आदिके आसनपर बैठकर पहले कुछ समयतक प्राणायाम करे; उससे प्राण, इन्द्रिय और मनकी चञ्चलता कम हो जाती है। फिर धीरज धरकर श्रीहरिका ध्यान इस प्रकार करे "भगवान्‌का मुख प्रसन्न है, उत्तम नासिका, सुन्दर भ्रुकुटी और मनोहर कपोल हैं, सभी अङ्ग अतिरमणीय हैं, अवस्था तरुण है,लाल ओठ और गुलाबी रंग लिये हुए विशाल नेत्र हैं, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है, मेघसमान श्याम वर्ण है, कण्ठमें वनमाला धारण किये हैं, भुजाएँ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभित हैं, मस्तकमें किरीट, कानोंमें कुण्डल, भुजदण्डोंमें बाजूबन्द, हाथोंमें कड़े, कण्ठमें कौस्तुभमणि शोभित हो रही है, पीताम्बर पहने हुए हैं, चरणोंमें सुन्दर नूपुर हैं और नख हीरेकी कनीके समान चमक रहे हैं ऐसे भगवान् मेरे (पूजा करनेवालेके) हृदय कमलपर बैठे हैं और वह प्रभु मेरी ओर प्रेमसे देखकर मुसकुरा रहे हैं।

पूजनकी विधि इस प्रकार है—उपासक भगवान्‌की शिला, काठ आदि की बनी हुई मूर्ति या पृथिवी, जल आदिपर परमेश्वरकी भावना करके शुद्ध जल, वनके पुष्प, फल, पत्ते दूर्वा या तुलसीसे उपर्युक्त द्वादश अक्षरवाले मन्त्रसे भगवान्‌का पूजन करे।

ध्रुवजीने नारदजीके उपदेशके अनुसार उपवास करके कभी वनके कन्दमूलोंको खाकर, कभी केवल जल या केवल वायुका ही भक्षण करके एकाग्र मनसे भगवान्‌की पूजा की। ऐसे विलक्षण तपसे ध्रुवजीने प्राणोंको जीतकर ब्रह्मका चिन्तन करते हुए और अपने मनको सकल पदार्थोंसे हटाकर अपने हृदयकमलमें बिजलीके सदृश देदीप्यमान श्रीहरिको देखा।

फिर, समाधिसे उठकर आँखें खोलीं तो उसी रूपको बाहर देखा जो हृदयमें भासित हुआ था ।

ध्रुवजी भगवान्का दर्शन करके दण्डके समान उनके चरणोंमें लेट गये । भगवान्ने उनको उठाया और अपने दिव्य शङ्खसे उनके कपोलको छू दिया । इससे ध्रुवजी दिव्य वाणीसे सम्पन्न होकर भगवान्की स्तुति करने लगे जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है । तदनन्तर भगवान्ने प्रसन्न होकर ध्रुवजीकी कामनाके अनुसार उनको परम तेजस्वी अचल स्थान दिया ।

इस प्रकार ध्रुवजी पाँच ही मासमें सिद्धि पाकर अपने पिताके पास लौट आये । उनका भाई मृगयामें मारा गया और उनके पिता राजा उत्तानपाद, ध्रुवजीको राज्य देकर वनमें चले गये ।

ध्रुवजीने सहस्रों वर्ष इस पृथिवीमें राज्य किया और शरीर छोड़नेके उपरान्त अपना अचल लोक पाया, जो अबतक ध्रुवलोकके नामसे प्रख्यात है ।



ध्रुवकृत स्तुति[1]

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादी-
न्प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६ ॥
एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण शक्तिशाली जिन भगवान्‌ने मेरे भीतर प्रवेश करके लीन हुई मेरी वैखरी वाणीको और हाथ, पैर, कर्ण, त्वचा आदि अन्य इन्द्रियों-को अपनी चित्-शक्तिसे जीवित किया अर्थात् पूर्व संस्कारोंको उद्बोधित-कर अपने-अपने व्यापारमें लगाया, ऐसे आप अन्तर्यामी भगवान्‌को नमस्कार है ॥ ६ ॥

(शङ्का—वाक् आदि इन्द्रियोंकी शक्तिको धारण करनेवाले वह्नि आदि देव प्रसिद्ध हैं, उन्हें नियन्त्रित करनेवाला मैं नहीं हूँ ? समाधान–) हे भगवन् ! सत्त्वादि गुणात्मिका अपनी मायाशक्तिसे महत्तत्त्व आदि इस समस्त जगत्‌को उत्पन्न करके फिर उसमें प्रवेश करके अन्तर्यामी एक ही आप उसी मायाके विषयोन्मुख देह, इन्द्रिय, देवता इत्यादि नानारूपसे परिणत हुए गुणोंमें स्थित होकर जैसे एक ही अग्नि नाना प्रकारके काष्ठोंमें पृथक्-पृथक् प्रकारका दीखता है वैसे ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं (अतः आपको छोड़कर दूसरा कोई भी ज्ञान-क्रिया-शक्तिको धारण करनेवाला नहीं है) ॥ ७ ॥

---

१. भा० स्क० ४ अ० ९

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तः प्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥ ९ ॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।

(जब ब्रह्म आदिका ज्ञान भी आपके ही अधीन है, तो अग्नि आदि ज्ञान आदिशक्तिके धारणकर्ता नहीं हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—) हे नाथ ! सोया हुआ पुरुष जागकर जैसे देखता है वैसे ही आपकी शरणमें आये हुए ब्रह्माजीने आपके दिये हुए ज्ञानसे इस जगत्को देखा । इस कारण हे आर्तबन्धो ! मुक्त पुरुषोंद्वारा सेवनीय आपके चरणोंको, आपके उपकारोंको जाननेवाले मनुष्य कैसे भूल सकते हैं ? यदि कोई ऐसा करे तो वह कृतघ्न है ॥ ८ ॥

(अब कहते हैं कि जो मेरे समान कामार्थी भक्त हैं वे मूढ़ हैं–) इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे मोहित हो गयी है जो कि जन्म-मरणसे मुक्ति देनेवाले कल्पवृक्षके समान सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले आपका अन्य कामनाओंके लिये भजन करते हैं वे आपसे नाशवान् शरीरसे उपभोग्य सुखको चाहते हैं क्योंकि विषयसम्बन्धजन्य सुख तो प्राणियोंको नरकमें भी मिल जाते हैं ॥ ९ ॥

(शङ्का–कामनावाले भक्तोंको स्वर्गसुख मिलता है, निष्काम होकर भजन करनेपर तो वह नहीं मिलता, समाधान–) हे नाथ ! सब देह-धारियोंको आपके चरणकमलके ध्यानसे और भक्तजनोंके साथ आपकी

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥१०॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥११॥
ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥१२॥

कथा सुननेसे जो आनन्द मिलता है वह आनन्द फिर अपने आत्मानन्द-रूप ब्रह्ममें भी नहीं मिलता । कालके खड्गसे छिन्न-भिन्न हुए (अर्थात् पुण्योंके समाप्त होनेपर खण्डित) विमानोंसे नीचे गिरनेवाले स्वर्गवासियों-को वह आनन्द मिले यह कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ १० ॥

हे अनन्त ! निरन्तर आपकी प्रेमलक्षणा भक्तिको करनेवाले शुद्ध-चित्त महान् पुरुषोंके साथ मेरा समागम हो, जिस महान् पुरुषोंके सत्संगसे—आपके गुणगाथारूपी अमृत पीनेसे परमानन्दमें मग्न हुआ मैं इस दुःखपूर्ण भयंकर संसारसमुद्रको अनायास तर जाऊँगा ॥११॥

(कथारूपी अमृतपानकी मादकता कहते हैं–) हे ईश ! हे अब्जनाभ ! जिनका हृदय आपके चरणकमलके सुगन्धमें लुब्ध हो गया है ऐसे आपके भक्तोंका जिन्होंने सत्संग किया है वे इस अतिप्रिय मरणशील देहको और इस देहके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, घर, द्रव्य और स्त्रीका तनिक भी स्मरण नहीं करते ॥ १२ ॥

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥१३॥

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान्स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान्भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥१४॥

(शङ्का—यदि तुम (ध्रुव) इतने ज्ञानी हो तो अभिमान धारण क्यों करते हो ? समाधान–) हे अज ! हे परम ! गो-मृगादि तिर्यग्योनि, वृक्ष, पर्वतादि, पक्षी, सर्पादि, इन्द्रादि देवता, प्रह्लादादि दैत्य और मनुष्य आदिसे व्याप्त स्थूल-सूक्ष्मरूप–महदादि अनेकों कारणोंसे युक्त आपके इस विराट् स्वरूपको ही मैं जानता हूँ और जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं ऐसे आपके ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानता हूँ (भाव यह है कि इस कारणसे ही मेरा अभिमान निवृत्त नहीं हुआ) ॥ १३ ॥

(इस प्रकार भगवान्की कृपासे उनके दोनों रूपोंको जानकर अब ईश्वररूपका वर्णन करते हुए नमस्कार करते हैं–) जो कल्पके अन्तमें इस सम्पूर्ण पृथिवीको अपने उदरमें रखकर अपने स्वरूपमें दृष्टि रखनेवाले हैं, और जिनके शेषजी साथी हैं ऐसे पुराणपुरुष आप शेषजीकी गोदमें सोते हैं; तथा जिनकी नाभिरूपी समुद्रमें उत्पन्न होनेवाले सुवर्णके समान वर्णवाले त्रिलोकीरूप कमलके मध्यमें अति तेजस्वी ब्रह्मा उत्पन्न हुए, वही आप हैं; ऐसे आप भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥१५॥

यस्मिन्विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥१६॥

(शङ्का—भगवान्में जीवसे क्या विशेषता है ? इसपर कहते हैं—) आप नित्यमुक्त हैं, जीव आपकी कृपासे मुक्त होता है; आप अत्यन्त शुद्ध हैं (जीव मलिन है), आप सर्वज्ञ हैं (जीव अल्पज्ञ है), आप आत्मा हैं (जीव देहाध्यासी है), आप कूटस्थ—अर्थात् निर्विकार हैं (जीव विकारी है), आप आदिपुरुष हैं (जीव ऐसा नहीं है), आप ऐश्वर्ययुक्त हैं (जीव ऐश्वर्यहीन है), आप तीनों गुणोंके स्वामी हैं (जीव गुणोंके अधीन है)। यह विलक्षणता इस प्रकार है कि आप बुद्धिकी नाना प्रकारकी अवस्थाओं-को अपनी अखण्ड चैतन्यशक्तिसे देखते हैं (और जीवमें वह शक्ति नहीं है)। इस कारण आप ही जगत्का पालन करनेके लिये यज्ञोंके अधिष्ठाता हैं (परन्तु जीव तो यज्ञादि कर्मोंके अधीन हैं) इन कारणोंसे आप जीवसे विलक्षण हैं ॥ १५ ॥

(सविशेषरूपका प्रतिपादन करके निर्विशेषरूपका वर्णन करते हैं—) जिनमें भिन्न प्रकारके स्वभाववाली विद्या-अविद्या और सृष्टि-संहार आदि अनेकों प्रकारकी शक्तियाँ क्रमसे या एक साथ रहती हैं, उसी एक अनन्त, आद्य, आनन्दमात्र अविकारी ब्रह्मकी मैं शरण हूँ जिनसे जगत्का जन्म हुआ है ॥ १६ ॥

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथा नु भजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमार्य भगवान्परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥१७॥

हे भगवन् ! पूर्वोक्त रीतिसे आप ही पुरुषार्थ हैं, इस प्रकार आपकी निष्काम बुद्धिसे सेवा करनेवाले पुरुषके लिये यद्यपि परमानन्दमूर्ति आपका चरणकमल राज्य आदिसे भी उत्कृष्ट परमार्थफल है, तथापि हे आर्य ! (स्वामिन्) अनुग्रह करनेमें तत्पर, जैसे प्रसूता गाय अपने बछड़ेको दूध पिलाती है और भेड़िये इत्यादिसे उनकी रक्षा करती है वैसे ही आप हम दीन सकाम भक्तोंकी संसारभयसे रक्षा करते हैं ॥१७॥



पञ्चम प्रकरण

पृथु-चरित्र[1]

धराकृत स्तुति[2]

नमः परस्मै पुरुषाय मायया विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुतद्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥२९॥
येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वराडुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥३०॥
य एतदादावसृजच्चराचरं स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।

मायासे नाना प्रकारके स्वरूपोंको स्वीकार करके धारण करनेवाले अतएव सगुणसे प्रतीत होनेवाले परम पुरुषको नमस्कार है, जिन्हें अपने स्वरूपका अनुभव है, इसलिये महाभूत, इन्द्रिय और देवताओंके समूहरूपी शरीरका मोह और उसी कारण होनेवाले राग-द्वेष-काम-क्रोधादि (अथवा क्षुधा-पिपासादि) से जो रहित हैं, उन परम पुरुषको नमस्कार है ॥ २९ ॥

जिस विधाताने मुझ भूमिको सब प्राणियोंका आधार बनाया है—जिसमें यह जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिजका समूह रहता है वही स्वतन्त्र—(भगवान्) आप हाथमें अस्त्र उठाकर मेरा वध करनेको उद्यत हैं, तो अब मैं और किसकी शरणमें जाऊँ ? ॥ ३० ॥

जिन भगवान्ने अपनेमें रहनेवाली और अचिन्त्य अपनी मायासे स्थावर-जङ्गमरूप संसारकी पहले सृष्टि की है, उसीसे आप इसकी

---

१. भा० स्क० ४ अ० १५ से २३ तक ।

२. भा० स्क० ४ अ० १७ ।

तथैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥३१॥
नूनं बतेशस्य समीहितं जनैस्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥३२॥
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिर्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥३३॥
स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातलादभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥३४॥
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।

रक्षा करनेके निमित्त प्रवृत्त हुए हैं, आश्चर्य है, ऐसे धर्मपरायण आप मेरा वध करनेके लिये क्यों उद्यत हुए हैं? ॥ ३१ ॥

निश्चय ही यह आश्चर्यकी बात है कि जिसने पहले ब्रह्माको उत्पन्न किया और फिर उसके द्वारा इस विश्वकी रचना करायी। ऐसे आपकी दुर्जय मायासे विक्षिप्त पुरुष यह नहीं जान सकते कि आपकी क्या करनेकी इच्छा है? ॥ ३२ ॥

महाभूत, इन्द्रिय, देवता, बुद्धि और अहंकारादि अपनी शक्तियोंसे जो इस संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं तथा जो जिस कालमें जैसा उपयुक्त हो वैसा अपनी शक्तियोंका विकास या निरोध करते हैं उन अन्तर्यामी महापुरुषको नमस्कार है ॥ ३३ ॥

(प्राणियोंकी स्थितिके लिये आप ही पातालसे मेरा उद्धार कर मुझे यहाँ लाये। इस समय प्राणियोंकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त हुए आपको मेरा वध नहीं करना चाहिये, ऐसा दो श्लोकोंसे करुणापूर्वक कहती है—) हे विभो! हे अज! स्वरचित भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप इस चराचर जगत्को भलीभाँति स्थापित करनेके लिये आदि वराहावतार धारणकर आपने पातालसे मेरा उद्धार किया ॥ ३४ ॥

वही आप जलके ऊपर स्थित आधारभूत मुझमें अवस्थित प्रजाओंकी रक्षा करनेकी इच्छासे पृथुरूप हुए हैं। वही सबकी

स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो यो मां पयस्युग्रशरो जिघांसति ॥३५॥

नूनं जनैरीहितमीश्वराणामस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभिस्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः॥३६॥

रक्षाके लिये अवतीर्ण, मेरे उद्धारक आप आज थोड़े-से जलरूप निमित्तके लिये मुझे तीखे शरोंसे मारना चाहते हैं, यह बड़ी विचित्र बात है ॥ ३५ ॥

गुण उत्पन्न करनेवाली भगवान्‌की मायासे मोहित चित्त हमारे समान अल्पज्ञ प्राणी जिनकी चेष्टाएँ नहीं समझ पाते उन वीर यशस्वी प्रभुको नमस्कार है ॥ ३६ ॥



राजा मनुकी छः पीढ़ियाँ इस प्रकार चलीं। मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत, अङ्ग और वेन एकके पीछे एक हुए। वेन बड़ा पापी था— ऋषियोंने उसको अपने शापसे मार दिया। तदनन्तर राजाके अभावमें प्रजाको बड़ा कष्ट हुआ। जो बलवान् था उसने दुर्बलको दबा दिया और जो चोर-डाकू थे उन्होंने लूट-पीट करना आरम्भ कर दिया। अन्तमें अनेक कष्टोंसे तंग आकर ऋषियोंने योग्य व्यक्तिको राजा बनाना चाहा। वेनके कोई पुत्र नहीं था जो उसके पश्चात् राजसिंहासनासीन होनेके लिये निर्वाचित होता। तब ऋषियोंने मृत वेनके शरीरका मन्थन किया। उससे पहले तो एक काला छोटा कलिरूप पुरुष निकला, जिससे निषादवंश चला। तदनन्तर उसके बाहुओंसे एक दिव्य पुरुष और एक स्त्री निकली। वह पुरुष विष्णुका अंशावतार पृथु था और स्त्री लक्ष्मीका अवतार अर्चि थी। यहाँ पर इन दोनोंकी उत्पत्तिमें शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि अवतारोंका जन्म ही अद्भुतप्रकारसे होता है। नृसिंह भगवान्का प्रादुर्भाव एक खम्भेसे हुआ था, उनका आधा शरीर पुरुषका और आधा सिंहका था।

यह पृथु आदिराजा हुए और अर्चिसे इनका विवाह हो गया। इनके पहले न सृष्टिमें ही वृद्धि हुई थी और न राजाके योग्य नगर, ग्राम इत्यादिकी ही व्यवस्था थी। जब पृथिवी जलसे ऊपर निकाली गयी थी तब उसमें कहीं गड्ढे थे, कहीं ऊँचे टीले थे, कहीं पर्वत थे और कहीं जंगल थे। पृथिवीमें अन्न भी नहीं उपजता था। राजा पृथुने सब जमीन तोड़-फोड़कर चौरस बनवा दी और ग्राम, पुर, नगर, नाना प्रकारके दुर्ग (किले), गोशालाएँ, सेनाके ठहरनेके लिये शिविर आदि बनवा दिये। फिर भी पृथिवीमें अन्न इत्यादि उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि बिना अधिष्ठात्री देवताकी कृपासे कोई महाभूत कार्यक्षम नहीं हो सकता। तब पृथुने पृथिवीके देवतापर चढ़ायी कर दी। यह देवता गौरूपमें राजाके सम्मुख उपस्थित हुआ और पृथुकी भगवान्के रूपमें प्रार्थना की जो इस प्रकरणके आदिमें लिख दी गयी है।

तदनन्तर पृथिवी अन्नसे समृद्ध हो गयी और प्रजा आनन्दसे रहने लगी। राजा पृथुने निन्यानवे (९९) अश्वमेध यज्ञ किये। जब सौवाँ यज्ञ पूर्ण होनेको था तब इन्द्रने कई विघ्न कर उसे पूर्ण होने नहीं दिया। उसको भय हुआ कि कहीं यह मेरा इन्द्रपद न छीन ले। वह यज्ञके अश्वको चुरा ले गया। पृथुके पुत्रने उसको ढूँढ़ निकाला। अन्तमें इन्द्रने यज्ञको नष्ट करनेके लिये कूटनीति रची जो अविवेकी पुरुषोंको भली प्रतीत होती है।

इन्द्रके इस निन्दित कर्मको जानकर राजा पृथु क्रोधयुक्त होकर उसका वध करनेके लिये तैयार हो गये। ऋत्विजोंने राजाके क्रोधको शान्त करनेके लिये मन्त्रोंसे इन्द्रके आवाहनका प्रयोग किया। इस समय ब्रह्माजी वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने ऋत्विजोंसे कहा कि ऐसा मत करो क्योंकि यज्ञके द्वारा इन्द्रकी ही आराधना की जाती है। सकल देवता इन्द्रके हाथ, पैर आदि अङ्ग हैं। इस कारण यह वध करनेयोग्य नहीं है। यह यज्ञनामक इन्द्र साक्षात् भगवान्का अवतार है। इससे मित्रता करना ठीक है। तदनन्तर ब्रह्माजीने राजा पृथुसे इतना और कहा कि तुम मोक्षमार्गको जानते हो इस कारण निन्यानवे यज्ञोंसे तुमको सन्तोष करना चाहिये। जिस कार्यमें दैव विघ्न करता है उसको सिद्ध करनेका यदि मनुष्य उद्योग करने लगे तो उसका मन क्रोधके वशमें होनेसे घोर मोहमें पड़ जाता है। दैवका बिगाड़ा हुआ कार्य कदापि ठीक नहीं हो सकता। इस कारण तुम इन्द्रसे मैत्री कर लो। यदि तुमको सौ यज्ञ पूरे न होनेसे कोई फल न मिलनेकी शङ्का हो तो हमारी प्रसन्नतासे इन ९९ यज्ञोंसे वही फल मिलेगा जो सौसे मिलता है। राजा पृथुने ब्रह्माजीका उपदेश मान लिया और यज्ञ करनेका आग्रह छोड़कर अवभृथस्नान कर लिया। उसी समय यज्ञके अधिपति विष्णु भगवान् इन्द्रके साथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने पृथु राजाको समझाया कि तुम अपनेको पृथक् और इन्द्रको पृथक् देख रहे हो। यह दीखनेवाला शरीर आत्मा नहीं है। शरीर तो अज्ञान, विषयवासना और कर्मोंसे उत्पन्न हुआ है। आत्मा शरीरसे भिन्न है, क्योंकि आत्मा एक, शुद्ध, स्वप्रकाश, निर्गुण, गुणोंका आधार,

व्यापक, आवरणरहित और दिव्य है। शरीर मलिन, जड़, सगुण, परिच्छिन्न और विनाशी है। इस प्रकार आत्माको जाननेवाला पुरुष देहके सुख-दुःखादि विकारोंसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसका मन ब्रह्ममें लीन रहता है। जो पुरुष निष्काम भक्तिसे मेरी (भगवान्‌की) आराधना करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। और चित्त शुद्ध होनेपर वह ब्रह्मपदको पा जाता है। हे राजन् ! तुम मेरा ही ध्यान करते हुए प्रजापालनरूप अपना कर्म करो। अब इन्द्रका अपराध क्षमा करो। यह इन्द्र और तुम दोनों मेरे ही अंशसे उत्पन्न हुए हो इस कारण यह इन्द्र अपनेसे ही आप क्षमा माँगता है। जब पृथुका वैरभाव हट गया तब भगवान्‌ने उससे कहा कि मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, वर माँग।

राजा पृथुने भगवान्‌का विधिपूर्वक पूजन किया और स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है। राजा पृथुने यही वर माँगा कि मेरे कर्णोंमें दश सहस्र कर्णोंका बल आ जाय जिससे मैं आपकी कीर्ति सुनता रहूँ। भगवान्‌ने यही वर दिया कि मेरे विषयमें तुम्हारी भक्ति सदा बनी रहेगी।



पृथुकृत स्तुति[1]

वरान्विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥२३॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥२४॥
स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥२५॥

हे विभो ! हे ईश ! वर देनेवाले ब्रह्मा आदिके भी ईश्वर आपसे ज्ञानी पुरुष देहमें अहङ्कार रखनेवाले प्राणियोंके भोगने योग्य विषयरूप वरदानोंको कैसे माँगेगा ? अर्थात् कभी नहीं माँगेगा । अतः हे कैवल्य-पते ! नरकमें रहनेवाले प्राणियोंके लिये भी जो विषयभोग सुलभ हैं उनको मैं आपसे नहीं माँगता हूँ ॥२३॥

('कैवल्यपते' यह सम्बोधन करनेसे यह न समझना चाहिये कि मैं मोक्षपद माँगता हूँ—) हे नाथ ! आपके भक्तोंके हृदयसे मुखद्वारा निकला हुआ आपका चरणकमलका मकरन्द (आपकी कथारूप अमृत) जिस कैवल्यमें नहीं है ऐसे कैवल्यपदको भी मैं कभी नहीं चाहता । किन्तु मैं यही वर माँगता हूँ कि आपकी कथा सुननेके लिये मेरे दश सहस्र कर्ण हो जायँ (भाव यह है कि दो कर्णोंसे सुननेकी ऐसी शक्ति हो जाय जो दश सहस्र कर्णोंमें हो सकती है) ॥ २४ ॥

हे श्रेष्ठ कीर्तिवाले प्रभो ! भक्तोंके मुखसे निकला हुआ आपके चरणकमलमकरन्दकणसे मिश्रित वायु तत्त्वज्ञानके मार्गको भूले हुए हम कुयोगियों अर्थात् चञ्चलचित्तवालोंको आपके तत्त्वका स्मरण करा देती है; इस कारण कथाश्रवणरूप वर और वरोंसे श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

---

१. भा० स्क० ४ । २०

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥२६॥
अथो भजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलिर्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥२७॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोति फल्ग्वप्युरुदीनवत्सलः स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥२८॥

हे मङ्गलकीर्ते ! श्रेष्ठ पुरुषोंके समागममें आपके कल्याणकारी यशको एक वार अन्य प्रसङ्गसे भी जो कोई सुन ले यदि वह गुणज्ञ हो, तो सर्वगुणसम्पन्न लक्ष्मीजीने समस्त पुरुषार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छासे जिस यशका श्रवण करनेके लिये वर माँगा, ऐसे आपके यशको सुननेसे कैसे विरत होगा ? यदि आपके यशको सुननेसे विरत होगा तो पशु ही होगा, पशुको छोड़कर दूसरा कदापि विरत नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

(मैं लक्ष्मीजीके समान अन्य वरोंका त्यागकर आपका भजनरूप वर माँगता हूँ ऐसा कहते हैं–) इस कारण मैं भी लक्ष्मीके सदृश सब गुणोंके स्थान आप पुरुषोत्तमका भजन करूँ। (किन्तु प्रार्थना यह है कि) यथा एक ही पतिको भजनेवाली दो सौतें कलह करती हैं, वैसा कलह एक साथ आपकी सेवा करनेवाले मेरा और लक्ष्मीजीका न हो (भाव यह है कि जैसा कलह यज्ञ करनेमें इन्द्रका और मेरा (पृथुका) हुआ था वैसा न हो) ॥ २७ ॥

हे जगदीश ! जिस आपकी सेवारूप कर्मको लक्ष्मी करती हैं और उनका अनुसरण मैं भी करूँ तो सम्भव है कि जगज्जननी लक्ष्मीजीके साथ विरोध हो जाय (किन्तु आप मेरा ही पक्षपात करेंगे) क्योंकि आप दीनवत्सल हैं और भक्तकी थोड़ी-सी सेवाका बहुत विस्तार कर देते हैं। दूसरी बात यह भी है कि आप परमानन्दस्वरूपमें मग्न रहते हैं इस कारण आपको लक्ष्मीसे क्या प्रयोजन है ? अतः आप लक्ष्मीका पक्षपात करें इसमें कोई कारण नहीं दीखता। (भाव यह है कि जैसे इन्द्रके मुकाबिलेमें मेरा पक्षपात किया उसी तरह ऐसा यहाँ भी करेंगे) ॥२८॥

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥२९॥
मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत्।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः कथं पुनः कर्म करोति मोहितः॥३०
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथाचरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥३१॥

हे भगवन् ! इस कारण साधु पुरुष (ज्ञानी) आपको ही भजते हैं, जिनकी कृपासे मायाके गुणोंका (भ्रमका) उदय नाशको प्राप्त हो जाता है, सज्जनोंका आपके चरणके स्मरणके सिवा कोई और फल हो ऐसा हम नहीं जानते ॥ २९ ॥

आपका भक्तोंसे कहना कि 'वर माँगो' जगत्को मोहित करना है । आपकी रज्जुरूप वेदवाणीसे यह जीव यदि बँधा हुआ न होता तो यह सर्वदा फल पानेकी इच्छासे मोहित होकर क्यों कर्म करता (भाव यह है कि केवल 'वर माँग' कहना ही नहीं किन्तु वेद[1] भी फलके प्रलोभनसे सकाम पुरुषोंको मोहित करता है) ॥ ३० ॥

हे ईश ! निश्चय करके यह अज्ञानी जीव आपकी मायासे आपके यथार्थरूपसे पृथक् किया गया है, क्योंकि आपसे भिन्न पुत्र वित्तादिमें आसक्त हुआ है । इसलिये जैसे पिता पुत्रोंकी प्रार्थनाके बिना ही उनका हित करता है वैसे आपको भी हमारा हित करना चाहिये ॥ ३१ ॥



---

१. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(गीता २ । ४५)

षष्ठ प्रकरण

शिवगीत तथा प्रचेताओंद्वारा कृत स्तुति[1]

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः[2] ॥

राजा पृथुने कई हजार वर्षोंतक बड़ी योग्यतासे राज्य किया । अन्तमें राज्यका भार अपने पुत्र विजिताश्वको सौंपकर वह वनमें चला गया । विजिताश्वका पुत्र हविर्धान हुआ और उसका प्राचीनवर्हिनामक पुत्र हुआ, प्राचीनवर्हिके 'प्रचे' नामसे प्रसिद्ध दश पुत्र हुए । प्रचेताओंने पिताकी आज्ञाके अनुसार उत्तम पुत्र उत्पादनके लिये शिवजीका आराधन किया । शिवजीने प्रसन्न होकर उनको एक पवित्र मंगलकारी, श्रेष्ठ और भगवत्-स्वरूपको प्राप्त करा देनेवाला स्तोत्र बता दिया जिसके जपनेसे सिद्धि मिलती है । यह स्तोत्र इस प्रकरणके अन्तमें लिख दिया गया है । प्रचेताओंने १०००० वर्षतक समुद्रमें खड़े होकर शिवजीकी आज्ञाके अनुसार तप किया । तदनन्तर उनको भगवान्के दर्शन हुए । उन्होंने भगवान्की स्तुति की, वह भी इस प्रकरणमें लिख दी गयी है ।

समुद्रसे बाहर आनेपर उन्होंने मारिषा नामवाली कन्यासे विवाह किया । सबके समान स्वभाव होनेके कारण एक ही कन्यासे दश प्रचेताओंका विवाह हुआ । मारिषासे उनको एक पुत्र हुआ । पुत्रका नाम दक्ष पड़ा । यह उन्हीं दक्षके अवतार थे, जिनका शिर महादेवजी-के अपराधसे भस्म हो गया था । तदनन्तर बकरेका मस्तक वहाँ जोड़ दिया गया । इस समय दूसरा मन्वन्तर आ गया था जिसका नाम चाक्षुष मन्वन्तर था और इन दक्षसे फिर सृष्टि चली ।

---

१. भा० ४ । २४ से ३१ तक ।

२. अर्थ इसी प्रकरणके अ० २४ श्लो० ५५ की टीकामें देखिये ।

जितं त आत्मविद्धुर्य स्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥ ३३ ॥
नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥ ३४ ॥
सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥ ३५ ॥
नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥ ३६ ॥

हे भगवन् ! आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी परमानन्दप्राप्तिके लिये आपने अपना उत्कर्ष प्रकट किया है । आपके प्रसादसे मुझे भी आनन्द प्राप्त हो, आप परमानन्दरूपसे नित्य स्थित हैं, इस प्रकार सर्वात्मरूप आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥

समस्त लोकोंके कारण आपको नमस्कार है तथा स्थूल-भूत, सूक्ष्म-भूत और इन्द्रियोंके नियन्ता, शान्त, कूटस्थ (निर्विकार), स्व-प्रकाश कमलनाभि वासुदेवको नमस्कार है ॥ ३४ ॥

अव्यक्त, अविनाशी और विश्वका संहार करनेवाले (अहङ्कारके अधिष्ठाता) सङ्कर्षणको नमस्कार है । जिनसे विश्व प्रबुद्ध होता है ऐसे बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्नको नमस्कार है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियाधिपति मनके अधिष्ठाता अनिरुद्धको बार-बार नमस्कार है। अपने तेजसे विश्वको व्याप्त करनेवाले वृद्धिक्षयरहित सूर्यरूप आपको नमस्कार है ॥ ३६ ॥

---

१. भा० स्क० ४ अध्याय २४

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥ ३७ ॥
नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥ ३८ ॥
सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च ॥३९॥
अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥४०॥
प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमो धर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥४१॥

स्वर्ग और मोक्षके द्वारभूत नित्य शुद्ध अन्तःकरणमें स्थित, चातुर्होत्रके साधन अग्निरूप आपको नमस्कार है॥ ३७ ॥

पितर और देवताओंके अन्नरूप और सोमरूप तीनों वेदोंके अधिपति (श्रीहरि) को नमस्कार है । सब प्राणियोंको तृप्ति देनेवाले सर्वरसात्मक जलरूप आपको नमस्कार है ॥ ३८ ॥

सब प्राणियोंके व्यष्टिदेह और विराट्देह पृथिवीरूप आपको नमस्कार है । जो प्राणरूपसे त्रिलोकीका पालन करते हैं, और जो मन, इन्द्रिय और देहकी शक्ति हैं ऐसे वायुरूप आपको नमस्कार है ॥३९॥

अपने गुण, शब्दद्वारा पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले अवकाश देनेके कारण, भीतर और बाहरके व्यवहारके कारण आकाशस्वरूप आपको नमस्कार है । पुण्यसे प्राप्त होनेवाले तेजःस्वरूप वैकुण्ठ आदि लोकरूप आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

क्रमशः पितर और देवताओंकी प्राप्तिके साधन प्रवृत्ति और निवृत्तिकर्मस्वरूप आपको नमस्कार है, और कर्मका फल देनेवाले दुःखदायक मृत्युरूप आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने ।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च ॥४२॥

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये ॥४३॥

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥४४॥

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहुं सुजातरुचिराननम् ॥४५॥

हे ईश ! सब कामनाओंके कारणरूप सर्वज्ञ (अथवा मन्त्ररूप) आपको नमस्कार है, (अब विष्णुरूपसे प्रणाम करते हैं) जो परमधर्मरूप हैं जिनकी ज्ञानशक्तिका लोप नहीं होता है उन पुराणपुरुष एवं सांख्ययोग-के प्रवर्तक श्रीकृष्ण भगवान्को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

कर्त्ता, कर्म, करण इन तीन शक्तियोंसे युक्त अहङ्काररूप रुद्र-स्वरूप आपको नमस्कार है । ज्ञान-क्रिया-शक्तिरूप जिनसे अनेक प्रकारकी सृष्टि होती है ऐसे ब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

आपके दर्शनकी इच्छा करनेवाले हम लोगोंको आप भक्तोंसे पूजित अपने प्रियतमरूपका दर्शन दीजिये जो कि सब इन्द्रियोंको अपने गुणोंसे प्रसन्न करता है ॥ ४४ ॥

(भगवान्के रूपका नव श्लोकोंसे (अर्थात् ४५ से ५३ तक) वर्णन करते हैं—) जिनका वर्षाऋतुके सुन्दर श्याम मेघके समान वर्ण है, जिनमें सुन्दरता पूर्णरूपसे भरी हुई है, जिनकी चार मनोहर भुजाएँ हैं, जिनके मुखके सभी अवयव अति सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥

पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रूसुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥४६॥
प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥४८॥
सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्याक्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥४९॥
पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसङ्क्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥५०॥

जिनके कमलके कोश एवं पत्रके समान लाल रेखायुक्त नेत्र हैं, जिनकी भौंहें, नासिका, दाँत और कपोल ये सब-के-सब मनोहर हैं, दोनों कान समान होनेके कारण अलङ्कारके समान जिनकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥४६॥

जो प्रसन्नता सूचित करनेवाले कटाक्षसे एवं घुँघुराले केशोंसे शोभित हैं, जिनके शरीरपर कमलके केशरके सदृश रंगीन दो पीताम्बर चमक रहे हैं और जो उज्ज्वल (चमकीले) कुण्डलोंको धारण किये हुए हैं ॥ ४७ ॥

जो देदीप्यमान किरीट और कड़े, हार, नूपुर आदि आभूषण तथा शङ्ख, चक्र, गदा एवं कमल-मालाकी शोभासे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

जो सिंहके समान कन्धोंपर प्रभा धारण कर रहे हैं, जिनके गलेमें उसका सौन्दर्य बढ़ानेवाली कौस्तुभमणिकी माला शोभित हो रही है और जिनके वक्षःस्थलमें कभी विलग न होनेवाली लक्ष्मीजी विराजमान हैं, अतएव जिसकी कान्ति सुवर्णसे घिसी हुई कसौटीको मात कर रही है ॥४९॥

श्वास लेने और छोड़नेसे चञ्चल त्रिवली रेखाओंसे जिनका पीपलके पत्तेके सदृश उदर मनोहर प्रतीत होता है, जिनकी नाभि भँवरवाली और गम्भीर है, जिसमेंसे जगत् बाहर-भीतर आता-जाता है ॥५०॥

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥५१॥
पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥५२॥
एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥५३॥
भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥५४॥

जो श्यामवर्ण कटिभागमें अधिक रोचक प्रतीत होनेवाले पीताम्बरके ऊपर सुवर्णकी मेखला धारण किये हैं, जिनके दोनों चरण, जंघा और ऊरु समान हैं, घुटने नीचे होनेसे जो सुन्दर हैं ॥ ५१ ॥

(इस प्रकार) हे गुरो ! आप अज्ञानियोंके मार्गप्रदर्शक गुरु हैं। शरद्ऋतुके कमलदलके समान कान्तिमान् नखोंकी प्रभासे हमारे अन्तःकरणमें स्थित आवरणरूप अज्ञान दूर करनेवाले दीपरूप चरणके द्वारा भक्तोंके संसारभयको दूर करनेवाले अपने स्वरूपको दिखलाइये ॥५२॥

अन्तःकरणकी शुद्धि चाहनेवाले पुरुषको आपके उपर्युक्त रूपका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि इस स्वरूपमें होनेवाला भक्तियोग आपकी भक्तिरूप स्वधर्मका आचरण करनेवाले पुरुषोंको मोक्ष देनेवाला है ॥ ५३ ॥

स्वर्गमें जिनका राज्य है, ऐसे इन्द्र भी जिनकी प्राप्तिकी अभिलाषा करते हैं, जो एकान्ततः विरक्त आत्मज्ञानीको प्राप्त होने योग्य हैं ऐसे आप यद्यपि सब देहधारियोंको दुर्लभ हैं, तो भी भक्तिमान् पुरुषोंको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥५५॥
यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन्वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥५६॥
क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥
अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयोरन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५८॥
न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।

सत्पुरुषोंके लिये भी जो दुष्प्राप्य है ऐसी ऐकान्तिक अटूट भक्तिसे भी जिनकी आराधना करना कठिन है, उन भगवान्‌की आराधना करके कौन पण्डित पुरुष आपके चरणतलको छोड़कर बाहर विषयोंमें प्रीति करेगा ? ॥५५॥

अपने प्रभाव और उत्साहसे क्षुभित हुई केवल (टेढ़ी हुई) भ्रुकुटी-से सकल सृष्टिका ध्वंस करनेवाला काल, भगवान्‌के चरणतलकी शरणमें गये हुए पुरुषका तिरस्कार नहीं कर सकता ॥ ५६ ॥

मैं आपके भक्तोंके आधे क्षणके भी सत्सङ्गकी स्वर्ग अथवा मोक्षसे भी तुलना नहीं कर सकता फिर मनुष्योंके राज्यादिककी तो गणना ही क्या है ? ॥ ५७ ॥

आप हमारे ऊपर यह अनुग्रह कीजिये कि हमारा उन पुरुषोंमें सत्सङ्ग हो, जिनके आपके पापनिवर्तक चरणोंके कीर्तिरूप जलमें क्रमशः भीतर[1] स्नान और बाहरी[2] स्नानसे पाप धुल गये हैं और जिनका स्वभाव सब प्राणियोंके ऊपर दया करनेवाला और काम-क्रोधादिरहित है ॥ ५८ ॥

जो पुरुष आपके भक्तियोगके अनुग्रहसे चित्तकी शुद्धि प्राप्त कर बाहरके विषयोंमें आसक्त नहीं होता है वह तमोगुणरूप अज्ञानमें लीन

१. मनःस्नान । २. गङ्गाजीमें शरीर-स्नान ।

यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥५९॥

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत्।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥६०॥

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया तमात्मतन्त्रं भगवन्प्रतीमहि ॥६१॥

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥६२॥

नहीं होता वह मुनि अनायास निश्चय ही आपके तत्त्वको देख पाता है ॥ ५९ ॥

(उसी तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—) जिसमें यह जगत् तन्तुओंमें पटके समान अभिव्यक्त होता है जो जगत्में कारणरूपसे (सच्चिदानन्दरूपसे) भासता अर्थात् अनुभूत होता है, जैसे कि पटमें तन्तु भासता है, जो आकाशके समान व्यापक है, जो परमज्योतिःस्वरूप है, वही तत्त्व ब्रह्म है ॥ ६० ॥

हे भगवन् ! आप स्वयं विकाररहित होते हुए भी नाना रूप धारण करनेवाली तथा आप परमेश्वरके विषयमें कुछ भी करनेमें असमर्थ मायासे इस जगत्की सत्के समान सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, जिस मायासे जीवोंकी भेदबुद्धि हो जाती है; ऐसे आपको मैं स्वतन्त्र जानता हूँ ॥ ६१ ॥

यद्यपि आप भेदरहित (अद्वितीय) ब्रह्म हैं तथापि जो श्रद्धायुक्त कर्मयोगी जन नाना प्रकारकी पूजाओंसे, अथवा अष्टाङ्गयोगसे, सिद्धिके लिये पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणसे उपलक्षित आपके नियन्तृरूप इस साकार तत्त्वकी उत्तम प्रकारसे पूजा करते हैं, वे ही वेदमें और तन्त्रशास्त्रमें कुशल हैं ॥ ६२ ॥

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्तिस्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥६३॥
सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्टश्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्तर्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः ॥६४॥
स एष लोकानतिचण्डवेगो विकर्षसि त्वं खलु कालयानः ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥६५॥

(शङ्का—अभेदमें भेद करनेवाले वे लोग कोविद कैसे हैं ? समाधान—वे लोग भेद नहीं करते किन्तु क्रीड़ाके लिये स्वयं आपने ही चराचररूप भेद किया है ऐसा कहते हैं) आदि और अद्वितीय पुरुष आप ही हैं जिनकी मायाशक्ति सृष्टिसे पहले सुप्त रहती है, फिर सृष्टिके प्रारम्भमें उस मूलशक्तिसे सत्त्व-रज-तमरूप तीन शक्तियाँ पृथक्-पृथक् प्रकारकी हो जाती हैं। तदनन्तर उन रज आदिसे महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, देवता, ऋषि और सब प्राणियोंके देहादि उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार आप इस जगत्की सृष्टि करते हैं ॥६३॥

(उसी भेदको बताते हैं—) इस प्रकार आप अपनी मायाशक्तिसे (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिजरूपसे) चार प्रकारके शरीररूप नगरको बनाकर उसमें अपने अंश जीवात्मारूपसे प्रवेश करनेसे पुरुष कहलाते हैं। (प्र०—क्या ईश्वर ही संसारी हो जाता है ? उत्तर—नहीं) उनमें जो अविद्यासे आवृत होकर मधुमक्खियोंद्वारा इकट्ठे किये गये शहदके समान तुच्छ विषयसुखका सेवन करता है वह जीव है (जो अभोक्ता होकर द्रष्टामात्र है वह अन्तर्यामी है यथा श्रुतिः 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' मु० ३ । १) ॥ ६४ ॥

(आप सबके नियन्ता हैं, भला आप संसारी कैसे हो सकते हैं ? ऐसा कहते हैं—) साधारण भूतोंको अनुमानसे ही जिनके तत्त्वका ज्ञान होता है वे ही कालात्मा आप इन सब लोकोंका अपने प्रचण्ड वेगसे उपसंहार करते हैं, जैसे वायु मेघमण्डलोंको ॥ ६५ ॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥६६॥
कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥६७॥

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन्परमात्मन्विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥ ६८ ॥

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥ ६९ ॥

यह काम ऐसे करूँगा और वह काम वैसे करूँगा, इसी चिन्तामें रहनेवाले अति लोभी और असावधान प्राणीको—सदा सावधान रहनेवाले कालस्वरूप आप—जैसे भूखसे जिह्वाको लपलपानेवाला सर्प चूहेको निगल जाता है, वैसे ही एकबारगी निगल जाते हैं ॥ ६६ ॥

हम लोगोंके गुरु ब्रह्माजीने जिस चरणकमलकी पूजा की और तर्क-वितर्क किये बिना केवल ब्रह्माके वचन और आचरणपर विश्वास कर स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंने कालसे नष्ट होनेके भयसे जिस चरणकमलका पूजन किया है, आपका अनादर करनेसे कालके डरसे थर-थर काँपनेवाला कौन-सा विद्वान् आपके उस चरणकमलका त्याग करेगा ॥ ६७ ॥

हे ब्रह्मन् ! हे परमात्मन् ! यह जगत् रुद्रादिके भयसे ध्वस्तप्राय है अतः आपकी शरणमें जाना ही भयको दूर करना है, ऐसा जाननेवाले हमको आप सर्वथा भयरहित गति दीजिये ॥ ६८ ॥

हे राजपुत्रो ! तुम रागादिरहित अपने धर्मका आचरण करते हुए अपने मनको भगवान्में अर्पण करके मुझसे उपदिष्ट इस स्तोत्रका जप करते रहो, इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ६९ ॥

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥ ७० ॥
योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥ ७१ ॥
इदमाह पुरास्माकं भगवान्विश्वसृक्पतिः ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥७२॥
ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥ ७३ ॥
अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥ ७४ ॥

अपनेमें तथा सब स्थावर-जंगममें रहनेवाले अन्तर्यामी श्रीहरि भगवान्का निरन्तर ध्यान करते हुए स्तुति और पूजन करो ॥ ७० ॥

इस योगादेश नामक स्तोत्रको मुझसे पाकर मनसे धारण करते हुए मुनियोंके समान व्रत-आहार-नियमादिका पालन करनेवाले आप लोग सावधान चित्तसे आदरपूर्वक इसका बार-बार जप (पाठ) करें ॥७१॥

सृष्टि करनेकी इच्छा करनेवाले एवं मरीचि आदि ऋषियोंके अधिपति भगवान् ब्रह्माजीने सन्तानको उत्पन्न करनेकी इच्छा करनेवाले हम भृगु आदि पुत्रोंको पहले यह स्तोत्र बतलाया था ॥ ७२ ॥

ब्रह्माजीसे प्रजाओंको उत्पन्न करनेकी आज्ञा पाकर हम प्रजापतियोंने इस स्तोत्रसे विघ्नोंको दूर करके विविध प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की ॥७३॥

इस कालमें भी जो प्रयत्नवान् पुरुष सावधान होकर वासुदेव-परायण होकर नित्य इस स्तोत्रका जप करता है वह शीघ्र कल्याण प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥ ७५ ॥
य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥ ७६ ॥
विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥ ७७ ॥
इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥ ७८ ॥
गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महच्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥७९॥

इस संसारमें सब मोक्ष देनेवाले साधनोंमें ज्ञान ही परम साधन है, क्योंकि ज्ञानरूप नौकाका आश्रय करनेवाला पुरुष इस दुस्तर संसार-समुद्रको अनायास तर जाता है ॥ ७५ ॥

जो पुरुष मुझसे उपदिष्ट इस स्तोत्रको श्रद्धाके साथ पढ़ता है वह दुराराध्य हरिको प्रसन्न कर लेता है ॥ ७६ ॥

मैंने आप लोगोंको जिस स्तोत्रका उपदेश दिया है, उससे स्तुत अतएव प्रसन्न हुए धर्मादि सब श्रेयोंके एकमात्र आश्रय भगवान् हरिसे पुरुष जो कुछ चाहता है वह सब उसे मिल जाता है ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर श्रद्धाके साथ हाथ जोड़कर इस स्तोत्रको स्वयं सुनता है अथवा औरोंको सुनाता है वह इस संसारके कारणभूत कर्मबन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ७८ ॥

हे राजकुमारो ! मैंने जो यह श्रीहरिके गीतका तुमको उपदेश दिया है उसका एकाग्रचित्तसे जप करते हुए बड़ा भारी तप करो तब तुम उस तपके प्रभावसे इच्छित फलको प्राप्त कर लोगे ॥ ७९ ॥

प्रचेताओंद्वारा कृत स्तुति[1]

नमो नमः क्लेशविनाशनाय निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
नमो वचोवेगपुरोजवाय सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥२२॥
शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥२३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥२४॥
नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥२५॥

जो भक्तोंके क्लेशनाशक हैं, जिनके उदार गुण और नामोंका वेदोंने वर्णन किया है, जो वाणी और मनके अगोचर हैं, इन्द्रियोंसे जिनका मार्ग नहीं जाना जाता है ऐसे आपको बार-बार नमस्कार है ॥२२॥

आप अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके कारण शुद्ध हैं और इसी कारणसे शान्त भी हैं। मनके निमित्तसे जिनमें मिथ्यारूप द्वैत (व्यवहार) भासता है, जो जगत्के पालन, प्रलय और उत्पत्तिके निमित्त मायाके सत्त्वादि गुणोंको स्वीकार करके ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप धारण करते हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥२३॥

जिनका ज्ञान संसारको नष्ट करता है ऐसे विशुद्धसत्त्व वासुदेव, सब यादवोंके स्वामी हरिको नमस्कार है ॥२४॥

हे कमललोचन, कमलनाभ, कमलमालाधारी, कमलचरणवाले आपको नमस्कार है ॥२५॥

---

१. भा० स्क० ४ अ० ३०



प्रचेताओंद्वारा स्तुति

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥२६॥
रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम् ।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥२७॥
एतावदेव प्रभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्या भद्ररन्धन ॥२८॥
येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥२९॥
असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।

कमलके केशरके समान पीला और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाले सब प्राणियोंके निवासस्थान और साक्षी आपको हम नमस्कार करते हैं ॥२६॥

आपने हम दुःखियोंके अस्मिता आदि सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाला यह रूप प्रकट किया है, इससे बड़ी और क्या कृपा हो सकती है ? ॥ २७ ॥

हे अमङ्गलनाशक ! 'ये हमारे हैं' इस प्रकार ठीक समयपर स्मरण करना ही दीन पुरुषोंपर कृपा करनेवाले प्रभुओंका पर्याप्त कृत्य है (किन्तु आपने तो दर्शन भी दे दिया है इस कारण हमारे ऊपर आपका अत्यन्त अनुग्रह है) ॥ २८ ॥

आप साक्षीरूपसे हृदयके भीतर विराजमान होनेसे तुच्छ प्राणियों-के स्मरण करनेपर उनके सब क्लेशोंको दूर कर देते हैं इस कारण आप अपने भक्त हमलोगोंके मनोरथोंको कैसे नहीं जानेंगे अर्थात् अवश्य ही जानते हैं ॥ २९ ॥

हे जगत्पते ! तथापि अपना मनोरथ कहो ऐसा यदि आप कहें तो मोक्षका मार्ग बतानेवाले गुरु और स्वयं पुरुषार्थरूप आप हमारे ऊपर

प्रसन्नो भगवान्येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥३०॥
वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात्।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥३१॥
पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यं न सेवते।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥३२॥
यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥३३॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥३४॥

प्रसन्न हों, हमारा यही इच्छित वर हमको दे दीजिये (अर्थात् आपकी प्रसन्नतारूप ही वर हम माँगते हैं) ॥ ३० ॥

ब्रह्मादिकोंके भी परम कारण आपसे हम एक वर और माँगते हैं, आपकी विभूतियोंका अन्त नहीं है इसी कारण आपको अनन्त कहते हैं, अतएव वह नीचे कहा जानेवाला वर आपको हमें अवश्य देना चाहिये॥३१॥

जैसे भ्रमरको यदि अनायास पारिजात वृक्ष मिल जाय तो वह फिर पारिजातके रसके श्रेष्ठ होनेसे उसे छोड़कर दूसरे वृक्षका सेवन नहीं करता है वैसे ही हम भी साक्षात् आपके चरणतलको प्राप्तकर आपके सेवनसे अन्य क्या वर आपसे माँगें अर्थात् कुछ नहीं ॥ ३२ ॥

(इस कारण यही वर माँगते हैं) आपकी मायासे संयुक्त हुए जबतक हम अपने कर्मोंसे इस संसारमें भ्रमण करते हैं तबतक प्रत्येक जन्ममें हमको आपके भक्तोंकी ही सङ्गति मिले ॥ ३३ ॥

(शङ्का—राजभोग, स्वर्ग और मोक्षको छोड़कर ऐसा वर क्यों माँगते हो ? समाधान—) हमलोग आपके भक्तोंके समागमके एक क्षणसे भी स्वर्ग या मोक्षकी तुलना नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके राजभोगादि सुखोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३४ ॥

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥३५॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः ।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥३६॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥३७॥
वयं तु साक्षाद्भगवन्भवस्य प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन ।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्म ॥३८॥
यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥३९॥

(अब तीन श्लोकोंसे सत्संगकी महिमा कहते हैं) जिस भगवत्-भक्तसमाजमें आपकी परमानन्द देनेवाली कथाएँ कही जाती हैं, जिन कथाओंसे विषयभोग-तृष्णाकी शान्ति हो जाती है, जहाँ तृष्णा न होनेसे सब प्राणियोंसे वैरभाव दूर हो जाता है ॥ ३५ ॥

जहाँ आसक्तिरहित भगवद्भक्त सत्कथामें संन्यासियोंके भी परम गति, साक्षात् भगवान् नारायणकी बारम्बार स्तुति करते हैं ॥ ३६ ॥

दुष्टोंके संसर्गसे दूषित हुए तीर्थोंको पवित्र करनेकी इच्छासे पैदल विचरते हुए आपके भक्तोंका समागम संसारभयसे डरे हुए पुरुषको क्योंकर प्रिय न होगा ॥ ३७ ॥

हे भगवन् ! आपके प्रिय मित्र श्रीरुद्रके एक क्षणमात्रके समागमसे हमलोग जन्ममरणरूप असाध्य रोगके उत्तम चिकित्सकरूप साक्षात् आपकी शरणमें प्राप्त हुए हैं ॥ ३८ ॥

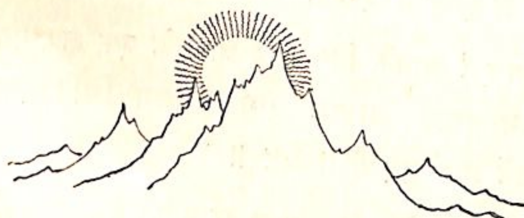
(अब दो श्लोकोंसे फिर अन्य वर माँगते हैं—) हमने पहले जो उत्तम प्रकारका वेदाध्ययन किया है तथा गुरु, ब्राह्मण और वृद्धोंको सदा उनकी आज्ञा मानकर जो प्रसन्न किया है, सदाचारनिष्ठ मित्र, भाई

यन्नः सुतप्तं तप एतदीश निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो वृणीमहे ते परितोषणाय ॥४०॥
मनुः स्वयम्भूर्भगवान्भवश्च येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः ॥४१॥
नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥४२॥

और अन्य प्राणियोंका शुद्ध भावसे (न कि लोगोंको दिखलानेके लिये) नमस्कार किया है, और अन्न त्यागकर बहुत वर्षों तक जलमें खड़े होकर भलीभाँति जो यह तप किया है, हे ईश ! वह सब व्यापक (अन्तर्यामी) आपकी प्रसन्नताके लिये हो (यही वर हम माँगते हैं) ॥ ३९-४० ॥

तप और ज्ञानसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है ऐसे मनु, ब्रह्मा और शिवजी और दूसरे भी इसी प्रकारके पुरुष आपकी महिमाका पार न देखकर अपने ज्ञानके अनुसार आपकी स्तुति करते हैं इसी प्रकार हम भी अपने ज्ञानके अनुसार आपकी स्तुति करते हैं ॥४१॥

सर्वत्र समदृष्टि, शुद्ध, श्रेष्ठ, परमपुरुष, शुद्धमूर्ति आप भगवान्‌को नमस्कार है ॥ ४२ ॥



सप्तम प्रकरण

ऋषभदेवजीका चरित्र

ऋषियोंद्वारा कृत स्तुति

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुल-सिकादूर्वाङ्कुरैरपि संभृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥[2]

मनुजीके दूसरे पुत्र प्रियव्रत हुए। इन्होंने अपने सात बेटोंको पृथिवीके सात द्वीप अलग-अलग करके राज्य करनेके लिये बाँट दिये और आप भगवद्भजनमें तत्पर हो गये। जम्बूद्वीपका राज्य अपने पुत्र आग्नीध्र-को दिया। आग्नीध्रके नौ पुत्र हुए। उन्होंने इस जम्बूद्वीपको नौ खण्डोंमें विभक्त किया। उनमेंसे यह भरतखण्ड आग्नीध्रके पुत्र नाभिके हिस्सेमें आया।

राजा नाभिने पुत्रेष्टियज्ञ किया था। वह यज्ञ सब अङ्गोंसे सर्वथा पूर्ण था, उसके अन्तमें भगवान् यज्ञपति स्वयं प्रकट हुए। ऋत्विज्, सदस्य, और यजमान राजा नाभिने भगवान्का मस्तक नवाकर पूजन किया और स्तुति की; वह स्तुति इस अध्यायके अन्तमें लिख दी गयी है। तदनन्तर भगवान्ने प्रसन्न होकर राजा नाभिको यह वर दिया कि मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ अवतार लूँगा।

फिर समय पाकर भगवान्ने राजा नाभिकी मेरुदेवी नामकी स्त्रीके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें अवतार लिया। ऋषभदेवजी सांख्य-योगकी शिक्षा देनेको इस भूमण्डलमें आये थे। इन्होंने कई आश्चर्यजनक कर्म किये थे। ऋषभके पुत्र राजा भरत हुए। ये वही राजा भरत हैं जो साधु हो गये थे। साधुकी अवस्थामें एक हिरनपर

---

१. भा० स्क० ५ अध्याय १ से १५ तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके अन्तर्गत श्लोक ६ की टीकामें देखिये।

इनकी कृपा हो गयी थी, अतएव मरते समयमें भी उन्हें उसीका ध्यान रहा। इस कारण उनका हिरनीके गर्भसे जन्म हुआ था। तदनन्तर इनका तीसरा जन्म ब्राह्मणके घरमें हुआ। इस ब्राह्मणजन्ममें सङ्गके भयसे ये जडवत् व्यवहार करते रहे, अन्तमें मुक्त हो गये। इन्हींने एक समय राजा रहूगणको ज्ञानका उपदेश किया था।

इनके पीछे तीन राजाओंका फिर वर्णन है किन्तु इनकी कथाओंमें कोई स्तुति नहीं है इस कारण यह प्रकरण यहीं समाप्त कर दिया गया है।



अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान्प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् ॥४॥

सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ५ ॥

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥६॥

हे परम पूजनीय ! यद्यपि आप परिपूर्ण हैं, तथापि आप अपने सेवक हमलोगोंकी पूजा स्वीकार करने योग्य हैं । (हममें आपकी स्तुति करनेकी भी शक्ति नहीं है ऐसा कहते हैं) भगवान्‌को बारंबार नमस्कार ही करना चाहिये, उससे अधिक कुछ नहीं हो सकता क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप दुर्ज्ञेय है, ऐसी साधुओंने हमें शिक्षा दी है । हे भगवन् ! आप प्रकृति और पुरुषके भी कारण हैं, अतएव परमेश्वर हैं । समस्त प्राणियोंके पापोंका उच्छेद करनेवाले, परम मङ्गलकारी, समस्त साधनोंमें श्रेष्ठ आपके गुणोंके एक देशके संकीर्तनके सिवा कोई कुछ नहीं कर सकता । रज आदि प्रकृतिके गुणोंसे विक्षिप्त अतएव सांसारिक विषय-वासनाओंमें आसक्त चित्तवृत्तिवाले, कौन अशक्त पुरुष अर्वाचीन नाम, रूप और आकारसे आपके स्वरूपका निरूपण कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं कर सकता ॥ ४-५ ॥

हे परम ! आप सेवकगणोंसे प्रेमपूर्वक अर्पित स्तुतियों, शुद्ध जल, पल्लव, तुलसी और दूर्वाङ्कुरोंसे किये गये पूजनसे अति सन्तुष्ट होते हैं ॥६॥

---

१. भा० स्क० ५ । ३

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे ॥ ७ ॥

आत्मन एवानुसवनमञ्जसा व्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ९ ॥

अन्यथा अपने आप उत्पन्न हुए सम्पूर्ण पुरुषार्थरूप अर्थात् परमानन्दस्वरूप आपका बहुत-सी सामग्रियोंसे परिपूर्ण हमारे द्वारा किये गये यज्ञसे हम कोई आवश्यक प्रयोजन नहीं देखते। (शंका—ऐसा माननेपर यज्ञ निरर्थक हो जायँगे। समाधान—) यद्यपि परिपूर्ण होनेके कारण पूजा आदिकी आपको कुछ अपेक्षा नहीं है, तथापि हे नाथ! भोगोंकी अभिलाषा करनेवाले हमलोगोंसे की गयी पूजा आदि आपके सन्तोषद्वारा हमारे मनोरथकी पूर्ति करते हैं, अतः व्यर्थ नहीं है ॥ ७-८ ॥

हे भगवन्! ब्रह्मादिसे भी उत्कृष्ट पुरुष अपनी भलाई न जाननेवाले बालकोंका पिता जैसे स्वयं उनकी भलाईमें प्रवृत्त होता है वैसे ही मोक्षरूप परमकल्याणको न जाननेवाले अन्यान्य अभिलाषी लोगोंको अपनी अतिशय दयासे मोक्ष नामक आत्मानन्द तथा परम पुरुषार्थ देनेवाले आप पूजाकी अपेक्षा न रखते स्वयं अपूजित ही, पूजाकी अपेक्षा रखनेवालेकी नाईं इस यज्ञमें दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ९ ॥

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥१०॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावाना-मात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरममङ्गलायनगुण-गणकथनोऽसि ॥११॥

अथ कथञ्चित् स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥१२॥

आप वर देनेवालोंमें अतिश्रेष्ठ हैं अतः यद्यपि आप वर देनेके लिये ही आविर्भूत हुए हैं तथापि हे अर्हत्तम ! जो राजर्षि नाभिके यज्ञमें आप हम सेवकोंके दृष्टिगोचर हुए हैं, वह आपका दर्शनलाभ ही हमारे लिये वर हो गया ॥१०॥

हे भगवन् ! ऋषियोंके द्वारा निरन्तर अभ्याससे जिनके गुणोंका संकीर्तन किया गया है, वैराग्यसे तीक्ष्ण किये गये ज्ञानाग्निसे जिनके रागादि मल दूर हो गये हैं, आपके स्वभावके समान स्वभाववाले और आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले ऋषियोंको भी आपके गुणोंके समूहका वर्णन परम मंगलदायक है ॥ ११ ॥

(यद्यपि आपके दर्शनसे हम कृतार्थ हैं तथापि आपसे एक वर चाहते हैं—) आपका स्मरण करनेमें असमर्थ हुए हमारे मुखसे—ठोकर लगने, भूख लगने, गिरने, जम्हाई लेने, सङ्कट आ पड़ने और ज्वर, मरण आदि दशामें सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले—आपके गोवर्धनधारी, दीनबन्धु, भक्तवत्सल आदि जन्मकर्मकृत नाम निकलें ॥ १२ ॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥१३॥

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः ॥१४॥

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान्प्रतिवोढुमविदुषाम् ॥१५॥

जिसकी पुत्रमें ही पुरुषार्थबुद्धि है यह राजर्षि पुत्रकी कामना करता है और आपके समान पुत्र चाहता है इस कारण इस लोकके विषय-भोगोंको तथा स्वर्ग और मोक्षको भी देनेवाले आपकी इस प्रकार आराधना करता है जैसे निर्धन पुरुष धानके कणोंकी या भूसीकी आशा करता हुआ धनाढ्य (रत्नराशि देनेवाले) कुबेरजीकी आराधना करे (भाव यह है कि जैसे प्रसन्न हुए रत्न देनेवाले कुबेरसे धानकी भूसीकी चाहना निरी मूर्खता है वैसे ही अपवर्गतकके दाता आपसे तुच्छातितुच्छ अनित्य पुत्ररूप वस्तु चाहना भी मूर्खता ही है ।) ॥ १३ ॥

इस संसारमें महात्माओंके चरणोंकी सेवा न करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है जिस पुरुषका "यह कहाँसे आयी" इस तरह जिसके मार्गका निश्चय नहीं है तथा जिसपर कोई विजय नहीं पा सकता—ऐसी आपकी मायाने तिरस्कार एवं उसकी बुद्धिका नाश न किया हो और विषयरूप विषके वेगने जिस पुरुषके स्वभावको न ढँका हो ॥ १४ ॥

हे बहुकार्यकारिन् ! आप-जैसे महामहिमशालीको इस यज्ञमें पुत्रप्राप्तिरूप छोटे-से कार्यके लिये हमलोगोंने जो बुलाया है वह पुत्रको ही परमपुरुषार्थ समझनेवाले मन्दबुद्धि स्वार्थपरायण हमलोगोंसे देवाधिदेव आपका अनादर ही हुआ है, उसको सर्वत्र समान बुद्धि रखनेवाले आपको सहन करना उचित है ॥ १५ ॥



अष्टम प्रकरण

इन्द्रवृत्रासुरयुद्ध[1]

दक्षप्रजापति तथा देवताओंद्वारा कृत स्तुति

नमः परायावितथानुभूतये गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिर्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥[2]

इस अध्यायके छठे प्रकरणमें कहा गया है कि चाक्षुष मन्वन्तरमें प्राचेतस दक्षसे यह मानवी सृष्टि आरम्भ हुई। उन्होंने इस कार्यका सम्पादन करनेके लिये हंसगुह्यस्तोत्रसे भगवान्‌की स्तुति की जो इस प्रकरणमें लिख दी गयी है।

दक्षके सहस्रों पुत्रोंसे सृष्टि नहीं बढ़ी, क्योंकि वे सब-के-सब विरक्त होकर चले गये थे किन्तु उसकी साठ कन्याओंसे इस सृष्टिकी वृद्धि हुई। दक्षने साठ कन्याओंमेंसे तेरहका विवाह कश्यप प्रजापतिसे कर दिया था। उन तेरहमेंसे अदिति और दिति विशेष उल्लेखनीय हैं। दितिसे दैत्यों (असुरों) का वंश चला और अदितिसे देवताओंका वंश चला। इन दोनोंमें स्वर्गके राज्यके लिये लड़ाई होती रहती थी। कभी एक पक्षकी जीत होती तो कभी दूसरे पक्षकी।

एक समय देवताओंके गुरु बृहस्पतिजी इन्द्रकी सभामें गये। इन्द्रने उनका प्रत्युत्थान नहीं किया। इससे असन्तुष्ट होकर बृहस्पतिजी वहाँसे चले गये और फिर उनके पास नहीं लौटे। असुरोंने देवताओंपर चढ़ायी कर दी। गुरुके बिना देवताओंका पक्ष ढीला पड़ गया। तब उन्होंने अपने भाई त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको अपना गुरु बनाया।

---

१. भा० स्क० ६ अ० ४ से १० तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक २३ की टीकामें देखिये।

विश्वरूपकी माता दैत्योंकी छोटी बहिन थी। पहले तो विश्वरूपके प्रभावसे देवता जीतने लगे किन्तु पीछे उसने यज्ञमें असुरोंके पक्षमें भी आहुति देना आरम्भ कर दिया। इसपर इन्द्रने क्रोधमें आकर विश्वरूपका वध कर डाला। इन्द्रको ब्रह्महत्या लग गयी किन्तु वह हत्या भूमि, जल, वृक्ष और स्त्रियोंने आपसमें[1] बाँट ली। यही कारण है कि भूमि खोदनेपर, वृक्ष कटनेपर (कलम होनेपर), स्त्रियाँ प्रसूतिपर और जल अन्य वस्तु दुग्ध आदिके मिलनेपर दुःखको प्राप्त नहीं होते हैं।

पुत्रके वधका वृत्तान्त सुनकर त्वष्टाने इन्द्रके नाशके लिये स्वयं आहुति दी। तदनन्तर उस अग्निसे बड़ा भयङ्कर रूप धारण करनेवाला वृत्रासुर नामका राक्षस उत्पन्न हुआ। उसको देखकर तीनों लोक भयभीत होकर दशों दिशाओंको भागने लगे। देवताओंके सब अस्त्र उसपर निष्फल हुए। इस संकटावस्थामें देवताओंने एकाग्रचित्तसे अन्तर्यामी आदिपुरुषकी स्तुति की, जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है।

इस स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और गम्भीर वाणीसे बोले—'हे इन्द्र ! तुम दधीचि नामक ऋषिके समीप जाओ और उनकी हड्डी माँगो। उन हड्डियोंका एक श्रेष्ठ वज्र नामका अस्त्र विश्वकर्मासे तैयार कराओ। उससे वृत्रासुरका वध अवश्य होगा।'

श्रेष्ठ महानुभाव कौन-सी वस्तु देनेको असमर्थ हैं ? दधीचि ऋषिने परब्रह्म भगवान्में अपने जीवको मिलाकर शरीर त्याग दिया। उन तत्त्वदर्शी ऋषिने अपनी इन्द्रियाँ, प्राण, मन और सब बुद्धि अपने वशमें कर रक्खे थे। उत्तम समाधि लगाकर उन्होंने यह नहीं जाना कि उनका शरीरपात हो गया है। तदनन्तर विश्वकर्माने उनकी अस्थियोंसे उत्तम वज्र बनाया, इन्द्र और वृत्रासुरका घोर संग्राम हुआ।



१. भूमिमें ऊषररूप, जलमें बुलबुले और झागरूप, वृक्षोंमें गोंदरूप और स्त्रियोंमें मासिकधर्मरूप हत्याके पाप हैं जो उन्होंने अपने ऊपर लिये।

हंसगुह्यस्तोत्र[1]

नमः परायावितथानुभूतये गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिर्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥२३॥
न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः सखा वसन्संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टेस्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२४॥
देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान्वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥२५॥

जिनका अनुभव परम सत्य (मूलरहित) है, जो तीनों गुणोंके आभास जीव और मायाके नियन्ता हैं—रूपरसादिमें परमार्थदृष्टि रखनेवाले जीवोंसे जिनका स्वरूप नहीं देखा जाता है—प्रत्यक्षादि प्रमाण जिनको विषय नहीं करते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष आदिसे जिनका ज्ञान नहीं होता, जो स्वयंप्रकाश हैं, ऐसे सर्वोत्तम भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३॥

(अदृष्टधामताका प्रतिपादन करते हैं–) इस शरीररूपी पुरमें रहता हुआ भी जीव इसी शरीरमें रहनेवाले प्रपञ्चके द्रष्टा अन्तर्यामी (ईश्वर) की इन्द्रिय आदि प्रवर्तकताको नहीं जानता है, जैसे कि रूपादि विषय अपनेको प्रकाश करनेवाले इन्द्रियादिके प्रकाशत्वको नहीं जानते हैं; ऐसे महेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥

देह, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, पृथिवी आदि महाभूत और उनके तन्मात्रा शब्दादि, अपने स्वरूपको, अन्य इन्द्रियोंको और उन दोनोंसे पर देवतावर्गको, जड़ होनेके कारण, नहीं जानते हैं। जीव चेतन होनेसे इन सबको और देहादिके कारणभूत गुणोंको भी जानता है किन्तु इन सबको जाननेवाला भी (जीव) जिस सर्वज्ञको नहीं जानता है उसकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ २५ ॥

---

१. भा० स्क० ६ । ४

यदोपरामो मनसो नामरूपरूपस्य दृष्टस्मृतिसंप्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥२६॥
मनीषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥२७॥
स वै ममाशेषविशेषमायानिषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥२८॥

जिस अवस्थामें दर्शन और स्मरणका नाश होनेके कारण नाम और रूपके बोधक मनकी समाधि लग जाती है, सुषुप्तिके समान लय और जाग्रत् तथा स्वप्नके समान विक्षेप नहीं होता, उस अवस्थामें केवल स्वरूपभूत ज्ञानसे जो प्रतीत होता है—पवित्र मनमें वास करनेवाले—उस शुद्ध भगवान्को ही नमस्कार है ॥ २६ ॥

(ऐसे परमेश्वर किसको प्रतीत होते हैं ? ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—) जैसे समिधोंमें छिपे हुए अग्निको यज्ञ करनेवाले सामिधेनीनामक पन्द्रह मन्त्रोंसे काष्ठको मथकर अलग निकाल लेते हैं वैसे ही विवेकी पुरुष अपने हृदयके अन्दर निश्चय किये हुए और सत्ताईस तत्त्वोंसे अप्रकाशमान अट्ठाईसवें तत्त्वका साक्षात् कर लेते हैं, वह निर्वाण सुख-रूप तत्त्व मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥ २७ ॥

अवटितघटनापटीयसी मायासे छुटकारा पाकर मुक्तिसुखका आस्वाद करनेवालोंको जिसका अनुभव होता है, जिसके नाम और रूप अनन्त हैं, अचिन्त्यशक्ति वह देव मेरे ऊपर प्रसन्न हो । मायाके सम्पूर्ण गुणोंका निषेध करके जो निर्वाणसुख शेष रहता है, जो सर्वनामविश्वरूप है और जो मायारूप अचिन्त्य शक्तियुक्त है वह निर्वाणसुखरूप तत्त्व मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥ २८ ॥

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत्स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥२९॥
यस्मिन्यतो येन च यस्य यस्मै यद्यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥३०॥
यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति ।

जो पदार्थ वाणीसे कहा जाता है, बुद्धिसे निश्चित होता है, इन्द्रियोंसे गृहीत अथवा मनसे संकल्पित होता है वह स्वप्रकाश भगवान्‌का स्वरूप नहीं है। वह सब सत्त्व आदि गुणोंका ही कार्य है। भगवान् तो उससे अतिरिक्त हैं, गुणोंके अर्थात् जगत्‌के प्रलय और उत्पत्तिसे उनकी प्रतीति होती है ॥ २९ ॥

(इस प्रकार वास्तवमें ईश्वर गुणस्वरूप नहीं है, ऐसा स्वीकार कर उसमें मायारूप अचिन्त्य शक्ति मौजूद है, ऐसा विश्वरूपका वर्णन करते हैं) यह विश्व जिस अधिकरण, अपादान, करण, सम्बन्ध, सम्प्रदान और कर्तारूपसे स्वतन्त्र जो इच्छित कर्म करता है या कराता है वह सब अर्थ और भावकर्ममें होनेवाले प्रत्ययोंके सब अर्थ यह ब्रह्म ही है, क्योंकि वह इन सबसे पहले प्रसिद्ध था और इन सबका कारण है। वह ब्रह्म, ब्रह्मादि उत्तम और जीवादि (अस्मदादि) निकृष्ट कारणोंका मुख्य कारण है; सजातीय और विजातीय भेद न होनेके कारण निरपेक्ष है, ऐसे उस ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ३० ॥

(शङ्का—यदि ब्रह्म इस प्रकार विश्वका हेतु है तो फिर उसके विषयमें मीमांसक, तार्किक आदि विवाद क्यों करते हैं और दूसरे स्वभाववादी पुरुष क्यों उनके सहमत होते हैं? तत्त्वज्ञानियोंद्वारा बोधित होते हुए भी वे लोग बार-बार क्यों मोहको प्राप्त होते हैं? समाधान—) जिस-

कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥३१॥
अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥३२॥
योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः ।

की माया और अविद्याशक्तियाँ वाद करनेवाले वादियोंके विवादोंकी और कहींपर संवादोंकी कारण होती हैं तथा इन वादी पुरुषोंके मनको बार-बार मोहित करती हैं, उन अनन्तगुण व्यापक ईश्वरको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

हे भगवन् ! आपके विषयमें उपासनाशास्त्र एवं ज्ञानशास्त्रमें परस्पर मतभेद है । एक कहता है भगवान्‌के कर, चरण आदि अङ्ग हैं; दूसरा कहता है कि भगवान् कर, चरणशून्य हैं । एकहीके विषयमें परस्पर विरुद्ध सम्मति रखनेवाले, उन दोनों शास्त्रोंमें समानभावसे कर, चरण आदि अङ्गोंके कल्पनाके आधाररूपसे तथा निषेधकी अवधिरूपसे जो ज्ञात होता है वही परब्रह्म आप हैं । (भाव यह है कि यद्यपि एक ही भगवान्‌में उपासनाशास्त्र और ज्ञानशास्त्रसे वर्णित पाद आदिका अस्तित्व और अभाव परस्परविरुद्ध प्रतीत होते हैं तथापि अनुकूल अधिष्ठानके बिना पाद आदिकी कल्पना नहीं हो सकती तथा अवधिके बिना निषेध नहीं हो सकता; अतएव उन दोनों कर, चरण आदिके सद्भाव तथा निषेधका उपपादक ब्रह्म सिद्ध ही है । उक्त शास्त्रोंसे उक्त सद्भाव और असद्भावमें वस्तुतः कोई विरोध नहीं है ॥ ३२ ॥

(शङ्का-उदासीन और समभाव रखनेवाले ईश्वरको नमस्कार करनेसे क्या लाभ है ? समाधान—भगवान् भजनेवालोंपर अनुग्रह करते हैं) जो भगवान् अचिन्त्य ऐश्वर्यादिसम्पन्न, देश और कालकृत परिच्छेदसे

नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे च मह्यं परमः प्रसीदतु ॥३३॥
यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां यथाशयं देहगतो विभाति।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥३४॥

शून्य, प्राकृत नामरूपरहित अपने चरणके तलोंको भजनेवालोंके अनुग्रहके लिये अवतारोंसे शुद्ध सत्त्वगुणमय अनेक रूपोंको और कर्मोंसे अनेक नामोंको धारण करते हैं, वह परमेश्वर मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥३३॥

(शङ्का—तुम्हारे सदृश सकाम पुरुष गणेशादिका पूजन करते हैं, उनको छोड़कर क्यों भगवान्‌की प्रार्थना करते हो ? समाधान—गणेश आदि देवतारूप भी आप ही हैं) जैसे चम्पा आदि अनेक पुष्पोंकी सुगन्धसे युक्त यह भौतिक वायु नाना प्रकारका प्रतीत होता है वैसे ही जो अन्तर्यामी ईश्वर प्राकृत ज्ञानमार्गसे मनुष्योंकी इच्छाके अनुसार अनेक देवताओंके रूपमें प्रतीत होते हैं वह मेरे मनोरथको सत्य करें । ॥ ३४ ॥



वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥२१॥
अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥२२॥
यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद्दुरन्तात्त्राताश्रितान्वारिचरोऽपि नूनम् ॥२३॥

वायु, आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी (इत्यादि २३ तत्त्व) इनसे बनाये गये ये तीनों लोक उनमें रहनेवाले प्राणी उनके अधिपति ब्रह्मादि और उनसे न्यून हम (देवगण) भयभीत होकर जिस कालकी पूजा करते हैं अर्थात् नियमपूर्वक समयोचित कर्म करते हैं वह काल भी जिससे डरता है वह परमेश्वर हमारी रक्षा करे ॥२१॥

निरहंकार, अपने स्वरूपभूत परमानन्दके लाभसे पूर्णमनोरथ, उपाधिशून्य तथा रागादिशून्य परमेश्वरको छोड़कर जो दूसरेकी शरण जाता है वह महामूर्ख है; क्योंकि वह कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रके पार जानेकी इच्छा करता है । (भाव यह है कि जैसे कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रके पार जानेकी इच्छा करना निरी मूर्खता है वैसे भगवान्‌से अन्य देवताओंकी उपासनासे भवसागरको पार करनेकी इच्छा करना भी हास्यास्पद ही है) ॥२२॥

राजा सत्यव्रत मनु जिसके बड़े भारी सींगमें पृथ्वीरूप नौकाको बाँधकर प्रलयकालके महाभयङ्कर सङ्कटको अनायास पार कर गये वही मत्स्यरूपी भगवान् शरणमें आये हुए हमलोगोंकी वृत्रासुरके अपार भयसे रक्षा करेंगे ॥ २३ ॥

[1] भा स्क० ६ अ० ९ ।

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भस्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले।
एकोऽरविन्दात्पतितस्ततार तस्माद्भयाद्येन स नोऽस्तु पारः ॥२४॥
य एक ईशो निजमायया नः ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम्।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥२५॥
यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया कृत्वात्मसात्पाति युगे युगे च ॥२६॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥२७॥

सृष्टिके प्रारम्भमें जब प्रचण्ड वायुके चलनेके कारण तरङ्गोंके शब्दोंसे युक्त, प्रलयकालके भयङ्कर जलमें जिनके नाभिकमलसे गिरे हुए अकेले ब्रह्माजी जिनकी सहायतासे भयको पार कर गये वही (परमेश्वर) हमको इस भयसे पार लगावे ॥ २४ ॥

(अब तीन श्लोकोंसे यह कहते हैं कि भगवान्ने ही हमें बनाया है, समय-समयपर उन्होंने हमारी रक्षा की है अतः हम उन भगवान्की शरण जाते हैं—) जिन भेदशून्य ईश्वरने अपनी मायासे हमें उत्पन्न किया है, जिनके अनुग्रहसे हम इस संसारको उत्पन्न करते हैं, 'हम स्वतन्त्र ईश्वर हैं' ऐसा अभिमान रखते हुए हमसे पहले ही अन्तर्यामीरूपसे जो हमारे शरीरादिकी प्रेरणा करते हैं और जिन (परमेश्वर) के स्वरूपको हम नहीं जानते, हम उन्हींके शरणागत हैं ॥ २५ ॥

जो वास्तवमें नित्य हैं (सत् चित् आनन्दस्वरूप हैं) और अपनी अचिन्त्य शक्तिसे देवता, ऋषि, पशु और मनुष्यशरीरोंसे प्रत्येक युगमें अवतार धारण करके राक्षसरूपी शत्रुओंसे पीड़ित हुए हम लोगोंको अपना जानकर रक्षा करते हैं, उनकी हम शरणमें जाते हैं ॥ २६ ॥

हम सब जीवोंके उपास्य, परमकारण, प्रकृतिरूप, पुरुषरूप, विश्वरूप और विश्वसे पृथक् स्थित शरणागतकी रक्षा करनेवाले देवाधि-देवकी शरण जाते हैं, वही महात्मा हम भक्तोंका कल्याण करेंगे ॥२७॥

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥३१॥
यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥३२॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमः-

---

यज्ञके फलदाता अर्थात् यज्ञके अधिष्ठाता आपको नमस्कार है, कालस्वरूप आपको नमस्कार है, हमारे शत्रुओं (दैत्यों) के ऊपर चक्रका प्रहार करनेवाले और सुन्दर-सुन्दर अनेक नामोंसे युक्त आपको बारंबार नमस्कार है । (श्लोक २१ से २७ तक भगवान्के दर्शनसे पहलेकी स्तुति है और श्लोक ३१ से ४५ तक भगवान्के दर्शनके पश्चात् की गयी स्तुति है ।) ॥३१॥

(शङ्का—गुणातीत स्वरूपको छोड़कर क्यों गुणोपाधिक यज्ञाधिष्ठातादि रूपोंका वर्णन करते हो ? समाधान—) हे विधाता ! तीनों गुणोंके नियन्ता और तीनों गुणोंके परमपद (निर्गुणस्वरूप) आपको अथवा देवता, मनुष्य और पशुओंको परमफल देनेवाले, आपके सर्वोत्कृष्ट रूपको सृष्टिके पीछेके हमारे सदृश आधुनिक जीव जाननेमें समर्थ नहीं हैं (इस कारण आपको केवल नमस्कार है) ॥ ३२ ॥

(अब बहुत सम्बोधन देकर भगवान्के दुर्ज्ञेयत्वका प्रतिपादन करते हैं) हे भगवन् ! हे नारायण ! हे वासुदेव ! हे आदिपुरुष ! हे महानुभाव ! हे परममङ्गल ! हे परमकल्याण ! हे परमकारुणिक ! हे जगत्के एक आधार ! हे लोकैकनाथ ! हे सर्वेश्वर ! हे लक्ष्मीनाथ ! संन्यासियोंद्वारा अतिदृढ़ चित्तकी एकाग्रतासे विशुद्ध किये गये अन्तःकरणमें आविर्भूत भगवत्-भक्तिरूप परमहंसधर्मसे जिसके अज्ञानरूप

कपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥ ३३ ॥

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥ ३४ ॥

अथ तत्र भवान्किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददाति आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः ॥३५॥

कपाट खुल गये हैं, ऐसा मलावरणरहित (प्रकट) स्वधामभूत (प्रत्यक्-रूप) चित्तमें स्वयं आविर्भूत आत्मानन्दानुभवस्वरूप ही आप हैं। ऐसे आपको ॐकारपूर्वक नमस्कार है ॥३३॥

(शङ्का—जब भगवान् केवल अनुभवरूप हैं तो फिर उनसे सृष्टि, पालन और संहार किस प्रकार होते हैं ? समाधान—) यह निश्चय है कि आप निराश्रय, शरीररहित और हमारी सहायताकी अपेक्षा न करनेवाले, निर्गुण होकर सबके उपादान होते हुए भी विकारको नहीं प्राप्त होकर इस सगुण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, किन्तु आपकी क्रीड़ाका यह प्रकार बड़ा दुर्ज्ञेय है ॥ ३४ ॥

(दुर्ज्ञेयत्वका प्रकार बतलाते हैं) जैसे इस संसारमें कोई देवदत्त नामवाला पुरुष घर बनवाकर उसमें अपने किये हुए पुण्य, पापसे उत्पन्न भले-बुरे फलोंको भोगता है वैसे ही आप ब्रह्मस्वरूप इस संसारमें जीवरूपसे शरीरमें प्रविष्ट होकर काल, कर्म और स्वभावके अधीन होकर पुण्य-पापका फल भोगते हैं ? अथवा आत्माराम, शान्तस्वभाव और कभी भी लुप्त न होनेवाली चैतन्य शक्तिसे युक्त होते हुए उदासीनभावसे (साक्षिरूपसे) रहते हैं ? यह निश्चित रूपसे हम नहीं जानते ॥ ३५ ॥

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय कोऽन्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥३६॥

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥ ३७ ॥

स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकल-

(इस प्रकार द्विविध विरोधोंसे दुर्ज्ञेयत्व बताकर अब उसका परिहार करते हैं) दोनों विरोध नहीं ठहरते; क्योंकि आप असंख्य गुणगणोंसे सम्पन्न हैं, आपका माहात्म्य पूर्णतया नहीं जाना जाता। आपका स्वरूप आजकलके विकल्प, वितर्क, विचार, झूठे प्रमाण और कुतर्क दोषसे दूषित अन्तःकरणमें स्थित दुराग्रहसे विवाद करनेवालोंके गोचर नहीं होता है। जिनमें मायामय संसार निवृत्त हो गया है केवल अद्वितीय ईश्वर आप, अपनी अघटित घटनापटीयसी मायाका आश्रय लेकर कौन-सा कार्य करनेको समर्थ नहीं हैं ? (विकल्पका स्वरूप—यह ज्ञान ऐसा ही है या दूसरे प्रकारका है। वितर्कका स्वरूप—यह निश्चय न होना कि यह विचारयुक्त है अथवा नहीं है। विचारका स्वरूप—यह निश्चय कि अमुक विषय इसी प्रकारका है) ॥ ३६ ॥

(आपके अनुग्रह और निग्रहकी बुद्धि जैसी की जाय वैसी ही वह मायासे आपमें प्रतीत होती है) जैसे रस्सीका टुकड़ा, यथार्थ ज्ञानवालेको रस्सी प्रतीत होता है और भ्रान्त बुद्धिवालेको सर्पादिरूपसे प्रतीत होता है वैसे ही यथार्थ बुद्धिवालोंको सच्चिदानन्दस्वरूपसे भासते हुए भी आप भ्रान्तोंको दुःखित्वादिरूपसे दीखते हैं ॥ ३७ ॥

(विरोधका परिहार करके निश्चित परमार्थरूप कहते हैं—) विचार करनेपर आप भगवान् ही सम्पूर्ण प्रपञ्चमें परमार्थस्वरूप, सर्वेश्वर सकल

जगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात्सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः ॥ ३८ ॥

अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुख-लेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्तः ॥३९॥

जगत्के कारण (महदादि) के भी कारण हैं और सम्पूर्ण जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाले और सब बुद्धि इन्द्रियादि जड़वर्गका प्रकाश करनेवाले आप अकेले ही शेष रहते हैं (जैसे नेति-नेति, इत्यादि श्रुति प्रतिपादन करती है ।) ॥ ३८ ॥

(अब कहते हैं कि आपकी भक्ति ही परम पुरुषार्थ है ।) क्योंकि आप परमार्थस्वरूप परमेश्वर हैं, इस कारण हे मधुमथन ! आपके महिमारूप अमृतरसके समुद्रके बिन्दुमात्रका एक बार भी आस्वादन करनेसे अपने मनमें निरन्तर बहते हुए सुखस्रोतसे देखे हुए या सुने हुए लेश-मात्र सुखके आभासका जिन्हें विस्मरण हो चुका है, जो सब प्राणियों-के प्रिय सुहृद् एवं सब आत्माके स्वरूप आप भगवान्में प्रतिदिन प्रतिक्षण सुखसे मनको स्थिर करते हैं; और जो अपने स्वार्थमें निपुण हैं, जिनके आप ही प्रियमित्र हैं, तथा जो भोगकी आकांक्षासे रहित हैं ऐसे अनन्य परम भगवद्भक्त आपके चरणकमलोंकी निरन्तर सेवाको कैसे छोड़ देंगे ? जिनकी सेवा करनेसे मनुष्यको इस संसारमें नहीं भटकना पड़ता है (अर्थात् वे ऐसे आपके चरणकमलकी सेवा कभी नहीं छोड़ेंगे) ॥३९॥

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥४०॥

अस्माकं तावकानां तव नतानां तत ततामह तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम् ॥४१॥

अथ ह भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्ताय-

(प्रस्तुत कार्यकी विज्ञप्ति करते हैं) हे त्रिलोकीके आत्मा तथा अधिष्ठान ! हे त्रिविक्रम ! हे त्रिभुवनके नेता ! हे त्रिलोक-मनोहर लीला करनेवाले ! हे दण्डधर ! हे भगवन् ! दैत्य, दानव, मनुष्यादि सब आपहीकी विभूति हैं । उन दैत्य-दानवोंके उपद्रव करनेका यह समय नहीं है ऐसा समझकर जैसे आपने पहले अपनी मायासे देवता, मनुष्य, पशु, मनुष्य-पशु-मिश्रितरूप और जलचरस्वरूप धारण करके उन दैत्योंको अपराधके अनुसार दण्ड दिया था वैसे ही यदि आप उचित समझते हों तो इस त्वष्टाके पुत्रका भी वध कीजिये ॥ ४० ॥

(अब प्रार्थना करते हैं कि पहले आप हमारे भीतरके तापको दूर कीजिये) हे पिता ! हे पितामह ! हे अनघ ! आपके चरणकमलोंके ध्यानसे ही जिनके हृदयमें बेड़ियाँ पड़ गयी हैं, अपनी मूर्तिको प्रकट करनेसे जिनको आपने अपनालिया है ऐसे अपने विनम्र भक्तोंके अन्तःकरणके तापको आप अपने प्रिय, निर्मल, मनोहर और शीतल हास्ययुक्त दृष्टिसे और कृपासे बाहर निकली हुई प्रिय वाणीरूप अमृतमयी कथासे शान्त करनेके लिये योग्य हैं ॥ ४१ ॥

(आप अन्तर्यामी होनेके कारण हमारे अभिप्रायको जानते हैं अतः आपसे अपने अभिप्रायको प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता है ?) हे भगवन् !

मानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथा देशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद्विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥४२॥

अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४३ ॥

जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयकी निमित्तभूत अपनी दिव्य माया-शक्तिसे विनोद करनेवाले, सम्पूर्ण जीवसमूहोंके हृदयोंमें ब्रह्मरूपसे और अन्तर्यामीरूपसे तथा बाहर प्रकृतिरूपसे; देश-काल-शरीर-संबन्धी अवस्था-विशेषोंका उल्लंघन न करके उनके उपादानरूपसे और प्रकाशकरूपसे उनका अनुभव करनेवाले सबकी बुद्धिके साक्षी आकाशकी तरह निर्विकार शरीरवाले शुद्ध-सत्त्व-गुण-पूर्ण आप साक्षात् परमात्मा हैं, आपसे हम कितने अर्थ-विशेषकी विज्ञप्ति करें। जैसे अग्निकी चिनगारीको अग्निको प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार आप सर्वज्ञको हमें अपना आशय कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥

विविध दुःखोंसे उत्पन्न हुए संसारपरिश्रमको दूर करनेवाली भगवान् तथा परमगुरु आपके चरणकमलकी छायामें हम जिस कार्यके लिये उपस्थित हुए हैं, उस कार्यको आप हमारी विज्ञप्तिके बिना स्वयं ही सम्पादित कर दीजिये ॥४३॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४ ॥

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्तावन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥४५

हे ईश ! हे कृष्ण ! जिसने हमारे तेज, मन्त्र और आयुधोंको ग्रस्त कर लिया है तथा जो त्रिलोकीको निगलनेको उद्यत है, उस वृत्रासुरका अब संहार कीजिये ॥ ४४ ॥

शुद्ध, हृदयाकाशमें रहनेवाले, सब बुद्धियोंके साक्षी, आनन्दस्वरूप, उज्ज्वलकीर्तिमान्, परिश्रमजनक लौकिक प्रणालीके बिना ही कार्यको सिद्ध करनेवाले, साधुओंसे स्वीकृत संसारमार्गके पथिकोंको अपनी शरणमें आनेपर अन्तकालमें सर्वोत्तम गति देनेवाले तथा पीडा हरनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ४५ ॥



नवम प्रकरण

वृत्रासुरके पूर्वजन्मकी कथा[1]

वृत्रासुर तथा चित्रकेतुद्वारा कृत स्तुति तथा नारदकृत स्तोत्र ।

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥२४॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२५॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥२६॥

---

१. भा० स्क० ६ अ० ११ से १७ तक

२. भा० स्क० ६ अ० ११ के अन्तर्गत वृत्रासुरकी स्तुतिका अर्थ—

हे हरे ! मैं फिर, जिन्होंने आपके चरणतलका आश्रय लिया है ऐसे पुरुषोंके दासोंका भी दास होऊँ । मेरा मन मेरे प्राणोंके नाथ आपके गुणोंका स्मरण करे ॥ २४ ॥

(दासभाव क्यों चाहता है ? मैं तुमको बड़े-बड़े फल दूँगा । उत्तर—) मैं आपको छोड़-कर ध्रुवपद, ब्रह्मलोक, सार्वभौमपद, पातालका राज्य, योगसिद्धि और मोक्ष भी नहीं चाहता ॥ २५ ॥

(अब अपनी इच्छा कहता है) जैसे बाज आदि शिकारी पक्षियोंसे पीड़ित पक्षियोंके पङ्खहीन बच्चे अपनी माँके देखनेकी इच्छा करते हैं, जैसे डोरीसे बँधे हुए भूखे बछड़े स्तनपानकी इच्छा करते हैं और जैसे कामदेवसे खिन्न हुई स्त्री दूर परदेशमें गये हुए पतिकी इच्छा करती है, वैसे ही हे कमललोचन ! तीनों तापोंसे पीड़ित और कर्मपाशसे बँधा हुआ और कामादिसे दुःखित मेरा मन आपको देखनेकी इच्छा करता है ॥ २६ ॥

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥२७॥

वृत्रासुर और इन्द्रको युद्ध करते-करते एक वर्ष बीत गया । इन्द्रको कई बार हार खानी पड़ी । वृत्रासुर धर्मके साथ लड़ा । एक समय इन्द्रके हाथसे वज्र भूमिमें गिर पड़ा । वृत्रासुरने अपना धनुष रोक लिया और निःशस्त्र इन्द्रसे नहीं लड़ा और इन्द्रको धनुष उठानेका अवसर दिया । इन्द्र लज्जित हो गया । किन्तु वृत्रासुरने भगवान्‌की स्तुति करते हुए इन्द्रको लड़नेके लिये उद्यत किया । यह स्तुति इस प्रकरणके आदि-में लिखी है । अतिघोर लड़ाईके अन्तमें जब वृत्रासुरके मरनेका समय आ गया तब इन्द्रके वज्रसे उसका अन्त हो गया ।

वृत्रासुर पूर्वजन्ममें शूरसेननामक देशका राजा था और उसका नाम चित्रकेतु था । वह राजा बड़ा धार्मिक, रूपवान् , उदार, जन्म, विद्या, ऐश्वर्य और सम्पत्ति आदि सकलगुणोंसे युक्त था । कई रानियोंके होते हुए भी उसको कोई पुत्र नहीं हुआ, इस कारण वह बड़ा दुःखी रहता था ।

एक दिन अङ्गिरानामक ऋषिसे चित्रकेतुने पुत्रके निमित्त प्रार्थना की । उस ऋषिने यज्ञ कराकर राजाकी बड़ी रानीको चरु दिया । उस चरुके प्रभावसे उस रानीसे राजाको एक पुत्र हुआ । अन्य रानियोंने ईर्ष्यासे कुछ समयके अनन्तर उस पुत्रका बध कर डाला । पुत्रके मरनेसे राजा और रानीके दुःखका कोई ठिकाना न रहा ।

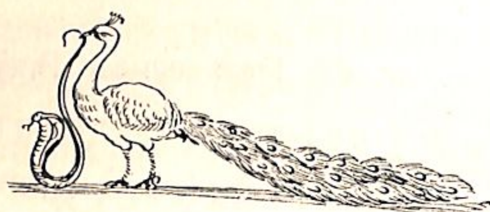
उसी समय नारद और अङ्गिरा ऋषि वहाँ आये; किन्तु राजा इतना शोकाकुल था कि वह उनको पहचान भी न सका । जब अङ्गिरा ऋषिने अपना पूर्वका परिचय दिया और कई प्रकारसे समझाया तब उसे चेत हुआ । किन्तु उसका शोक नहीं छूटा । अन्तमें नारदजीने अपने योगबलसे उस

हे नाथ ! अपने कर्मोंसे इस संसारचक्रमें भ्रमण करनेवाले मेरी भगवान्‌के पूज्य भक्तोंके साथ मित्रता हो और आपकी मायासे जैसे इस जन्ममें मेरा चित्त देह, पुत्र, कलत्र, घर आदिमें आसक्त हुआ वैसे फिर इनमें आसक्त न हो । ॥२७॥

मृत पुत्रके जीवको उसी शरीरमें फिर प्रवेश कराया। उस जीवने कहा मैंने कर्मोंके द्वारा देव, पशु, पक्षी और मनुष्ययोनिमें भ्रमण किया, अब मैं किस योनिके पिताको अपना पिता समझूँ। ये माता-पिता यदि पुत्रका अभिमान करके शोक करते हैं तो अब मुझ मरे हुएको शत्रु मानकर क्यों हर्षयुक्त नहीं होते ? क्योंकि सब ही प्राणी क्रमशः सबहीके परस्पर बन्धु, मित्र, उदासीन और द्वेषी होते हैं। अहो ! जैसे सुवर्णादि द्रव्य एकके पाससे दूसरेके पास फिरते हैं, इसी प्रकार जीव भी माता-पिताओंमें फिरते हैं। यही सुवर्ण जब व्यवहारदशामें दूसरेके पास चला जाता है, तब मनुष्यों-की उस द्रव्यकी ममता छूट जाती है। इसी प्रकार कोई प्राणी जबतक माता-पिताके पास रहता है तबतक ही उसका उन माता-पितामें अपनापन होता है। जीव अविनाशी होनेसे नित्य है; स्वप्रकाश होने-के कारण शरीरका आश्रय है; समर्थ होनेके कारण अपनी मायाके गुणोंसे अपने आप उत्पन्न होता है। इसका कोई प्रिय, अप्रिय, अपना, पराया नहीं है, यह साक्षी होनेके कारण असंग है, सर्वत्र स्थित है और इस जीवमें अपना या पराया कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव तुम मेरे कारण दुःखी न होओ।

ऐसा कहकर वह जीव निकल गया और चित्रकेतु और अन्य बान्धवोंका शोक दूर हो गया। नारदजीने आत्मज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त चित्रकेतुको एक स्तोत्र जपनेका उपदेश दिया जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दिया गया है। राजा चित्रकेतु लगातार सात दिनतक इस स्तोत्रको जपकर विद्याधरके पदको प्राप्त हो गया। उसकी सर्वत्र गति हो गयी। एक समय उस राजाने शेषभगवान्‌के चरणोंके समीप जाकर स्तुति की, वह भी इसी प्रकरणके अन्तमें लिख दी है। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उसको ब्रह्म-विद्याका उपदेश दिया और फिर अन्तर्हित हो गये।

चित्रकेतुको भगवान्ने एक दिव्य विमान दिया जिससे उसकी सर्वत्र गति हो गयी। एक दिन चित्रकेतु देवाधिदेव महादेवजीके स्थानपर पहुँचा और उसने सिद्धचरणोंके सामने घिरे हुए पार्वतीजीको महादेव-जीके जंघापर बैठी हुई देखा। राजा यह नहीं समझ सका कि शिव और शक्ति साथ ही रहते हैं। उसने यह व्यवहार आचारके विरुद्ध समझकर भरी सभामें शिवजीकी निन्दा की। पार्वतीजी इसको न सह सकीं और उसको राक्षसयोनिका शाप दे दिया। चित्रकेतुने शापको ग्रहण किया और त्वष्टाके हवनकी दक्षिणाग्निमेंसे अपने पूर्वज्ञानके साथ उत्पन्न हुआ। तब उसका नाम वृत्रासुर पड़ा और इन्द्रसे उसका बध हुआ, जैसा पिछले प्रकरणमें कहा गया है।



ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥१८॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥१९॥
आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।
हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥२०॥
वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥२१॥

वासुदेव (चित्त), प्रद्युम्न (बुद्धि), अनिरुद्ध (मन), और सङ्कर्षण (अहङ्कार) रूपसे विराजमान आप भगवान्‌का हम ध्यान करें ॥ १८ ॥

जो विज्ञानमात्ररूप, परमानन्दमूर्ति, आत्माराम एवं शान्त हैं तथा जिनसे द्वैतदृष्टि निवृत्त हो गयी है ऐसे आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

जिसने अपने स्वरूपभूत आनन्दके अनुभवसे मायाजनित राग-द्वेषादिका तिरस्कार किया है, ऐसे आपको नमस्कार है, इन्द्रियोंके प्रेरक और विराट्स्वरूप आपको नमस्कार है ॥ २० ॥

मनसहित सम्पूर्ण वागादि इन्द्रियोंके—उस परमात्माको प्राप्त न होकर—उपरत होनेपर जो एक नामरूपरहित चेतनमात्र, कार्य-कारणका परमकारण है वह हमारी रक्षा करे ॥ २१ ॥

---

१. भा० स्क० ६ । १६

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।
मृन्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥२२॥

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तं नतोऽस्म्यहम् ॥२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।

यह कार्यकारणरूप जगत् जिनसे उत्पन्न होता है, जिनमें यह स्थित और लीन होता है, जैसे मृत्तिका घटादि पदार्थोंमें अनुस्यूत रहती है वैसे ही जो सबमें अनुस्यूत है, उन ब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

(शङ्का—यदि वे सबमें अनुस्यूत हैं तो मिट्टीके बर्तनोंमें मिट्टीकी तरह उनकी प्रतीति होनी चाहिये, उन्हें मन और वचनके अगोचर कैसे कहते हो ? समाधान—) ब्रह्म यद्यपि आकाशकी तरह बाहर-भीतर व्याप्त है, तथापि जिनको मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानशक्तिसे नहीं जानती हैं और प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ क्रियारूप शक्तिसे स्पर्श नहीं कर सकतीं उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

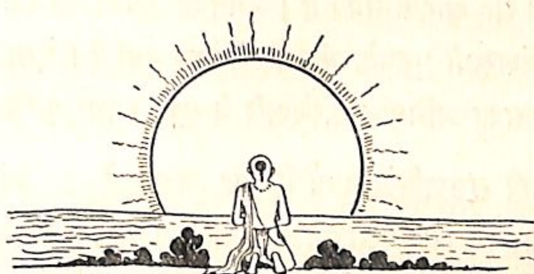
(मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके उन्हें न जाननेमें कारण कहते हैं—) जैसे लोहा जब अग्निसे तप्त हो जाता है तभी जलाता है अन्यथा नहीं, वैसे ही जिसके चैतन्य अंशसे युक्त देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि जाग्रत् और स्वप्नमें अपने-अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त होते हैं, सुषुप्ति और मूर्च्छामें उसके चैतन्य अंशसे युक्त न होनेके कारण अपने कार्यमें वैसे प्रवृत्त नहीं होते हैं। (क्या द्रष्टा होनेसे जीव जाननेको समर्थ

नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति ॥२४॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन्नमस्ते ॥२५॥

होता है ? नहीं) जाग्रदादि अवस्थाओंमें द्रष्टा संज्ञा भी ब्रह्मकी ही है, उससे भिन्न कोई जीव नहीं[1] है । अथवा द्रष्टानामक जीवको भी वे ही जानते हैं, जीव उन्हें नहीं जान सकते[2], ऐसा अभिप्राय है ॥२४॥

भक्तोंके समूहोंके करकमलोंकी कलियोंसे जिनके दोनों चरण-कमलोंकी सेवा होती है ऐसे भगवान् महापुरुष, महानुभाव, महा-विभूतियोंके पति और सर्वश्रेष्ठ आपको नमस्कार है ॥२५॥



---

१. यथा श्रुतिः—नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा ।

२. हंसगुह्यस्तोत्रमें यही कहा गया है । भा० ६ । ४ । २५ में देखिये ।

चित्रकेतुकृत स्तुति[1]

अजित जितः सममतिभिः साधुभिर्भवाञ्जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजतामकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥३४॥
तव विभवः खलु भगवञ्जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेंऽशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ॥३५॥
परमाणुपरममहतोस्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥३६॥

हे अजित ! यद्यपि आपको देवादि भी नहीं जीत सकते तथापि अपने चित्तको वशमें करनेवाले सम बुद्धिवाले साधुओंने आपको अपने अधीन कर रक्खा है । कारण, आप अति दयाशील हैं । और भजन करनेवाले निष्काम भक्तोंको अपना स्वरूपतक दे देनेवाले आपने भी उनको अपने वशमें कर रक्खा है ॥३४॥

इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना आपके बाएँ हाथ-का खेल है—ये सब आपके वैभव हैं । जगत्‌की रचना करनेवाले प्रजापति आदि आपके अंशरूपी पुरुषके अंश हैं, वे ईश्वर नहीं हैं। ऐसा होनेपर भी अपनेमें स्वतन्त्रताका अभिमान करनेवाले वे वृथा स्पर्धा करते हैं ॥३५॥

(आप ही सृष्ट्यादिके कर्ता हैं यह कहते हैं—) आप परमाणु (सूक्ष्म मूल कारण) और परम महत्त्व (अन्तिम कार्य) के आदि, मध्य, अन्तमें वर्तमान रहते हैं, इसीलिये आदि, अन्त आदिसे शून्य हैं । (भाव यह है कि आप नित्य हैं और आपने जिनकी सृष्टि की है वे अनित्य हैं और इसका कारण यह है कि) जिनकी सत्ता प्रतीत होती है ऐसे कार्योंके आदि और अन्तमें जो (ध्रुव है) नाशरहित है वह अन्तराल (मध्य) में भी वही नित्य है ॥३६॥

---

१ भा० स्क० ६ । १६ ।

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः सप्तभिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥३७॥

विषयतृषो नरपशवो य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥३८॥

कामधियस्त्वयि रचिता न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।
ज्ञानात्मन्यगुणमये गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥३९॥

(इस प्रकार नित्य होनेके कारण आपमें कालकृत परिच्छेद नहीं है ऐसा कहकर, अब देशकृत परिच्छेद भी आपमें नहीं है ऐसा कहते हैं) पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणोंसे घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड करोड़ों ब्रह्माण्डोंके साथ आपमें परमाणुकी भाँति घूमता है अतएव आप अनन्त हैं ॥ ३७ ॥

(आप ही उपास्य हैं अन्य देवता आपकी विभूति हैं) हे ईश ! जो विषयोंकी तृष्णामें फँसे हुए नरपशु आपका भजन त्यागकर आपकी विभूतियोंकी (अर्थात् अन्य देवताओंकी सकाम भावसे) उपासना करते हैं, उनके उन-उन देवताओंसे दिये गये भोग, जैसे राजाके कुलका नाश होते ही उनके सेवकोंके भी भोग नष्ट हो जाते हैं, वैसे उन देवताओंका नाश होनेपर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

(सकाम भक्तसे भी की गयी आपकी उपासना मोक्षरूप फल देती है ऐसा कहते हैं—) हे परमज्ञानस्वरूप निर्गुण ! जैसे भुने हुए बीज अङ्कुरको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते वैसे ही सकामभावसे भी आपमें लगायी हुई बुद्धि देहान्तरकी उत्पत्तिका कारण नहीं होती । इस जीवके गुणोंके समूहसे ही संसारके कारण अहन्ता, ममता, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंके समूह उत्पन्न होते हैं । इसलिये किसी वस्तुकी कामनासे भी निर्गुण परमेश्वर आपकी भक्ति करनेपर धीरे-धीरे निर्गुणता प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥

जितमजित तदा भवता यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥४०॥
विषममतिर्न यत्र नृणां त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥४१॥
कः क्षेमो निजपरयोः कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात्तव कोपः परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥४२॥

हे अजित ! आपने जिस समय अपनी प्राप्तिका साधन भूत निर्दोष भागवत धर्म बतलाया उस समय यह आपका उत्कर्ष ही प्रकट हुआ; क्योंकि आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणासे रहित सनत्कुमारादि श्रेष्ठ मुनि मोक्षके लिये उस भागवत धर्मका सेवन करते हैं ॥४०॥

काम्य धर्मोंमें जैसी उपासकोंकी "तू और मैं" "तेरा और मेरा" ऐसी विषम बुद्धि रहती है, भागवत धर्ममें ऐसी विषम मति ही नहीं होती। शत्रुमारण, स्वर्गप्राप्ति आदि कामनासे किया गया काम्य कर्म राग-द्वेषादिके कारण अत्यन्त अशुद्ध है, उसमें हिंसा आदि अधिक होनेके कारण वह अधर्मयुक्त है और उसका फल नाशवान् है ॥४१॥

अपना और परायेका द्रोह करनेवाले धर्मसे अपना या अपने पुत्र आदिका कौन कल्याण और क्या फायदा हो सकता है अर्थात् कुछ भी करनेसे—नहीं हो सकता। स्वद्रोह अपने शरीरको अत्यन्त[1] क्लेश पहुँचानेसे आपका कोप होता है; परद्रोह—पशु आदिको पीड़ा पहुँचानेसे अधर्म और आपका कोप भी होता है, इसलिये रागान्ध लोगोंको भी किसी प्रकार वेदमार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये आपने काम्य धर्म कहा है ॥४२॥

---

१. कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ (गी० १७–६)

न व्यभिचरति तवेक्षा यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥४३॥
नहि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥४४॥
अथ भगवन्वयमधुना त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यदुदितं तावकेन कथमन्यथा भवति ॥४५॥
विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।

(अब यह प्रतिपादन करते हैं कि भागवत धर्मसे द्रोह नहीं होता है) जिस अभिप्राय (दृष्टि) से आपने भागवत धर्मका निरूपण किया है वह आपका अभिप्राय ("जीव मेरी भक्तिसे कृतार्थ हो" यह दृष्टि) कहीं भी असफल नहीं होता है। (क्योंकि उसमें कर्मके समान वैगुण्य नहीं है) इस कारण स्थावर-जंगमरूप प्राणियोंके समूहोंमें समान बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ पुरुष उसी भागवत धर्मका सेवन करते हैं ॥४३॥

(उस भागवत धर्मके प्रवर्तक आपके दर्शनसे सब पापोंका नाश हो जाता है) हे भगवन्! यह कोई असम्भव बात नहीं है कि आपके दर्शनसे पुरुषोंके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आपका नाम एक बार भी सुनकर चाण्डाल भी संसारसे छूट जाता है ॥४४॥

हे भगवन्! आपके दर्शनसे हमारे अन्तःकरणके दोषरूप पातक (राग-लोभादि) आज नष्ट हो गये हैं, क्योंकि आपके भक्त नारदजीने जो कुछ कहा है, वह कैसे अन्यथा हो सकता है ॥४५॥

(मैं पहले जैसा मूर्ख था और नारदजीने मेरे ऊपर जैसा अनुग्रह किया वे सब बातें सर्वान्तर्यामी आपके सामने क्या प्रकाशनीय हैं? ऐसा कहते हैं—) हे अनन्त! इस संसारमें मनुष्य जो कुछ आचरण करते हैं वह जगत्के आत्मारूप आपको विदित है, इस कारण सर्व-प्रकाशक आपको विशेषरूपसे बतलाने योग्य क्या है? अर्थात् कुछ भी

विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥४६॥
नमस्तुभ्यं भगवते सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।
दुरवसितात्मगतये कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥४७॥
यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनुचित्तय उच्चकन्ति ।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥४८॥

नहीं है। जैसे खद्योतोंसे (जुगुनुओंसे) तेजःपुञ्जरूप सूर्यका कुछ प्रकाश नहीं हो सकता अर्थात् जैसे सूर्यके प्रकाश करनेके लिये खद्योतोंकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही आपको भी कोई बात जाननेके लिये दूसरे-की आवश्यकता नहीं है (भाव यह है कि आपसे कुछ भी अविदित नहीं है) ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले, जिनका तत्त्व भेदबुद्धि रखनेसे कुयोगियोंके समझमें नहीं आता, ऐसे आप सहस्र-मूर्ति परमहंस, भगवान्को नमस्कार है ॥४७॥

जिनकी चेष्टा करनेपर ब्रह्मादि, देवता अर्थात् उनके अधीन कर्मेन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं और जिनके प्रकाश करनेके पीछे सूर्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् उनके अधीन स्वविषयको प्रकाश करती हैं—जिनके मस्तकमें यह भूमण्डल सरसोंके दानेकी तरह हल्का प्रतीत होता है ऐसे आप सहस्रमूर्ति भगवान्को नमस्कार है ॥४८॥





नृसिंहावतार

दशम प्रकरण

नृसिंहावतार[1]

हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद तथा देवताओंद्वारा कृत स्तुतियाँ

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसा वृतम् ।
अभिव्यनग्जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥२६॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥२७॥
नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥२८॥[2]

कल्पके अन्तमें कालद्वारा उत्पन्न किये हुए प्रकृतिगुणरूप गाढ तमोगुणसे ढके हुए इस जगत्को जो स्वयंप्रकाश अपनी ज्योतिसे फिर प्रकट करते हैं तथा जो अपने आश्रित तीनों गुणोंसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं; उस रज, सत्त्व और तमोगुणके आश्रय, व्यापक परमेश्वरको नमस्कार है ॥२६-२७॥

जो सबके आदिकारण हैं, ज्ञानविज्ञानमूर्ति हैं, जो प्राण, इन्द्रिय मन और बुद्धिरूप विकारोंसे कार्योंके आकार पृथिवी आदिको प्राप्त होते हैं, ऐसे आपको नमस्कार है। (ज्ञानविज्ञानमूर्ति कहनेसे भगवान्में स्वप्रकाशत्व और जगत्प्रकाशत्व सूचित होता है; बीजरूप कहनेसे निमित्त-कारणत्व और प्राणादि विकार कहनेसे उपादानकारणत्व सूचित किया गया है) ॥२८॥

---

१. भा० स्क० ७ अ० १ से १० तक ।

२. भा० स्क० ७ अ० ३ के अन्तर्गत हिरण्यकशिपुकृत स्तुति यहाँ अर्थसहित दी गयी है ।

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तेर्मन इन्द्रियाणां पतिर्महान्भूतगुणाशयेशः ॥२९॥
त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादिरनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥३०॥
त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानामायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महांस्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ३१
त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ।

आप मुख्य प्राणरूप (सूत्रात्मा) से स्थावर, जंगमरूप जगत्के नियन्ता हैं, अतएव आप प्रजाओंके पति हैं, और उनके चित्त, चेतना, मन एवं इन्द्रियोंके पालक होनेके कारण आप महान् हैं; आप ही आकाशादि, उनके गुण शब्दादि, अन्तःकरण और उनकी वासनाओंके स्रष्टा ईश्वर हैं ॥२९॥

आप होता, अध्वर्यु, उद्गाता और यजमानके कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वेदत्रयरूपी शरीरसे सात प्रकारके यज्ञोंका विस्तार करते हैं। केवल आप ही प्राणियोंकी आत्मा, देश और कालसे अपरिच्छिन्न, अनादि, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं। (सात प्रकारके यज्ञ यह हैं—अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, आप्त, उर्याम और वाजपेय।) ॥३०॥

आप ही पलक न मारनेवाले कालरूप हैं, कालके लव, क्षण आदि अवयवोंसे प्राणियोंकी आयुको नष्ट करते हैं तथा आप ही कूटस्थ आत्मा, परमेश्वर, जन्मरहित, व्यापक और इस जीवसमुदायके जीवन आत्मा हैं ॥३१॥

(यदि आपसे अतिरिक्त कोई होता तो उससे आपके जन्म आदि और आपका उसके अधीन रहना माना जा सकता था किन्तु ऐसा है ही नहीं) उत्कृष्ट (कारण) या निकृष्ट (कार्य) और जंगम-स्थावर आदि जो कोई भी वस्तु है वह आपसे पृथक् नहीं है।

विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥३२॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥३३॥

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥३४॥

यदि दास्यस्यभिमतान्वरान्मे वरदोत्तम ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥३५॥

सब उपवेदोंसहित वेद और उनके व्याकरणादि अंग आपके ही शरीर हैं, क्योंकि आप बृहत् (बड़े) होनेसे ब्रह्म हैं और यह हिरण्यरूप ब्रह्माण्ड जिनके गर्भमें है ऐसे आप त्रिगुणमयी मायासे पृथक स्थित हैं ॥३२॥

हे विभो ! जिस शरीरसे सबसे उत्कृष्ट अपने स्वरूपमें स्थित-से हुए आप इन्द्रिय, मन और प्राणके विषयोंका भोग करते हैं, वह विराट्स्वरूप भी कार्यरूप ही है, वस्तुतः आप अव्यक्त, अतीन्द्रिय, आत्मा—सर्वान्तर्यामी और पुरातन पुरुष हैं । अर्थात् जन्मादिविकाररहित हैं ॥३३॥

(शङ्का—ब्रह्मत्व और पुराणपुरुषत्व ये दो धर्म एक आपमें कैसे घटते हैं ? समाधान—) हे अनन्त ! हे भगवन् ! आपने मन और वाणीके अगोचररूपसे इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है (भाव यह है कि जैसे मिट्टी और सुवर्णसे घट और कुण्डल व्याप्त हैं वैसे ही आपसे विश्व व्याप्त है) और अपनी चित् शक्ति विद्या तथा अचित् शक्ति अविद्यासे युक्त आपको नमस्कार है ॥३४॥

हे वरदोत्तम ! यदि आप मुझे मनोवाञ्छित वर देते हैं तो हे प्रभो ! यही वर मुझे दीजिये कि आपसे रचे गये भूतोंसे मेरी मृत्यु न हो ॥३५॥

नान्तर्बहिर्दिवानक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥३६॥
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः ।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥३८॥

घरके भीतर या बाहर, दिनमें या रात्रिमें, भूमिमें या आकाशमें कहीं भी मेरी मृत्यु न हो । आपकी सृष्टिके अतिरिक्त वस्तुसे तथा अस्त्रास्त्रसे भी मैं न मारा जाऊँ । मनुष्योंसे या मृगोंसे, सजीवोंसे या निर्जीवोंसे, देवता, असुर और सर्पोंसे भी मैं न मारा जाऊँ । युद्धमें मेरे सामने कोई न ठहर सके । मैं सब प्राणियोंका एकमात्र स्वामी होऊँ ॥३६-३७॥

सम्पूर्ण लोकपालोंके तथा स्वयं अपने समान ऐश्वर्य दीजिये और तप तथा योगसे जिनका प्रभाव बढ़ा हुआ है उनके कभी नष्ट न होनेवाले अणिमादि ऐश्वर्य भी मुझे दीजिये ॥३८॥



पाँचवें अध्यायके चौथे प्रकरणमें यह कहा गया है कि सनकादिकके शापसे विष्णु भगवान्‌के द्वारपाल जय और विजय स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दैत्य-योनिको प्राप्त हुए थे। ये पहले कल्पमें हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके रूपमें उत्पन्न हुए थे। यह भी कहा गया है कि भगवान् विष्णुने वाराह-रूप धारणकर हिरण्याक्षका वध किया था। अब हिरण्यकशिपुकी कथा प्रारम्भ होती है।

अपने भाई हिरण्याक्षके मारे जानेसे हिरण्यकशिपु अति क्रुद्ध हुआ। उसने विष्णु भगवान्‌से बदला लेनेका निश्चय कर लिया। उसने अपने राज्यमें पहला नियम यह प्रचलित किया कि तप, यज्ञ, वेदपाठ, व्रत और दान करनेवाले सम्पूर्ण द्विजोंका वध कर डालो क्योंकि तप आदिसे देवताओंको बल प्राप्त होता है, इनके बन्द होनेसे भोजनके अभावसे देवता कमजोर पड़ जायँगे।

उक्त आज्ञाको प्रचलित करनेके अनन्तर वह अजय, अमर और अद्वितीय प्रभु बननेके लिये घोर तप करने लगा। वह तपस्यामें ऐसा एकाग्रचित्त होकर बैठा कि उसके मांस, मेदा, त्वचा और रुधिरको वनकी चींटियाँ खा गयीं किन्तु उसको इसका भान भी नहीं हुआ।

इस तपसे प्रभावित होकर ब्रह्माजी हिरण्यकशिपुके पास गये। उन्होंने उसके अस्थिमात्र अवशिष्ट शरीरपर जल छिड़का। ब्रह्माजीके जल छिड़कनेसे वह प्रकृतिस्थ हुआ। उसकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उससे वर माँगनेको कहा। हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीकी ईश्वर-रूपसे स्तुति की, जो इस प्रकरणके आदिमें लिखी गयी है। तदनन्तर उसने यह वर माँगा कि इस सृष्टिके किसी भी पुरुषके हाथसे मेरी मृत्यु न हो। मेरी मृत्यु न घरके बाहर, न भीतर, न दिनमें, न रात्रिमें, न आकाशमें और न पृथिवीमें कहींपर भी न हो। ब्रह्माजीने उसे अभीष्ट वर दे दिया।

वर पाकर वह असुर अपने भ्राताका बध स्मरण करके भगवान्से अधिक द्वेष करने लगा। वह लोकपालोंसहित सम्पूर्ण लोकों और देवताओं-को जीतकर इन्द्रके स्थानमें रहने लगा। वह सब ब्राह्मणोंके यज्ञके भागका ग्रहण करने लगा। और सब भोगोंको भोगने लगा। किन्तु जितेन्द्रिय न होनेके कारण तृप्त नहीं हुआ।

हिरण्यकशिपुके चार पुत्रोंमेंसे प्रह्लाद सबसे छोटा था। वह बड़ा ज्ञानी भक्त था। राक्षसोंमें ऐसा श्रेष्ठ रत्न होना दुर्लभ था, किन्तु नारद-जीकी कृपासे वह ऐसा हुआ था।

जिस समय प्रह्लाद अपनी माताके गर्भमें थे और हिरण्यकशिपु उग्र तप कर रहा था उस समय नारदजीने उसकी माताको उत्तम उपदेश दिया था। प्रह्लादजी बचपनसे ही हरिभक्तिमें लीन रहते थे, साधु महात्मा-ओंके सत्संगसे उन्हें बड़ा आनन्द होता था और दुर्जनोंके संगसे दुःखी पुरुषोंके मनमें भी वे शान्तिका प्रचार करते थे। इस बातकी चर्चा हिरण्यकशिपुके कानोंमें पहुँच गयी। उसने प्रह्लादजीको शण्डामर्कनामक शुक्राचार्यजीके दो पुत्रोंके पास राजनीति–जिस राजनीतिशास्त्रका प्रधान आश्रय अभिमान है—पढ़नेको भेज दिया।

एक समय हिरण्यकशिपुने अति प्रेमपूर्वक प्रह्लादसे पूछा कि तुमको कौन विषय प्रिय है? प्रह्लादजीने कहा कि प्राणियोंको 'मैं और मेरा' ऐसा मोह अभिमानके कारण होता है। मैं चाहता हूँ कि अधोगतिके कारण इस घरको त्याग दूँ और वनमें जाकर श्रीहरिका भजन करूँ।

शत्रुपक्षकी बात सुनकर हिरण्यकशिपुने हँसा और गुरुपुत्रोंसे कहा कि तुम अपने घरमें ही इस बालककी रक्षा करो, शायद विष्णुके पक्षपाती वेष बदलकर इसकी मतिको फेर देते हैं।

तब शण्डामर्कने अनेक प्रकारकी कोशिश की कि प्रह्लाद हरिभक्ति छोड़ दे किन्तु प्रह्लादने कहा कि छोड़ने योग्य तो 'मैं और मेरा' यह मिथ्या अभिमान है और यह तभी छूट सकता है जब भगवान् अनुकूल हों, क्योंकि भगवान्की मायासे ही यह अभिमान उत्पन्न हुआ है। तब तो

उन ब्राह्मणोंने दण्ड आदि उपायकी सहायतासे प्रह्लादको केवल धर्म, अर्थ और कामका वर्णन करनेवाले शास्त्र पढ़ाये। प्रह्लाद किसीसे कुछ बोलते नहीं थे, अपने ध्यानमें मग्न रहते थे। उनके गुरुने समझा कि अब ये सँभल गये।

एक दिन प्रह्लादको शण्डामर्क ब्राह्मण हिरण्यकशिपुके पास ले गये। हिरण्यकशिपुने यह समझकर कि पुत्रकी मति ठीक हो गयी है उसके साथ बड़ा प्यार किया। तदनन्तर उसने पूछा कि तुमको जो पाठ अच्छी तरह याद हो उसे सुनाओ। प्रह्लादजीने कहा कि विष्णु भगवान्‌की श्रवणादिक नवधाभक्ति[1] जिससे उत्पन्न होती है वही अध्ययन है और गुरुने वैसी विद्या पढ़ायी नहीं। यह सुनकर हिरण्यकशिपुके क्रोधका ठिकाना न रहा। उसने प्रह्लादसे पूछा कि यह खोटी बुद्धि तुझे कहाँसे प्राप्त हुई। प्रह्लादने कहा—'जो पुरुष बाह्य विषयोंमें बुद्धि लगाये रहते हैं और जो उन महापुरुषोंका संग नहीं करते, जिनका विषयोंका अभिमान सर्वथा दूर नहीं हो गया है, उनको तत्त्वज्ञान और मोक्ष नहीं मिलता।' इतना कहकर प्रह्लाद चुप हो गये और हिरण्यकशिपुने उसको गोदसे नीचे पटक दिया और राक्षसोंसे कहा—'इसको मारो क्योंकि रोग होनेसे पहले ही पथ्य रखना ठीक है। यदि अपनी सन्तान अनुकूल न हो तो उसका अन्त कर देना ही ठीक होता है।' ऐसी आज्ञा मिलनेपर राक्षसोंने प्रह्लादके मर्मस्थानोंमें अनेक प्रहार किये। वे प्रहार निष्फल गये। उनसे प्रह्लादजीको तनिक भी पीड़ा नहीं हुई, क्योंकि उनका मन एकाग्र होकर भगवदाकार हो रहा था। तब प्रह्लादको दिग्गजोंके पैरोंसे कुचलवाना, सर्पोंसे डसवाना, पर्वतके शिखरसे नीचे ढकेलना, मारणमन्त्रका प्रयोग करना इत्यादि अनेक यातनाएँ दी गयीं। इन सब दण्डविधानोंके होते हुए भी प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। तब हिरण्यकशिपुको बड़ा आश्चर्य हुआ, वह सोचने लगा कि इतने कष्ट सहकर भी यह

---

१. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भा० स्क० ७।५।२३)

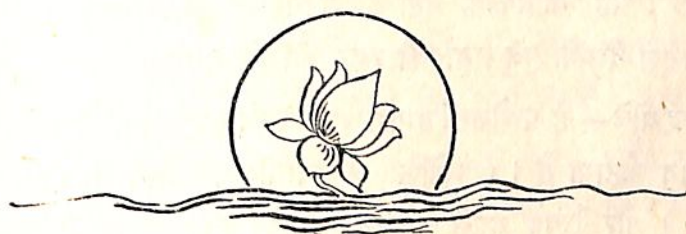
पाँच वर्षका बालक आनन्दमें मग्न है ! इसको मेरा भी डर नहीं है। मालूम पड़ता है कि यह अमर है और इसके ही विरोधसे मेरी मृत्यु होगी अन्यथा नहीं। जब हिरण्यकशिपु निस्तेज होकर चिन्तित था तब शण्डामर्कने कहा कि इसको नागफाँससे बाँध दो। हिरण्यकशिपुने उनसे कहा कि तुम हिम्मत करके इसको धर्म, अर्थ और कामका ही उपदेश दो।

यह उपदेश भी सफल नहीं हुआ। प्रह्लादजीने अन्य राक्षसोंको भी हरिभक्तिमें आसक्त कर दिया। तदनन्तर शण्डामर्क उनकी बुद्धिको भगवत्-परायण देखकर भयभीत हुए। उन्होंने सब वृत्तान्त राजासे कह सुनाया।

तब हिरण्यकशिपु अति क्रोधित हो गया। उसने अपने मनमें यह बात ठान ली कि पुत्रका बध कर दूँ। एक हाथमें नंगी तलवार और दूसरे हाथसे प्रह्लादका बाहु पकड़कर पूछा कि जिसके क्रुद्ध हो जानेपर लोकपालोंसहित तीनों लोक काँप जाते हैं उसकी आज्ञाका क्यों उल्लंघन करते हो ? प्रह्लाद निडर होकर बोला—'हे राजन् ! ब्रह्माजीसे लेकर स्थावर-जंगम प्राणीपर्यन्त छोटे-बड़े सब जीव जिसने अपने वशमें कर रक्खे हैं वह भगवान् केवल मेरा ही बल नहीं है किन्तु तुम्हारा और अन्य बलवानोंका भी वही बल है। क्योंकि वह ईश्वर काल, बड़े पराक्रमी इन्द्रिय, मन और शरीरकी शक्ति है; तीनों गुणोंके नियन्ता होनेसे अपनी शक्तिसे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता है। आप अपने मनसे कल्पित शत्रु-मित्रभावका त्याग करके सर्वत्र समदृष्टि कीजिये। क्योंकि अवशीभूत अतएव कुमार्गमें जानेवाले मनके सिवा अन्य कोई शत्रु नहीं है। सर्वत्र समान दृष्टि रखना ही श्रेष्ठ आराधन समझिये। पहले सर्वस्व हरनेवाले इन्द्रियरूप छः शत्रुओंको न जीतकर जो ऐसा समझते हैं कि हमने दशों दिशाएँ जीत लीं, वास्तवमें उन्होंने शत्रुओंको न जीत केवल विडम्बना ही प्राप्त की है। परन्तु जिन्होंने मनको वशमें कर लिया है जो ज्ञानी और सर्वत्र समदृष्टि हैं उनको देहाभिमानसे कल्पित शत्रुओंसे क्या भय है ?'

यह सुनकर हिरण्यकशिपुका क्रोध और भड़का और हाथमें नंगी तलवार लेकर वह बोला 'बता तेरा ईश्वर कहाँ है ? नहीं तो तेरा शरीर अभी धड़से अलग करता हूँ।' प्रह्लादने कहा 'वह सर्वत्र है।' हिरण्यकशिपुने पूछा 'क्या इस खम्भेमें भी है ?' प्रह्लादजीने खम्भेकी तरफ देखा और नमस्कार करके कहा 'हाँ, इस खम्भेमें भी है।' हिरण्यकशिपुने उस खम्भेमें तलवार मारी तो उससे एक सिंहकी आकृतिवाला स्वरूप निकला, जिसके हाथ, पैर मनुष्यके-से थे किन्तु अंगुलियोंमें बड़े-बड़े नख थे।

इन नृसिंहरूप भगवान्ने हिरण्यकशिपुको पकड़कर अपने घुटनोंमें दबाया और नखोंसे उसका पेट चीरकर उसे मार डाला। वह समय दिन और रातके अन्तराल अर्थात् सन्ध्याका था। उसको ठीक मकानकी देहलीमें बैठकर भगवान्ने मारा था। ऐसा करनेसे ब्रह्माजीका वर भी सफल हुआ। उस समय सम्पूर्ण पृथिवी और स्वर्ग काँप उठे। सब देवतादि वहाँ उपस्थित हुए। नृसिंहभगवान्के कोपके भयसे देवता एक-एक श्लोकहीसे स्तुति कर पाये। प्रह्लादजीने पूर्णरूपसे स्तुति की। प्रह्लादका धैर्य देखकर भगवान् वहीं अन्तर्हित हो गये।



नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान्गुणैः स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने।४०।
कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः ।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल ॥४१॥
प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।

ब्रह्मा बोले—देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित, अनन्त शक्ति-सम्पन्न, अद्भुत पराक्रमशाली, श्रवणमात्रसे जिनके चरित्र अविद्यादि दोषों-को दूर करते हैं, जो अपनी लीलामात्रसे सत्त्वादि गुणोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं, जिनके स्वरूपका कभी नाश नहीं होता है, ऐसे आपको नमस्कार है ॥४०॥

श्रीरुद्र बोले—हे भगवन् ! आपके कोपका समुचित अवसर तो सहस्र युगके अन्तमें आता है, यह समय आपके कोपका नहीं है । (यदि कहो कि इसको मारनेके लिये कोप किया है तो) यह अतितुच्छ असुर मारा जा चुका है। (यदि कहो कि अपने भक्तकी रक्षाके लिये कोप किया है तो) हे भक्तवत्सल ! यह क्रोधकाल नहीं है, अपनी शरणमें आये हुए अपने परमभक्त इस दैत्यके पुत्र प्रह्लादकी रक्षा कीजिये ॥४१॥

इन्द्र बोले—हे परमेश्वर ! हमारी रक्षा करते हुए आपने दैत्यसे अपना ही यज्ञभाग लौटाया है । (क्योंकि अन्तर्यामीरूपसे आप ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं) और दैत्यके भयसे आक्रान्त हमारे हृदयकमलरूपी अपने ही निवासस्थानको, भयके कारणको दूर करके, आपने विकसित किया है (क्योंकि हम भयसे उस दैत्यका ही ध्यान रखते थे। उसने आपके स्मरण

१. भा० स्क० ७ अ० ८

कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥४२॥
त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज ।
तद्विप्रलुप्तमधुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥४३॥
श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत्तिलाम्बु ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्च्छ-
त्तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥४४॥

करनेका स्थान रोक रक्खा था, आपने उसको मारकर हमारे हृदयको विकसित कर दिया है)। (शङ्का—तुम्हारे त्रैलोक्यके ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिये यह कार्य किया ? समाधान—) हे नाथ ! हे नारसिंह ! कालग्रस्त होनेसे अतितुच्छ इस त्रिलोकीको तो बात ही क्या है, आपके भक्तोंको तो आपकी भक्तिके सामने मुक्ति भी अच्छी नहीं लगती फिर और पुरुषार्थों (स्वर्गादि) से उन्हें क्या प्रयोजन है ॥४२॥

ऋषि बोले—हे आदिपुरुष ! हे शरणागतोंके पालक ! आपने हमसे जो अपने तेजस्वरूपका ध्यानरूप तप करनेके लिये कहा था और जिस तपसे आपने अपनेमें लीन हुए इस जगत्को फिर उत्पन्न किया है, उस तपका इस दैत्यने लोप कर दिया था। आपने उसकी रक्षा करनेके हेतु इस शरीरको ग्रहण करके उसको फिर स्थापित कर दिया अर्थात् पुनः तप करो यह आज्ञा दी है (ऐसे आपके लिये नमस्कार है) ॥ ४३ ॥

पितर बोले—यह दैत्य हमारे उद्देश्यसे हमारे पुत्रोंद्वारा दिये गये श्राद्धसम्बन्धी अन्नको जबर्दस्ती खा लेता था तथा तीर्थस्थानमें दिये गये तिलमिश्रित जलको पी जाता था, आपके नखोंसे जिसकी चर्बी निकाली गयी है, ऐसे इसके पेटसे वे सब वस्तुएँ निकालकर (उसको मारकर) जिन्होंने उसके असत् कर्म छुड़ा दिये हैं, ऐसे सब धर्मोंके रक्षक नृसिंहरूपधारी आपको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

योनो गतिं योगसिद्धामसाधुरहारषीद्योगतपोबलेन ।
नानादर्पं तन्नखैर्निर्ददार तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥४५॥

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।
स येन सङ्ख्ये पशुवद्धतस्तं मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ।४६।

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः ।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥४७॥

मनवो वयं तव निदेशकारिणो दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ४८

सिद्ध बोले—जिस दुरात्माने हमारी अणिमादि योगसिद्धियोंको अपने योग और तपके बलसे हर लिया था, उस अनेक प्रकारके घमण्डसे युक्त दैत्यको आपने नखोंसे विदीर्ण किया है, ऐसे नृसिंहरूपधारी आपको नमस्कार है ॥ ४५ ॥

विद्याधरोंने कहा—बल (देहशक्ति) और वीर्य, (अनादर करनेकी शक्ति) के गर्वसे जिस मूर्खने नाना प्रकारकी धारणासे प्राप्त हुई हमारी अन्तर्धानादि विद्या रोक दी थी, उस दैत्यका जिन्होंने युद्धमें पशुके समान वध किया, उस मायासे नृसिंहरूप धारण करनेवाले आपको हम नित्य नमस्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

नाग बोले—जिस दुराचारीने हमारे शिरके रत्न और उत्तम स्त्रियाँ हर ली थीं, उसके वक्षःस्थलको चीरकर जिन्होंने इनको (स्त्रियोंको) आनन्द दिया है ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

मनुओंने कहा—हे देव ! हम आपके आज्ञाकारी मनु हैं और इस दितिके पुत्रने आजतक हमारी वर्णाश्रममर्यादाका पराभव कर रक्खा था, अब आपने उस खलका संहार कर दिया, हे प्रभो ! आपकी अब क्या सेवा करें ? कृपया हम दासोंको आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥४९॥
वयं विभो ते नटनाट्यगायका येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष नीतो भवता दशामिमां किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥५०॥

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः ।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥५१॥
वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।

प्रजापतियोंने कहा—हे प्रजेश ! आपके द्वारा उत्पन्न किये हुए हम प्रजापति जिस दैत्यके निषेध करनेपर प्रजाकी सृष्टि नहीं कर सकते थे, उसका वक्षःस्थल आपने विदीर्ण कर दिया और वह इस समय धराशायी हो रहा है । इस कारण हे सत्त्वमूर्ते ! आपका अवतार संसारका कल्याण करनेवाला है ॥ ४९ ॥

गन्धर्व बोले—हे प्रभो ! हम आपके यहाँ नाचने-गानेवाले हैं, हमको जिसने बाहुबल और शक्तिके प्रभावसे अपने वशमें कर रक्खा था, उस दैत्यको जो आपने इस मरणावस्थाको पहुँचाया है यह उचित ही किया है, क्या कुमार्गगामी पुरुष कभी कल्याण प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ५० ॥

चारणोंने कहा—क्योंकि भयजनक होनेके कारण साधुओंके हृदयमें वास करनेवाले इस असुरका आपने अन्त कर दिया है इसलिये हे हरे ! हमने संसारनिवर्तक आपके चरणकमलका आश्रय लिया है ॥५१॥

यक्ष बोले—हे चौबीस तत्त्वोंके नियामक पचीसवें तत्त्व ! आपके मनके अनुरूप मनोहर कर्म करनेवाले आपके श्रेष्ठ अनुचरोंको हिरण्यकशिपुने अपनी पालकी ढोनेवाला बना रक्खा था । हे नरहरे ! उससे

स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥५२॥
वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः ।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥५३॥
सभासु सत्रेषु तवामलं यशो गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे ।
यस्तां व्यनैषीद्भृशमेष दुर्जनो दिष्ट्या हतस्ते भगवन्यथामयः ॥५४॥
वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा दितिजेन विष्टिममुनानुकारिताः ।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ।५५।

दिये गये लोगोंके दुःखोंको जाननेवाले आपने उसको कालके मुखका ग्रास बना दिया यह बहुत अच्छा किया ॥ ५२ ॥

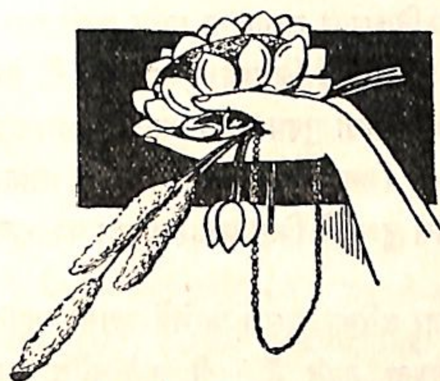
किंपुरुषोंने कहा—हम तुच्छ प्राणी हैं, आपके प्रभावका वर्णन करनेकी हममें शक्ति कहाँ है ? आप अचिन्त्य प्रभाववाले परमेश्वर हैं (इस बड़े भारी दैत्यको आपने मारा यही वर्णन क्यों नहीं करते ? इसपर कहते हैं यह कौन चीज है) यह नीच पुरुष है, जब साधुओंने इसका तिरस्कार किया तभी यह नष्ट हो चुका था ॥५३॥

वैतालिकोंने कहा—हे भगवन् ! सभा और यज्ञोंमें आपकी विमल कीर्तिका गान करनेमें हमें बड़े-बड़े पुरस्कार मिले हैं, परन्तु जिसने उनको सब प्रकारसे बन्द कर दिया था उस दुर्जन दैत्यको आपने रोगके समान मार डाला यह बड़ा अच्छा हुआ ॥५४॥

किन्नर बोले—हे ईश ! हम किन्नरगण आपके अनुचर हैं और इस समयतक इस हिरण्यकशिपुने हमसे बेगार (सेवा) करवायी है इस कारण हे हरे ! आपने उस पापी दैत्यको मार डाला है, अब हे नृसिंह ! हे नाथ ! आप हमारे सुखकी वृद्धि कीजिये ॥५५॥

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म ।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्तस्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः॥५६॥

विष्णुपार्षदोंने कहा—हे शरणद ! हे सब लोकोंको सुख देनेवाले ! आपके इस कल्पनातीत (जिसकी कल्पना भी नहीं हो सकती) नृसिंहरूपको आज ही हमने देखा है । हे ईश ! यह आपका दास सनकादि ब्राह्मणोंके शापसे दैत्ययोनिको प्राप्त हुआ । हम जानते हैं कि आपने इसका बध अनुग्रहके लिये ही किया है ॥५६॥



प्रह्लादकृत स्तुति[1]

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८ ॥

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥ ९ ॥

(पहले पाँच श्लोकोंसे भगवान्की स्तुति करनेमें अपने अनधिकारकी आशंका करके अधिकारकी सम्भावना प्रकट करते हुए कहते हैं) सत्त्वके कार्य धर्म, ज्ञान और तपमें जिनकी एकाग्रबुद्धि है, ऐसे ब्रह्मादि देवता, सनकादि मुनि और ज्ञानी पुरुष बहुत कालसे अबतक स्तुति तथा गुणानुवाद करनेपर भी जिनकी आराधना नहीं कर सके उन प्रभुको घोर असुरजातिमें उत्पन्न हुआ मैं किस प्रकार प्रसन्न कर सकता हूँ ॥८॥

(इस प्रकार हरिको प्रसन्न करनेमें अपनी अयोग्यताकी शंकाकर योग्यताकी सम्भावना करते हैं) मैं भली-भाँति जानता हूँ कि धन, सत्कुलमें जन्म, सुन्दरता, तप, पाण्डित्य, इन्द्रियशक्ति, कान्ति, प्रभाव, बल, उद्यम, बुद्धि और अष्टांगयोग ये बारह गुण भी आप परम पुरुषको सन्तुष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं हैं, क्योंकि आप गजेन्द्रके ऊपर इन गुणोंके न रहनेपर भी केवल भक्तिसे सन्तुष्ट हुए थे ॥९॥

---

१. भा० स्क० ७ अ० ९

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥१०॥
नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥११॥

(पहले यह कहा था कि केवल भक्तिसे ही भगवान् हरि सन्तुष्ट हो सकते हैं, अब यह कहते हैं कि भक्ति बिना कोई भी साधन उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकता) बारह गुणोंसे युक्त किन्तु पद्मनाभ भगवान्‌के चरणकमलसे विमुख ब्राह्मणसे उस चाण्डालको मैं श्रेष्ठ मानता हूँ जिसने अपने मन, वाणी, कर्म, धन और प्राण भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, क्योंकि वह अपने सारे कुलको पवित्र करता है, किन्तु घमण्डी ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता है। (भाव यह है कि भक्तिहीन पुरुषमें ये गुण गर्वके कारण होते हैं) ॥१०॥

(शङ्का—क्या ईश्वर प्राकृत पुरुषकी तरह धनादिसे सम्मान चाहता है ? समाधान—नहीं) दयालु प्रभु अपने आप परिपूर्ण होनेके कारण अपने लिये अल्पज्ञ पुरुषोंसे पूजाकी इच्छा नहीं करते, अपि तु दयावश भक्तोंद्वारा की हुई पूजा स्वीकार करते हैं, क्योंकि जो-जो वस्तु भगवान्‌को अर्पण की जाती है अथवा धनादिसे भगवान्‌का जो-जो सत्कार किया जाता है वही अपनेको मिलता है, जैसे मुखमें की गयी तिलक आदिकी शोभा प्रतिबिम्बमें होती है, साक्षात् प्रतिबिम्बमें तिलक आदिकी शोभा नहीं की जा सकती (भाव यह है कि दर्पणगत प्रतिबिम्बमें पहले तो तिलकादि श्रृङ्गार आदि किया ही नहीं जा सकता, यदि किया भी जाय तो वह बिम्बको प्राप्त नहीं होता है, किन्तु बिम्बमें करनेसे प्रतिबिम्बको अपने आप प्राप्त हो जाता है; इसी प्रकार भगवान्‌की पूजा आदि करनेसे अपनेको सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे सबके आत्मा हैं) ॥ ११ ॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥१२॥
सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥१३॥
तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

(चूँकि भगवान् केवल भक्तिहीसे प्रसन्न होते हैं) अतएव मैं यद्यपि नीच हूँ तो भी अब निःशंक होकर सम्पूर्ण प्रयत्नसे अपनी बुद्धिके अनुसार ईश्वरकी महिमाका वर्णन करता रहूँगा । वैसा करनेसे अविद्यावश इस देहमें अभिमान रखनेवाला मनुष्य शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसकी अविद्या निवृत्त हो जाती है ॥१२॥

(इस प्रकार स्तुति करनेमें अपने अनधिकारका परिहार करके स्तुति करते हुए कोपको शान्त करनेकी प्रार्थना करते हैं—) हे ईश ! आपसे डरते हुए ये ब्रह्मादि देवता सत्त्वमूर्ति आपके सेवक ही हैं, अन्य नहीं हैं और हम असुरोंके समान द्वेषभावसे भक्ति करनेवाले भी ये नहीं हैं । आपके मनोहर अवतारोंसे आपकी लीला इस संसारके कल्याणके लिये या आत्मसुखके लिये होती है, भय उत्पन्न करनेके लिये नहीं होती ॥१३॥

(अब इन भक्तोंके भयको दूर करनेके लिये आप अपने क्रोधको शान्त कीजिये) क्योंकि जिसके लिये यह क्रोध है उस असुरका साधुओंके हितके लिये आज आप संहार कर चुके हैं । उपद्रव करनेवाले सर्प और वृश्चिकका किसी दूसरेके हाथ वध होनेपर अच्छे पुरुष भी प्रसन्न होते हैं (ऐसे ही इस हिरण्यकशिपुके वधसे सब लोगोंको आनन्द

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥१४॥
नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णा-
न्निर्हादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥१५॥
त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥१६॥

ही हुआ) और वे आपके क्रोध-शान्तिकी प्रतीक्षा करते हैं। इस कारण, हे नृसिंह ! अपने कोपका आप संवरण कीजिये। भयकी निवृत्तिके लिये सब लोग आपके इस रूपका स्मरण करेंगे, अर्थात् इस रूपके स्मरणसे लोगोंका भय निवृत्त हो जायगा। अब कोपधारणका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १४ ॥

(यदि मेरे इस भयानक रूपसे तुम डर रहे हो तो मैं इसका संवरण करता हूँ, इसपर कहते हैं—) हे अजित ! आपके अति भयङ्कर मुख, जिह्वा, सूर्यसदृश नेत्र, घूमती हुई भ्रुकुटी, कोपाटोप, तीखे दाँत, गलेमें आँतोंकी माला, रुधिरसे सने हुए ग्रीवाके केश, खूँटेके समान ऊँचे कान, दिग्गजोंको डरानेवाले उत्कट शब्द और शत्रुविदारण करनेवाले नखोंकी नोकोंसे युक्त आपके इस रूपसे मैं नहीं डर रहा हूँ॥१५॥

(बड़ा भारी भय तो मेरा दूसरा है—ऐसा कहते हैं) हे दीनवत्सल ! हे श्रेष्ठ ! असुरोंके बीचमें डाल दिया गया और अपने कर्मोंसे बद्ध हुआ मैं इस संसारचक्रके उत्कट दुःखसे भयभीत हुआ हूँ। आप मेरे ऊपर प्रसन्न होकर संसारदुःखको दूर करनेवाले अपने चरणकमलोंका आश्रय मुझे कब देंगे ? ॥ १६ ॥

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥१७॥
सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥१८॥
बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।

हे भूमन् ! प्रिय वस्तुके वियोग और अप्रियके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली शोकाग्निसे दग्ध होता हुआ और उन दुःखोंको दूर करनेके लिये दुःखमय उपायोंका ही सहारा लेता हुआ देहादिमें आत्माभिमानके कारण मैं सम्पूर्ण योनियोंमें भटकता आ रहा हूँ; इस कारण आप मुझे अपने दासभावका उपाय बतलाइये ॥१७॥

(शङ्का—यदि हमने दासभाव दे भी दिया तो उसमें विघ्नभूत पूर्वोक्त अनेक दुःख किस प्रकार दूर होंगे ? समाधान—) हे नृसिंह ! आपके अनुग्रहसे आपके दासभावमें प्रवृत्त हुआ, आपके चरणोंका आश्रय लेनेवाले सन्तोंका सत्संग करनेवाला मैं विषयोंसे (विशेषरूपसे) छूट जाऊँगा और सबके प्रिय सुहृद् आप परमेश्वरकी ब्रह्माजीसे गायी गयी लीलाओंका वर्णन करके मैं अनायास ही सब दुःखोंको तर जाऊँगा ॥१८॥

(शङ्का—दुःखसे तप्त होनेवालेके दुःखको दूर करना चाहिये फिर दासभावसे क्या विशेष लाभ है ? समाधान—) हे नृसिंह ! दुःखोंसे तप्त हुए मनुष्योंके दुःखोंकी निवृत्तिके जो उपाय हैं वे आपसे उपेक्षित लोगोंके लिये केवल क्षणिक दुःखनिवृत्ति करते हैं, उनसे दुःखोंकी चिरस्थायी निवृत्ति नहीं होती । देखिये न माता-पिता भी आपसे उपेक्षित बालकके

तन्नस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥१९॥
यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मा-
द्यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥२०॥
माया पुनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।

रक्षक नहीं हो सकते, क्योंकि पालन करनेपर भी उसको दुःख होता है। कहीं-कहीं तो माता-पिताद्वारा ही बालककी हत्या होते देखी गयी है, ओषधि रोगोकी रक्षा नहीं कर सकती, क्योंकि ओषधि देनेपर भी मृत्यु देखी जाती है। नाव भी समुद्रमें डूबते हुए पुरुषकी रक्षा नहीं कर सकती, देखा जाता है कि नावमें बैठे हुए भी प्राणी डूब जाते हैं। (भाव यह है कि सबके आप ही रक्षक हैं) ॥१९॥

(कहीं-कहीं दूसरा रक्षक भी देखा जाता है ऐसी शंका करके—वह रक्षक भी आपहीका रूप है, ऐसा समाधान करते हैं) सत्त्व, रज आदि भिन्न-भिन्न स्वभाववाले जो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट जीव आदि हैं वे यहाँ जिसमें, जिस निमित्तसे, जिस कालमें, जिस साधनसे, जिस सम्बन्धसे, जिससे और जिसके निमित्त, जिस प्रकार जो कुछ उत्पन्न करते हैं या विकृत करते हैं (उनका रूपान्तर करते हैं) वह सब कुछ करनेवाला आपका ही स्वरूप है ॥ २० ॥

(संसारी न होनेसे नित्यमुक्त परमेश्वर दूसरा रक्षक न होनेके कारण, आपकी शरणमें आये हुए मेरी आप रक्षा कीजिये) हे अज ! आपके अंशभूत पुरुष (मायाशबल) के केवल ईक्षणरूप अनुग्रहसे, कालसे प्रेरित किये गये हैं सत्त्वादि गुण जिसके ऐसी माया, अजेय अविद्याके द्वारा जीवके भोगके निमित्त सोलह विकारोंसे युक्त, अनेक कर्मोंके

छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥ २१ ॥
स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२ ॥
दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति यां जनोऽयम् ।

वासनाओंके बीज, वेदोक्त कर्म करनेमें प्रधान ऐसे संसारचक्ररूप दुर्जय मन (लिङ्गशरीर) को उत्पन्न करती है । आपसे विमुख रहकर अर्थात् आपका भजन न करता हुआ कौन-सा मनुष्य उस लिङ्गशरीरसे छुटकारा पा सकता है ? अर्थात् कोई नहीं पा सकता ॥ २१ ॥

(शङ्का—मैं भी मायाशबल हूँ और तुम्हारे समान कर्ता हूँ अतः तुमसे मुझमें (ईश्वरमें) क्या भेद है ? समाधान—) हे विभो ! आपने अपनी चैतन्यशक्तिके द्वारा बुद्धिके गुण सदाके लिये जीत लिये हैं और कालके प्रेरक होनेसे सम्पूर्ण कार्यों और कारणोंकी शक्तियाँ आपने अपने वशमें कर रक्खी हैं । हे विभो ! ऐसे शक्तिशाली आप अविद्याके सोलह विकारोंसे युक्त, संसारचक्रमें पड़े हुए, अतएव कोल्हूमें डाले हुए ईखके समान पीड्यमान, अपने शरणागतको अपने समीप खींच लीजिये ॥ २२ ॥

(पूर्वपक्ष—लोकपालोंके राजाका भोग भोगो, मैं तुम्हें तुम्हारे पिताका राज्य दूँगा, क्यों संसारसे उद्विग्न होते हो ? तीन श्लोकोंसे समाधान करते हैं—) हे विभो ! मनुष्य जिनको पुण्यके द्वारा स्वर्गमें पानेकी इच्छा करता है ऐसे लोकपालोंकी आयु, लक्ष्मी या वैभवका तत्त्व मैंने देख

येऽस्मत्पितुः　कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
　　विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥ २३ ॥
तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ
　　आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात् ।
नेच्छामि　तेऽतिलुलितानुरुविक्रमेण
　　कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥ २४ ॥
कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
　　क्वेदं　कलेवरमशेषरुजां　विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
　　कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः ॥ २५ ॥

लिया है । इन सब भोगोंका मेरे पिताके कोपयुक्त हास्यसे एवं भ्रुकुटी चलानेसे ही नाश हो गया था और तदनन्तर मेरे पिताका भी आपने वध कर डाला है । (अतः उन भोगोंमें कोई तत्त्व नहीं है वे अतितुच्छ हैं, मैं उन्हें नहीं चाहता) ॥ २३ ॥

इस कारण जीवोंके आयु, लक्ष्मी और वैभवको जाननेवाला मैं, इन्द्रियों-से उपभोग्य ब्रह्माजीके भोगपर्यन्त विभव भी नहीं चाहता हूँ, अणिमादि सिद्धियोंको भी नहीं चाहता, क्योंकि ये आप कालस्वरूप परमात्मासे नष्ट-प्राय हैं; इस कारण आप मुझे अपने सेवकोंके समीप पहुँचा दीजिये ॥२४॥

केवल सुननेमें प्रिय लगनेवाले किन्तु मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयसुख कहाँ ? और सम्पूर्ण रोगोंका उत्पत्तिस्थान यह शरीर कहाँ ? (यदि ऐसा ही है तो सब लोग वैराग्ययुक्त क्यों नहीं हो जाते हैं) किन्तु सब प्राणी यह जानते हुए भी कि विषय नाशवान् है, मधुके समान दुःसाध्य सुखके लेशोंसे कामरूप अग्निको शान्त करते हुए विरक्त होनेका अवकाश ही नहीं पाते हैं (आशय यह है कि उनका सारा समय कामाग्निशमनमें ही व्यतीत हो जाता है उन्हें निर्वेदके लिये अवसर ही नहीं मिलता) ॥ २५ ॥

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मि-
ञ्जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥
नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७ ॥
एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात् ।

(शङ्का—तो तुम्हें निर्वेद कैसे हो ? समाधान—यद्यपि मैं इस योग्य नहीं हूँ तथापि मेरे ऊपर हुई आपकी कृपाहीसे मुझे वैराग्य हुआ है ऐसा कहते हैं) हे ईश ! तमोगुणप्रधान, असुरकुलमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं कहाँ ? और आपकी कृपा कहाँ ? (ये दोनों एक साथ नहीं घट सकते) तथापि आपने मेरे मस्तकपर अपना करकमल रखकर जो प्रसन्नता प्रकट की है वह ब्रह्मा, रुद्र और लक्ष्मीको भी प्राप्त नहीं हुई थी ॥ २६ ॥

आप सर्व संसारके मित्र हैं, आपमें साधारण मनुष्योंके सदृश 'ये ब्रह्मादिक उत्तम हैं और यह असुर नीच है' ऐसा ऊँच-नीचका विचार नहीं है । कल्पवृक्षके सदृश आप सेवकोंको सेवाके अनुरूप फल देते हैं क्योंकि आपके प्रसाद पानेमें उत्तमता और अधमता कारण नहीं है । (आप उत्तमता और अधमताकी अपेक्षा किये बिना सबको सेवाके अनुरूप ही फल देते हैं) ॥ २७ ॥

हे भगवन् ! सर्पयुक्त संसार-कूपमें निमग्न विषयाभिलाषी पुरुषोंका अनुसरण करनेसे और उनके प्रसंगसे उस कूपमें पड़नेवाले मेरे ऊपर आपहीके परमभक्त देवर्षि नारदने अपना मानकर अनुग्रह किया था

कृत्वात्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥ २८ ॥
मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २९ ॥
एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥ ३० ॥

(माताके गर्भमें उपदेश दिया था) वह मैं ऐसे आपके सेवकोंकी सेवा कैसे छोड़ूँ ? (भाव यह है कि अपने सेवक नारदजीके द्वारा जो उपदेश आपने दिया था वही परम अनुग्रह है न कि आपका यह तुच्छ प्राणादिकी रक्षा करना आदि कार्य) ॥ २८ ॥

हे अनन्त ! जब मेरे पिताने हाथमें खड्ग लेकर पुत्रके वधरूप अयोग्य कर्म करनेकी इच्छासे मुझसे यह कहा—'यदि मुझसे भिन्न कोई ईश्वर है तो वह तेरी रक्षा करे ! देख, तेरे शिरको मैं काटता हूँ !' तब आपने अपने भृत्य सनकादिक ऋषियोंके वचनको सत्य करनेके लिये मेरी प्राणरक्षा और मेरे पिताका वध किया ॥ २९ ॥

आप अकेले ही जगत्रूप हैं क्योंकि आप ही इसके आरम्भमें कारण-रूपसे, अन्तमें अवधिरूपसे और मध्यमें आधाररूपसे स्थित रहते हैं तथा अपनी मायाके गुणोंसे परिणत होनेवाले इस जगत्की सृष्टि करके उसमें प्रवेश करके अनेकों रूपोंसे युक्त हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ ३० ॥

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥
न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनि पीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥ ३२ ॥

(शङ्का—यदि मैं ही जगत् हूँ तो इसकी विषमता मुझे भी प्राप्त होगी ? समाधान—) हे ईश ! यह कार्यकारणात्मक जगत् आप ही हैं (भाव यह है कि जगत् आपसे पृथक् नहीं है किन्तु आप इससे पृथक् हैं क्योंकि आप तो जगत्के आदि और अन्तमें रहते हैं जगत् नहीं रहता है) सब जगत् जब आपका ही रूप है ऐसी अवस्थामें यह अपना है और यह पराया है ऐसी बुद्धि मायामात्र ही है । (सब जगत् आपहीका रूप है) क्योंकि जिस वस्तुसे जिसका जन्म होता है या जिसमें मरण होता है या जिसमें स्थिति और प्रकाश रहता है वह वस्तु तद्रूप होती है, जैसे वृक्षका कारण पृथिवी है और पृथिवीका कारण सूक्ष्मभूत है, इसी प्रकार सब कार्यकारणात्मक जगत्का परमात्मा ही कारण है । (यहाँ काल शब्दका अर्थ पृथिवी और वसुका अर्थ सूक्ष्मभूत है) ॥३१॥

(अन्तमें आप पृथक् स्थित रहते हैं यह दिखाते हैं) आप इस जगत्को अपने आप अपनेहीमें समेटकर अपने स्वरूपभूत सुखका अनुभव करते हुए निष्क्रिय होकर प्रलयकालके जलमें योगसे आँख मीजकर शयन-सा करते हैं, किन्तु स्वस्वरूप प्रकाशसे निद्रारहित तुरीय पदमें स्थित रहते हैं, अतः सुप्त पुरुषके समान अज्ञानयुक्त नहीं होते हैं और जाग्रत् और स्वप्नके समान गुणों और विषयोंका भोग नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥३३॥
तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥३४॥
स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।

(अब चार श्लोकोंसे यह दिखाते हैं कि कारण होनेसे जैसे आप आदिमें प्रपञ्चसे अलग हैं वैसे मध्यमें भी अलग हैं) जो आप प्रलय-जलमें सोते हैं आपका वही स्वरूप यह पृथिवी है क्योंकि जो प्रलयमें आपहीमें लीन है—उसी प्रकृतिके सत्त्वादि धर्मोंको आपने अपनी कालशक्तिसे प्रेरित किया है और जब शेषशय्यासे आपकी निद्रा (समाधि) खुलती है तब आपकी नाभिसे यह ब्रह्माण्डरूपी महाकमल उत्पन्न होता है जैसे छोटेसे वटके बीजसे बड़ा भारी वटवृक्ष उत्पन्न होता है ॥३३॥

उसी कमलसे उत्पन्न हुए सूक्ष्मदर्शी ब्रह्माजी उस कमलको छोड़कर अन्य कुछ नहीं देख सके और अपनेमें व्याप्त आप बीजरूपको अपनेसे बाहर पानेके निमित्त जलमें प्रवेश करके वहाँ सौ वर्षतक आपको ढूँढ़ते रहे किन्तु नहीं पा सके; यह ठीक ही है क्योंकि अङ्कुरके उत्पन्न होनेपर कारणरूपसे अनुगत बीजको पुरुष कैसे देख सकता है ॥३४॥

हे ईश ! ब्रह्माजीने जब एक सौ वर्षपर्यन्त आपको जलमें ढूँढ़ते हुए नहीं पाया तब उसने आश्चर्ययुक्त होकर खोजना छोड़ दिया और कमलमें ही बैठकर दीर्घ कालतक तीव्र ध्यानसे अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर भूत,

त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥३५॥
एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥३६॥
तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं च बिभ्र-
द्वेदद्रुहावतिबल मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३७॥
इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।

इन्द्रिय और मनसे बने हुए अपने शरीरमें अति सूक्ष्मरूपसे व्याप्त रहनेवाले आपको ऐसे देखा जैसे कि विवेकी पुरुष पृथिवीमें व्याप्त गन्धको देखता है ॥३५॥

इस प्रकार अपरिमित मुख, चरण, मस्तक, हाथ, जंघा, नासिका, कर्ण, नेत्र, भूषण और आयुधोंसे शोभित जिनके पातालादि चरण हैं, ऐसे माया-मय विराट् पुरुषको देखकर ब्रह्माजीको आनन्द हुआ ॥३६॥

तव सत्त्वरूप, प्रिय लगनेवाली हयग्रीवमूर्तिसे शोभित होनेवाले आपने वेदद्रोही और अतिप्रबल रजोगुण और तमोगुणरूप (मधुकैटभ) दैत्योंका वध करके उन ब्रह्माजीके सब वेद ला दिये ॥३७॥

हे महापुरुष ! इस प्रकार आप मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि, देवता और जलचरोंमें अवतार धारण करके लोकोंका पालन करते हैं, असुरादिकोंका

धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥३८॥
नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥३९॥
जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥४०॥

वध करते हैं, युगोंके धर्मकी रक्षा करते हैं और कलियुगमें अवतार नहीं धारण करके गुप्त रहते हैं इस प्रकार तीन ही युगोंमें प्रकट होनेवाले आपका त्रियुग नाम प्रसिद्ध है ॥३८॥

(भगवत्तत्त्वका निरूपण करके अब तीन श्लोकोंसे अपनी अयोग्यता बताते हैं—) हे विकुण्ठनाथ ! पातकोंसे दूषित, असाधु, अनम्र, कामातुर, हर्ष, शोक, भय और तीनों एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) से दुःखित हुआ मेरा मन आपकी कथाओंमें प्रीति नहीं करता है ऐसे मनमें मैं आपके तत्त्वका विचार कैसे करूँ ? ॥३९॥

जैसे अनेक सपत्नियाँ अपने एक ही पतिको अपने-अपने घर ले जानेके निमित्त त्रास देती हैं, ऐसे ही हे अच्युत ! मुझे अतृप्त जिह्वा मधुरादि रसकी ओर, काम कामिनीकी ओर, त्वचा चन्दन आदिकी ओर, भूख आहारकी ओर, कान गीतोंकी ओर, घ्राण सुगन्धकी ओर, चञ्चल नेत्र रूपादिकी ओर, कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयोंकी ओर खींचती हैं ॥४०॥

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-

मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।

पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं

हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥४१॥

कोन्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास

उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।

मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो

किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥४२॥

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

हे पार लगानेवाले भगवन् ! संसाररूपी वैतरणी नदीमें अपने कर्मोंसे निमग्न हुए और परस्परसे प्राप्त होनेवाले मरण, जन्म और भोजनसे अत्यन्त भयभीत हुए तथा अपनोंमें मित्रभाव और परायोंमें वैरभाव रखनेवाले इन मूर्खोंके समूहोंको देखकर अहो, कैसा कष्ट है ! इस प्रकार दया करके इनको इस महाभयङ्कर संसारसमुद्रसे बाहर निकालकर कृपा कीजिये ॥४१॥

(शङ्का—अकेला मैं इन सब प्राणियोंकी कैसे रक्षा करूँ ? समाधान—) हे अखिलगुरो ! हे भगवन् ! हे आर्तबन्धो ! सब प्राणियोंकी रक्षा करनेमें आप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके करनेवालेको क्या प्रयास है ? मूढ़ पुरुषोंके प्रति आप महात्माका अनुग्रह होना योग्य है और हम आपके भक्तोंकी सेवा करनेवाले हैं, हमारे उद्धार करनेमें आपको कौन-सा बड़ा परिश्रम करना है ? ॥ ४२ ॥

हे पर ! (हे सर्वोत्तम !) आपके प्रभावको गाना मेरे लिये बड़ा मधुर अमृत है और उसीमें मेरा चित्त अत्यन्त निमग्न हो गया है; इस कारण दुस्तर वैतरणी नदीका मुझे कुछ भी भय नहीं है, किन्तु उन मूर्खोंको

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥४३॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥४४॥
यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥४५॥

देखकर मुझे बड़ी चिन्ता है जिनका मन उस अमृतसे विमुख हो गया है और जो इन्द्रियोंके सुखके निमित्त विषयसुख पानेके लिये कुटुम्ब-पोषणादिका भार उठाते हैं ॥४३॥

(शङ्का—तू तो मुक्त हो जा और इन मनुष्योंका तत्त्वज्ञानी मुनि उपदेश देकर उद्धार कर देंगे, समाधान—) मुनि तो प्रायः अपनी मुक्तिकी इच्छासे एकान्तवास और मौनधारण करते हैं, परोपकार नहीं कर सकते, इस कारण मैं इन दीनजनोंको छोड़कर मोक्षकी इच्छा नहीं करता। हे देव! आपके सिवा इन मूढ़ पुरुषोंको नाना योनियोंमें भ्रमण करनेसे बचानेवाला दूसरा कोई मुझे प्रतीत नहीं होता ॥४४॥

(शङ्का—ये लोग तो विषय-भोगसे सुखी हैं, दीन नहीं हैं, समाधान—) स्त्री-सम्बन्धसे गृहस्थोंको जो सुख होता है वह अतितुच्छ है। जैसे हाथसे खुजलानेपर यद्यपि पहले कुछ सुख होता है किन्तु अन्तमें उससे अधिक दुःख होता है इसी प्रकार ये कामी पुरुष बहुत दुःख भोगते हुए भी गृहस्थाश्रमके सुखसे तृप्त नहीं होते, अर्थात् यह नहीं कहते कि हमारी सुखकी मात्रा पूरी हो गयी है। आपके अनुग्रह होनेपर कोई ब्रह्मचर्यसम्पन्न पुरुष खुजलीके समान कामको भी सहता है ॥४५॥

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥४६॥
रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४७॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।

मौन, व्रत, श्रवण, तप, वेदका पढ़ना, स्वधर्मका व्याख्यान करना, एकान्तवास, जप और समाधि जो मोक्षके साधन कहे गये हैं वे कभी अजितेन्द्रिय पुरुषोंके जीविकाके साधन बन जाते हैं। कभी दाम्भिक पुरुषोंके जीविकाके साधन हो जाते हैं और (दम्भ प्रकट होनेसे) कभी नहीं भी होते ॥ ४६ ॥

(अब तीन श्लोकोंसे यह प्रतिपादन करते हैं कि आपका ज्ञान बिना भक्तिके नहीं होता) बीजाङ्कुरके समान आपके कार्य और कारणात्मक दो रूप वेदने प्रकाशित किये हैं, इनको छोड़कर आपको जाननेवाला दूसरा लिङ्ग नहीं है (जैसे देवदत्तादिको जनानेवाला गोरापन आदि होता है) जैसे अग्निहोत्री काठको मथकर अग्निको प्रज्वलित कर देते हैं ऐसे ही भक्तियोगसे आप कार्य और कारणमें वर्तमान देखे जा सकते हैं ॥ ४७ ॥

हे भूमन् ! वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, शब्दादि विषय, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, देवतावर्ग, स्थूल-सूक्ष्म जगत् और मन-

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूम-
न्नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥४८॥
नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥४९॥
तत्तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

वाणीसे प्रकाशित होनेवाली जो कोई वस्तु है वह आपसे भिन्न नहीं है ॥ ४८ ॥

हे महान् यशवाले ! देवता और मनुष्योंसहित सत्त्वादि गुण तथा इनके अभिमानी देवता, महदादि तत्त्व (महाभूत तन्मात्रासे इन्द्रियपर्यन्त तत्त्व) तथा चित्त, बुद्धि और अहंकार—ये आपको नहीं जानते हैं; इस कारण विवेकी ऐसा विचार करके बहुत शास्त्रोंके अभ्याससे विराम पाकर समाधिके द्वारा आपकी ही उपासना करते हैं॥४९॥

हे अर्हतम ! (पूज्यतम !) नमस्कार, स्तुति, पूजा अर्थात् सर्व कर्म समर्पण करना, चरणोंका स्मरण और कथाका श्रवण इन छः अङ्गोंसे सेवा किये बिना परमहंसोंको प्राप्त होनेयोग्य आपकी भक्ति कैसे प्राप्त होगी ? (प्रकरणका अभिप्राय है कि पहले प्रार्थना किया हुआ अपना दासभाव मुझे दीजिये ॥ ५० ॥



प्रह्लादकृत स्तुति[1] (२)

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥ २ ॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान्संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥ ३ ॥
नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ ४ ॥

(नृसिंह भगवान्ने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा तब प्रह्लादजी आश्चर्य करके स्तुति करने लगे—) स्वभावसे ही विषयोंमें आसक्त हुए मुझे कामरूपी वरोंका प्रलोभन मत दीजिये क्योंकि उनके सङ्गसे भय मानकर विरक्त हुआ मैं कल्याणकी इच्छा करके आपकी शरण आया हूँ ॥ २ ॥

हे प्रभो ! आपने जो हृदयग्रन्थिके समान दृढ़बन्धन और संसारके बीजरूप विषयोंके लिये मुझ भक्तको प्रेरित किया है वह सेवकका लक्षण जाननेके लिये किया है अर्थात् यह सेवक उत्तम श्रेणीका है या मध्यम श्रेणीका ? इस बातकी परीक्षा की है ॥ ३ ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो हे अखिलगुरो ! आप करुणामयका अनर्थके साधनोंमें अपने भक्तको प्रवृत्त करना नहीं बन सकता । जो सेवक आपसे विषय पानेकी इच्छा करता है वह सेवक नहीं वणिक् है (भाव यह है कि वह निष्काम सेवा नहीं करता, किन्तु सेवाका बदला चाहता है) ॥ ४ ॥

---

१. भा० स्क० ७ अ० १०

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः॥५॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६ ॥
यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥ ८ ॥

जो सेवक स्वामीसे अपनी कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करता है उसको शुद्ध भृत्य नहीं समझना चाहिये और जो स्वामी प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकको वर आदि देता है वह शुद्ध स्वामी नहीं है ॥ ५ ॥

मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप निरपेक्ष स्वामी हैं। इस कारण राजा और सेवकका जैसे सेव्य-सेवकभाव है, वैसा हम दोनोंका उद्देश्य नहीं है ॥ ६ ॥

हे श्रेष्ठ वर देनेवाले ! यदि आप मुझे इच्छित वरदान देते हैं तो मैं यह परम वरदान माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें कामवासनाओंका अङ्कुर कभी उत्पन्न न हो ॥ ७ ॥

कामके अङ्कुरके उत्पन्न होनेके कारण इन्द्रियाँ, मन, प्राण, देह, धर्म, धीरज, बुद्धि, लज्जा, ऐश्वर्य, प्रताप, स्मृति और सत्य, ये सब नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥ ९ ॥
नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१०॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! जब मनुष्य अपने अन्तःकरणसे सब कामनाओं-का त्याग कर देता है तब वह आपके सदृश ऐश्वर्य पानेके योग्य होता है ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे पुराणपुरुष ! हे श्रीहरे ! हे अद्भुत सिंहस्वरूप धारण करनेवाले ! ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मात्मन् ! आपको नमस्कार है ॥ १० ॥



एकादश प्रकरण

गजेन्द्रमोक्ष[1]

गजेन्द्रकृत स्तुति

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय[2] ॥

त्रिकूट नामका एक प्रसिद्ध पर्वत है, वह क्षीरसमुद्रसे घिरा हुआ है । उसकी शोभा इस पृथिवीसे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है । वहाँ सिद्ध, गन्धर्व और अप्सरा आदि रहते हैं । इस पुस्तकके पाँचवें अध्यायके तीसरे प्रकरणसे यह बात विदित होती है कि यह स्थान भारतवर्षकी सीमासे बाहर है और हमारे चर्मचक्षु इसे नहीं देख सकते। इसी भूमिमें गजेन्द्रका उद्धार हुआ है । ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि गजके शरीरसे स्तुति किस प्रकार हो सकती है क्योंकि यह दिव्यलोककी और दिव्यकालकी बात है । उस समय सत्ययुगका चौथा मन्वन्तर था । फिर यह भी कहा जाता है कि जो महान् आत्मा हैं यदि वे शापवश किसी अन्य योनिमें जन्म लेते हैं, तो उनको अपने पूर्वजन्मका स्मरण और भाषणशक्ति रहती है । पशुओंमें मनुष्यकी वाणी बोलनेके कई उदाहरण मिलते हैं ।

इस गजेन्द्रका पूर्व इतिहास यह है कि यह पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नामका राजा था । मलयपर्वतके ऊपर तपस्या करता था । किसी समय परम यशस्वी अगस्त्यऋषि अपने शिष्योंके साथ राजा इन्द्रद्युम्नके आश्रममें पहुँचे । राजा एकान्तमें बैठा था और उसने ऋषिकी पूजा नहीं की । राजाके इस व्यवहारसे खिन्न होकर अगस्त्यजीने उसे शाप दिया कि राजाने ब्राह्मणोंका अपमान किया है इस कारण इसको अज्ञानमय हाथी-की योनि प्राप्त हो ।

---

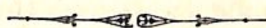
१. भा० स्क० ८ अ० १ से ४ तक।

२. अर्थ इसी प्रकरणके श्लोक १५ की टीकामें देखिये ।

प्रारब्धकर्मवश राजाको हाथीकी योनि प्राप्त हुई, किन्तु हरिपूजनके प्रभावसे हाथीकी योनिमें भी उसे अपने स्वरूपकी विस्मृति नहीं हुई।

प्रस्तुत कथा इस प्रकार है कि हस्तिदेहमें इसको हाथियोंके यूथका अधिपतित्व प्राप्त हुआ। इसमें सहस्र हाथियोंके बराबर बल था। एक समय सैकड़ों हाथी और हथिनियोंसे घिरा हुआ यह वनमें विचर रहा था। प्यास लगी, जल पीनेके लिये एक सरोवरमें गया। वहाँ एक ग्राहने इसका पैर पकड़ लिया। यह अपनेको छुड़ानेमें समर्थ नहीं हुआ। एक हजार वर्षतक इन दोनोंमें युद्ध होता रहा। गजेन्द्रके साथके हाथी भी उसको छुड़ानेमें समर्थ नहीं हुए। तदनन्तर भोजन न मिलनेके कारण गजराजके मनका उत्साह, शरीरका सामर्थ्य और इन्द्रियोंका बल अत्यन्त क्षीण होने लगा। उस जलचर ग्राहको जलमें आहार मिलते रहनेके कारण कोई क्षीणता नहीं हुई।

गजेन्द्रका सब अभिमान जाता रहा। अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ जानकर बहुत विचार करनेपर उसको ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि मैं नक्ररूप दैवके पाशसे बँधा हुआ हूँ, इस कारण विपत्तिमें पड़े हुए मुझको ये (हाथी) छुड़ानेमें समर्थ नहीं होते और मैं भी समर्थ नहीं हो सकता। फिर ये हथिनियाँ तो कहाँसे समर्थ होंगी, इस कारण अब मैं सर्वेश्वर ईश्वरके शरण जाता हूँ, जिसके भयसे मृत्यु भी भागती है। तब उसने अपने पिछले इन्द्रद्युम्नवाले जन्ममें अभ्यास किये हुए सर्वोत्तम स्तोत्रका जप किया, जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दिया है। इस स्तोत्रसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि वहाँ आ गये। गजेन्द्र अपने सूँडसे एक कमलपुष्पको ऊपर उठाकर, अति दीन वचन बोला—"हे भगवन्! हे नारायण! हे जगद्गुरो! आपको नमस्कार है"। भगवान्ने नक्रके सहित उस गजेन्द्रको जलसे बाहर निकाला और अपने चक्रसे उस नक्रका आनन चीरकर गजराजको छुड़ा दिया। गजराजने तुरन्त भगवान्के पार्षदका चतुर्भुज रूप प्राप्त किया। वह नक्र भी पूर्वजन्मका गन्धर्व था और देवलमुनिके शापसे नक्रयोनिको प्राप्त हुआ था, वह भी शापसे छूटकर आश्चर्यकारी रूपको धारण करके तथा भगवान्को प्रणाम करके गन्धर्वलोकको चला गया।



गजेन्द्रकृत स्तुति[1]

नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ २ ॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥ ३ ॥
यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक्साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥४॥
कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ।

जिस चैतन्यसे यह देह, इन्द्रियादिक सचेतन हो जाते हैं उस कारणरूपसे देहमें प्रवेश करनेवाले आदिपुरुष स्वतन्त्र भगवान्‌को मैं मनसे नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

(अब यहाँसे इस स्तुतिके अन्ततक भगवान्‌का ईश्वरत्व ही स्पष्ट करते हैं—) यह संसार जिस अधिष्ठानमें स्थित है, जिससे उत्पन्न होता है, जिससे यह रचा गया है, जो स्वयं ही विश्व बन जाता है, जो कार्य और महदादि कारणोंसे भिन्न है उस स्वतःसिद्ध (ईश्वर) की शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ३ ॥

जो अपनेमें अपनी मायासे रचे हुए कभी (सृष्टिके समयमें) दिखायी पड़नेवाले और कभी (प्रलयकालमें) सूक्ष्मरूपसे लीन होनेवाले दो प्रकारके कार्य-कारणात्मक विश्वको दृष्टि लुप्त न होनेके कारण साक्षी होकर देखता है, वह परसे भी पर अर्थात् वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले नेत्रादिका भी प्रकाशक स्वयं प्रकाश ईश्वर मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

प्रलयकालमें सब लोक और लोकपालोंके नष्ट हो जानेपर और महदादिके प्रकृतिमें लीन हो जानेपर जब ऐसा घोर अन्धकार होता है,

---

१. भा० स्क० ८ अ० ३

तमस्तदासीद्गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५ ॥
न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टितो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥
दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ ७ ॥
न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा न नामरूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥८॥
तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥ ९ ॥

जिसमें प्रवेश न हो सके, उस समय आप व्यापक भगवान् उस तमसे परे विराजमान रहते हैं ॥ ५ ॥

जिसके स्वरूपको देवता और ऋषि भी नहीं जानते फिर कौन-सा प्राणी उसे जानने या वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है ? जैसे वेष बदलनेवाले नटके नाना स्वरूपोंसे मोहित हुए लोग उसे नहीं पहचान सकते हैं, उसी प्रकार जिसका चरित्र जाननेमें या कहनेमें कठिन है वह मेरी रक्षा करे ॥ ६ ॥

जिसके मङ्गलमय स्वरूपका साक्षात्कार करनेकी इच्छा करनेवाले, सब प्राणियोंमें आत्मदृष्टि रखनेवाले विरक्त मुनि और श्रेष्ठ साधु वनमें रहकर ब्रह्मचर्यादि व्रतोंको दोषोंसे बचते हुए धारण करते हैं वही भगवान् मेरी गति (प्राप्तव्य) है ॥ ७ ॥

जिसमें जन्म, कर्म, नाम, रूप, गुण और दोष नहीं है तथापि जो प्राणियोंके जन्म और लय करनेके निमित्त अपनी मायाके द्वारा उन जन्मादिकोंको उस उस अवसरमें स्वीकार करता है ॥ ८ ॥

जो ब्रह्मस्वरूपसे अरूप और अनन्तशक्तिसम्पन्न होनेसे अनेक-रूप है, जिसके कर्म आश्चर्यकारक हैं, उस परमात्माको नमस्कार है ॥९॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥१०॥
सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥११॥
नमः शान्ताय घोराय गूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय सौम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥१२॥
क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥१४॥

स्वतःप्रकाश अर्थात् प्रकाशान्तरके अविषय, साक्षी, सबके प्रकाशक, वाणी, मन और चित्तकी वृत्तियोंके अगोचर परमात्मा (जीवके नियन्ता) को नमस्कार है ॥१०॥

संन्यासके द्वारा शुद्धचित्त हुए विद्वान्को प्राप्त होनेवाले मोक्षके स्वामी और मोक्षके आनन्दानुभवरूपको नमस्कार है ॥११॥

शान्त (सत्त्व), घोर (रज), मूढ़ (तम) गुणोंके धर्मोको धारण करनेवाले, निर्गुण, सौम्य, ज्ञानस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥१२॥

क्षेत्रज्ञ, सबके अध्यक्ष, साक्षी, क्षेत्रज्ञोंके मूल और मूलप्रकृतिके भी मूलकारण और पुरुष (अर्थात् सबसे पहले वर्तमान) आपको नमस्कार है ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियाँ और उनके विषयोंको देखनेवाले, सब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके ज्ञानके कारण, आभाससे युक्त, मिथ्या अहंकारादि प्रपञ्चसे विम्बस्वरूपकी भाँति सूचित होनेवाले तथा जिनका विषयोंमें (देह इन्द्रियादिमें) सदा आभास पड़ता है ऐसे आपको नमस्कार है ॥१४॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥१५॥
गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागमस्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥१६॥
मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीतप्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते॥१७॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैर्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय १८

सबके कारणरूप, किन्तु स्वयं निष्कारणरूप, अद्भुत कारणरूप, घटके कारण मृत्तिकाके समान विकारको नहीं प्राप्त होनेवाले पाञ्चरात्रादि आगम और वेदोंके पर्यवसानस्थान, मोक्षरूप उत्तम पुरुषोंके आश्रय आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥

जो सत्त्वादि गुणरूप अरणिमें छिपे हुए ज्ञानाग्निरूप हैं, जिनके मनकी वृत्ति उन गुणोंके क्षोभकालमें बाह्य प्रवृत्त होती है, [जैसे श्रुति—सोऽकामयत बहु स्यामिति] नैष्कर्म्यतत्त्वकी भावना करनेसे विधिनिषेध शास्त्रोंसे परे पहुँचे हुए ज्ञानियोंमें जिनका स्वयंप्रकाश हो रहा है ऐसे आपको नमस्कार है ॥ १६ ॥

मेरे समान शरणागत पशुको पाशसे छुड़ानेवाले, (अविद्या दूर करनेवाले) मुक्तस्वरूप, बार-बार करुणा करनेवाले, आलस्यरहित, सब देहधारियोंके मनके भीतरके ज्ञानस्वरूप अन्तर्यामी अपरिच्छिन्न आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥

[अन्तःकरणमें विद्यमान रहते हुए] देह, पुत्र, घर, धन और सेवकोंमें आसक्त पुरुषोंको नहीं प्राप्त होनेवाले, गुणोंमें आसक्ति न रखनेवाले, देहादिमें मोह न करनेवाले पुरुषोंके हृदयमें जिनका निरन्तर चिन्तन हो रहा है ऐसे ज्ञानात्मा भगवान् ईश्वरको नमस्कार है ॥१८॥

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं करोति मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१९॥
एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥२०॥
तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरमनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२१॥
यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्गव्या च कलया कृताः ॥२२॥
यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः ।

जिनका भजन करते हुए, धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुष इच्छित फल पाते हैं। इतना ही नहीं, भक्तोंने जिन भोगोंको नहीं माँगा उन्हें भी देते हैं और अनश्वर शरीर भी देते हैं, वह अपार दयावान् मेरा संसारसे और ग्राहसे मोक्ष करे ॥१९॥

(यह तो मैं भक्तिके सुखको न जाननेके कारण माँगता हूँ) किन्तु जो भगवान्‌के शरणागत हुए हैं, अनन्य भक्त हैं, वे किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते हैं और अति अद्भुत भगवान्‌के सुमङ्गल चरित्रको गाते हुए आनन्दसागरमें निमग्न रहते हैं ॥२०॥

क्षयरहित, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम, ब्रह्मादिकके भी नियन्ता, अव्यक्त आध्यात्मिक योगसे प्राप्त होनेवाले, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, (जैसे अतिदूर वस्तु अतीन्द्रिय और सूक्ष्म हो जाती है) अविनाशी और परिपूर्ण ईश्वरकी मैं स्तुति करता हूँ ॥२१॥

ब्रह्मादि देवता, वेद और स्थावर-जङ्गमरूप लोक जिनकी थोड़ी कलासे नामरूपके भेदसे उत्पन्न हुए हैं ॥२२॥

जैसे अग्निकी ज्वाला और सूर्यकी किरणें एकके पीछे एक प्रवाहरूपसे उत्पन्न होकर फिर उन्हींमें लीन हो जाती हैं, इसी प्रकार बुद्धि,

तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२३॥
स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२४॥
जिजीविषे नाहमिहामुया किमन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२५॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२६॥
योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२७॥

मन, इन्द्रियाँ और शरीररूप गुणोंके प्रवाहरूपसे जिन स्वयंप्रकाश परमात्मासे उत्पन्न होते हैं ॥२३॥

जो देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, पुरुष या प्राणीमेंसे कोई भी नहीं है, जो गुण, कर्म, कार्य और कारणोंमेंसे कोई नहीं है, सबके निषेध करनेपर जो शेष रहता है वह मुझे मुक्त करनेके लिये प्रकट हो ॥२४॥

इस ग्राहसे छूटकर मैं जीवित रहना नहीं चाहता हूँ । क्योंकि बाहर और भीतर अविवेकसे व्याप्त इस हाथीके शरीरसे मुझे यहाँ क्या करना है ? किन्तु जिस अज्ञानसे आत्मरूप प्रकाश ढँक गया है और ज्ञानके सिवा जिसको काल भी नहीं नाश कर सकता है उसकी निवृत्तिकी इच्छा करता हूँ ॥२५॥

ऐसा मैं मुमुक्षु, विश्वके स्रष्टा, विश्वरूप, विश्वसे व्यतिरिक्त, जगत्‌रूप क्रीड़ाकी सामग्रीसे युक्त, विश्वकी आत्मा, अज, उत्तमपद, ब्रह्मको प्रणाम करता हूँ । (यद्यपि उनको नहीं जानता हूँ) ॥२६॥

भगवद्धर्मसे जिनके कर्म जल गये हैं, ऐसे जन योगसे शुद्ध हुए अपने हृदयमें जिनका साक्षात्कार करते हैं उन योगके फलदाताको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२७॥

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेगशक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२८॥

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥२९॥

जिनकी सत्त्वादि तीनों शक्तियोंका रागादि वेग असह्य है, जो सब इन्द्रियोंसे, शब्दादि विषयरूप होकर बाह्य दृष्टिसे प्रतीत होते हैं, जो शरणागतोंके पालक हैं, जिनकी शक्तियोंका अन्त नहीं है, जिनका मार्ग तुच्छ विषयोन्मुख इन्द्रियवालोंको नहीं मिलता है, ऐसे आपको नमस्कार है ॥२८॥

जिनकी शक्तिसे उत्पन्न हुए, अहङ्कारसे ढँके हुए अपने स्वरूपभूत आत्माको यह प्राणी नहीं जानता है, जिसके प्रभावका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, उन भगवान्‌की मैं शरण आया हूँ ॥२९॥



द्वादश प्रकरण

देवासुर-संग्राम, महादेव तथा ब्रह्माजीद्वारा की गयी स्तुतियाँ[1]

श्रीशिवकृत स्तुति[2]

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय ।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ४ ॥
आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः ।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत्सत्यं ब्रह्म चिद्भवान् ॥ ५ ॥

हे देवदेव ! हे जगद्व्यापिन् ! हे जगदीश ! हे जगन्मय ! सब पदार्थोंके आत्मा (उपादान कारण), हेतु (निमित्त कारण) और ईश्वर (नियामक) आप ही हैं ॥ ४ ॥

(शङ्का—जगत्की उत्पत्ति आदि होनेसे जगत्में असत्यता तथा जड़ता है; भगवान्को जगन्मय कहनेसे भगवान्में भी असत्यता एवं जड़ता है ऐसा तो आप नहीं कहते । समाधान—नहीं नहीं, ऐसा नहीं कहते हैं) इस जगत्के जन्म, मरण और जीवन, प्रत्यक्ष और परोक्ष वस्तुएँ, अहङ्कारास्पद भोक्ता एवं ममकारास्पद भोग्य वस्तुएँ जिस ब्रह्मसे होती हैं और जिस अव्ययमें ये जन्म-मरण आदि नहीं होते वह सत्य, चेतनरूप ब्रह्म आप ही हैं ॥ ५ ॥

---

१. भा० स्क० ८ अध्याय ८ से १२ तक ।

२. भा० स्क० ८ अध्याय १२

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः ।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥ ६ ॥
त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥ ७ ॥
एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयं च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ।

(आपके ऐसे होनेके विषयमें मुमुक्षु पुरुषोंका आचार प्रमाण है) मुमुक्षु और निष्काम मुनि इस लोक और परलोकके भोगोंकी आसक्तिका त्याग कर आपके ही चरणकमलोंकी भलीभाँति उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

(यदि भगवान् ब्रह्म ही हैं तो असङ्ग और उदासीन भगवान्‌के चरणकमलोंकी उपासनासे क्या प्रयोजन ? समाधान—) यद्यपि आप पूर्ण, अमृत, निर्गुण, शोकरहित, आनन्दमात्र, अविकारी, अनन्य (जिससे कोई अन्य नहीं है) और सबसे भिन्न ब्रह्म हैं, तथापि अत्यन्त उदासीन नहीं हैं । आप इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण, सबके अन्तर्यामी, जीवोंके कर्मफलदाता ईश्वर हैं किन्तु वास्तवमें आप निरपेक्ष हैं; राजा आदिके समान किसी प्रयोजनसे सेवक आदिकी अपेक्षा नहीं करते । (भाव यह है कि भक्तोंके अनुग्रहके लिये आपका यह ऐश्वर्य है अपने लिये नहीं है) ॥ ७ ॥

(एक ही ब्रह्म भिन्न और अभिन्न कैसे है ? इसका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं—) एक ही आप स्थूल, सूक्ष्म, कार्य और कारण हैं जैसे सुवर्ण और उससे बने हुए आभूषणोंमें कोई भेद नहीं है वैसे ही आपमें और

अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद्गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ ८ ॥
त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥ ९ ॥
नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥१०॥

इस प्रपञ्चमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, अज्ञानसे आपमें मनुष्योंने भेदकी कल्पना कर रक्खी है, क्योंकि शुद्धस्वरूप आपमें उपाधिसे ही तत्-तत् भेदोंकी कल्पना है, वस्तुतः आपमें कोई भेद नहीं है ॥८॥

(अतएव लोग आपका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं यथार्थरूपसे आपको कोई नहीं जानते ऐसा दो श्लोकोंसे कहते हैं—) वेदान्ती आपको ब्रह्म समझते हैं, मीमांसक आपको धर्म समझते हैं, सांख्य आपको प्रकृति और पुरुषसे उत्कृष्ट समझते हैं, पाञ्चरात्र (भक्त) आपको नव[1] शक्तियोंसे युक्त परमेश्वर मानते हैं और योगी लोग आपको जन्मादि विकारोंसे रहित स्वतन्त्र महापुरुष मानते हैं ॥९॥

सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए, मैं (रुद्र), ब्रह्मा और मरीचि आदि मुख्य ऋषि भी आपकी मायासे मोहितचित्त होकर आपके रचे हुए इस जगत्को जब यथार्थरूपसे नहीं जान पाते हैं, तब सदा तामस और राजस गुणोंसे उत्पन्न हुए दैत्य और मनुष्यादि उसे कैसे जानेंगे ? ॥ १० ॥

---

१. विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा ।

स त्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥११॥
अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ।
सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥१२॥
येन संमोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ।
तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१३॥

(अब, आप तो सम्पूर्ण जगत्को यथार्थरूपसे जानते हैं, ऐसा कहते हैं) जिस प्रकार वायु चराचर प्राणियोंके शरीर और आकाशमें प्रवेश करता है उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आप सम्पूर्ण जगत्की आत्मा होनेके कारण उसमें प्रविष्ट होकर अपने बनाये हुए जगत्के जन्म, स्थिति और नाश तथा जीवोंके कर्म और उनके संसारसे बन्धन और मोक्षको जानते हैं ॥११॥

(इस प्रकार स्तुति करके अब दो श्लोकोंसे प्रस्तुत विषयकी विज्ञप्ति करते हैं—) मैंने सत्त्वादि गुणोंमें रमण करनेवाले आपके नृसिंह आदि अवतार देखे हैं। अब आपने जो स्त्रीरूप धारण किया था, उसको मैं देखना चाहता हूँ ॥१२॥

जिस रूपसे आपने दैत्योंको मोहित करके देवताओंको अमृत पिलाया था आपके उसी रूपको देखनेके लिये हम सब यहाँ आये हैं, क्योंकि उसको देखनेकी हमें अति उत्कण्ठा हो रही है ॥१३॥



देवता और असुरोंमें स्वर्गके आधिपत्यके लिये अनेक संग्राम हुए। प्रथम कल्पके मन्वन्तरमें जब विचाक्षुषमनु प्रजापति थे, देवता और असुरोंमें एक बड़ा भारी युद्ध हुआ था। पहले देवताओंकी हार हुई। दुर्वासा मुनिके शापसे इन्द्रसहित तीनों लोक ऐश्वर्यरहित हो गये और यज्ञ आदि सब कर्म नष्ट हो गये।

इस विपत्तिके समय इन्द्र, वरुण आदि देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने श्रीहरिकी शरण जानेकी उन्हें सलाह दी। तदनन्तर सब देवता ब्रह्माजीके साथ सत्यलोकमें गये। ब्रह्माजीने श्रीहरिकी स्तुति की। वह इस प्रकरणमें लिख दी गयी है। ब्रह्माजीकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर ईश्वर, श्रीहरिरूपमें प्रकट हुए। भगवान्के दर्शनोंसे सब देवता कृतकृत्य हुए। उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम और पूजन आदि किया।

श्रीभगवान्ने कहा—'हे देवताओ! यह समय दैत्योंके अनुकूल है, इस कारण तुमको दैत्योंके समीप जाकर उनसे मित्रता कर लेनी चाहिये। फिर अमृतप्राप्तिके लिये उनसे मेलकर समुद्रका मथन करना चाहिये। समुद्रसे अमृतके सिवा और जो कुछ निकले उसका जरा भी लालच न करना। प्रसन्नतापूर्वक दैत्योंको लेने देना।'

जिस समयका यह वृत्तान्त है उस समय दैत्योंका राजा बलि था। उसने देवताओंका शान्त और मित्रतायुक्त भाव देखकर उनके अपने समीप आनेसे संग्राम रोक दिया। मन्दराचलकी मथनी और वासुकिकी डोरी बनायी गयी। मन्दररूपी मथनीको कूर्मरूपधारी भगवान्की पीठपर रखकर एक ओरसे देवताओंने और दूसरी ओरसे दानवोंने डोरी पकड़ी और दोनों मिलकर समुद्र-मन्थन करने लगे। उस मन्थनकार्यमें पहले-पहल हालाहल विष निकला। उस विषके भयङ्कर वेगसे दुःखित होकर सब लोग शिवजीकी शरण गये। प्रजापतिने शिवकी स्तुति की जिसका

इस प्रकरणके अन्तमें उल्लेख किया गया है। आशुतोष भगवान् शिवजी उस हालाहलको पी गये। यह ऐसा उग्र विष था कि सदाशिवजीका भी कण्ठ उसके वेगसे काला हो गया परन्तु वह नीलापन भी उन दयालु महादेवजीका भूषण ही हुआ।

समुद्रका मन्थन फिर होने लगा। उसमेंसे नौ पदार्थ और निकले। वेदवेत्ता ऋषियोंने हव्यके लिये कामधेनुका ग्रहण किया। उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा राजा बलिने लिया। ऐरावत हाथी इन्द्रने लिया। कौस्तुभ-मणि भगवान् श्रीहरिने ली। तदनन्तर पारिजातवृक्ष, अप्सरा और लक्ष्मी निकलीं। लक्ष्मीजीने भगवान् श्रीमुकुन्दके गलेमें वरमाला डालीं। फिर सुरा निकली, उसको असुरोंने स्वीकार किया। सबके अन्तमें अमृतका कलश हाथमें लिये धन्वन्तरि प्रादुर्भूत हुए। असुरोंने झपटकर वह कलश छीन लिया। इसपर देवता खिन्न हो गये। असुर भी उस अमृतका पान करनेके लिये आपसमें लड़ने-झगड़ने लगे।

इसी समय भगवान् एक अति सुन्दर दिव्य स्त्रीके वेशमें प्रकट हुए। उन्होंने अपने अलौकिक सौन्दर्यसे असुरोंको मोहित कर दिया। असुरोंने उस स्त्रीरत्नसे कहा—"इस अमृतको तुम हम सब लोगोंमें बाँट दो, ताकि हम भाई-भाइयोंमें लड़ाई न होने पावे।" उस स्त्रीने असुरोंमें अधिक श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये उनसे कहा कि मैं यह काम अवश्य कर दूँगी परन्तु तुम्हें पहले मेरे साथ वाद-विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा करनी होगी। असुर राजी हो गये। उसने देवताओंको भी, कुछ फासलेपर उसी स्थानपर बैठाया। तब उस सुन्दरीने सुन्दर गति, मन्द हास्य, कटाक्ष दर्शन, कुछ लज्जा और प्रिय वचनोंद्वारा दैत्योंको मोहित करके देवताओंको जरा और मृत्युका नाशक अमृत पिला दिया और भगवान् अपना रूप धारणकर वैकुण्ठको चले गये।

तदनन्तर असुर और देवताओंमें अभूतपूर्व घोर संग्राम हुआ।

अमृत पीनेसे देवताओंकी तो कुछ भी क्षति नहीं हुई, किन्तु दानवोंकी बड़ी भारी हानि हुई । उनका अधिपति राजा बलि व्याकुल हो गया किन्तु उसके गुरु शुक्राचार्यजीने उसे सचेत कर दिया । ब्रह्माजीने नारदजीको भेजकर युद्ध बन्द करवा दिया ।



मोहिनी अवतारका परिशिष्ट प्रकरण ।

महादेवजीको भगवान्के मोहिनीरूप अवतारको देखनेकी अभिलाषा हुई । उन्होंने भगवान्की स्तुति की । उसका इस प्रकरणके आदिमें उल्लेख कर दिया गया है । भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें वह रूप दिखलाया । यद्यपि भोलेनाथ भी मोहित हो गये तथापि वे समझ गये कि भगवान्की मायाने मुझको अत्यन्त जड़ कर डाला है । तदनन्तर वे मोह-रहित हो गये । शिवजीको मोहरहित देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये और आशीर्वाद दिया कि आजसे यह माया आपको मोहित न कर सकेगी ।

ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति[1] (१)

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोग्रयानं वचसानिरुक्तं नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥२६॥
विपश्चितं प्राणमनोधियात्मनामर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥२७॥
अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं मनोमयं पञ्चदशारमाशु ।
त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥२८॥

निर्विकार, सत्य, अनन्त, आद्य, हृदयरूपी गुफामें शयन करनेवाले निरुपाधिक, अतर्क्य, मनसे भी अधिक वेगवान्, अविषय होनेसे वाणी जिनका निर्वचन नहीं कर सकती; जो आपत्तिमें रक्षक हैं ऐसे देववर आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

जो प्राण, मन, बुद्धि और अहङ्कारको जाननेवाले, शब्दादि विषय और इन्द्रिय इन दोनों रूपोंसे भासमान होनेवाले (अथवा उन दोनोंके अविषय), अज्ञानसे रहित, देहशून्य, आकाशके समान परिपूर्ण और तीनों युगोंमें प्रकट होनेवाले हैं तथा राग आदिसे युक्त जीवमें रहनेवाली विद्या और अविद्या जिनमें नहीं हैं ऐसे आपकी शरणमें हम प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

जिसमें मन प्रधान है, जिसमें दश इन्द्रियाँ और पाँच प्राण ये पन्द्रह अरा हैं, जिसकी गति शीघ्र है, जिसके तीन गुण ही नाभि हैं, जो बिजलीके समान चञ्चल है, जिसकी आठ प्रकृतियाँ ही नेमिके समान आवरण हैं और जिसका सञ्चालन मायाके द्वारा होता है, इस प्रकारका यह जीवके देहरूप चक्रका जो अधिष्ठान है उस अमृततत्त्वकी मैं शरणमें हूँ । (यहाँ रथके पहियेका दृष्टान्त दिया है) ॥ २८ ॥

---

१. भा० स्क० ८ अ० ५

य एकवर्णं तमसः परं तदलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेनमुपासते योगरथेन धीराः ॥२९॥
न यस्य कश्चातितितर्ति मायां यया जनो मुह्यति वेद नार्थम् ।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं नमाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥३०॥
इमे वयं तत्प्रिययैव तन्वा सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥३१॥
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३२॥

एकमात्र ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, जो प्रकृतिसे पर हैं, जो अदृश्य, निर्विकल्प, देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित तथा जीवके समीप उसके नियन्ता होकर रहते हैं,* जिनकी उपासना विवेकी पुरुष योगमें आरूढ़ होकर करते हैं उनको नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

जिनकी मायाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, जिनकी मायासे प्राणी मोहित होकर आत्मस्वरूपको नहीं जानता, जिन्होंने आत्मशक्ति अर्थात् माया और उसके गुणोंको जीत लिया है और जो सब भूतोंमें समानरूपसे बर्ताव करते हैं उन ईश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३०॥

हम देवता और ऋषि, भगवान्‌के प्रिय शरीरके सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए हैं और सत्ता तथा प्रकाशके द्वारा भीतर और बाहर प्रकट हुए भगवान्‌के निरुपाधिक शरीरको नहीं जानते, तो रजोगुण, तमोगुण-प्रधान असुर उसे कैसे जान सकते हैं; ऐसे ईश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३१॥

(अब १२ श्लोकोंसे विराट्‌रूपसे स्तुति करते हुए प्रार्थना करते हैं—) जिसमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त सृष्टि है, उन्हींसे रची गयी यह पृथिवी जिनके पादस्थानीय है, वह स्वतन्त्र महापुरुष अत्यन्त ऐश्वर्यवान् भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥३२॥

* अर्थात् उनकी समता जीवसे नहीं है, यथा श्रुतिः—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । (मु० ३ । १ । १)

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३३॥
सोमं मनो यस्य समामनन्ति दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३४॥
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन्स्वधातून् प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३५॥
यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३६॥

महाशक्तियुक्त जल ही जिनका वीर्य है, जिससे तीनों लोक और सम्पूर्ण लोकपाल जन्म और वृद्धिको प्राप्त होते हैं और जीवित रहते हैं वह अत्यन्त ऐश्वर्यवान् भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥

वेद जिसको देवताओंका अन्न, बल तथा आयु कहते हैं, वृक्षोंका राजा कहते हैं, प्रजाओंका उत्पादक कहते हैं, चन्द्रमा जिनका मन है ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् भगवान् हमारे ऊपर सदा प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥

यज्ञ आदि कर्मकाण्डके अनुष्ठानके निमित्त जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो अपनेमें अर्पण किये चरु, पुरोडाशादि इन्द्रादि देवताओंके समीप पहुँचा देता है जो उदरमें अपने लिये अर्पण किये गये अन्नादिको पचाता है (अथवा समुद्रमें बड़वानलरूपसे जलको सुखानेवाला है) ऐसा अग्नि जिनका मुख है, ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥३५॥

अर्चि आदि मार्गोंका देवता, (वेदरूप) ब्रह्मका उपासना-स्थान, मुक्तिका द्वारभूत, अमृतस्वरूप और कालात्मा होनेसे मृत्युरूप यह सूर्य ही जिसका नेत्र है, ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३६ ॥

प्राणाद्यभूद्यस्य चराचराणां प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३७॥
श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३८॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादान्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः ।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३९॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययासन्धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४०॥
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीद्भुजयोर्बलं च ।

चर-अचर जीवोंकी मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति, इन्द्रियशक्ति-रूप पाँच प्रकारके प्राणरूपसे वर्तमान वायु जिनके प्राणवायुसे उत्पन्न हुआ है, जैसे सार्वभौम राजाके सेवक उसके अनुकूल रहते हैं वैसे ही जिसके हम बुद्धि आदिके अधिष्ठाता ब्रह्मादि देवता अनुकूल रहते हैं ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥

जिनके कानसे दिशाएँ, हृदयसे देहके छिद्र, नाभिसे प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, नागकूर्म आदि और शरीरका आश्रय आकाश उत्पन्न हुआ, ऐसे ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३८ ॥

जिनके बलसे महेन्द्र, प्रसादसे सम्पूर्ण देवता, क्रोधसे रुद्र, बुद्धिसे ब्रह्मा, देहके छिद्रोंसे छन्द तथा ऋषि और शिश्नसे प्रजापति उत्पन्न हुए, ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३९ ॥

तथा जिनके वक्षःस्थलसे महालक्ष्मी, छायासे पितर, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, शिरसे स्वर्ग, विहारसे अप्सराएँ उत्पन्न हुई ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ४० ॥

जिनके मुखसे ब्राह्मणकुल और अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञापक वेद, भुजाओंसे क्षत्रिय और प्रजापालन-शक्ति, जङ्घाओंसे वैश्य और उनकी

ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४१॥
लोभोऽधरात्प्रीतिरुपर्यभूद्द्युतिर्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४२॥
द्रव्यं वयः कर्मगुणान्विशेषं यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।
यद्दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४३॥
नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभिर्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥४४॥
स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् ।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥४५॥

वृत्ति और चरणोंसे वेदव्यतिरिक्त सेवावृत्ति करनेवाले शूद्र उत्पन्न हुए हैं, ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ४१ ॥

जिनके नीचेके ओष्ठसे लोभ, ऊपरके ओष्ठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पशुओं एवं पशुतुल्योंका अभीष्ट काम, भ्रुकुटोसे यम और पलकोंसे काल उत्पन्न हुआ, ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ४२ ॥

मायामय होनेसे जाननेमें नहीं आनेवाले और विद्वानोंसे त्याज्य तेईस तत्त्व, काल, जीवका अदृष्ट, सत्त्वादि गुण और कार्यवर्ग (अर्थात् जगत्) जिसकी योगमायासे उत्पन्न हुए कहे जाते हैं ऐसे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ४३ ॥

जो सत्त्वादि गुणोंसे रहित हैं तथा आत्मनिष्ठ होनेसे जो नित्यानन्दसे परिपूर्ण हैं । जैसे वायु सर्वत्र सञ्चार करती हुई कहीं आसक्त नहीं होती है, वैसे ही जो माया-कृत प्रकृतिके गुणोंमें आसक्त नहीं होते ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

आपके मुखकमलका दर्शन करनेकी इच्छासे शरणमें आये हुए हमको (आप भक्तवत्सल) इस प्रकार अपना स्वरूप दिखाओ कि वह हमारी इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष हो जाय ॥ ४५ ॥

तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो ।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत्करोति हि ॥४६॥
क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि च ।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥४७॥
नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः ।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः ॥४८॥
यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥४९॥
नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥५०॥

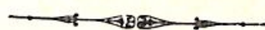
हे विभो ! समय-समयपर अपनी इच्छासे धारण किये गये उन-उन रूपोंसे आप हमलोगोंसे न हो सकनेवाले कर्मोंको स्वयं ही करते हैं ॥४६॥

देहमें अभिमान रखनेवाले विषयासक्त पुरुषोंके कर्म अति क्लेश-युक्त न्यून फलवाले अथवा निष्फल होते हैं, किन्तु आपमें अर्पण किये कर्म कदापि विफल नहीं होते ॥ ४७ ॥

ईश्वरमें अर्पण किया गया अति न्यून कर्माभास भी निष्फल नहीं होता है; क्योंकि वह ईश्वर सब प्राणियोंकी आत्मा है इस कारण प्रिय और हित है। (भाव यह है कि प्रिय और हित ईश्वरके अर्पण किये गये कर्म निष्फल नहीं होते हैं) ॥ ४८ ॥

जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेपर उसकी शाखा और तनेकी भी सिंचाई हो जाती है, इसी प्रकार विष्णु भगवान्‌की आराधनासे सम्पूर्ण जीवोंका तथा स्वयं अपना भी आराधन हो जाता है ॥ ४९ ॥

जिनका अन्त नहीं है, जिनके कर्मोंकी तर्कना नहीं हो सकती, जो निर्गुण हैं, जो गुणोंके नियन्ता हैं और जिन्होंने इस समय सत्त्व-गुणको स्वीकार किया है ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ५० ॥



ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति[1] (२)

अजातजन्मस्थितिसंयमायागुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते ॥८॥
रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यं श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्तौ ॥ ९ ॥
त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥१०॥
त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः॥११॥

(इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अपना दर्शन दिया । तदनन्तर ब्रह्माजी पुनः स्तुति करते हैं—) जन्म, स्थिति तथा नाशसे रहित, निर्गुण, मोक्ष-सुखके समुद्र, अति सूक्ष्म अनन्तमूर्तिधारी एवं अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न आपको नमस्कार है ॥ ८ ॥

(यह प्रतिपादन करते हैं कि भगवान्की मूर्तियाँ सनातन और व्यापक हैं—) हे पुरुषर्षभ ! हे धातः ! आपका यह स्वरूप वेद और तन्त्रसे बताये गये साधनोंके द्वारा श्रेयकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिये सदा पूज्य है (भाव यह है कि यह नया शरीर नहीं है) अहो ! यह स्पष्ट है कि आप विश्वमूर्तिमें मैं सम्पूर्ण देवताओंसहित त्रिलोकीको देखता हूँ ॥९॥

यह जगत् सृष्टिसे पहले, सृष्टिके समय और सृष्टिके अन्तमें स्वतन्त्ररूप आपमें विद्यमान था । आप प्रकृतिसे भी पर हैं इस कारण जैसे मृत्तिका घटका आदि, मध्य और अन्त है वैसे ही आप भी इस जगत्के आदि, अन्त और मध्य हैं ॥ १० ॥

आप अपने आश्रयमें रहनेवाली अपनी मायासे इस जगत्की सृष्टि रचकर उसमें प्रविष्ट हुए हैं । शास्त्र जाननेवाले सावधान विवेकी पुरुष गुणोंके विकारके समय भी आपको निर्गुणरूपसे देखते हैं ॥ ११ ॥

१. भा० स्क० ८ अ० ६ ।

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां गुणेषु बुद्धया कवयो वदन्ति ॥१२॥
तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥१३॥
स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्किंवान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥१४॥
अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता विधत्स्व शं नो द्विज देवमन्त्रम् ॥१५॥

जैसे मन्थनसे काष्ठमें अग्निको; दुहना आदि कर्मसे गायमें दूधको; जोतने इत्यादिसे भूमिमें अन्नको; खोदनेसे भूमिमें जलको और वाणिज्यादिसे जीविकाको मनुष्य प्राप्त करते हैं इसी प्रकार विवेकी पुरुष बुद्धिद्वारा गुणोंमें आपको प्राप्त करते हैं और आपसे सम्भाषण भी कर लेते हैं ॥१२॥

हे नाथ ! हे सरोजनाभ ! जिन्हें देखनेकी बहुत दिनोंसे अभिलाषा थी (जो केवल भक्तियोगसे ही प्राप्त हो सकते हैं) ऐसे आपको प्रत्यक्ष देखकर हम इस समय वैसे ही परमानन्दको प्राप्त हुए हैं जैसे वनके अग्निसे पीड़ित हाथी गङ्गाजल पाकर सुखी होता है ॥ १३ ॥

ऐसे सर्वेश्वर आपके शरणमें हम सब लोकपाल जिस प्रयोजनसे आये हैं उसका आप सम्पादन कीजिये। हे बाहर-भीतर व्यापक ! आप सबके साक्षी हैं, आपके लिये कौन-सी बात विज्ञापनीय है, आप हमारी हृदयगत अभिलाषाको जानते हैं ॥ १४ ॥

मैं (ब्रह्मा), महादेव, अन्यान्य देवता, और दक्ष आदि प्रजापति अग्निकी चिनगारियोंके समान आपसे पृथक् प्रतीत होनेके कारण क्या अपने सुखके साधनका कारण जानते हैं ? अर्थात् नहीं जानते। इस कारण हे ईश ! अब आप ही इन द्विज और देवताओंके सुखका उपाय कीजिये। (अर्थात् 'यह करो' ऐसा हमें उपदेश दीजिये) ॥ १५ ॥

प्रजापतिकृत शिवस्तुति[1]

देव देव महादेव भूतात्मन्भूतभावन।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ॥२१॥
त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
तत्त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥२२॥
गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो।
धत्से यदा स्वदृग्भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥२३॥
त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥२४॥

हे देवाधिदेव ! हे महादेव ! हे भूतात्मन् ! हे भूतभावन ! आप इस त्रिलोकीको जलानेवाले विषसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ २१ ॥

केवल आप ही सब जगत्के बन्ध और मोक्ष करनेमें समर्थ हैं इसलिये विवेकी पुरुष शरणागतोंके दुःखहर्ता गुरुरूप आपका पूजन करते हैं ॥ २२ ॥

हे विभो ! हे भूमन् ! स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वरूप आप जब अपनी रज तम और सत्त्वरूप शक्तियोंके द्वारा इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करना चाहते हैं तब आप ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण करते हैं। (भाव यह है कि कार्यके भेदसे नाममें भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है) ॥ २३ ॥

सब वेदोंके तात्पर्य विषय परब्रह्म आप ही हैं। देव, तिर्यक् आदि प्राणियोंके उत्पन्न करनेवाले आप ही हैं। आप ही आत्मा हैं और नाना प्रकारकी शक्तियोंके द्वारा जगत्रूपसे प्रकाश होनेवाले ईश्वर भी आप ही हैं ॥ २४ ॥

---

१. भा० स्क० ८ अ० ७।

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्मस्त्वय्यक्षरं यत्त्रिवृदामनन्ति ॥२५॥
अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥२६॥
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ॥२७॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।
छन्दांसि साक्षात्तव सप्त धातवस्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥२८॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥२९॥

वेदोंके कारण जगत्के आदि आत्मा, प्राण, इन्द्रिय, द्रव्य, गुण, स्वभाव, काल, सङ्कल्प, सत्य भाषण, मधुर भाषण और धर्म यह सब आप ही हैं, ऐसे आपके आश्रयमें त्रिगुणात्मक माया रहती है ॥ २५ ॥

हे लोकोत्पादक ! सर्व देवस्वरूप अग्नि आपका मुख है । पृथिवी चरणकमल, काल गति, दिशाएँ कान, और वरुण आपकी रसनेन्द्रिय है॥२६॥

हे भगवन् ! आकाश आपकी नाभि है, वायु श्वास है, सूर्य नेत्र हैं, जल वीर्य है, चन्द्रमा मन है, स्वर्ग शिर है; और आपका अहङ्कार ब्रह्मादि तथा तिर्यगादि जीवोंका आश्रय है ॥ २७ ॥

हे वेदत्रयमूर्ते ! समुद्र आपका पेट है, पर्वत हड्डियाँ हैं, सम्पूर्ण ओषधियाँ और लताएँ आपके रोम हैं । गायत्री आदि सात छन्द आपके सात धातु हैं । वेदमें वर्णित सम्पूर्ण धर्म आपका हृदय है ॥ २८ ॥

हे ईश ! पाँच उपनिषद् अनुवाक आपके पाँच मुख हैं, जिनसे पदच्छेदरूपसे अड़तीस मन्त्रोंका समूह होता है । हे देव ! शास्त्र-प्रसिद्ध शिवनामक स्वप्रकाश परमार्थतत्त्व आपकी उपरतावस्था है ॥२९॥

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि ।
साङ्ख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा छन्दोमयो देवऋषिः पुराणः ॥३०॥
न ते गरित्राखिललोकपाल विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥३१॥
कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत्ते ।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद ॥३२॥
ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।

अधर्मकी दम्भ-लोभ आदि लहरें आपकी छाया हैं और रज, सत्त्व, एवं तमोगुण, जिनसे इस प्रपञ्चकी सृष्टि होती है, आपके तीन नेत्र हैं। हे देव! गायत्री आदि छन्दरूप सनातन वेदशास्त्रकर्ता आपका अवलोकन है॥ ३० ॥

हे गिरित्र! आपके रज, तम, सत्त्वगुणरहित भेदशून्य परम ज्योति ब्रह्मस्वरूपको सम्पूर्ण लोकपाल, ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी नहीं जान सकते हैं॥ ३१ ॥

जो प्रलयकालमें अपने नेत्रोंसे उत्पन्न हुई अग्निकी चिनगारियोंसे अपने ही रचे हुए इस सम्पूर्ण जगत्के भस्म हो जानेपर 'यह भस्म हो गया' ऐसा तनिक भी ध्यान नहीं देते वे ही आप परमेश्वर जब कामदेव, दक्षयज्ञ, त्रिपुरादि असुर, कालकूट विष आदि तथा अनेक जीव-द्रोहियों-का नाश करते हैं तो यह कर्म आप-जैसे महामहिमके लिये अत्यन्त तुच्छ है; अतः इतनेहीसे आपका स्तवन नहीं हो सकता॥ ३२ ॥

(यह प्रतिपादन करते हैं कि दूसरोंके अनुग्रहमें व्यग्र रहनेवाले आपकी जो निन्दा करते हैं, वे मूर्ख हैं) अपने स्वरूपमें रमण करनेवाले गुरुजन जिनके चरणोंका निरन्तर ध्यान करते हैं, जो मुनियोंके सम्प्रदाय

कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूर्तिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥३३॥

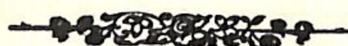
तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः ।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम् ॥३४॥

एतत्परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ॥३५॥

चलानेके लिये उग्र तप करते हैं ऐसे आपकी जो निन्दा करते हैं कि आप अत्यन्त आसक्त होकर उमादेवीके साथ विहार करते हैं और श्मशानमें विचरनेवाले क्रूर स्वभाववाले हैं, वे लोग निःसन्देह आपकी लीलाको नहीं जानते हैं और निर्लज्ज हैं। (भाव यह है कि आत्माराम योगी जिनकी सेवा करते हैं वे कामी कैसे हो सकते हैं, तपस्वीका उग्र स्वभाव कैसे हो सकता है। इस कारण ऐसे निन्दक निर्लज्ज हैं) ॥३३॥

कार्य-कारणसे परे जो प्रधान (माया) है उससे भी परे एवं सर्वव्यापक आपके यथार्थ स्वरूपको ब्रह्मादिक भी सहज ही जाननेमें समर्थ नहीं हुए फिर स्तुति करनेके लिये कैसे समर्थ होंगे। ऐसी परिस्थितिमें हम तो उनके उत्पन्न होनेके बहुत पीछे उत्पन्न हुए हैं, उससे अत्यन्त अर्वाचीन हैं तो हम आपकी स्तुति करनेके लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं? तथापि हमने अपनी शक्तिके अनुसार स्तुति की है ॥ ३४ ॥

हे महेश्वर! हम आपका केवल यह दृश्यमान रूप ही देख रहे हैं, इससे पर सूक्ष्म रूपको हम नहीं देखते हैं। अव्यक्त कर्म करनेवाले आपका प्रकट होना प्राणियोंके सुखके लिये ही है ॥ ३५ ॥



त्रयोदश प्रकरण

कामनावतारं[1]

अदिति[2], ब्रह्मा, बलि आदिद्वारा की गयी स्तुतियाँ

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८ ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
र्द्यौर्भूः रसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टा-
त्त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥१०॥

---

१. भा० स्क० ८ अ० १५ से २३ तक ।

२. भा० स्क० ८ अ० १७ के अन्तर्गत अदितिकी स्तुतिका अर्थ—

हे यज्ञेश ! हे यज्ञपुरुष ! हे अच्युत ! हे तीर्थपाद ! हे तीर्थश्रव ! जिनकी कीर्ति पापोंका विनाश करती है, जिनका नाम श्रवणमात्रसे मङ्गल करता है, जिनका आविर्भाव शरणागतोंके दुःखोंको दूर करनेके लिये होता है ऐसे हे आदिपुरुष ! हे ईश ! हे भगवन् ! आप मेरे समान दुःखियोंके पालक हैं अतः हमारे लिये सुखका सम्पादन कीजिये ॥८॥

विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये अपनी इच्छासे (न कि जीवके समान अदृष्टवश) प्रकृतिके गुणोंको स्वीकार करनेवाले, पूर्ण ज्ञानसे मायारूप अज्ञानका नाश करनेवाले, व्यापक एवं अच्युतस्वरूपवाले भूमा श्रीहरिको नमस्कार है ॥९॥

हे अनन्त ! आपके प्रसन्न होनेपर आपसे मनुष्योंको दीर्घ आयु, सुन्दरतायुक्त शरीर, असंख्य धनादि सम्पत्ति, स्वर्ग, पृथिवी, पाताल आदि लोक, सम्पूर्ण अणिमादि सिद्धि, धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग और अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होते हैं, फिर शत्रुविजयरूपी मनोरथ पूर्ण हो इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १० ॥

पिछले प्रकरणमें यह दिखलाया जा चुका है कि देवता और असुरोंके संग्राममें अन्तमें देवताओंकी ही विजय हुई। असुरोंके राजा बलिकी गहरी हार हुई और उसका शरीर भी खिन्न हो गया। तब उसके गुरु शुक्राचार्यजीने उससे विश्वजित् नामक यज्ञ करवाया। यह यज्ञ सर्वाङ्ग-परिपूर्ण होनेके कारण निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। विश्वजित् यज्ञके प्रभावसे बलि फिर समृद्धिशाली हो गया। उसका बल और ऐश्वर्य इतना बढ़ा कि देवता उसके सामने ठहर न सके। इन्द्र स्वर्ग छोड़कर भाग गया।

देवताओंकी माता अदितिको देवताओंकी इस विपत्तिसे बड़ा दुःख हुआ। उसने कश्यपजीकी बड़ी सेवा की। कश्यपजीने प्रसन्न होकर अदितिको पयोव्रतका उपदेश देकर विष्णु भगवान्की आराधना करनेके लिये कहा। अदितिने यथाविधि व्रत किया और अन्तमें भगवान् प्रकट हुए। उसने भगवान्की स्तुति की, जो इस प्रकरणके आदिमें लिख दी गयी है। भगवान्ने कहा 'हे देवि! तुम्हारे पयोव्रतसे मैं अति प्रसन्न हूँ। अब तुम्हारे उदरसे मैं अपने अंशसे अवतार लेकर देवताओंकी रक्षा करूँगा।'

तदनन्तर अदिति गर्भवती-सी प्रतीत हुई और ब्रह्माजीने उस समय विशेष गुणोंके दिखानेवाले नामोंसे उनकी स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है।

यथासमय पुरुषोत्तम भगवान्ने अदितिके गर्भसे जन्म लिया। उस समय उनका चतुर्भुजस्वरूप था। हाथमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये तथा सम्पूर्ण आभूषणोंसे युक्त थे। भगवान्को देखकर अदिति तथा कश्यपजी आश्चर्यमग्न हो गये। भगवान्ने कान्ति, भूषण और आयुधोंके द्वारा प्रतीत होनेवाला बड़ा शरीर धारण किया था। माता-पिताके देखते-देखते वे उस शरीरसे बटु (वामन) रूप हो गये। इस रूपको देखकर सबको बड़ा आनन्द हुआ।

यथासमय वामनजीका उपनयन संस्कार हुआ। उपनयन

संस्कारसे उनका रूप तपाये हुए सोनेके समान तेजस्वी प्रतीत होने लगा। अब वामनरूप भगवान् ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करने लगे। उन्होंने राजा बलिके यहाँ भृगुवंशी ब्राह्मणोंद्वारा कराये गये यज्ञोंका हाल सुना। तब भगवान् बलिके पास पहुँचे। उनको देखकर बलिकी सारी सभा चकित हो गयी। राजा बलिने भगवान्का पूजन किया और उनका चरणजल अपने मस्तकपर छिड़का। तदनन्तर राजा बलिने भगवान्से कहा 'आप साक्षात् ब्रह्मर्षियोंके मूर्तिमान् तप ही हैं। आपके आगमनसे आज मेरे पितर तृप्त हो गये। मेरा कुल पवित्र हो गया। मेरा यह यज्ञ निःसन्देह पूर्ण हो गया। आपके छोटे-से चरणोंसे यह मेरी भूमि पवित्र हो गयी। आपको जो चाहिये वह मुझसे माँगिये।' भगवान्ने बलिकी बड़ी प्रशंसा करते हुए केवल तीन पैर भूमि माँगी। राजा बलिने समझा कि भगवान्ने बालकबुद्धिसे यह अल्प याचना की है। उसने भगवान्से कहा 'मैं त्रिलोकीका एकमात्र स्वामी हूँ। यदि आप कहें तो बड़े-से-बड़ा राज्य दे दूँ, क्योंकि मेरे समीप याचनाके लिये आया हुआ पुरुष फिर दूसरेसे याचना करनेके योग्य नहीं रहता।' भगवान्ने इन अभिमानयुक्त वाक्योंको सुनकर कहा 'मैं सन्तोषी ब्राह्मण हूँ, तीन चरण पृथिवी मेरे लिये पर्याप्त है। असन्तुष्टको तो सम्पूर्ण पृथिवीके राज्यसे भी सन्तोष नहीं होता है। सन्तोषसे ब्राह्मणका तेज बढ़ता है और असन्तोषसे वह तेज ऐसा नष्ट हो जाता है जैसे जलसे अग्नि नष्ट हो जाता है।'

तदनन्तर राजा बलिने तीन चरण भूमि दान देनेके लिये हाथमें जल लिया। उस समय बलिके गुरु शुक्राचार्यजीने भगवान्का रहस्य जान लिया और अपने शिष्यको जता दिया कि 'ये वामनरूपधारी साक्षात् भगवान् हैं और देवताओंकी कार्यसिद्धि करनेके मिषसे यहाँ आये हैं। यदि इन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी दो चरणोंसे नाप ली तो देनेके लिये स्वीकृत वस्तुको देनेमें असमर्थ तुमको निश्चय ही नरक प्राप्त होगा।' राजा बलिने कहा 'मैं प्रतिज्ञाका भंग नहीं करूँगा। जिस दानसे ब्राह्मण प्रसन्न नहीं होता है वह दान व्यर्थ हो जाता है। इस कारण ब्राह्मण

जितना माँगे उतना देना चाहिये। दधीचि और शिवि आदि साधु पुरुषोंने अपने प्राणोंका भी त्याग करके दया की थी। फिर भूमि आदि-को देनेकी बात ही क्या है? यदि ये साक्षात् विष्णु हैं तो भी इनको दान दूँगा, क्योंकि इन्होंने भयभीत होनेके कारण ब्राह्मणका रूप धारण किया है।' शुक्राचार्यजीने इसपर क्रोधमें आकर शाप दिया कि 'तू शीघ्र ऐश्वर्यसे हीन हो जायगा।'

महात्मा बलिने इस शापसे भी सत्यको न छोड़ा और वे वामनरूप ब्राह्मणका पूजनकर हाथमें जल लेकर सङ्कल्प करने लगे। सङ्कल्पके जलके हाथसे गिरते ही वामनजी वामन नहीं रहे। उस समय भगवान्ने अपना सर्वदेवमय विराट्रूप दिखलाया। पृथिवी उनके चरण, आकाश सिर, तथा सूर्य और चन्द्रमा नेत्र थे। फिर वे इतने बढ़े कि पृथिवीको नापते समय सूर्य और चन्द्रमा उनके स्तनके समीप आ गये, आकाशको नापते समय वे उनके नाभिपर आ गये और स्वर्गको नापते समय उनके घुटनोंपर ही रह गये[1]। भगवान् जब इस विराट्रूपसे तीन पैर पृथिवी नापने लगे तो एक चरणसे बलिकी पृथिवी, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाओंको घेर लिया। फिर दूसरा चरण रखते ही स्वर्गलोक घिरकर चरणका कुछ भाग निराधार रह गया। तब वह चरण जनलोक और तपलोकसे ऊपर सत्यलोकमें जा पहुँचा[2]। अब तीसरा चरण रखनेके लिये स्थान ही नहीं रहा। बलिको गरुड़जीने वरुणपाशसे बाँध लिया। अब बलिके सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि कहीं प्रतिज्ञा पूरी न करनेके कारण उसको नरकभोग न करना पड़े? उसने भगवान्की स्तुति करते हुए अपना मस्तक भगवान्के सम्मुख करके तीसरे पगको रखनेके लिये अपना मस्तक सामने कर दिया। उस समय बलिके पितामह प्रह्लाद भी आ गये और उन्होंने तथा बलिकी स्त्री विन्ध्यावलि और ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुतियाँ कीं जो इस प्रकरणके अन्तमें

१. हरिवंश ३। ७२। २९

२. इसी चरणके धोवनसे गंगाजी सत्यलोकमें प्रकट हुईं।

लिखी गयी हैं। भगवान्‌ने बलिके ऊपर उसके सत्य व्यवहारसे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा 'तुमको सावर्णि मन्वन्तरमें इन्द्रपद मिलेगा और तबतक तुम सुतलके स्वामी होकर रहो, जहाँ आधि, व्याधि, ग्लानि, आलस्य तथा उपद्रव नहीं प्राप्त होते हैं। वहाँ मैं भी तुम्हारे समीप रहूँगा।'

तदनन्तर भगवान्‌ने राजा बलिका अधूरा यज्ञ पूरा करा दिया। सब देवता और ऋषियोंने वामनजीको सकल लोक और लोकपालोंका स्वामी बना दिया। इसीसे भगवान् उपेन्द्र नामसे प्रसिद्ध हो गये। अवतारका कार्य पूरा होनेपर इन्द्र भगवान् वामनको अपने विमानमें बैठाकर स्वर्गको चले गये।

यहाँपर शंका होती है कि जब बलिने भक्तिपूर्वक भगवान्‌का पूजन और अपना सर्वस्व दान कर दिया तो फिर उसका पराभव अयुक्त है। बात ठीक है यदि उसका पराभव हुआ हो। लोग कहते हैं कि भगवान्‌ने उसको ठगा; किन्तु देखा जाय तो उसने ही भगवान्‌को ठग लिया। अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करनेपर और गुरुका शाप होते हुए भी राजा बलिने सुतलका राज्य प्राप्त किया और अपनी ड्योढ़ी (फाटक) पर पहरेदार श्रीभगवान्‌को पाया।



ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति[1] (१)

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते ।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥२५॥
नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे ।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे॥२६॥
त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्यमनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः ।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं स्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम् ॥२७॥
त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः ।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥२८॥

हे कीर्तिमन् ! आपकी जय हो । हे महापराक्रमी भगवन् ! आपको नमस्कार है । ब्राह्मणोंका हित करनेवाले आपको नमस्कार है । तीनों गुणोंके नियन्ता आपको नमस्कार है ॥२५॥

(जो पूर्वजन्ममें पृश्नि थी, अब वह अदितिरूपमें उत्पन्न है) उस अदितिके गर्भमें जो स्थित हैं, जो वेदोंसे प्रकाशमान हैं, जिनकी नाभिमें तीनों लोक हैं, जो तीनों लोकोंके ऊपर रहनेवाले तथा अन्तर्यामीरूपसे सब जीवोंमें प्रविष्ट हैं, ऐसे व्यापक विष्णुको नमस्कार है ॥२६॥

विश्वके आदि, मध्य और अन्त आप ही हैं, इस कारण आपको अनन्तशक्तिमान् पुरुष कहते हैं। जैसे नदीका गम्भीर प्रवाह अपनेमें पड़े हुए तृणादिको खींचकर ले जाता है उसी तरह हे ईश ! आप कालरूपसे इस विश्वका आकर्षण करते हैं ॥ २७ ॥

हे देव ! आप चर-अचर सब प्राणियोंके तथा हम प्रजापतियोंके उत्पादक हैं और जैसे जलमें डूबते हुए मनुष्योंका आश्रय नाव होती है, वैसे ही स्वर्गसे भ्रष्ट हुए देवताओंके आप परम आश्रय हैं ॥२८॥

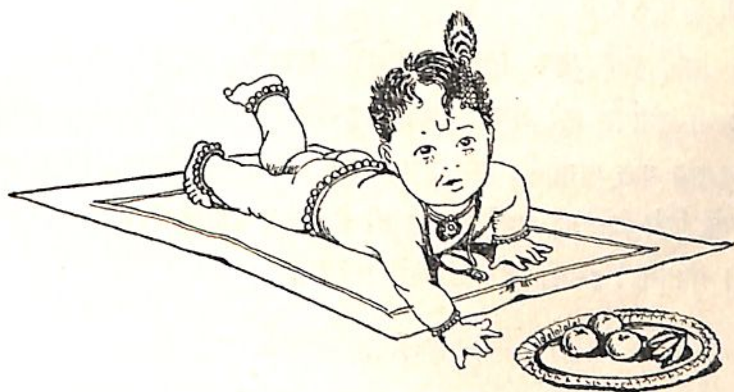
---

१. भा० ८ । १७, यह स्तुति उस समयकी है जब वामन अदितिके गर्भमें थे ।

विन्ध्यावलिकृत स्तुति[1]

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्य त आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥२०॥

हे ईश ! आपने अपनी क्रीडाके लिये इस त्रिलोकीकी सृष्टि की है । दुर्बुद्धि पुरुष आपके क्रीडास्थलरूप इस जगत्‌में अपना प्रभुत्व मानते हैं, परन्तु इस जगत्‌के स्रष्टा, पालक और संहारकर्ता आपको वे क्या समर्पण कर सकते हैं ? इस कारण वे निर्लज्ज हैं, क्योंकि उनमें जो कर्तापन है वह आपकी मायासे किया गया है, वे अपनेको स्वतन्त्र कर्ता मानते हैं । (भाव यह है कि बलिने, मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ, इस अहङ्कारसे आपको तीन पग पृथिवी देनेका सङ्कल्प किया था वह उसकी मूर्खता थी; इस कारण आप कृपा करके बलिकी रक्षा कीजिये) ॥ २० ॥



---

१. भा० ८ । २२

ब्रह्माजीद्वारा कृत स्तुति[1] (२)

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥२१॥
कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया ॥२२॥
यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥२३॥

हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगन्मय ! जिसका सर्वस्व हरा गया है ऐसे इस बलिको छोड़ दीजिये। यह दण्डनीय नहीं है ॥ २१ ॥

इस बलिने उदारबुद्धिसे आपके लिये समग्र भूमि, कर्मसे प्राप्त किये हुए स्वर्गादि लोक, अपना शरीर और अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है ॥ २२ ॥

यदि कोई पुरुष निष्कपटबुद्धिसे आपके चरणोंमें अर्घ्यके लिये जल भी समर्पित करे अथवा दूबके अङ्कुरोंसे भी भलीभाँति पूजा करे, तो भी उत्तम गति पाता है, फिर इस बलिने तो अपने चित्तको स्थिर करके आपके लिये त्रिलोकी समर्पित कर दी है, फिर यह कैसे दुःख पा सकता है। भगवन् ! इसको छोड़ दीजिये ॥२३॥



१. भा० ८। २२; यह उस समयकी स्तुति है, जब कि बलि वरुणपाशसे बँधे हुए थे।

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत्प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥

बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद् दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा॥ ३ ॥

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।

(बलि कटाक्षसे सम्बोधन करता है–) हे उत्तम कीर्तिवाले ! सुरवर्य ! यद्यपि मेरा कहा हुआ वचन अनृत नहीं है, तथापि यदि उसे आप झूठा समझते हैं तो मैं उसको सत्य करता हूँ। आप अपना तीसरा पग मेरे मस्तकपर रखिये। (भाव यह है कि आपने दो पगसे मेरी दो लोकोंकी सम्पत्ति हर ली है, अब तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिये, क्योंकि सम्पत्तिसे सम्पत्तिशाली अधिक मूल्यवान् होता है) ॥ २ ॥

(शङ्का—अपनेको क्यों अर्पण करते हो, क्योंकि अपनी रक्षा सब प्रकारसे करनी चाहिये। कहा भी है—'आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥' समाधान—) स्थानभ्रष्ट होकर मैं अपकीर्तिसे जितना अधिक भय मानता हूँ वैसा नरकके दुःखोंसे, पाशसे बँधनेसे, अति दुःसह दुःखोंसे, धनकी तंगीसे और इनके अतिरिक्त आपके दिये हुए अनेक प्रकारके दण्डोंसे भय नहीं मानता हूँ ॥ ३ ॥

(शङ्का—भगवान्के दिये हुए दण्डसे अपकीर्ति तो हो ही गयी, समाधान—) मैं परम पूज्य जनोंके द्वारा दिये हुए दण्डको पुरुषके लिये

---

१. भा० ८ । २२

यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥ ४ ॥
त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥ ५ ॥
यस्मिन्वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः ।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामुहैकान्तयोगिनः ॥ ६ ॥
तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा ।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥ ७ ॥
पितामहो मे भवदीयसम्मतः प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥

परम उत्तम मानता हूँ, क्योंकि जिस दण्डको माता, पिता, भ्राता और मित्र नहीं दे सकते हैं, उस दण्डसे मेरा अपयश नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

शत्रुरूपसे प्रतीयमान भी आप निस्सन्देह हम असुरोंके परोक्ष परम गुरु हैं; क्योंकि आपने नाना प्रकारके मदोंसे अन्धे हुए हमको ऐश्वर्य-नाशरूप नेत्र दिये हैं ॥ ५ ॥

(अब यह प्रतिपादन करते हैं कि शत्रुका बर्ताव करना भी हमारे अनुग्रहके लिये है) परम योगियोंको जो सिद्धि प्राप्त हुई है वही सिद्धि बहुत-से असुरोंको आपके साथ दृढ़ वैर बाँधनेसे हुई है ॥ ६ ॥

इस कारण यद्यपि मैं अनन्त चेष्टाओंसे युक्त गुरुरूप आपके द्वारा अपने वशमें किया गया हूँ तथा वरुणपाशोंसे बाँधा गया हूँ, तो भी मैं न तो लज्जित हूँ और न मुझे कुछ पीड़ा ही है ॥ ७ ॥

(यह कहते हैं कि आपने जो यह दण्डरूप अनुग्रह किया है वह इसलिये किया है कि मैं आपके परम भक्त प्रह्लादका पौत्र हूँ, स्वतः तो मैं अनुग्रहके योग्य नहीं हूँ ।) मेरे पितामह प्रह्लाद आपके कृपापात्र थे इसी कारण उन्होंने बड़ी कीर्ति पायी है । आपके भक्त होनेके कारण, आपके वैरी उनके पिता हिरण्यकशिपुने उनको नाना प्रकारके दुःख दिये थे ॥ ८ ॥

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥
इत्थं स निश्चित्य पितामहो महानगाधबोधो भवतः पादपद्मम् ।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तमः ॥१०॥
अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः ।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं यथाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते ॥११॥

(प्रह्लाद देहादिकी अनित्यताका निश्चय करके तनिक भी भयभीत नहीं हुए, आपके चरणोंके भक्त बने रहे; इसी कारण मैं भी दैवयोगसे उन्हींके पुण्यप्रतापसे आपकी सन्निधिमें प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार चारों (८ से ११ तक) श्लोकोंका अन्वय है ।) ऐसे देहसे क्या करना है जो अन्तमें पुरुषको छोड़ देता है ? मरनेपर धनका अपहरण करनेवाले स्वजन (पुत्रादि) नामक चोरोंसे क्या लाभ है ? जन्म-मरणरूपी संसारकी कारणभूत स्त्रीसे तथा घरसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? इन गृहोंमें तो केवल आयुका नाश ही होता है सुख तो यहाँ तनिक भी नहीं है ॥ ९ ॥

ऐसा निश्चय करके अपरिमित ज्ञानवान् परम भक्त मेरे पितामह प्रह्लाद अपने पितासे भयभीत होकर दैत्यकुलका नाश करनेवाले आपके नित्य, निर्भय चरणकमलकी शरणमें गये ॥ १० ॥

मैं भी उन्हीं प्रह्लादका पौत्र हूँ । और उनके ही भजनके प्रभावके द्वारा दैववश अपने शत्रुवत् प्रतीत होनेवाले (वास्तवमें परम हितरूप) आपके समीप पहुँचाया गया हूँ। आपने मेरे अनुग्रहके लिये मेरी सम्पदा बलात्कार-से छीन ली है । जिस सम्पदासे मलिनबुद्धि हुआ पुरुष मृत्युके निकटवर्ती यह आयु अध्रुव है, यह नहीं समझ पाता है ॥ ११ ॥

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

(जब भगवान्‌ने बलिको वर दिया था तब उसने यह कहा—) आपको प्रणाम करनेकी महिमाका क्या कहना है ? जिस प्रणाम करनेका उद्योग भी अभक्त पुरुषोंके लिये भी उसी फलकी प्राप्ति कराता है, जो आपके शरणागत भक्तोंको मिलता है, क्योंकि मुझ नीच असुरपर आपने आज ऐसा अनुग्रह किया जो लोकपाल और देवताओंको भी दुर्लभ है ॥ २ ॥



१. भा० ८ । २३

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

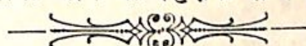
यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः।
कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः ॥ ७ ॥

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥ ८ ॥

सब जगत्के पूज्य ब्रह्मादि जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं ऐसे आप, हम असुरोंके दुर्गपाल बने हैं, ऐसा प्रसाद ब्रह्मा, लक्ष्मी और रुद्रको भी प्राप्त नहीं हुआ है, औरोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ६ ॥

हे शरणद ! जिनके चरणकमलके मकरन्दका निरन्तर सेवन करनेसे ब्रह्मादिकोंको सृष्टि रचनेकी शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ऐसे आपकी कृपादृष्टि हम दुष्ट वृत्तिवाले और उग्र योनिमें उत्पन्न हुए दैत्योंको कैसे प्राप्त हो गयी ? (आशय यह है कि यह आपकी कृपा ही है।) ॥७॥

अचिन्त्य सङ्कल्परूप योगमायाकी लीलासे जो इन भुवनोंको उत्पन्न करनेमें कुशल हैं; ऐसे सर्वात्मा, सबपर समान दृष्टि रखनेवाले आपका विषम स्वभाव है, यह बड़ी विचित्र बात है, किन्तु भक्तवत्सलमें यह विषमता नहीं है, क्योंकि आप कल्पवृक्षके समान स्वभाववाले हैं ॥८॥



---

१. भा० स्क० ८ अ० २३

चतुर्दश प्रकरण

मत्स्यावतार[1]

सत्यव्रतकृत स्तुति[2]

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥ २७ ॥
नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर ।
भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥ २८ ॥
सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।
ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥ २९ ॥
न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत्सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः ॥ ३० ॥

---

१. भा० ८ । २४

२. भा० स्क० ८ । २४ के अन्तर्गत राजा सत्यव्रतकी स्तुतिका अर्थ—

आप निस्सन्देह साक्षात् अव्यय भगवान् हैं और भक्तोंपर यह अनुग्रह करनेके लिये आपने जलचररूप धारण किया है ॥२७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे विभो ! हे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण ! आप शरणागतोंके मुख्य आत्मा और आश्रय हैं, इसलिये आपको नमस्कार है ॥२८॥

यद्यपि आपके सब लीलावतार प्राणियोंके कल्याणोंके हेतु हैं तथापि जिस निमित्त आपने यह मत्स्यरूप धारण किया है उस निमित्तको जाननेकी मुझे इच्छा हो रही है ॥२९॥

हे अरविन्दाक्ष ! जिस प्रकार देहादिमें अभिमान रखनेवाले, आपसे इतर प्राणियोंके शरणमें जाना व्यर्थ है उस प्रकार सबके मित्र, प्रिय और आत्मरूप आपके चरणकी शरणमें जाना व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि आपने हम भक्तजनोंको अपना यह अद्भुत रूप दिखाया है ॥३०॥

यहाँतक जिस प्रकार सृष्टि चली, उसका वर्णन किया गया है और इतने लंबे समयमें ब्रह्माजीका केवल एक दिन समाप्त हुआ जो चौदह मन्वन्तरोंका होता है। अभी ब्रह्माजीके इस लोकके रहनेवाले लोगोंके दिनोंके अनुसार सात दिन शेष थे।

उस समय इस पृथिवीका अधिपति राजा सत्यव्रत था। वह बड़ा तपस्वी था। एक समय राजा सत्यव्रत कृतमाला नदीमें स्नान करके तर्पण कर रहा था, इसी समय उसके हाथमें (अञ्जलिमें) एक छोटा-सा मत्स्य आ गया। राजा उसको नदीमें डालना ही चाहता था कि वह बोला—'राजन्! मेरी रक्षा कीजिये, नदीके जीव मुझको खा जायँगे।'

राजा उस मत्स्यको अपने कमण्डलुमें रखकर घर ले आया और उसने देखा कि मत्स्य इतना बढ़ गया कि वह कमण्डलुमें नहीं समा सकता है। राजाने उसको मटकेमें रख दिया, किन्तु वह फिर बढ़ गया। राजाने उसको सरोवरमें रक्खा, किन्तु वह वहाँ भी न समाया। इस प्रकार एक-से-एक बड़े-बड़े सरोवरोंमें वह मत्स्य डाला गया, पर वह बढ़ता गया। अन्तमें राजा उसको समुद्रमें डालने लगे, तब उसने कहा—'मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मुझे समुद्रमें न डालिये, वहाँ मुझे जलचर खा जायँगे।' राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने स्तुतिपूर्वक पूछा कि मत्स्यरूपसे मुझे मोहित करनेवाले तुम कौन हो? यह स्तुति इस प्रकरणके आदिमें लिख दी गयी है।

इस स्तुतिसे प्रसन्न होकर वे मत्स्यभगवान् जिन्होंने कल्पके अन्तमें क्रीडाके लिये यह रूप धारण किया था, बोले—'आजसे सातवें दिन ये भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक प्रलय-समुद्रमें डूब जायँगे। उस समय मेरी भेजी हुई एक बड़ी भारी नौका वहाँ आवेगी। तुम और सप्तर्षि सब ओषधियों और वृक्षोंके बीजोंको लेकर उस नौकामें बैठ जाना। फिर उस नौकाको मेरी पीठपर शृङ्गमें वासुकि सर्पसे बाँध देना। तब मैं तुमको ज्ञानका उपदेश दूँगा।' तदनन्तर यह मत्स्यरूप भगवान्

अन्तर्हित हो गये और राजा सत्यव्रत उस सातवें दिनकी प्रतीक्षा करता हुआ कुशासनपर बैठ गया ।

सातवें दिन समुद्र यकायक बढ़ गया और सारी पृथिवी डूबने लगी । राजाने उस जलमें एक नाव देखी और मत्स्यभगवान्के आदेशके अनुसार सप्तर्षियोंके साथ उसपर बैठ गया । नौकाको उसी मत्स्यके सींगमें बाँध दिया । तब उन मत्स्यभगवान्ने उस प्रलयकालके जलमें बड़ी क्रीडा की । तदनन्तर राजा सत्यव्रतने भगवान्की स्तुति की, जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है ।

पहले कह आये हैं कि यह प्रलय ब्रह्माजीकी रात्रि थी । ब्रह्माजी-को निद्रा प्राप्त होनेपर सब वेद उनके मुखसे बाहर गिर पड़े थे । हयग्रीव नामक दैत्योंका पति उनको उठा ले गया । मत्स्यभगवान् प्रलयके अन्तमें उस दैत्यको मारकर वेदोंको छीनकर ले आये और सब वेद ब्रह्माजीको दे दिये । इन मत्स्यभगवान्ने जो ज्ञानका उपदेश दिया था, वह मत्स्यपुराणमें लिखा है ।



सत्यव्रतद्वारा कृत स्तुति[1]

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥४६॥
जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ४७
यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ।

अनादि अविद्यासे जिनका आत्मज्ञान ढक गया है और उसी अविद्याके कारण संसारके श्रमजनक व्यापारोंसे व्याकुल हुए प्राणी इस संसारमें जिनकी आकस्मिक कृपासे, जिनके आश्रय रहकर, जिनकी प्राप्ति करते हैं वे ही आप हमारे मुक्तिदाता परम गुरु हैं। (आप हमारी हृदय-ग्रन्थियोंका भेदन कीजिये) ॥ ४६ ॥

अपने कर्मोंसे बँधा हुआ यह मूर्ख जीव जिससे प्रेरित होकर सुखकी इच्छासे दुःखद कर्म करने लगता है वह असद्बुद्धि जिनकी सेवासे नष्ट हो जाती है वे परमात्मा हमारे हृदयग्रन्थियोंको काट डालें; क्योंकि वे ही हमारे गुरु हैं ॥ ४७ ॥

(शंका—यज्ञदानादिसे अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना किस प्रकार ग्रन्थिभेद होगा? समाधान—) जैसे सुवर्ण और चाँदी अग्निके सम्पर्कसे अपने सम्पूर्ण मलको त्यागकर अपने शुद्धस्वरूपको पा जाते हैं वैसे ही जिनकी सेवासे मनुष्य अपने मनके अविद्यारूप मलको त्याग देता है और अपना

---

१. भा० स्कं० ८ अ० २४

भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो भूयात्स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥४८॥

न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥४९॥

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतस्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥५०॥

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।

निज स्वरूप पा लेता है, वही अव्यय ईश्वर हमारे गुरुओंके भी परमगुरु हैं। (भाव यह है कि जैसे अग्निके सम्पर्कसे सब मल दूर होकर स्वर्ण और चाँदी अपना रूप पा लेते हैं, धोनेसे नहीं पाते, इसी प्रकार यज्ञादिसे मल दूर नहीं होता किन्तु आपकी सेवासे होता है) ॥ ४८ ॥

पुरुषके लिये देवता, गुरु और अन्य जन एक साथ मिलकर भी जिनके अनुग्रहके दश हजारवें अंशके लेशमात्र अनुग्रहको भी नहीं कर सकते हैं ऐसे आप ईश्वरकी शरणमें हम प्राप्त हुए हैं ॥ ४९ ॥

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको आगे करके कोई लाभ नहीं उठा सकता है अर्थात् जैसे अन्धेके आगे अन्धेको करना व्यर्थ है, इसी प्रकार अज्ञानी पुरुषका मूर्खको गुरु बनाना व्यर्थ है; इस कारण आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवाले हम लोगोंने सूर्यादिके भी प्रकाशक तथा सब इन्द्रियों और अन्तःकरणके साक्षीरूप आपको अपना गुरु बनाया है ॥५०॥

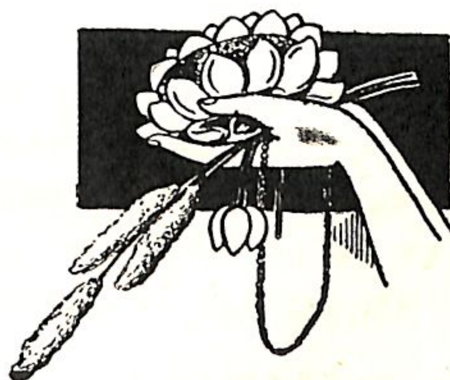
अपनेको गुरु माननेवाला अज्ञानी पुरुष अन्य अज्ञ मनुष्यको कुत्सित कामादि विषयोंका उपदेश करता है जिससे उसको दुस्तर नरकादिरूप संसार मिलता है। किन्तु आप अविनाशी, अमोघ आत्म-

त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥५१॥
त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः ।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधीर्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥५२॥
तं त्वामहं देववरं वरेण्यं प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन्वचोभिर्ग्रन्थीन्हृदय्यान्विवृणु स्वमोकः ॥५३॥

तत्त्वका उपदेश करते हैं, जिस ज्ञानसे प्राणी अनायास ही अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

आप सब जनोंके मित्र, प्रिय, ईश्वर, आत्मा, गुरु और इच्छित फलरूप हैं, तथापि विवेकहीन विषयासक्त मनुष्य, हृदयमें रहनेवाले आपको नहीं जानता है ॥ ५२ ॥

ऐसे महिमाशाली देवताओंके पूज्य श्रेष्ठ ईश्वर आपके तत्त्वका उपदेश पानेके लिये मैं आपकी शरण आया हूँ इसलिये आप परमार्थतत्त्व प्रकाश करनेवाले अपने वाक्योंसे मेरे हृदयकी ग्रन्थिका नाश कीजिये (अर्थात् अहंकारादिको दूर कीजिये) और अपने स्वरूपको प्रकाशित कीजिये ॥५३॥



सातवाँ अध्याय

गंगाजीका अवतरण[1]

प्रथम प्रकरण

अंशुमान्‌द्वारा कृत स्तुति

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम्[2] ॥

पिछले प्रकरणमें नैमित्तिक प्रलयका वृत्तान्त कहा जा चुका है। उस समय राजा सत्यव्रतने मत्स्य भगवान्‌की स्तुति की थी। इस प्रलयके अनन्तर वही सत्यव्रत राजा विवस्वान्‌का पुत्र होकर दूसरे कल्पमें वैवस्वत नामवाला मनु हुआ। इस कल्पमें भी सृष्टि पूर्ववत् हुई। इस वैवस्वत मनुके इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र हुए और कई कन्याएँ हुईं। उनके सब सन्तानोंका वर्णन भागवतके नवम स्कन्धमें आता है। इक्ष्वाकु राजाके सौ पुत्र हुए।

इसी वंशमें प्रसिद्ध राजा भगीरथ और महाराज रामचन्द्रजी हुए। राजा भगीरथके प्रपितामह सगरने बड़े-बड़े यज्ञ किये। एक अश्वमेध-यज्ञके घोड़ेको इन्द्रने चुराकर कपिल ऋषिके सामने बाँध दिया। कपिलजी उस समय ध्यानमें निमग्न थे।

इस राजाके साठ हजार पुत्र थे। वे सब घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये घरसे चले। उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी चारों ओरसे छान डाली किन्तु घोड़ा नहीं मिला। इसके बाद इन्होंने ईशानकोणकी दिशामें कपिल ऋषिके पास घोड़ा बँधा हुआ देखा। वे कोलाहल मचाते हुए कहने लगे कि यह चोर है और आँख बन्द करके बैठा है, इसको मारो। इतनेमें

---

१. भा० स्कं० ९ अ० १ से ९ तक।

२. अर्थ इसी अध्यायके श्लोक २५ की टीकामें देखिये।



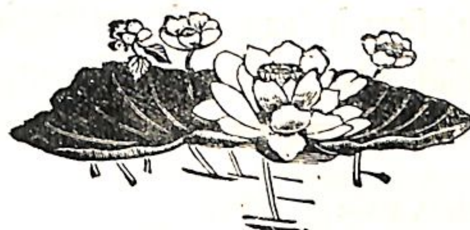
योगीश्वर शिव

कपिलजीकी समाधि टूट गयी, उन्होंने नेत्र खोले तो उनकी दृष्टि पड़ते ही वे साठ हजार पुत्र राखकी ढेर बन गये।

फिर राजा सगरका पौत्र अंशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये चला। उसने खोदी हुई भूमिमें जाते-जाते मार्गमें भस्मका ढेर और कपिलजीके सामने घोड़ेको देखा। उसने कपिलजीकी स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिख दी गयी है। भगवान् कपिलजीने प्रसन्न होकर घोड़ा वापिस ले जाने दिया और यह कहा कि गङ्गाजीके जलसे उसके मृत पितृव्यों (चाचागण)का उद्धार होगा।

तदनन्तर यज्ञ समाप्त हो गया और राजा सगर अंशुमान्को राज्य देकर गङ्गाजीको लानेके निमित्त तप करनेके लिये वनमें चले गये। किन्तु यह इस काममें सफल न हो सके और न उनका पुत्र दिलीप ही सफल हुआ।

दिलीपके पुत्र भगीरथने भी बड़ा तप किया, उसकी तपस्यासे गङ्गाजी प्रसन्न हो गयीं तथा भूमिपर आनेको उद्यत हुईं। गङ्गाजीके भूमिपर गिरनेके वेगको सहन करनेवाला शिवजीसे अन्य कोई भी व्यक्ति नहीं था। राजा भगीरथके प्रार्थना करनेपर शिवजीने अपने मस्तकपर गङ्गाजीको धारण किया और तदनन्तर राजा भगीरथ गङ्गाजीको उसी स्थानपर ले आये जहाँ उसके पितामह भस्म हुए थे। गङ्गाजीके स्पर्श होते ही वे साठ हजार सगरके पुत्र स्वर्गको चले गये। व्यास भगवान् कहते हैं कि गङ्गाजीका जो स्वर्गमें पहुँचानेका माहात्म्य है वह कोई बड़ी आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि गङ्गाजी अनन्तरूपी वामन भगवान्के चरण-कमलसे उत्पन्न होनेके कारण संसार-बन्धनको भी दूर करनेवाली हैं।



अंशुमान्‌द्वारा कृत स्तुति[1]

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो न बुद्ध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधीविसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥२२॥
ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना गुणान्विपश्यन्त्युत वा तमश्च।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥२३॥
तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभावप्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः।

अजन्मा ब्रह्माजी भी जब अपनेसे परमश्रेष्ठ आप परमेश्वरको समाधि-द्वारा प्रत्यक्षरूपसे अथवा शास्त्रीय विविध तर्कोंद्वारा परोक्षरूपसे नहीं जान सकते हैं तो आपके मन, शरीर और बुद्धिसे की गयी सृष्टिमें उत्पन्न हुए हम बहिर्मुख अज्ञानी देवता मनुष्यादि आपको जाननेके लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥२२॥

जो देहधारी मनुष्य आदि प्राणी हैं वे अपनेमें भली प्रकारसे स्थित आप परमात्माको नहीं जानते हैं किन्तु वे गुणोंको देखते हैं अथवा अज्ञानको विषय करते हैं; क्योंकि उनकी बुद्धि तीनों गुणोंके विषयोंमें लगी है इसलिये उनको बाहरकी वस्तुओंका ही ज्ञान होता है (अर्थात् वे बुद्धिके परतन्त्र होनेसे जाग्रत् और स्वप्नके विषयोंको देखते हैं; या सुषुप्तिके अज्ञानमें ही लीन रहते हैं। आपके निर्गुण रूपको नहीं देखते हैं) इसका कारण यह है कि उनका चित्त आपकी मायासे मोहित है ॥ २३ ॥

(प्रश्न—क्या विचारसे आप जाने जा सकते हैं ? उत्तर—) जिनके मायाके गुणोंसे उत्पन्न हुए भेद और मोह नष्ट हो गये हैं ऐसे सनन्दनादि मुनि ही आपके शुद्ध चैतन्य स्वरूपका चिन्तन कर सकते

---

१. भा० स्कं० ९ अ० ८

सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं कथं हि मूढः परिभावयामि ॥२४॥
प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥२५॥
त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥
अद्य नः सर्वभूतात्मन्कामकर्मेन्द्रियाशयः ।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥२७॥

हैं, मायाके गुणोंके अधीन मैं मूर्ख पुरुष आपके शुद्ध स्वरूपका चिन्तन भला किस प्रकार कर सकता हूँ ?॥२४॥

आप सत्त्वादि गुणोंसे और उनके कार्य देहादिसे रहित हैं, आपका कोई नाम और रूप नहीं है, आप पुण्य-पापसे मुक्त हैं। (शंका–फिर आपकी प्रतीति किस प्रकार होगी ? समाधान–) तथापि ज्ञानका उपदेश करनेके लिये आप शुद्ध सत्त्वगुणी मूर्ति धारण करते हैं, ऐसे आप पुराण पुरुषको हम नमस्कार करते हैं ॥ २५ ॥

(अब दो श्लोकोंसे अपने भाग्यकी बड़ाई करते हैं–) काम, लोभ, ईर्ष्या और अविवेकसे मोहित हुए प्राणी आपकी मायासे रचे हुए इस संसारमें, घर-स्त्री आदिमें सत्य-बुद्धि करके आसक्त हो रहे हैं ॥२६॥

हे सर्वभूतात्मन् ! हे भगवन् ! आज आपके दर्शनसे हमारी मोहकी बेड़ी, जो वासना, कर्म और इन्द्रियोंका आश्रय है, कट गयो है ॥ २७ ॥



आठवाँ अध्याय

त्रेतायुगमें श्रीरामावतार तथा श्रीपरशुरामावतार

प्रथम प्रकरण

शुकद्वारा कृत स्तुति ।

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषा रोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः[2] ॥

इक्ष्वाकुवंशमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका जन्म हुआ । इनके पिता दशरथजीके तीन रानियाँ (स्त्रियाँ) थीं । उनमेंसे कौशल्याजीसे श्रीराम हुए, कैकेयीसे श्रीभरत हुए और सुमित्रासे लक्ष्मण और शत्रुघ्न हुए ।

श्रीरामजीने स्वयंवरमें शिवजीका बड़ा भारी धनुष तोड़कर जनक राजाकी पुत्री सीताके साथ विवाह किया । अन्य कोई राजा

---

१. भा० स्कं० ९ अ० १० से १६ तक ।

२. भा० स्कं० ९ अ० १० के अन्तर्गत शुककृत स्तुतिका अर्थ—

जो पिता दशरथकी वाणीको सत्य करनेके लिये राज्य त्यागकर, जिन्हें सीताजीके कोमल हाथोंका स्पर्श भी सहन नहीं होता, ऐसे कमलतुल्य चरणोंसे वन-वन घूमते फिरे, जिनके मार्गका श्रम लक्ष्मण तथा सुग्रीव (हनुमान्) से दूर किया गया, शूर्पणखाके नाक-कान काटनेपर जब रावणने सीताका हरण किया तब जिनके सीताविरहजन्य क्रोधसे चढ़ी हुई युगल भ्रुकुटीसे समुद्र भयभीत हो गया, तदनन्तर उसकी प्रार्थनासे जिन्होंने उसपर सेतु बाँधा और जो रावणादि दुष्टरूपी वनको जलानेके लिये अग्निस्वरूप ही हैं वे कोशलदेशके राजा रामचन्द्रजी हमारी रक्षा करें ।

उस धनुषको उठा भी न सका। धनुष तोड़नेके बाद श्रीपरशुरामजी धनुष तोड़नेवालेको दण्ड देनेके लिये वहाँ आ पहुँचे। परन्तु वे श्रीरामचन्द्रजीकी बातोंमें ही दब गये।

जब रामचन्द्रजीके राजगद्दीका समय आया तब भवितव्यताने कैकेयीकी बुद्धि पलट दी। उसने कभी पहले अपने पति राजा दशरथसे दो वर प्राप्त किये थे। उनमेंसे एक वरसे उसने यह माँगा कि उसका पुत्र भरत राजा हो और दूसरेसे यह माँगा कि रामचन्द्र चौदह वर्षतक वनमें रहें। सत्यरूप पाशसे बँधे हुए पिताकी आज्ञाको कैकेयीके मुखसे सुनकर श्रीराम वनमें चले गये।

वनमें सीताजीका तिरस्कार करनेके लिये शूर्पणखा आयी। रामचन्द्रजीके इशारेपर लक्ष्मणजीने उसके नाक-कान काटकर उसे विरूप कर दिया। रामचन्द्रजीने उसका बदला लेनेको आये हुए उसके भाई खर, त्रिशिर और दूषणको चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ

---

१. परशुरामजीके पितामह ऋचीक ऋषि थे। उनका विवाह गाधि राजाकी कन्या सत्यवतीसे हुआ था। सत्यवतीको कोई पुत्र नहीं हुआ और न उसकी माताको कोई लड़का था। सत्यवतीके आग्रहपर ऋचीक ऋषिने चरु पकाकर दो भागोंमें बाँट दिया। जो भाग सत्यवतीके लिये था उसमें ब्रह्मतेज, और जो उसकी माँके लिये था उसमें क्षत्रियतेज आमन्त्रित कर दिया गया था। सत्यवतीकी माताने सत्यवतीसे माँगकर उसका भाग रख लिया और अपना भाग सत्यवतीको दे दिया जिसने क्षत्रियतेजवाला भाग खा लिया। उस समय ऋचीकजी स्नान करनेके लिये चले गये थे। लौटनेपर यह सब हाल मालूम हुआ। तब सत्यवतीकी प्रार्थनापर ऋषिने कहा तेरा पौत्र उग्र स्वभाववाला होगा।

समय पाकर सत्यवतीके जमदग्नि हुए और जमदग्निके यहाँ पराक्रमी परशुराम भगवान्की कलाओंसे उत्पन्न हुए। जमदग्निके आश्रममें एक समय राजा कार्तवीर्य अर्जुन अपनी सेनाके साथ आये। जमदग्निके पास कामधेनु थी, उसके प्रतापसे उन्होंने सेनासहित राजाका अच्छा आतिथ्य-सत्कार किया। कामधेनुका अलौकिक प्रभाव देखकर राजा कार्तवीर्य अर्जुनने ऋषिसे गाय माँगी किन्तु ऋषिने उसे देनेसे इनकार कर दिया। राजा गायको बलपूर्वक छीन ले गये। राजाकी यह उद्दण्डता परशुरामसे सही नहीं गयी उन्होंने राजाको मार डाला और इस वंशके क्षत्रियोंको इक्कीस बार निर्जीव कर दिया। परशुरामने यह सम्पूर्ण पृथिवी जीतकर ब्राह्मणोंको दान दे दी। रामावतारके समय उनके अवतारका प्रयोजन समाप्त हो गया था, इससे वे तप करनेके लिये वनमें चले गये।

मार डाला। फिर शूर्पणखाका बड़ा भाई रावण सीताजीको चुराकर लङ्कामें ले गया। भगवान् रामचन्द्रजीने सुग्रीव और हनुमान्से मैत्री करके समुद्रमें पुल बाँधकर लङ्कामें चढ़ाई कर दी। श्रीरामचन्द्रजीने रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्सहित करोड़ों राक्षसोंको मारकर लङ्काका राज्य रावणके छोटे भाई विभीषणको दे दिया। विभीषण पहले ही भगवान्की शरणमें चला गया था। तदुपरान्त रामचन्द्रजी शीघ्र पुष्पक विमानमें बैठकर अयोध्याको लौट आये। भरतजीने स्वयं राज्य न कर रामचन्द्रजीके वापस लौट आनेकी अवधितक तप किया। यदि भगवान् उस मितितक न लौटते तो भरतजीका प्राणान्त हो जाता। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने कई सहस्र वर्षतक अयोध्यामें राज्य किया।

एक समय लोगोंका अपने प्रति अनुराग जाननेके लिये भगवान् रामचन्द्रजीद्वारा नियुक्त अनुचरने किसी धोबीको अपनी स्त्रीसे यह कहते सुना "मैं रामचन्द्र-जैसा नहीं हूँ जिसने परपुरुष (रावण) के घर गयी हुई स्त्रीको फिर ग्रहण कर लिया।" श्रीरामचन्द्रजी मर्यादा बिगाड़ना नहीं चाहते थे, उन्होंने गर्भवती सीताका त्यागकर उसे वनमें भेज दिया। सीताजी वहाँ (वनमें) वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें रहीं, जहाँ उनके लव, कुश नामके दो बालक पैदा हुए। इनसे फिर आगे सूर्यवंश चला।

श्रीरामचन्द्रजीने अपने राज्य-शासनकालमें बड़े-बड़े यज्ञ किये और उनके अन्तमें चारों दिशाओंकी भूमि होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाताको और मध्यकी भूमि आचार्यको दे दी। इन ब्राह्मणोंने उस प्राप्त भूमिको यह कहकर वापस कर दिया कि हम इस पृथिवीकी रक्षा करनेके लिये असमर्थ हैं। फिर उन ब्राह्मणोंने भगवान्की स्तुति की जो इस प्रकरणके अन्तमें लिखी गयी है।

भगवान् रामचन्द्रजीके चरित्रोंके कोटिशः[1] ग्रन्थ हैं। उनको लिखना कहाँतक सम्भव हो सकता है? अपनी लेखनीको पवित्र करनेके लिये इस अध्यायमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके अद्भुत चरित्रोंके कणोंमेंसे केवल एक कणके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशका उल्लेख किया है।



---

१. चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

ब्राह्मणोंद्वारा कृत स्तुति[1]।

अप्रत्तं नस्त्वया किन्नु भगवन् भुवनेश्वर।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥ ६ ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥ ७ ॥

हे भगवन्! हे भुवनेश्वर! आपने हमको क्या नहीं दिया? अर्थात् सब कुछ दिया है, क्योंकि आप हमारे हृदयमें प्रवेश करके अपने प्रकाशसे हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कर रहे हैं ॥ ६ ॥

जो ब्रह्मादिकोंसे भी श्रेष्ठ हैं, जिनका ज्ञान लुप्त नहीं होता है, जिनका यश उत्तम है, जिनका चरण सब प्राणियोंसे प्रेम करनेवाले मुनियोंने अपने हृदयमें स्थापन किया है, ऐसे भगवान् श्रीरामचन्द्रको नमस्कार है ॥ ७ ॥



---

१. भा० स्कं० ९ अ० ११।

नवम अध्याय

वेदस्तुति

प्रथम प्रकरण

संक्षिप्त वेदस्तुति

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधनो योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्[1] ॥

श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत अनेकों प्रकारकी स्तुतियोंका सानुवाद संग्रह सम्पूर्ण हो गया । उनका पूर्वापर विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके मूलमें प्रायः सगुणपरक श्रुतियाँ ही हैं, और ब्रह्म निर्गुण है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि वेदकी प्रवृत्ति निर्गुण और असङ्ग ब्रह्ममें किस प्रकार होगी ? तात्पर्य यह है कि श्रुतियाँ शब्दमात्र हैं और उनसे किसी वस्तुका वर्णन किसी वस्तुके धर्म आदि निमित्तसे होगा । यह

---

१. भा० स्कं० १० अ० ८७ श्लो० ५० शुकदेवजीकृत संक्षिप्त वेदस्तुतिका अर्थ—

जो इस संसारके उत्प्रेक्षक हैं अर्थात् जो अपनेमें सोये हुए पुरुषोंके सब पुरुषार्थ सिद्ध होनेके निमित्त इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेका संकल्प करते हैं (अर्थात् निमित्त कारण हैं) । जो अपने संकल्पके अनुसार इस जगत्के आदि, मध्य और अन्तमें रहते हैं (अर्थात् उपादान कारण हैं) । जो अव्यक्त और जीवके ईश्वर (नियन्ता) हैं । जो इस ब्रह्माण्डको उत्पन्न कर उसमें जीवरूपसे प्रवेश करके उन जीवोंके शरीरको बनाकर उनका शासन करते हैं (अर्थात् उनका परिपालन करते हैं) । जिनकी प्राप्ति होनेपर यह जीव जिनके चरणतलमें बारंबार दण्डके समान प्रणाम करके कार्य-कारणरूप अविद्याको इस प्रकार त्याग देता है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपने शरीरका अनुसन्धान नहीं रखता है (भाव यह है कि जीवन्मुक्तके देहको अन्य आदमी देखते हैं वह नहीं देखता है) । तथा अप्रच्छन्न स्वभावसे जिन्होंने मायाका त्याग कर दिया उन श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करना चाहिये ।

निमित्त सम्बन्ध, स्वरूप, या जाति या गुण या क्रिया हो सकता है। सम्बन्ध इस प्रकारसे होता है, जैसे किसीने कहा कि गंगापर मल्लाहका घर है। यहाँ लक्षणा वृत्तिसे गंगाका अर्थ गंगातट होता है। जब ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं तो सम्बन्धनिमित्त नहीं बन सकता। गो आदिके समान रूढ़ि भी नहीं है; क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप निरुपाधिक है। जाति भी नहीं है; क्योंकि सामान्य या विशेषरूपसे ब्रह्मका कथन नहीं हो सकता है, जैसे गो आदि जातिका वर्णन किया जा सकता है। ब्रह्म अक्रिय है, इससे पाचक शब्दके समान शब्दकी प्रवृत्तिरूप क्रिया नहीं हो सकती। निर्गुण ब्रह्ममें नील, पीतादि गुण भी नहीं हैं; इस कारण शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त न होनेसे श्रुतियाँ किस प्रकार ब्रह्मका प्रतिपादन कर सकती हैं?

इसका सूक्ष्म दृष्टिसे यह उत्तर है कि मनुष्योंके धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिये ईश्वरने कल्पके आदिमें अपने श्वासोंसे श्रुतिको प्रकट किया और श्रुतिके तात्पर्यको जीव जाने, इसके निमित्त अर्थात् ब्रह्मज्ञानके निमित्त बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी रचना की। जिस प्रकार इन्द्रियोंसे रूप तथा शब्दादिकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रियसे महावाक्यके अर्थका श्रावण शाब्दबोध होता है। उस सुने हुएकी मीमांसा (मनन) मनसे होती है और उसके अर्थका निश्चय बुद्धिसे[1] होता है। प्राणोंसे जीव जीवित रहते हैं, अतः मनुष्य श्रवणादिद्वारा श्रुतियोंके अर्थको जानकर मनसे उसकी मीमांसा करके बुद्धिसे ब्रह्मानुभव करते हैं अर्थात् श्रुतियाँ[2] ब्रह्मके ज्ञानको करा देती हैं।

श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं जो गुणोंसे अभिभूत नहीं होता है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वेश्वर है, सबका नियन्ता है, सबका उपास्य है,

---

१. ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम्।
आकाशमिव कुम्भेषु बुद्धिमध्ये न चान्यथा॥ —कावषेयगीता

२. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, सो अकामयत बहु स्याम्, तत्तेजो असृजत, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

कर्मफलदाता है, सर्वकल्याणगुणगणयुक्त है, वह ब्रह्म ध्यानका विषय हो सकता है। इसी प्रकार 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आदि श्रुतियाँ ईश्वरको मुख्य वृत्तिसे ज्ञानादि रूप और भक्तवात्सल्यादि गुणोंसे युक्त प्रतिपादन करके उसीको लक्षणा वृत्तिसे चिद्रूप बतलाती हैं। संसारी जीव सब विशेषणोंका बाधकर 'तत्त्वमस्यादि' वाक्योंसे सामानाधिकरण्य करके अपनेको ब्रह्म समझ सकता है। अतः यह सिद्ध है कि सब श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्ममें है। अस्थूलादि श्रुतियाँ साक्षात् उपाधिके निवारण करनेसे निर्गुणपरक हैं। सर्वज्ञादि श्रुतियाँ जो गुण वर्णन करती हैं वे केवल ईश्वरहीमें हो सकते हैं। उपासनाका निरूपण करनेवाली श्रुतियाँ अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा ज्ञानके साधनोंका उपदेश करती हुई परम्परया ब्रह्मपरक ही हैं। सृष्टि आदिकी प्रतिपादक श्रुतियाँ ज्ञान-वैराग्यका साधन होकर सृष्टि आदिका प्रतिपादन करके ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं।

यही विषय एक इतिहासके द्वारा इस प्रकार कहा गया है कि एक समय सब ऋषिगण जनलोकमें एकत्रित हुए। वहाँ सनन्दनजीने वक्ताके स्थानसे व्याख्यान दिया कि जब प्रलयकालमें शक्तियोंसहित सब जगत् परमेश्वरमें लीन हो गया और उसके अनन्तर जब सृष्टि उत्पन्न होनेको हुई तब परमेश्वरके प्रथम श्वासोच्छ्वासोंसे प्रकट हुई श्रुतियाँ उन्हीं परमेश्वरका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंसे उनको इस प्रकार जगाने लगीं जैसे चारण राजाओंको उनकी स्तुति करके जगाते हैं। यही वेदस्तुति है, जिसका उल्लेख इस प्रकरणमें किया गया है। इस स्तुतिसे ज्ञात होगा कि किस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं।



वेदस्तुति[1]

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१४॥

हे अजित ! आप अपना ऐश्वर्य प्रकट करें, स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी अविद्याका नाश करें, क्योंकि वह आनन्दादि गुणोंको ढकनेके निमित्त तम आदि गुणोंका ग्रहण करनेवाली है (जैसे स्वैरिणी स्त्री दूसरोंको ठगनेके निमित्त हाव-भाव आदि गुणोंका ग्रहण करती है)। (शङ्का–तब तो वह मुझ परमेश्वरमें भी दोषका आधान कर सकती है, उसपर मेरा क्या जोर है ? समाधान–ऐसा न कहें;) क्योंकि आपको स्वभावहीसे सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हैं (भाव यह है कि माया आपके वशमें है)। (शङ्का—जीव ज्ञान-वैराग्यादि साधनोंसे अविद्याका नाश स्वयं ही क्यों नहीं करता है ? समाधान—) परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सबकी शक्तियोंके अवबोधक हैं, अतः जीव ज्ञानादि साधनोंमें स्वतन्त्र नहीं है। (शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ? समाधान—) वेद प्रमाण है। (शङ्का—यदि मैं (ईश्वर) ऐसा हूँ तो मुझमें वेदोंकी प्रवृत्ति

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

जय जयाजित जह्यगजङ्गमावृतिमजामुपनीतमृषागुणाम् ।
न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव ॥१॥

हे अजेय ! आपकी जय हो ! जय हो ! मिथ्या गुण दिखानेवाली और इन स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके ज्ञानको ढकनेवाली अविद्याको नष्ट कीजिये। ये प्राणी आपके अनुग्रहके बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं; वेदोंमें आपकी गुणसागरताका वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

१. भा० स्क० १० अ० ८७

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

कैसे होती है ? समाधान—) कभी—सृष्टि आदिके समय मायाके साथ क्रीडा करनेवाले और कभी भी नष्ट न होनेवाले ऐश्वर्यसे सदा युक्त रहनेके कारण सत्य ज्ञान अनन्त आदि रूपसे वर्तमान रहनेवाले आपका प्रतिपादन वेद[1] करते हैं ॥१४॥

(शङ्का—श्रुतियोंमें केवल मेरा ही प्रतिपादन कैसे है ? वहाँ तो इन्द्रादि देवताओंका भी प्रतिपादन किया है, यथा 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इत्यादि[2] श्रुतियोंने इन्द्रको स्थावर-जङ्गमका राजा प्रतिपादित किया है, समाधान—) यह दीखनेवाला इन्द्रादिरूप सब जगत् ब्रह्म ही है ऐसा विद्वान् पुरुष जानते हैं, क्योंकि सब वस्तुका निषेध करनेपर आप ब्रह्म ही शेष रहते हैं। (शङ्का—यह कैसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही शेष रहता है ? समाधान—) जैसे मृत्तिका[3]के विकारभूत घट आदिकी उत्पत्ति और लय मृत्तिकामें ही होते हैं उसी प्रकार आप ब्रह्मसे ही इस जगत्‌की उत्पत्ति

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

द्रुहिणवह्निरवीन्दुमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम् ।
बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे ॥ २ ॥

ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता तथा यह जगत् आपसे अलग नहीं उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार वेदके अनेक मन्त्रोंसे अनेकों देवताओंका वर्णन किये हुए आप अनेक मूर्तिवाले अजन्माका ही वर्णन होता है ॥२॥

१. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' 'य आत्मनि तिष्ठन् ।' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि ।

२. अग्निर्मूर्द्धादिव ।

३. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

और आपहीमें इसका लय होता है। (क्योंकि सबके उपादान आप ही हैं। तथा जिस प्रकार मिट्टीके विकारभूत घट, शरावादिके नाश होनेपर मृत्तिका ही सत्य अवशिष्ट रहती है—उसी प्रकार विकारको प्राप्त होनेवाले जगत्के पदार्थोंका नाश होनेपर आप ही सत्य अवशिष्ट रहते हैं।) इस कारण मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन और वाणीके गोचर जो वस्तुजात हैं उन्हें इन्द्रादि नामोंसे आपको ही निश्चित किया है विकारोंको नहीं अर्थात् वज्रहस्त आदि विकारोंसे युक्त इन्द्र देवताको नहीं। मनुष्योंके अपने अधिष्ठान ईंट-पत्थरपर रक्खे हुए पाँव भूमिपर न रक्खे हुए किस प्रकार हो सकते हैं ? भाव यह है कि जैसे लकड़ी या ईंटपर पाँव रखनेसे भी पृथिवीपर ही रक्खे समझे जाते हैं इसी प्रकार वेद जिन-जिन विकारोंका वर्णन करते हैं, उनसे सबके कारण आप परमेश्वरका ही प्रतिपादन करते हैं ॥ १५ ॥

[महात्माओंकी प्रवृत्तिसे यह दृढ़ किया जाता है कि आप ही सम्पूर्ण वेदोंके विषय हैं।]

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः ।
त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण वेदादिकोंमें आपके सद्गुणोंका वर्णन है, इस कारण सब बुद्धिमान् मनुष्य आपमें आसक्त हुए हैं और आपके सुन्दर गुणोंका श्रवण आदि करनेसे तथा आपके चरणकमलका स्मरण करनेसे सांसारिक दुःखोंसे छूट गये हैं ॥ ३ ॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

हे त्रिगुणमयी मायाको नचानेवाले 'आप सबके कारण होनेसे भजन करनेके योग्य हैं' ऐसा जानकर विवेकी पुरुषोंने आपकी सम्पूर्ण लोकोंके पापोंको दूर करनेवाले कथारूपी अमृतसिन्धुका सेवन करके आध्यात्मिक दुःखोंका त्याग किया है।

(जब आपकी कथाओंके श्रवण-कीर्तनमात्रसे सभी पापोंकी निवृत्ति हो जाती है) तो फिर जिन्होंने स्वरूपसाक्षात्कारसे अन्तः-करणके विकार रागादि और कालके गुण बुढ़ापा आदिका त्याग करके नित्यानन्दानुभवरूप आपके स्वरूपका सेवन किया है (उन्होंने सकल दुःखोंको त्याग दिया है) इसमें तो कहना ही क्या है ॥१६॥

[श्रुतियाँ उनकी निन्दा करती हैं जो पूर्वोक्त दो श्लोकोंके अनुसार भजन नहीं करते—]

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः ।
नरहरे न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः ॥ ४ ॥

हे नरहरे ! जो मनुष्यशरीर पाकर यदि श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदिसे आपका भजन नहीं करते तो उनका जीवन लुहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ है ॥४॥

---

१. तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते । न कर्मणा लिप्यते पापकेन । तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते । एतꣳह वाव न तपति । किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवम् ।

२. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ न चेदवेदीन्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति ॥

हे देव ! प्राणी जब आपके अनुवर्तन करनेवाले होते हैं तब तो उनका जीवन सफल है अन्यथा वे लुहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ श्वास लेते हैं ।

(शङ्का–भक्ति न करनेवालोंके भी जन्म काम आदिके सेवनसे सफल ही हैं। समाधान–)ऐसे कृतघ्नोंको वह फल नहीं मिलता क्योंकि जब महत्तत्त्व अहङ्कारादि भी आपके अनुग्रहसे ही समष्टि-व्यष्टिरूप ब्रह्माण्ड उत्पन्न करते हैं तो कृतघ्नोंके काम आदिका सेवन कैसे पूर्ण होगा ? जो अन्नमयादि कोशोंमें जाकर तदाकार हो जाता है अर्थात् उनमें परिणत होकर पुरुषाकार हो जाता है वह चेतन ही है ।

(शङ्का–चेतन किस प्रकार अन्नमयादि कोशोंके आकारको धारण कर लेता है ? समाधान–) इन कोशोंमें आपका अन्वय है अर्थात् यदि आप न हों तो ये कार्यक्षम नहीं होते और आप ही अन्तिम अवधिरूप हैं (जैसे कि श्रुतिमें कहा है) ।

(शङ्का–अन्नमयादि कोशोंके साथ अन्वय होनेसे आपमें असङ्गताकी हानि ही समझी जायगी ? समाधान–) स्थूल सूक्ष्म अन्नमयादि कोशोंसे व्यतिरिक्त (साक्षीरूप) (नेति-नेति श्रुतियोंसे बाध होनेपर) आप ही शेष रहते हैं । और सत्यस्वरूप जो ब्रह्म है वह आप ही हैं ।

(शङ्का–तब अन्नमयादि कोशोंमें आपका अन्वय किस लिये है ? समाधान–) शाखाचन्द्रन्यायसे वास्तवमें असङ्ग रहनेवाले आपके स्वरूपके ज्ञानके लिये है ॥ १७ ॥

---

१. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

२. ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ।

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

(इस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्मपरक हैं यह प्रतिपादन करके अब 'उदरं ब्रह्म' इत्यादि उपासनाओंको कहते हैं—)

हे अनन्त ! ऋषियोंके सम्प्रदायके मार्गोंमें जो स्थूलदृष्टिवाले हैं वे उदरके मणिपूरकचक्रमें रहनेवाले ब्रह्मको भजते हैं (कूर्पका अर्थ सूक्ष्म माननेपर यह भाव होगा कि हृदय सूक्ष्म है, वहाँ रहनेवाले ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये पहिले उदरमें ब्रह्मकी उपासना करते हैं) । अरुणवंशी ऋषि सब नाडियोंके फैलनेके मूलस्थान हृदयमें स्थित सूक्ष्मको भजते हैं । उस हृदयसे परे आपका ज्योतिर्मय उपलब्धि-स्थान सुषुम्ना नाडीरूप है जो मस्तकपर्यन्त ऊपरको गया है । जिस स्थानको पाकर मनुष्य फिर यहाँ मृत्युके मुखरूप संसारमें नहीं पड़ते ॥१८॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः ।
हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥ ५ ॥

मुनियोंके मार्गको अवलम्बन करनेवालोंने जिनका चिन्तन मणिपूरक आदि स्थानोंमें किया है जो मृत्युके भयको दूर करते हैं उन हृदयमें विद्यमान देवकी हम उपासना करते हैं ॥५॥

---

१. उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते, हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा है वैता इत ऊर्ध्वन्त्वेवोदर्सपत्तच्छिरोऽश्रयत, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥

['एको देवः' यह श्रुति दिखलाती है कि यद्यपि ईश्वर शरीरमें प्रविष्ट-सा है तथापि उसका उदरादिसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।]

अपनी रची हुई उत्तम, मध्यम, नीच योनियोंमें अर्थात् प्रकट होनेके स्थान देहादिमें आप उपादानरूपसे (पहिलेसे ही विद्यमान होनेपर भी) अपनी रची हुई उन-उन योनियोंका अनुकरण करके उनमें प्रवेश करते हुए-से तारतम्यतः (छोटे-बड़े रूपमें) प्रतीत होते हैं । जैसे अग्नि स्वयं तारतम्यसे रहित होनेपर भी काठके अनुसार छोटे-बड़े रूपसे प्रकाशित होता है । इस कारण मिथ्याभूत इन योनियोंमें सब विकारोंसे रहित सर्वदा एकरूप, आपके स्वरूपको व्यवहाररहित निर्मल-बुद्धिवाले पुरुष जानते हैं । भाव यह है कि अखण्ड एकरस भगवान्में उपाधिकृत न्यूनाधिक भाव नहीं है इस कारण आप ही उपासना करनेके योग्य हैं ॥ १९ ॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम् ।
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तमुपास्महे ॥ ६ ॥

अपने ही रचे हुए देवता मनुष्यादि कार्योंमें न्यूनाधिकभाव-रहित, सबमें अनुस्यूत (प्रविष्ट) चेतनरूप भगवान्की हम उपासना करते हैं ॥६॥

१. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

२. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥

अब यह प्रतिपादन किया जाता है कि जीवके अविद्याजनित काम कर्म दोषोंका श्रुति[1] निषेध करती है; अतः श्रुति यह बोधन करती हुई कि, जीव ईश्वररूप ही है, भगवान्‌के अवतारोंके भजन[2]का प्रकार बतलाती है ।

श्रुतियाँ कार्यकारणके आवरणसे रहित अपने (अदृष्ट) से रचे हुए इन मनुष्यादि देहोंमें भोक्तारूपसे वर्तमान पुरुषको, सम्पूर्ण शक्तिके आश्रय आपके अंशके समान बतलाती हैं । इस प्रकार जीवके तत्त्वका विचारकर, इस मर्त्यलोकमें वर्तमान तत्त्वज्ञानी विश्वासयुक्त होकर शास्त्रोक्त विधिसे सब कर्मोंके अर्पणके क्षेत्र तथा संसारको दूर करनेवाले आपके चरणोंकी उपासना करते हैं ।

भाव यह है कि वे अपने आचरणसे यह दिखलाते हैं कि इस मर्त्यलोकमें ऐसा करना ही उचित है ॥२०॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम् ।
त्वदङ्घ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्त्तय ॥ ७ ॥

हे ईशान ! हे परमानन्द ! आपके अंशभूत मेरे इस अपनी मायाके द्वारा किये हुए बन्धको अपने चरणकी सेवाका उपदेश देकर दूर कर दीजिये ॥७॥

---

१. स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । तत्त्वमसि ।

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति ।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

(भक्तिको छोटा साधन कहना उचित नहीं है क्योंकि श्रुतियाँ भक्तिको श्रेष्ठ साधन समझती हैं।)

हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्वको (अर्थात् आपके तत्त्वको) बतलानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपके चरित्ररूपी समुद्रमें स्नान करके श्रमरहित हुए। और आपके चरणकमलोंमें हंसके समान रमण करनेवाले भक्तोंके समूहके संगसे घर आदिको छोड़े हुए (अर्थात् गृहासक्ति छोड़कर आपके श्रवण-कीर्तनमें परायण हुए) कई रसिक भक्त मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते हैं ॥२१॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ ८ ॥

परमानन्दसे युक्त होकर कोई आपके कथामृत-समुद्रमें विहार करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको तृणके समान समझते हैं ॥८॥

१. यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति श्रुतिः।

भाष्यकार इस श्रुतिका यह अर्थ करते हैं कि मुक्त पुरुष भी लीला-विग्रह धारण करके भगवान्‌का भजन करते हैं।

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

['आराममस्य पश्यन्ति' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वरसे प्रेम करनेका उपदेश करती हैं ।]

यद्यपि आपकी सेवामें उपयोगी होनेवाला यह शरीर आत्मा, सुहृद् और प्रियका-सा जीवके साथ आचरण करता है अर्थात् जीवके स्वाधीन है तथापि ये जीव सदा अनुकूल हित और प्रिय आत्मस्वरूप आपमें सखा आदि भावसे रमण नहीं करते यह बड़े कष्टकी बात है । [रमण न करना ही नहीं किन्तु] देहका लालन-पालन करके आत्मघात (प्रमाद) कर लेते हैं । (शंका—यह आत्मघात कैसे है ? समाधान—) गृह, स्त्री, पुत्र और देहादिमें 'मैं-मेरा' यह अध्यास रखकर श्वान शूकरादि निन्दित योनियोंको धारण करके भयानक संसारमें भ्रमण करते हैं । यही आत्मघात है ॥ २२ ॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह ।
कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति ॥ ९ ॥

मेरा ऐसा मानुषजन्म इस संसारमें फिर कब होगा ? बड़े पुण्यसे मनुष्यजन्म मिला है इससे मेरा मन आप जगन्नाथ आत्मामें रमण करनेवाला हो ॥ ९ ॥

---

१. आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चन ।
न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्यास्चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३॥

['आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतियाँ परमात्माके साक्षात्कारके अंगभूत ध्यानका उपदेश करती हैं ।]

प्राण, मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेवाले और दृढ़ योगी मुनि जिस तत्त्वका अपने हृदयमें ध्यान करते हैं, उसी तत्त्वको शत्रु भी (द्वेषभावसे) आपका स्मरण करनेसे प्राप्त हुए हैं । उसी प्रकार शेषजीके शरीरके समान कोमल भुजदण्डवाले आपमें (परिच्छिन्न दृष्टि रखकर) चित्त लगानेवाली स्त्रियाँ (गोपियाँ) और हम श्रुतिकी अभिमानिनी देवता भी आपके चरणकमलका भली प्रकार ध्यान करती हुई तथा आपको अपरिच्छिन्न देखनेवाली होती हुई भी एक ही समान आपकी कृपापात्र हुई हैं ।

भाव यह है कि आपके स्मरणकी यह महिमा है कि जो योगी आपका अपने हृदयमें ध्यान करते हैं, जो आपका अपरिच्छिन्न रूपसे भजन करते हैं, जो गोपियाँ परिच्छिन्न दृष्टिसे भजती हैं और जो द्वेषसे भजते हैं वे सब आपको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव ! सुदुर्लभम् ।
यथा कथञ्चिन्नृहरे ! मम भूयादहर्निशम् ॥१०॥

हे देव ! प्रेमसे आपके चरणोंका स्मरण करना बहुत दुर्लभ है। हे नृहरे ! मुझे येनकेनप्रकारेण यह आपका स्मरण दिन-रात होता रहे ॥ १० ॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

['यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ[1] भगवत्तत्त्वको दुर्ज्ञेय बताती हुई भक्तिको ही स्वीकार करके स्तुति करती हैं—]

अहो ! इस जगत्में पहलेसे वर्तमान आपको इस समय उत्पन्न और मरणशील कौन पुरुष जान सकता है ? क्योंकि ब्रह्माजी भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं और उनके पीछे ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ और उनकी अधिष्ठात्री देवताएँ उत्पन्न हुईं (अथवा निवृत्तिनिष्ठ सनकादि और प्रवृत्तिनिष्ठ मरीच्यादि उत्पन्न हुए)। जब सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें समेटकर आप शयन करते हैं तब न स्थूल (आकाशादि) न सूक्ष्म (महदादि) न इन दोनोंसे मिलकर उत्पन्न हुआ यह शरीर, न उसका निमित्त कालकी विषमता, न इन्द्रिय प्राण आदिका व्यापार और न सब वस्तुओंको बतलानेवाले वेद ही रहते हैं।

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः क च भूमन्महस्तव।
दीनबन्धो ! दयासिन्धो ! भक्तिं मे नृहरे ! दिश ॥११॥

हे भूमन् ! कहाँ तो बुद्धि आदिके वशमें दबा हुआ मैं और कहाँ आपकी विभूति, अतः हे दीनबन्धो ! हे दयासिन्धो ! हे नृहरे ! मुझे अपनी भक्ति प्रदान कीजिये ॥ ११ ॥

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५ ॥

भाव यह है कि पीछे उत्पन्न होनेके कारण और देहादि उपाधिके होनेसे व्यवधानके कारण और कालक्रमसे मलिन अन्तःकरण होनेके कारण जीवको ज्ञानप्राप्तिका साधन प्राप्त नहीं है। प्रलयमें यद्यपि जीव और आपमें शरीरादिके न होनेसे बहुत अन्तर नहीं रहता है तथापि ज्ञानका साधन नहीं होनेसे आपका ज्ञान जीवको नहीं हो सकता है। इस कारण अकेले आपके शरणागत होकर श्रवण-मननादि भक्ति ही सुकर है ॥ २४ ॥

[इससे भी ज्ञानकी प्राप्ति कठिन है क्योंकि इसमें अनेक मत हैं] जो वैशेषिक यह कहते हैं कि असत्से जगत्की उत्पत्ति हुई है, और जो (गौतममतावलम्बी नैयायिक) इक्कीस प्रकारके विद्यमान दुःखोंके नाशको ही मोक्ष मानते हैं, अथवा जो (सांख्यादि) जीवोंमें भेद मानते हैं ।

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तर-
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।
श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशङ्कर श्रीपते
गोविन्देति मुदा वदन्मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम् ॥१२॥

मिथ्यातर्कोंके कारण अत्यन्त कर्कश महावादरूप अन्धकारमें भ्रमण करनेवाले मन्दबुद्धिवाले पुरुषको आपका ज्ञानमार्ग दुर्गम है। हे श्रीमन् ! हे माधव ! हे वामन ! हे त्रिनेत्र ! हे शंकर ! हे श्रीपते ! हे गोविन्द ! हे मधुपते ! इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक कहता हुआ मैं कब मुक्त होऊँगा ?॥ १२ ॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

तथा जो (मीमांसक) कर्मकाण्डफलको सत्य समझते हैं वे सभी आरोपित भ्रमसे ही उपदेश करते हैं, तत्त्वदृष्टिसे[1] नहीं। आत्मामें जो तीनों गुणोंके कारण भेद माना है वह भेद आपमें अज्ञानसे कल्पित है। इसलिये वह भेद उस अज्ञानसे परे आप 'ज्ञानघन'में नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

[जब असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती है और पुरुष त्रिगुणमय नहीं है तब यह प्राप्त होगा कि यह सब प्रपञ्च और पुरुष भिन्न नहीं है तो क्यों इनका भेद प्रतीत होता है ? इस शङ्काका 'असतोऽधिमनोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियाँ[2] समाधान करती हैं—]

यह त्रिगुणात्मक जगत् मनोविलासमात्र है और मनुष्यपर्यन्त मिथ्या जगत् आपमें (अधिष्ठानभूत आपकी सत्तासे) ही सत्य-सा प्रतीत होता है। आत्मज्ञानी पुरुष भोक्ता और भोग्यरूप सम्पूर्ण

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

यत्सत्त्वतः सदाभाति जगदेतदसत्स्वतः ।
सदाभासमसत्यस्मिन्भगवन्तं भजाम तम् ॥१३॥

यह जगत् स्वतः असत्य होता हुआ भी जिसकी सत्तासे सत्य-सा भासता है, जो इस असत् जगत्में सत्यरूपसे जाने जाते हैं, उन भगवान्का हम भजन करें ॥ १३ ॥

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। असद्वा इदमग्र आसीत्। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। अनीशया शोचति मुह्यमानः। अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्, इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

२. असतोऽधिमनोऽसृजत मनः प्रजापतिमसृजत प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्चेति।

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७॥

जगत्को अधिष्ठान रूप आत्माकी सत्तासे इसको सत्य मानते हैं। जैसे सुवर्णको पानेकी इच्छावाले पुरुष सुवर्णके विकार कटक कुण्डल आदिमें सुवर्णकी बुद्धि नहीं त्यागते हैं और उन्हें सुवर्णरूपसे ही (स्वीकार करते हैं) वैसे ही उपादानरूपसे स्वयं आत्माका किया हुआ तथा उससे अनुप्रविष्ट हुआ यह भोक्तृ-भोग्यरूप जगत् आत्मरूप ही है ऐसा आत्मज्ञानियोंने निश्चय किया है। (भाव यह है कि जिस उपादानका जो कार्य होता है वह उसी रूपसे प्रतीत होता है) ॥ २६ ॥

(*शङ्का*—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ भगवान्के स्वरूपका प्रतिपादन करती हैं इससे भगवान्का ज्ञान अपरोक्ष होनेके कारण सुखसे प्राप्त हो सकता है, तो भक्तिकी क्या आवश्यकता ? समाधान—)जो पुरुष आपको सम्पूर्ण प्राणियोंका आश्रय-स्थान जानकर आपकी सेवा करते हैं, वे ही मृत्युके शिरको कुछ भी नहीं गिनते हुए उसपर पैर रखते हैं (अर्थात् मृत्युको जीतते हैं)। आपसे प्रेम रखनेवाले निश्चय ही

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् ।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति ॥१४॥

चाहे अग्निसे अपनेको तपावें, पर्वतसे गिरें, तीर्थयात्राएँ करें, वेदका पाठ करते रहें, यज्ञोंसे पूजा करें, अनेक प्रकारके वाद-विवाद करें तथापि श्रीहरिकी (भक्तिके) बिना मृत्युको नहीं तर सकते हैं ॥ १४ ॥

---

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म; नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

(अपनेको और अन्य जनोंको भी) पवित्र करते हैं । जो भक्तिहीन हैं वे पवित्र नहीं कर सकते, (क्योंकि) विद्वान् होनेपर भी उन भक्तिहीनोंको वेदवाणीरूप रस्सीसे आप पशुओंके समान बाँध देते हैं ।

भाव यह है कि यद्यपि ये श्रुतियाँ ब्रह्मको अपरोक्ष ज्ञानरूप प्रतिपादन करती हैं तथापि जीवका चित्त असम्भावना और विपरीत भावनासे मलिन हो गया है । इस कारण वह ज्ञान परोक्ष ही होता है । ऐसा ज्ञान अपरोक्ष संसारभ्रमका निवर्त्तक नहीं हो सकता । जब भक्तिसे चित्तका मल-विक्षेप दूर हो जाता है और उसके प्रसादसे अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो मोक्ष हाथमें ही है । तथा श्रुति—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः; यस्य देवे परा भक्तिः देहान्ते देवः परं तारकं ब्रह्म व्याचष्टे ॥ २७ ॥

(शङ्का—यदि सम्पूर्ण सत्त्वगुणयुक्त होनेसे भगवान्की सेवा करनी चाहिये ऐसा कहते हो तो उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका सम्बन्ध आ जावेगा तब फिर जीव और ईश्वरमें क्या भेद रहेगा और सेव्य-सेवकभाव कैसे बनेगा ? समाधान—)'अपाणिपादो जवनः' इत्यादि श्रुतियाँ[1] प्रतिपादन करती हैं कि भगवान् ही सेवन करनेयोग्य हैं ।

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक् ।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम् ॥१५॥

जो इन्द्रियोंसे रहित होकर सब इन्द्रियोंकी शक्तिको धारण करते हैं ऐसे सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता सबके सेव्य भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥१५॥

१. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवे-
द्वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

आप चक्षुरादिसे रहित ही सम्पूर्ण जीवोंके इन्द्रियवर्गकी शक्तियों-के प्रवर्त्तक हैं; क्योंकि आप विना इन्द्रियोंकी सहायताके ही स्वतः-सिद्ध ज्ञानवान् हैं। अविद्यासे युक्त ब्रह्मादि और पलक न मारनेवाले इन्द्रादि देवता भी आपकी पूजा करते हैं और मनुष्योंके द्वारा दिये हुए हव्यकव्यादिको आपको अर्पित करके स्वयं भी ग्रहण करते हैं। जैसे छोटे राजालोग अपनी प्रजाकी दी हुई भेंटको चक्रवर्त्ती राजाको देते हैं और आप भी उसका उपभोग करते हैं। (शङ्का—किस प्रकार भेंट देते हैं ? समाधान—) जिस कार्यके जो ब्रह्मा आदि अधिकारी हैं वे आपके डरसे तत्तत्कार्यको करते हैं। भाव यह है कि आपकी आज्ञा पालना ही बलि देना है। जैसे श्रुति—'भीषास्माद्वातः पवते' ॥ २८ ॥

(यहाँतक तो यह प्रतिपादन किया कि जीव इन्द्रियोंके प्रवर्त्तक ईश्वरका भजन करते हैं क्योंकि वे इन्द्रियोंके परतन्त्र हैं। अब 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' इत्यादि श्रुतियोंसे यह कहते हैं कि जीव ईश्वरहीसे उत्पन्न होनेसे परतन्त्र हैं इस कारण भी भजन करना चाहिये।)

हे नित्यमुक्त ! जिस समय मायासे दूरवर्ती अर्थात् असंग रहने-

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः ।
जातान् संसरतः खिन्नान् नृहरे पाहि नः पितः ! ॥१६॥

हे नृहरे ! हे पितः ! आपके देखने (ईक्षण) मात्रसे क्षोभित हुई मायाद्वारा कर्मफलोन्मुख होकर जो उत्पन्न होते हैं और जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होकर दुःख पाते हैं ऐसे हम जीवोंकी आप रक्षा करें ॥१६॥

१. यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति । इत्यादि ।

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

वाले आपका केवल ईक्षणमात्रसे मायाके साथ विहार होता है उस समय आपके देखनेमात्रसे ही प्रकट हुए निमित्तसे यानी विचित्र कर्म अथवा सूक्ष्म शरीरसे युक्त स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं। (भाव यह है कि कर्म-की विचित्रतासे सृष्टिमें विचित्रता होती है, आपमें वैषम्य नहीं है, क्योंकि) आकाशके समान मन-वाणीके अगोचर शून्यके[1] भाँति प्रतीत होनेवाले परम कारुणिक आपका कोई अपना अथवा पराया नहीं है (जिससे विषम सृष्टि हो)। ॥२९॥

ईश्वरके अंश जीवोंका अविद्यासे बन्धन कहा गया है इसपर शंका होती है कि यदि अविद्या एक ही है तो एक जीवकी मुक्ति होनेसे सबकी मुक्ति हो जावेगी। यदि अविद्या नाना है और जीव एक है तो एक अंशकी अविद्या दूर हो भी जावे तब भी बाकी अंशमें अविद्या रह जायगी, इस

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैवमेवावसेयः ।
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे ॥१७॥

श्रुति जिसको सब लोकोंका अन्तर्यामी कहती है, वह युक्तिसे भी वैसा ही निश्चय करनेके योग्य है। तथा जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, उन श्रीमान् नृसिंह भगवान्का मैं चित्तसे अवलम्बन करता हूँ ॥१७॥

---

१. असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत, इत्यादि श्रुतिसे यह कहा है कि ब्रह्म शून्य-सा प्रतीत होता है अर्थात् शून्यके समान बनता है न कि शून्यरूप है ।

कारण मोक्ष नहीं होगा। नैयायिकोंने इसी कारणसे यह माना है कि जीव नाना, सर्वगत और नित्य हैं, क्योंकि यदि जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म हो तो देहव्यापी चैतन्य नहीं बनेगा। यदि यह मानें कि जितना देहका परिमाण है उतना ही जीवात्माका परिमाण है तो उसके परिणामी और अनित्य होनेके कारण कृतनाश अकृताभ्यागम दोष आवेगा। क्योंकि पुण्य-पापके कर्तासे अन्य भोक्ताके होनेसे कृतका नाश तथा अकृतफलका प्रसंग आ जायगा, अतः व्यापक आत्मा हैं इस न्यायमतको अन्तर्यामी ब्राह्मणश्रुति[1] सहन नहीं करती, इसीका अत्र प्रतिपादन करते हैं।

हे ध्रुव! यदि जीव नाना (अर्थात् असंख्यात) नित्य और व्यापक हों तो आपके समानरूप होनेसे 'वे किसीके शास्य हैं' ऐसा सम्भव नहीं है इसलिये आपके द्वारा उनपर नियन्त्रण नहीं सिद्ध होता। यदि वे असंख्यात, नित्य और व्यापक नहीं समझे जायँ तो उपर्युक्त दोष नहीं आवेगा अर्थात् आपसे उनका नियमन घट सकता है क्योंकि उपाधिके विकारसे जीव उत्पन्न हुआ है, (नहीं तो जीव-ईश्वर एक है) जबतक अविद्याके विकार रहते हैं तबतक कोई नियमन करनेवाला रहता ही है।

प्र०—वह कौन-सा नियामक है?

समा०—जो सर्वत्र समभावसे अनुस्यूत है।

प्र०—तो स्पष्टरूपसे उसका वर्णन करना चाहिये।

समा०—बुद्धिका विषय न होनेसे जो कहे कि मैं जानता[2] हूँ, उसने उसको नहीं जाना है और जो कहे कि मैं नहीं जानता, वह जानता है। इसके अतिरिक्त उसको 'ज्ञात' माननेमें दोषका[3] श्रवण होता है ॥ ३० ॥

---

१. 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' (बृहदारण्यक० ३। ७। ३ से २३)

२. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। अवचनेनैव प्रोवाच सह तूष्णीं बभूव॥

३. यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु।

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥

(यदि यह माना जाय कि परमात्मासे जीव उत्पन्न होता है इस कारण एक नियन्ता और दूसरा नियम्य है, तो जीव विनाशी और अनित्य हो जायगा । अतः कृतनाश अकृताभ्यागम दोषका प्रसंग होगा, और मोक्षका अर्थ जीवके स्वरूपका नाश होना होगा जो युक्त नहीं है क्योंकि वेदोंमें जीवको स्वप्रकाश आनन्दरूप कहा है और उससे अविद्या-के अनर्थोंका हटनेका नाम मोक्ष माना है । इस विरोधका समाधान यह है कि उपाधिके जन्मसे जीवका जन्म है स्वतन्त्र जन्म नहीं होता है । फिर यह संशय होता है कि क्या जीवरूपसे प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है, या पुरुषकी या दोनोंकी ? पहले पक्षमें जीवोंको जड़ता प्राप्त होगी ।

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद्भाति विश्वं लयादौ
जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे ।
अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत्सिन्धुमध्ये
मध्येचित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥१८॥

प्रलयके पहले सब जीवोंसहित यह विश्व अदृष्टवश जिनमें प्रकट और जिनमें लीन हुआ-सा दीखता है और गुरुकृपासे आत्मलाभ करनेपर जिनमें इस प्रकार अत्यन्त लीन हो जाता है जैसे नदियाँ समुद्रमें लीन हो जाती हैं, उन त्रिलोकीके गुरु नृसिंह भगवान्‌का अपने अन्तःकरणके बीचमें ध्यान करता हूँ ॥ १८ ॥

दूसरे पक्षमें पुरुषको विकारित्व प्राप्त होगा । इसी कारण तीसरा पक्ष भी नहीं बनेगा । अतः श्रुतिसे यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति और पुरुषमेंसे किसीकी भी जीवरूपसे उत्पत्ति नहीं होती है ।)

'अजामेकां'[1] श्रुतिमें पुरुष और प्रकृतिका जन्मरहित वर्णन होनेसे उनमेंसे किसीकी भी जीवरूपसे उत्पत्ति नहीं हो सकती । उन दोनोंके संयोगसे जलसे बुद्बुदके समान प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । ये जीव अनेक प्रकारके नाम और गुणोंके साथ यानी विविध कार्योपाधियोंके सहित आप उपाधिरहित परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं । जिस प्रकार शहदमें[2] नाना प्रकारके पुष्पोंके रस विशेषरूपसे पहचाननेमें नहीं आते किन्तु वे सब एकरूप हो जाते हैं इसी प्रकार सुषुप्ति और प्रलयके समय ब्रह्ममें लीन हुआ जीव विशेषरूपसे नहीं जानता है कि मैं मनुष्य हूँ किन्तु कारणशरीर रहनेके कारण सामान्य-रूपसे वर्तमान रहता ही है ।

(दूसरा उदाहरण देते हैं) जैसे नदियाँ[3] अपने नाम-रूपको त्याग-कर एकीभावसे समुद्रमें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार जीव उपाधिका त्यागकर एकीभावसे ब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ ३१ ॥

---

१. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

२. यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां संगमयन्ति ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥

३. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नाम-रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

(इस प्रकार प्रवाहरूपसे ईश्वरसे जीव उत्पन्न होते हैं, उसीके वश होकर कर्म करते हैं और फिर उसीमें लीन होते हैं, इस प्रकार संसार-चक्रमें जीवका परिभ्रमण बतलाया गया, अब 'परीत्य भूतानि'[1] इत्यादि श्रुतियाँ संसारसे दूर होनेके निमित्त भगवान्की अनुवृत्तिका प्रतिपादन करती हैं।)

विवेकी पुरुष इन जीवोंमें आपकी मायासे बार-बार होनेवाले जन्म-मरणरूप भ्रमणको जानकर संसारको निवृत्त करनेवाले आपमें अत्यन्त भक्ति करते हैं । क्योंकि जो आपके शरणागत नहीं हैं उनको आपका भ्रुकुटीरूप शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन नेमियोंसे युक्त कालचक्र जन्म-मरण आदि भयको उत्पन्न करता है । इस कारण आपकी शरण जाकर आपको भजनेवाले पुरुषोंको संसारका भय कैसे होगा ? ॥ ३२ ॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णमुदीर्णनानाभवतापतप्तम् ।
कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम् ॥१९॥

संसारचक्ररूप आरेसे चूर हुए नाना प्रकारके संसारतापसे तपे हुए और किसी प्रकार इस संसारमें उत्पन्न होकर आपके शरणमें आये हुए इस मनुष्यलोकका हे नृसिंह ! आप उद्धार कीजिये ॥ १९ ॥

---

१. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं

य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।

व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं

वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

ऐसी भगवद्भक्ति मनको वशमें करनेसे होती है और मनको वश करना गुरुकी कृपासे होता है इसी कारणसे श्रुतियाँ गुरुचरणमें प्राप्तिका प्रतिपादन करती हैं ।

हे अज ! गुरुके चरणको त्यागकर जिन्होंने अपने इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया है वे भी वशमें नहीं होनेवाले अति चञ्चल और मनरूपी घोड़ेको वशमें करनेका यत्न करते हैं। वे उन उपायोंसे दुःख पाते हैं और इस संसार-समुद्रमें ही पड़े हुए सैकड़ों दुःखोंसे व्याकुल रहते हैं। जैसे बिना मल्लाहोंके नाव या जहाजसे व्यापार करनेवाले व्यापारी नदी-समुद्र आदिमें दुःख पाते हैं ।

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

यदा परानन्द गुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत् ।

तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः ॥२०॥

हे भगवन् ! हे परमानन्द गुरो ! जब मेरा मन आपकी कृपासे आपके चरणमें लग जायगा तब संपूर्ण साधनोंके दुःखोंसे रहित होकर मैं परम आनन्दका अनुभव करूँगा ॥ २० ॥

---

१. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद । नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठेत्यद्याः श्रुतयः ।

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३४ ॥

भाव यह है कि गुरुके बताये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे मन वशमें हो जाता है ॥ ३३ ॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि, "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादि श्रुतियाँ विधान करती हैं कि आत्मज्ञान और भक्तिका वैराग्य अङ्ग है।

आपकी सेवा करनेवाले पुरुषको सकल रसों (सुखों) के स्थानभूत आप परमात्माके प्राप्त होनेपर स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि और रथ आदि अन्य सुखोंके साधनोंसे क्या लाभ है ? परमार्थ सुखको नहीं जाननेके कारण केवल स्त्रीके साथ मैथुनजन्य सुखमें ही लगे हुए मनुष्योंको स्वयं नाशवान् और सारहीन इस संसारमें कौन पदार्थ वास्तवमें सुखी बना सकता है ? (अर्थात् कोई भी नहीं) भाव यह है कि भगवद्भजन ही उचित है ॥३४॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

भजतो हि भवान् साक्षात्परमानन्दचिद्घनः ।
आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः ॥२१॥

जब साक्षात् परमानन्द चैतन्यघन आप भजन करनेवालोंका आत्मा ही हो जाते हैं, तब इन तुच्छ स्त्री-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है।२१।

---

१. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५॥

इस प्रकार गुरुके उपदेशसे तत्त्वका साक्षात्कार करके और सारासारके विवेकसे सब वस्तुओंसे वैराग्य करके और उसीको सत्संग और युक्तियोंसे निश्चय करनेके लिये मुनि तीर्थाटन करते हैं, यही अर्थ "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि श्रुतियोंसे[1] प्रतिपादित होता है ।

जो ऋषि निरहङ्कार और आपके चरणकमलको हृदयमें धारण करनेवाले हैं, वे यद्यपि अपने चरणोदकसे (दूसरोंके) पापका नाश करनेकी शक्ति रखते हैं तो भी स्वयं इस पृथ्वीके बहुत-से पुण्यतीर्थ और क्षेत्रोंका सेवन करते हैं, क्योंकि वहाँ सत्संग प्राप्त होते हैं । जो नित्य सुखस्वरूप आप परमात्मामें एक बार भी मनको लगा लेते हैं वे पुरुषोंके विवेक, धैर्य, शान्ति आदिका नाश करनेवाले गृहोंका कभी सेवन नहीं करते ॥३५॥

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

मुञ्चन्नङ्ग तदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन्
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन् ।
नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-
स्रोतःसम्प्लवसम्प्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥ २२ ॥

उन स्त्री-पुत्रादिके अङ्गोंके सङ्गको त्यागकर दिन-रात आपहीका चिन्तन करता हुआ, जहाँ-जहाँ अहङ्काररहित यति हैं वहीं रहता हुआ और नित्य उनके मुखारविन्दसे निकली हुई आपके पुण्यकथामृतके स्रोतके प्रवाहमें गोता लगाता हुआ मैं हे नृहरे ! इस अनर्थरूप देहका धारण करनेवाला न होऊँ ॥२२॥

---

१. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । इत्यादयः ।

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

कोई तो वेदको कर्मकाण्डपरक बताते हैं जैसे आचार्य जैमिनि और कोई इसके प्रत्युत्तरमें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'अचक्षुरश्रोत्रम्' इत्यादि श्रुतियोंका प्रमाण देते हुए कहते हैं कि अद्वितीय परमानन्द-रूप ब्रह्म कर्मोंका अंग नहीं हो सकता है। फिर पूर्वपक्ष उठता है कि ज्ञानकी उत्पत्ति संस्कारसे होती है अर्थात् पहले संस्कार होते हैं फिर ज्ञान उत्पन्न होता है। पीछे यह भी कह आये हैं कि मनन करनेके लिये तीर्थाटन करना चाहिये। अतः यह मानना पड़ेगा कि उपनिषद् ज्ञानको क्रियाजन्य प्रतिपादित करते हैं। किन्तु यह बात तब बन सकती है यदि द्वैत सत्य हो, ऐसा सम्भव नहीं है। यही बात इस श्लोकमें प्रश्न और उत्तरके रूपसे अद्वैत तत्त्वके निश्चय करनेकी युक्ति देकर बतलायी है।

शङ्का–यह जगत् सत्य है क्योंकि सत् (ईश्वर) से उत्पन्न हुआ

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः
कुर्वत्कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवं परः ।
अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा
वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुतहरे मा मुञ्च मामानतम् ॥२३॥

यह भुवन सद्रूप आपसे उत्पन्न हुआ है किन्तु सत्‌रूप रज्जुसे उत्पन्न सर्पके समान होनेके कारण यह सत्य नहीं है। खोटे सोनेसे व्यवहार सिद्ध होनेके समान भ्रममात्र है। वेद भी कर्मफलको नित्य नहीं बतलाते हैं। आपके सत्‌स्वरूप सुन्दर परमानन्द परमपदको मैं प्रसन्नता-पूर्वक प्रणाम करता हूँ। हे लक्ष्मीस्तुत! भगवन्! मुझ दीनको न त्यागो।२३।

---

१. 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १ । २ । १) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समन्वयः' इति (जै० सू० १ । १ । २५)

है। यह देखा जाता है कि सोनेसे बने हुए कटक-कुण्डलादि सुवर्ण ही होते हैं।

समाधान—यदि ऐसा कहो तो इसका विचारसे खण्डन होता है। पूर्वपक्षीने जो यह कारण बताया है कि जिससे जो उत्पन्न होता है वह उस कारणसे अभिन्न होता है इससे अभेद नहीं सिद्ध होता क्योंकि उपादानसे कार्य भिन्न भी होता है।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि मैं अभेद सिद्ध करना नहीं चाहता हूँ किन्तु भेदका प्रतिषेध करता हूँ जैसे कनक और कुण्डलके भेदका निषेध किया था। अर्थात् यह कहा था कि जैसे सुवर्णसे बने हुए कुण्डल सुवर्णसे भिन्न नहीं होते हैं। इसके उत्तरमें यह कहते हैं कि कहीं-कहीं इस उक्तिमें व्यभिचार है। जैसे पितासे उत्पन्न पुत्र और लाठीसे घटका तोड़ना, परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं। इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि इन उदाहरणोंसे यह तो सिद्ध होता है कि निमित्तकारण और कार्यमें भेद होता है न कि उपादानकारण और कार्यमें। जैसे उपादानकारण सुवर्ण और कार्य कटक-कुण्डलादिमें भेद नहीं है।

कहीं-कहीं उपादानकारणके आश्रित रहनेवाला कार्य भी झूठा ठहरता है—जैसे रज्जुमें सर्प। यहाँ सुवर्णमें कुण्डलादिके समान रज्जुमें सर्प सत्य नहीं हो सकता। अर्थात् रज्जुमें सर्पका बाध हो जाता है; किन्तु कुण्डलमें सुवर्णका बाध नहीं होता। इस कारण सर्पका भान होना मिथ्या है। फिर पूर्वपक्ष होता है कि रज्जु-सर्पके भ्रममें केवल रज्जु ही उपादानकारण नहीं है किन्तु रज्जुका अज्ञान भी कारण है; अतः रज्जुमें सर्पका दीखना मिथ्या बन सकता है, इसका उत्तर यह है। यह न्याय इस द्वैतरूप प्रपञ्चमें भी लागू है क्योंकि वह सत् ब्रह्म और अविद्यारूप उपादानोंसे दीखता है इस कारण वह रज्जुमें दीखनेवाले सर्पके समान सत्य नहीं है। पूर्वपक्षी कार्यके सत्यत्वका उपपादन करनेके लिये कहता है कि सत्का लक्षण यह है जिससे अर्थक्रिया (व्यवहार) सिद्ध होती है। जैसे घटसे जल लाया जाता है इस कारण मृत्तिकाका

कार्य घट सत्य है और शुक्तिकामें जो चाँदी भासती है वह सत्य नहीं है क्योंकि उससे व्यवहार नहीं चलता।

इसका उत्तर यह है कि व्यवहारमात्रसे वस्तुकी सत्यता नहीं सिद्ध होती है, खोटे रुपयेसे भी कभी व्यवहार चलता देखा जाता है। वेदान्त इस बातको मानता है कि द्वैतप्रपञ्चसे व्यवहार चलता है। फिर पूर्व-पक्ष उठता है कि भ्रम तब होता है जब सत्य वस्तुका दूसरे स्थानपर आरोप हो, यथा सर्प कभी सत्य देखा है तब रज्जुमें उसका आरोप बन सकता है। इसी प्रकार द्वैत भी यदि कहीं सत्य देखा हो तब तो उसका आरोप ब्रह्ममें बन सकता है। खपुष्प अत्यन्त असत् है, उसका आरोप नहीं बन सकता है, इस कारण द्वैतको सत्य मानना पड़ेगा तभी उसका आरोप बन सकता है।

इसका उत्तर यह है कि ऐसे भ्रमके निमित्त पूर्व प्रतीतिकी अपेक्षा रहती है न कि वस्तुकी सत्यताकी। जैसे किसी अन्धेने दूसरे अन्धेसे कह दिया कि अमुक वृक्षके नीचे भूत है। और उसने तीसरेसे कहा और उसने चौथेसे। इसी प्रकार भूतकी प्रसिद्धि हो जाती है। वह भूत वास्तवमें है नहीं किन्तु उसकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार यद्यपि द्वैतकी प्रतीति होती है तथापि वह सत्य नहीं है। व्यवहार केवल अन्धपरम्परासे मिथ्या वस्तुसे भी चल रहा है अतः केवल अर्थक्रिया सिद्ध होनेके कारण प्रपञ्चको सत्य नहीं मानना चाहिये। पूर्वपक्षी कहता है कि जब श्रुति[1]में कर्मफल अक्षय (नित्य) बतलाया है तो वह मिथ्या कैसे होगा? इस कारण द्वैत सत्य है।

इसका उत्तर यह है (हे भगवन्!) आपकी वेदवाणी गौणी और लक्षणा आदि वृत्तियोंके द्वारा सकाम कर्मके मोहसे ग्रस्त हुए पुरुषोंको भ्रममें डालती है। भाव यह है कि कर्मफलमें आसक्त हुए पुरुष उनसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादिकी नित्यता मानकर भ्रममें पड़ जाते हैं। वे श्रुतिके वास्तविक तात्पर्यको नहीं जानते, क्योंकि वास्तवमें तो स्वर्गादि

१. अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति—इति अपाम सोमममृता अभूम्।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

भी अनित्य ही हैं[1]। अन्यथा अन्य श्रुतियोंसे विरोध आवेगा । ऐसे ही 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुति संसारकी उत्पत्तिपरक नहीं किन्तु अन्यपरक हैं[2] अर्थात् जिसकी दृष्टि संसारकी उत्पत्तिपर है उसके लिये सृष्टिकी उत्पत्तिके व्याजसे ब्रह्म प्रतिपादित है ॥ ३६ ॥

यह प्रतिपादन हो गया कि प्रपञ्चकी सत्यतामें कोई प्रमाण नहीं है किन्तु उसकी असत्यतामें सृष्टिप्रलयनिरूपिणी श्रुतियाँ और अनुमान प्रमाण हैं । जिस कारण यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था[3] और प्रलयके पीछे नहीं रहेगा[4] । मध्यमें भी केवल एकरस, आपमें मिथ्यारूप भासता है यह निश्चित है, इस कारण श्रुतिने इसको मृत्तिका, सुवर्ण और लोह आदि पदार्थोंके विकार घट, कुण्डल और कुदालादिके भेदोंके समान निरूपित किया है । अर्थात् जैसे उदाहरणमें कार्य केवल नाममात्र है सत्य तो मृत्तिकादि है[5], ऐसे ही दार्ष्टान्तमें वायु, आकाशादिक नाममात्र हैं, सत्य केवल ब्रह्म है । जब प्रपञ्चकी सत्यतामें प्रमाण नहीं

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणीपरिणतं कनकं परमार्थतः ।
महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरे न परं परमार्थतः ॥२४॥

हे नरहरे ! जिस प्रकार परिणामको प्राप्त हुए मुकुट, कुण्डल, कङ्कण और किङ्किणी आदि वास्तवमें सुवर्ण हैं, इसी प्रकार अहङ्कार-प्रमुख यह प्रपञ्च वास्तवमें परमार्थ ब्रह्मस्वरूप आपसे पृथक् नहीं है ॥२४॥

१. तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेव पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।
२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति इति ।
३. सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
४. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ।
५. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

है और उसके असत्य होनेमें प्रबल प्रमाण वर्तमान हैं तो यह विवादका विषय (प्रपञ्च) मनकी कल्पनामात्र है और जो इसको सत्य समझते हैं वे अज्ञ हैं। यहाँ श्रीधर स्वामीजी अनुमान इस प्रकार बतलाते हैं, यह प्रपञ्च सत्य नहीं है क्योंकि आदि-अन्तमें नहीं रहनेवाला, विकारी और दृश्य-मात्र है जैसे शुक्तिमें रजत अथवा (व्यतिरेकी दृष्टान्त) जैसे आदि-अन्तमें रहनेवाला आत्मा ॥ ३७ ॥

शङ्का—यदि प्रपञ्च वास्तवमें नहीं है तो ऐसे मिथ्याभूत प्रपञ्च-के साथ चैतन्यका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं बनता। फिर जीवने क्या अपराध किया है जिससे वह संसारको पाता है और ईश्वर किस बड़े पुण्यसे नित्यमुक्त माना जाता है? ऐसी अवस्थामें कर्मकाण्डका भी विषय क्या रह जाता है, इन शङ्काओंका समाधान 'द्वा सुपर्णा'[1] श्रुतिसे और 'अजामेकां'[2] श्रुतिसे करते हैं। क्योंकि यह जीव मायासे अविद्यायुक्त

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभि-
र्भावान्सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून् ।
मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं
माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय ॥२५॥

कालस्वभावके साथ आपके दृष्टिरूप (नजरबाग) आँगनमें नाचनेवाली आपकी माया सत्त्व, रज, तमरूपी भावोंसे बहुतोंको उखाड़-कर मेरे मस्तकपर अपने भारी चरणको रखकर मुझे कुचल रही है; इस कारण हे नृहरे ! मैं अति आतुर हुआ आपकी शरण आया हूँ आप उस मायाको हटा दीजिये ॥ २५ ॥

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् ।

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा-
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्न-
नपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥३९॥

होता है इसलिये देह एवं इन्द्रियादिकोंका सेवन करता हुआ अर्थात् उनको ही अपना स्वरूप मानता हुआ आनन्दादि गुणोंके तिरोहित होनेके कारण संसारको प्राप्त होता है (इसीलिये कर्मकाण्डकी आवश्यकता है)। किन्तु जैसे सर्प अपनी कंचुकीको त्याग देता है, उसका अभिमान नहीं करता ऐसे ही आप मायाका त्याग करते हैं और उसके अभिमानसे रहित हैं। क्योंकि नित्यसिद्ध ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्यादियुक्त तथा अणिमादि आठों सिद्धियोंसे सुसम्पन्न होनेके कारण आप पूजित हैं। दोनों श्रुतियोंका भाव यह है कि जीव आपकी मायासे अविद्यायुक्त है अतः देहादिको अपना स्वरूप समझकर उसीके धर्मोंको अर्थात् संसारको बारम्बार प्राप्त होता है। इसीलिये उसके लिये कर्मकाण्डका विधान है ॥३८॥

यह प्रतिपादित कर दिया है कि जो इस प्रकार कहे हुए साधनों-

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं
सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम् ।
आज्ञालङ्घिनमज्ञमज्ञजनतासम्माननासन्मदं
दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम् ॥२६॥

हे दीनानाथ ! हे दयानिधान ! हे परमानन्द ! हे प्रभो ! पाखण्डके वेषसे सब लोगोंके ठगनेवाले, केवल भोगकी चिन्तामें आतुर, रात-दिन मोहमें निमग्न, नाना प्रकारके कर्मोंको करनेके विचारसे आकुल, आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले, अज्ञानी और अज्ञ पुरुषोंके सम्मानसे वृथा घमण्ड करनेवाले मेरी आप रक्षा कीजिये ॥२६॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

से भगवान्को भजते हैं वे मृत्युको तर जाते हैं और जो बाहरके सङ्गको त्याग देते हैं किन्तु मनमें विषयोंकी कामना करते हैं वे न तो भगवान्को प्राप्त करते हैं और न इस संसारके सुखको भोगते हैं ।

हे भगवन्! जो यति मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें रखनेपर भी अपने हृदयस्थित कामकी वासनाओंको नहीं छोड़ते हैं, उन दुष्ट अन्तः-करणवालोंके हृदयमें यद्यपि आप विद्यमान हैं तो भी भूले हुए गलेके हारके सदृश आप उनको बड़ी कठिनतासे मिलते हैं। इस लोकमें मृत्युकी निवृत्ति न होनेसे और परलोकमें आपकी प्राप्ति न होनेके कारण इन्द्रियोंके भोगोंकी तृप्तिमें लगे हुए योगियोंको दोनों ही लोकोंमें सुख नहीं मिलता ॥३९॥

किन्तु हे षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न ! जिसको आपका ज्ञान हो गया है वह कर्मफलदाता आप ईश्वरसे प्रकट हुए पुरातन पुण्य-पापके फलरूप सुख-दुःखके सम्बन्धोंका अनुभव नहीं करता। उस समय वह देहाभिमानियोंकी विधि-निषेधरूप वाणीका भी अनुसन्धान नहीं करता अर्थात् देहाभिमान छूट जानेसे उसको कोई कर्म करना या न करना नहीं रहता। क्योंकि

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः ।
श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथाविधि किङ्करः ॥२७॥

हे माधव ! आप मुझे आत्मज्ञान प्रदान कीजिये जिससे मुझे सांसारिक सुख-दुःखका भान न हो । अथवा मुझे अपनी श्रवण-कीर्तनरूपा भक्ति दीजिये जिससे मैं शास्त्रविधिसे पार हो जाऊँ ॥२७॥

---

१. तथा च श्रुतिः—कामान् यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र ।

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

जो पुरुष हर एक युगकी उपदेशपरम्पराके अनुसार प्रतिदिन उपदेश श्रवण करके मनमें आपको धारण करते हैं उनको आप ही मोक्ष देनेवाले हैं । भाव यह है कि तत्त्वज्ञानीको कर्मके अधिकारकी शङ्का भी नहीं है । तथा जो भगवद्भक्त निरन्तर आपकी कथा आदिका श्रवण-कीर्तन करते हैं उनको भी आपके निकटतम होनेसे कोई अन्य कर्तव्य नहीं रहता । हाँ, अन्य दम्भी योगियों और विषयलम्पटोंको इस लोक और परलोकमें कहीं सुख नहीं मिलता ॥ ४० ॥

यह कह दिया कि आपका ज्ञान होनेपर मनुष्य सुख-दुःख या विधि-निषेधसे परे हो जाता है । किन्तु वह ज्ञान होगा कैसे ? क्योंकि आप वाणी और मनके अगोचर हैं । श्रुतियोंमें[1] आपकी अपरिमित महिमा कही गयी है । यद्यपि यह ठीक है तथापि आपका मनवाणीके अविषयरूपसे[2]

श्रीधरजीकृत पद्यानुवाद—

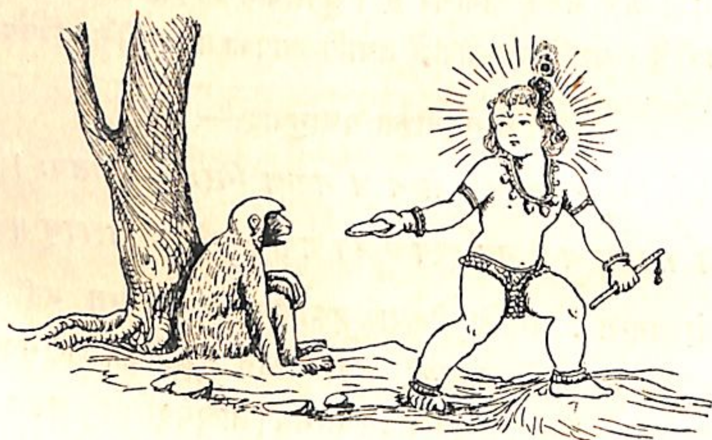
द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुतिमौलयः ।
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥२८॥

हे अनन्त ! स्वर्गादि लोकपाल ब्रह्मादिने आपका अन्त नहीं जाना है और आप भी अपने अन्तको नहीं जानते । श्रुतिकी शिरोभूषणरूप वाणी [उपनिषद्] आपके प्रतिपादन करनेमें [तात्पर्यवृत्तिसे] सफल होती हैं । इस कारण आपको नमस्कार है । आपकी जय हो, जय हो । मैं आपके उस पदका भजन करता हूँ ॥ २८ ॥

१. यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च ।

२. अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।

ही ज्ञान हो सकता है । ब्रह्मादिक देवता भी आपके अन्तको नहीं पा सके, आप भी अनन्त होनेके कारण अपने अन्तको नहीं जानते हैं । शङ्का–ऐसा कहनेसे सर्वज्ञतामें हानि प्राप्त होगी । समाधान–जो अनन्त है, उसका अन्त किस प्रकार जाना जा सकता है । जब शश (खरगोश) के सींग होते ही नहीं हैं तो उनको न जाननेवाला क्योंकर सर्वज्ञ नहीं है । अब अनन्तपना सिद्ध करते हैं । जैसे आकाशमें रजके कण घूमते हैं वैसे ही उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणोंसहित सब ब्रह्माण्डसमूह कालचक्रके साथ एक साथ आपमें घूमते हैं । यह आश्चर्य है कि आपमें पर्यवसान होनेवाली सब श्रुतियाँ स्थूलत्व, अणुत्व आदि गुणोंका निरास करके आपमें तात्पर्यवृत्तिसे सफल होती हैं ॥ ४१ ॥



भागवतस्तुतिसंग्रहके विशेष शब्दोंका कोष

(उक्त कोष पण्डित गङ्गासहायकृत अन्वितार्थप्रकाशिकाके अनुसार बनाया गया है। इसमें अन्तमें दिये हुए अङ्कोंमेंसे पहलेसे भागवतका स्कन्ध, दूसरेसे अध्याय, तीसरेसे श्लोक समझना चाहिये)

(अ)

अकूपार—कूर्मावतारको धारण करनेवाले भगवान् (५ । १८ । ३०) (अकूपारः समुद्रे स्यात् कूर्मराजेऽपि कीर्तितः) इति विश्वः ।

अकृतात्मा—विक्षिप्तचित्त (४। १७। ३२)

अकृतचेतस्—अकृतात्मा (१०।४७।१६)

अक्षर—क्षयरहित (८ । ३ । २१), परिपूर्ण (८ । ५ । २७)

अक्ष—इन्द्रियसमूह (६ । ४ । २५), धुरा (८ । ५ । २८)

अग्रसर—सृष्टिके पहले विद्यमान, आगे चलनेवाला, प्रसिद्ध (१०।८७।२४)।

अग्रहण—अज्ञान, मिथ्याज्ञान (१० । २७ । ४)।

अङ्ग—वेनका पिता (१० । ६० । ४१), शरीरका अवयव, (१० । ४० । २), (यम-नियमादि, श्रवण-मननादि) साधन (५ । १८ । ३७)।

अचिच्छक्ति—माया, (ज्ञानस्वरूपसे भिन्न) (७ । ३ । ३४)

अज—(१) जन्मसे रहित, ब्रह्मा (३ । ३३ । २), (७ । ३ । ३१), (१० । १४ । १३), (१० । ४० । ३), (१० । ६० । ३७)
(२) जीव(८।५।२८),(१०।४०।३)
(३) ईश्वर (३ । ५। ४९), (१० । ८५ । ५)।

अजन—ब्रह्मा (९ । ८ । २२), जन्मसे रहित भगवान् (१० । १४ । २०)।

अज—प्रकृति और पुरुष (१०।८७। ३१)

अज्ञान—अविद्या (१० । २ । ३५)

अतन्निरसन—सब पदार्थोंके निषेध करनेपर जो चैतन्य (ब्रह्म) शेष रह जाता है (१० । ८७ । ४१)।

अदान्त—जिसका दमन न हो सकता हो (१० । ८७ । ३३)।

अद्वितीय—भेदरहित (१० । ६३ । ३८)।

अधीश—नियन्ता (१० । २७ । ६)।

अधीश्वर—प्राणियोंका सञ्चालक अथवा प्रलय आदि कालमें सभीको अपनेमें लीन करनेवाला (१० । ५६ । २६)।

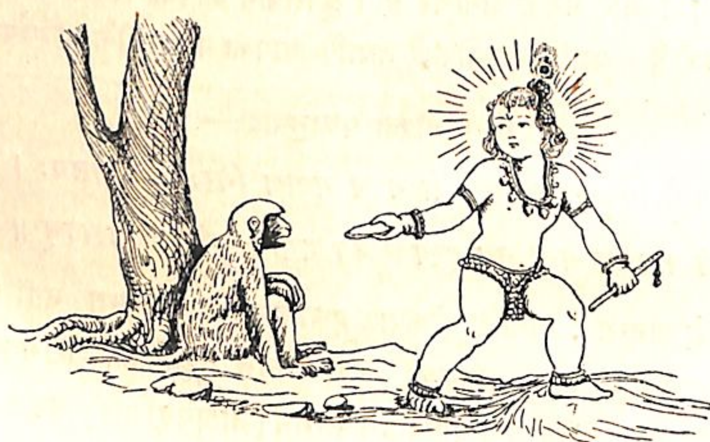
अध्यक्ष—सर्वसाक्षी, स्वामी (१०।१०।३१)।

अधोक्षज—इन्द्रियोंका अविषय, स्वयं-प्रकाश, वेदैकगम्य—यह भगवान्के अर्थमें निरूढ़ पद है (१ । ८ । १९)।

अनन्त—देशकालवस्तुकृत इयत्तावधारण-शून्य (४ । ९ । १६), (७ । ३ । ३४), असंख्य (१० । ८७ । ४१)।

अन्धपरम्परा—यह इस प्रकारका न्याय है—यदि कोई अन्धा दूसरे अन्धेको अपने सहारेसे ले जाता हो और वह कहीं गड्ढेमें गिर पड़े तो दूसरा अन्धा भी उसीकी तरह गिर पड़ता है। ऐसा ही प्रकरणमें समझो। (१० । ८७ । ३६)।

ही ज्ञान हो सकता है । ब्रह्मादिक देवता भी आपके अन्तको नहीं पा सके, आप भी अनन्त होनेके कारण अपने अन्तको नहीं जानते हैं । शङ्का—ऐसा कहनेसे सर्वज्ञतामें हानि प्राप्त होगी । समाधान—जो अनन्त है, उसका अन्त किस प्रकार जाना जा सकता है । जब शश (खरगोश) के सींग होते ही नहीं हैं तो उनको न जाननेवाला क्योंकर सर्वज्ञ नहीं है । अब अनन्तपना सिद्ध करते हैं । जैसे आकाशमें रजके कण घूमते हैं वैसे ही उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणोंसहित सब ब्रह्माण्डसमूह कालचक्रके साथ एक साथ आपमें घूमते हैं। यह आश्चर्य है कि आपमें पर्यवसान होनेवाली सब श्रुतियाँ स्थूलत्व, अणुत्व आदि गुणोंका निरास करके आपमें तात्पर्यवृत्तिसे सफल होती हैं ॥ ४१ ॥



भागवतस्तुतिसंग्रहके विशेष शब्दोंका कोष

(उक्त कोष पण्डित गङ्गासहायकृत अन्वितार्थप्रकाशिकाके अनुसार बनाया गया है। इसमें अन्तमें दिये हुए अङ्कोंमेंसे पहलेसे भागवतका स्कन्ध, दूसरेसे अध्याय, तीसरेसे श्लोक समझना चाहिये)

(अ)

अकूपार–कूर्मावतारको धारण करनेवाले भगवान् (५ । १८ । ३०) (अकूपारः समुद्रे स्यात् कूर्मराजेऽपि कीर्तितः) इति विश्वः।

अकृतात्मा–विक्षिप्तचित्त (४। १७। ३२)

अकृतचेतस्–अकृतात्मा (१०।४७।१६)

अक्षर–क्षयरहित (८। ३ । २१), परिपूर्ण (८।५।२७)

अक्ष–इन्द्रियसमूह (६। ४। २५), धुरा (८।५।२८)

अग्रसर–सृष्टिके पहले विद्यमान, आगे चलनेवाला, प्रसिद्ध (१०।८७।२४)।

अग्रहण–अज्ञान, मिथ्याज्ञान (१० । २७ । ४)।

अङ्ग–वेनका पिता (१० । ६० । ४१), शरीरका अवयव, (१० । ४० । २), (यम-नियमादि, श्रवण-मननादि) साधन (५ । १८ । ३७)।

अचिच्छक्ति–माया, (ज्ञानस्वरूपसे भिन्न) (७ । ३ । ३४)

अज–(१) जन्मसे रहित, ब्रह्मा (३ । ३३ । २), (७। ३ । ३१), (१० । १४। १३), (१०।४०। ३), (१०। ६०। ३७)
(२) जीव(८।५।२८),(१०।४०।३)
(३) ईश्वर (३। ५। ४९), (१०। ८५ । ५)।

अजन–ब्रह्मा (९। ८ । २२), जन्मसे रहित भगवान् (१० । १४ । २०)।

अज–प्रकृति और पुरुष (१०।८७। ३१)

अज्ञान–अविद्या (१० । २ । ३५)

अतन्निरसन–सब पदार्थोंके निषेध करनेपर जो चैतन्य (ब्रह्म) शेष रह जाता है (१० । ८७ । ४१)।

अदान्त–जिसका दमन न हो सकता हो (१० । ८७ । ३३)।

अद्वितीय–भेदरहित (१० । ६३ । ३८)।

अधीश–नियन्ता (१० । २७ । ६)।

अधीश्वर–प्राणियोंका सञ्चालक अथवा प्रलय आदि कालमें सभीको अपनेमें लीन करनेवाला (१० । ५६ । २६)।

अध्यक्ष–सर्वसाक्षी, स्वामी (१०।१०।३१)।

अधोक्षज–इन्द्रियोंका अविषय, स्वयं-प्रकाश, वेदैकगम्य—यह भगवान्के अर्थमें निरूढ़ पद है (१ । ८ । १९)।

अनन्त–देशकालवस्तुकृत इयत्तावधारण-शून्य (४ । ९ । १६), (७ । ३ । ३४), असंख्य (१० । ८७ । ४१)।

अन्धपरम्परा–यह इस प्रकारका न्याय है—यदि कोई अन्धा दूसरे अन्धेको अपने सहारेसे ले जाता हो और वह कहीं गड्ढेमें गिर पड़े तो दूसरा अन्धा भी उसीकी तरह गिर पड़ता है। ऐसा ही प्रकरणमें समझो। (१० । ८७ । ३६)।

अनात्मा—अपने चितको बाह्य विषयोंसे पृथक् न रखनेवाले (३ । १५ । ५०), प्रकृति (१० । १४ । १९) ।

अनावृत—जो दूसरेसे आवृत न हो, अपरिच्छिन्न (१० । ३ । १७) ।

अनीह—क्रियासे रहित अथवा कामनासे रहित (१० । ३ । १९), आसक्तिरहित (चेष्टारहित) (१० । ८४ । १७) ।

अन्त—प्रलयकाल (१० । १४ । १९) ।

अन्वय—जिसके रहते हुए जिसकी सत्ता हो, अनुवृत्ति (१ । १ । १), सम्बन्धी (१० । ३१ । १६), देहके सम्बन्धी पुत्रादि (१० । ८५ । १७) ।

अनुग्रह—जीवरूपसे इस शरीरमें प्रकट होना (१० । ८७ । १७), अधिष्ठान-शक्ति (१० । ८५ । १०) ।

अनुयुग—सभी कृतादियुगोंमें अथवा आप दोनोंकी सभी जोड़ियोंमें जैसे—अदितिकश्यप, वसुदेव-देवकी, (१० । ८५ । २०), (१० । ८७ । ४०) ।

अनुवाद—कथनमात्र (१० । ३ । १८) ।

अनुभाव—फल (१० । १६ । ३६) ।

अनुशासन—शिक्षा (अथवा दण्ड) (१० । २७ । ७) ।

अनुबन्ध—बन्धनका साधन, रस्सी (पाश) (१० । ५१ । ५६), सम्बन्ध (१० । २७ । ४)

अनुताप—कर्मफलोंकी वासना (१० । ५१ । ५९) ।

अनुशय—वासना, अनादि संस्कार (१० । ८७ । २२) ।

अनुस्मृति—जीवोंकी समीचीन ज्ञान करानेवाली शक्ति (१० । ८५ । १०) ।

अपद—मन और वाणीका अविषय (१० । ८७ । २९) ।

अप्रकाश—अबोध या मूर्ख (९ । ८ । २२)

अभव—असंसारी (१० । ८७ । ३२), तिरोभाव (छिपना) (१० । १४ । २५) ।

अरण—रक्षकस्थान, आश्रय (४ । २४ । ५८) ।

अर्थ—उत्कृष्ट फल (१० । २८ । ५), धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थका साधन शरीर (४ । ७ । ४४), घटादिरूप विषय (४ । ७ । ३१), कर्मफल (५ । १८ । ३६), वित्त (७ । ९ । १०), आत्मस्वरूप (८ । ५ । ३०), पुरुषार्थ (५ । ३ । ७), (५ । ३ । १३), परमार्थ (८ । २४ । ५३), वास्तव (१० । ६० । ४२) ।

अर्कदृक्—सूर्यके प्रकाशके समान जिसको स्वतः ज्ञान हो, स्वप्रकाश, स्वतः-प्रकाश, दूसरे किसी प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करनेवाला (८ । २४ । ५०) ।

अलम्—बहुत अधिक (१० । ३१ । १८), प्रयोजनका अभाव (निषेध), पूर्णता (१० । ४७ । १७) ।

अवसित—निश्चित (१० । ८७ । २६) ।

अवम—थोड़ा, बहुत छोटा (८ । ५ । ४८) ।

अविकल्प—भेदसे रहित (३ । ९ । ३) ।

अविकार—उत्पत्त्यादि विकारोंसे रहित (४ । ९ । १६) ।

अविकृत—अविकार (१० । १६ । ४०) ।

अविद्या—भगवदाश्रित माया (१० । २ । ३९) ।

अव्यय—उत्पत्त्यादि छः विकारोंसे रहित (१० । ७३ । ८), विनाशसे रहित (८ । १२ । ५), (१० । १० । ३०) ।

अव्यक्त—अतीन्द्रिय (१० । ३ । २४),

सूक्ष्म (१० । १० । २९), प्रधान (प्रकृति) (१० । ३ । २५,२६); (१० । ८७ । ५०)।

अष्टगुणित–अणिमा, महिमा आदि आठ योगैश्वर्यसे युक्त (१० । ८७ । ३८)।

असत्–अत्यन्त वस्तुशून्य (१० । ८७ । २६), विषयसुख (५ । १८ । १२), सूक्ष्ममहदादि (१० । ८७ । २४), कामवासनादूषित (१० । ४० । २८), (१० । ८७ । ३९), नरकादि दुःखोंके कारण (१० । ४८ । २३), कामादि-दोषयुक्त (१० । ५१ । ४८)

असतो जनिः–(१) 'पहलेसे अविद्यमान-की उत्पत्ति' (यह पातञ्जल अर्थात् योगशास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है ।) (२) 'पहलेसे अविद्यमान कार्यकी उत्पत्ति' (यह वैशेषिकमतानुयायियोंका सिद्धान्त है ।) (१० । ८७ । २५)।

असङ्ग–निर्लेप अर्थात् कर्मफल सुख-दुःखादिके सम्बन्धसे रहित अथवा अज्ञानकी विषयता और आश्रयतासे असम्बद्ध और अनावृत चैतन्य, वैराग्य (५ । ३ । ११)।

असद्ग्रह–असमीचीन ज्ञान अर्थात् देहादिमें अहंममादिरूपाभिमानका आग्रह (अध्यास) (१० । १६ । ५६)।

अहम्–महत्तत्त्वसे उत्पन्न अहंकार नामका तत्त्व (५ । १७ । २३), अहंकारास्पद भोक्ता (८ । १२ । ५), अहंकाररूप तत्त्व (१० । १४ । ११)।

(आ)

आकृति–क्रिया (४ । २४ । ४३)।

आकृति–पदार्थ (१० । ८५ । ९)।

आगम–शास्त्र, पाञ्चरात्रादि (८ । ३ । १६)।

आत्मगति–स्वतत्त्व (अपना स्वरूप) (६ । १६ । ४७)।

आत्मगुण–बुद्धिका धर्म (सुखदुःखादि) (७ । ९ । २२)।

आत्मता–अभेद (१० । १४ । २५), आत्मस्वरूपता (१० । ८७ । २६)।

आत्मविद्या–गीताशास्त्र (१ । ९ । ३६) ।

आत्मतत्त्व–ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप (३ । १५ । ४७)।

आत्मवान्–मनको वश करनेवाले (५ । १८ । १०), धीर (५ । १९ । ६), जीव (७ । ३ । ३०)।

आत्मलोक–अपना धाम (प्रत्यग्रूप) (६ । ९ । ३३)।

आत्मयोनि–भूत, भौतिक कार्यमात्र (१० । ४८ । २०)।

आत्मकेत–जीवोंका आश्रय (१० । ६३ । ४४)।

आत्मा–परमात्मा (१ । ८ । ३०), (८ । २२ । २०), (१० । ८७ । ३४), मन (१ । ९ । ३४), बुद्धि (१ । १० । २३), स्वरूप (१ । १० । २१),(४ । २४ । ४०), (१० । ८७ । १४), जीव (४ । ७ । ३८), (८ । ५ । २७), (१० । १४ । २४), अन्तःकरण (३ । ५ । ४६), सत्त्वादि गुण (३ । ५ । ४७), स्व (अपना) (३ । २१ । १९), (१० ।

(इ, ई)

(उ, ऊ)

उद्धर्म–पाखण्ड-धर्म (१० । १४ । ४०) ।

उदीक्षा–'तदैक्षत' इस श्रुतिके अनुसार ईक्षण, सङ्कल्प (१० । ८७ । २९) ।

उपलम्भन–चैतन्यघनस्वरूप (आत्मा) (१० । ६० । ३५), सामान्य ज्ञान (५ । १८ । ३१) ।

उपाय–अनुष्ठान (१० । ७३ । १५), कर्तव्य कर्म (१० । ८७ । ३३) ।

उभय–सत्-असत्से बना हुआ शरीर (१० । ८७ । २४) ।

उभय–आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों देवता (१० । ८७ । २४) ।

उभययुक्–(१) प्रकृति और पुरुष, और इन दोनोंसे मिलित अर्थात् परस्पराध्यास । (२) प्रकृति-पुरुषात्मक विश्वको व्याप्त करनेवाला मूलाधिष्ठान, बिम्बभूत चैतन्य (१० । ८७ । ३१), कारण और कार्यमें रहनेवाले सत्त्व और असत्त्वसे युक्त अथवा सत् और असत् स्वरूप, अथवा कार्य और कारणमें रहनेवाली ब्रह्मकी सत्ता (१० । ८७ । ३६) ।

ऊर्क्–पितरोंका अन्न (४ । २४ । ३८) ।

ऊति–लीला (८ । ७ । ३३), (१० । १४ । २१) ।

(ऋ)

ऋत–सत्य (८ । २२ । २), मधुर भाषण (८ । ७ । २५), अबाधित (१० । १४ । २६), परमार्थ सत्य (४ । २० । ३१) ।

ऋषि–वेद (८ । ७ । ३०), ब्रह्म (वेद) (१० । ८७ । २४), जीव (१० । ८७ । ५०), मन्त्र और मन्त्र-द्रष्टा (१० । ८७ । १५), सूक्तद्रष्टा, तपस्वी, भगवद्भक्त (१० । ८७ । ३५) ।

(ए)

एक–द्वितीयरहित (१० । ८४ । १७), मुख्य (१० । ४० । ६), केवल (१० । ८७ । ३७) ।

एकान्तयोगी–निरन्तर भक्तियोगमें लगा हुआ (८ । २२ । ६) ।

(ओ)

ओकस्–स्वरूप, स्थान (८ । २४ । ५३) ।

ओजस्–इन्द्रियसामर्थ्य (५ । १८ । २५), वेग (५ । १८ । २८) ।

(क)

क–ब्रह्मा (१० । १४ । २), प्रजापति (८ । ५ । ३९), शिर (१० । ४० । १३) ।

कवि–विवेकी (५ । १८ । ४), (१० । ८७ । २०), ब्रह्मा (१ । १ । १) (५ । १८ । ६), सर्वज्ञ(७ । ३ । ३०), सूक्ष्मदर्शी (७ । ९ । ३४), (१० । १६ । ४४) ।

कर्ता–अहङ्कार (१० । ५९ । ३०) ।

कर्म–जीवादृष्ट (८ । ५ । ४३), यज्ञादिका कारणरूप अदृष्ट (१० । ६३ । २६), यज्ञादि (१० । ५१ । ५४), सञ्चित कर्म (५ । १८ । ८), पुण्य-पाप (१० । ८५ । १५), चेष्टित (८ । ५ । ५०) ।

कर्मपर्वणी–कर्मरूप ग्रन्थिको सञ्चालन करनेवाली (माया) (५। १७। २४)।

कर्मशुक्ल–यज्ञोंसे शुद्ध होनेवाले (यजमान) रूप (५। १८। ३५)।

कर्मवर्त्म–विषयोंके उत्पादक एवं कारणीभूत संसारकी तत्तद्योनि (१०। ४०। २३)।

काम–सङ्कल्प, तद्रूप चित्तकी वृत्ति (३। २१। १४), मन्मथ (८। ७। ३२), (१०। ४७। १७), विषयभोगकी इच्छा (९। ८। २७), मनोरथ (३। २१। २१), विषय (१०। ६०। ४३)।

काल–मायादिनियन्ता (७। ९। २१), संवत्सररूप (१०। १६। ४१), तत्तत् कर्मसम्पादनयोग्य समय (१०। ५२। ३८), तत्तदवसर (साधुसंरक्षादि समय) (१०। ८४। १८), नियन्ता (भगवान्) (१०। ५६। २७), समय (१०। ५१। ४९), गुणक्षोभक सृष्ट्यादिका कर्ता (१०। ८४। २३), गुणक्षोभक कालरूप (भगवान्) (१०। ७३। १३), (१०। ६३। २६)।

कुलाय–नीड (घोंसला) रूप भौतिक अस्मदादि शरीर (१०। ८७। २२)।

कुसृति–दुर्वृत्त (दुराचारी), दुष्ट (८। २३। ७)।

कूर्पदृश–शार्कराक्ष नामवाले ऋषि, अथवा सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेवाले (१०। ८७। १८)।

कूटस्थ–निर्विकार (मिथ्याभूत शरीरमें रहनेपर भी शरीरादिकृत विकारसे शून्य) अथवा कूटवन्निर्विकाररूपसे अवस्थित (४। ९। १५), (१०। १६। ४३)।

कृतान्तमुख–कालका मुखरूप संसार (१०। ८७। १८)।

कृपणधी–वासनासे युक्त अन्तःकरणवाला (१०। ४०। २७)।

कृच्छ्र–अनेक जन्मकी तपस्या, शमदमादि कष्टसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (१०। २। ३२), दुःख (१०। ४०। १७)।

कृष्ण–कृष्णसार मृग (१०। ३५। १९), (१०। ४७। १९)।

केवल–निरुपाधिक (उपाधिसे रहित (१०। ३। १३), अद्वितीय (१०। १४। २६), शुद्ध, विकाररहित (१०। ४८। २०), सभी दोषोंके संसर्गसे रहित (१०। ६३। ३४)।

क्रतु–सङ्कल्प (निश्चय करना) (८। ७। २५)।

क्रिया–यज्ञादिरूप (३। ९। १३), भगवदुपासना (१०। २। ३६), लौकिक व्यापार, देवताकी पूजा, भगवत्की लीला (१०। २। ३७), इन्द्रियाँ (४। १७। ३३)।

क्षण–समय (१०। २९। ३६)।

क्षय–लय, निवास, विनाश (१०। ४०। ३०)।

क्षेम–कल्याण, अभय (१०। ३। २६), प्राप्तकी रक्षा (७। ९। १३)।

क्षेत्र–शरीर, प्रकृति (१० । ६३ । २६), देहेन्द्रियान्तःकरणादि (१०। १० । ३१) ।

(ख)

ख–आकाशके समान व्यापक ब्रह्म अथवा नित्यसुखस्वरूप (८।५। २७), देहगत छिद्र (८।५। ३८), आकाश (१०।१४। ११), (१० । ७७ । ४१) ।

(ग)

गत–(कारणपरम्परया) लीन (१० । ३ । २५) ।

गति–तत्त्व (३ । ९ । १), (८। २२ । १७), शरण (४ । ३० । ३८), प्राप्तव्य (८ । ३ । ७), चलना (१० । ८५ । ८), भजनका प्रकार (१० । ४० । १०), अवस्था (१० । १६ । ४८), चेष्टाप्रकार (१० । ४८ । २७) ।

गिर्–वेदरूप वाणी (१०। ८७। २७), वेदका विधि और निषेधवाक्य (१० । ८७ । ४०) ।

गीतपरम्परा–उपदेशसन्तति (१०। ८७ । ४०) ।

गुण–सत्त्व, रज, तम (३ । ९ । १), विषयग्राहक इन्द्रिय (४। ७ । ३७), (१० । २ । ३५) । भगवान्के सौन्दर्यादि गुण (६ । ९ । ३६), धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि (५ । १८ । १२), जरायुजादि चतुर्विध जीवशरीर (४ । १७ । ३०), सब पुरुषार्थ (धर्मार्थकाम) (४। २० । २६), रज्जु (१०।१४। २८), अहङ्कार-अन्तःकरणदेहेन्द्रिय (१०।१६।४६), गुणनक्रिया (६। १६।३७), विकार (१०।३।१९)।

गुणप्रवाह–देह (१०। ८५। १५), संसार (१० । ३७ । २३), परम्परा (धारा) (३ । ३३ । २) ।

गुणव्यवाय–देह (८ । ६ । ११)।

गुणप्रकाश–वृत्तिमें चैतन्यका प्रकाश (१० । २ । ३५) ।

गुरु–रक्षक, ज्ञानदाता, अज्ञाननाशक (८। २४। ४६), परमार्थप्रकाशक (१० । ४ । २४), पूज्य (१० । ४८ । २५) ।

गुहाशय–हृदयमें रहनेवाला (आत्मा) (१० । ३७ । ११-१२) ।

गूढ–आच्छन्न (१० । १६ । ४२), मन और वाणीके अगोचर (ब्रह्म) (१० । ६३ । ३४) ।

गृह्यमाण–दृश्य (जगत्) (१० । १० । ३१) ।

(च)

चर–वायु (१० । १४ । ११) ।

चरम–सबके अन्तमें रहनेवाला रसस्वरूप ब्रह्म (१० । ८७ । १७) ।

चातुर्होत्र–यज्ञ (७ । ३ । ३०) ।

चित्–चित्त (मन) (७ । ९ । ४८), चैतन्य (ज्ञान) (८ । १२ । ५) ।

चिच्छक्ति–विद्या (ज्ञान) (७ । ३ । ३४) ।

चेतस्–ज्ञान (४ । २४ । ४३), (१० । १ । २८), अन्तःकरणके चारों भेद (मन, बुद्धि, अहङ्कार और

२७), अ, उ, म, (ओंकार) (८ । ७ । २५) ।

(द)

दम–इन्द्रियनिग्रह (१० । १६ । ३३) ।

दहर–सूक्ष्म (हृदयकमलका अवकाश) (१० । ८७ । १८) ।

दुरन्त–प्रबल (४ । ६ । ४८), अचिन्त्य (४ । ६ । ४९), दुःसह (१० । ३९ । २९), अनन्त (७ । ८ । ४०), अपार (१० । ४८ । १७), अशक्य (१० । ३५ । २५) ।

दृक्–प्रज्ञा (ज्ञान) (३ । ९ । २२), इन्द्रिय (४ । ७ । ३७), नियामक साक्षी (१० । ३१ । ४), ज्ञान (५ । १८ । ३३) ।

दृशि–नेत्र (१० । ३५ । २३) ।

देवयान–अर्चिरादिमार्ग, देवता (८ । ५ । ३६) ।

द्वन्द्व–सुख-दुःख (४ । ७ । २८), जोड़ी (स्त्री-पुरुषोंकी) (१० । ४७ । २०), शीतोष्ण, सुख-दुःख (६ । १६ । ३९) ।

द्रव्य–पञ्च महाभूत (४ । १७ । ३३), प्रकृत्यादि तेईस तत्त्व (८ । ५ । ४३), शब्दादि सूक्ष्म भूत (१० । ६३ । २६), उपादान (१० । ८५ । १२) ।

(ध)

धर्म–वर्णाश्रमादि लक्षण धर्म (१० । १६ । ५०), वस्तुमें रहनेवाली विशेषता (६ । ४ । ३२) ।

धाम–स्वरूप (१०।८७।१९),(१०।२७। ४), गृह (घर) (१०।१४ । ३५), स्थान (१० । ३१ । १७), प्रभाव (१० । ५२ । ३८), मूर्ति (१० । ८५ । ४२) ।

धिष्ण्य–आश्रय, स्थान (८ । ५ । ३६) ।

धीर–स्वस्थ (३ । ५ । ४१), जितेन्द्रिय (३ । ५ । ४६), वशीकृत-चित्त (१० । ५२ । ३८) ।

ध्यान–जिस विषयमें धारणासे चित्तवृत्ति लगायी गयी है उसी विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता (१० । ३ । २८) ।

(न)

नाद–वाणीकी शक्ति (पश्यन्ती) (१० । ८५ । ९) ।

नारायण–जीवसमूहके प्रवर्तक, जीव-समूहके साक्षी, जलमें शयन करने-वाले (१० । १४ । १४) ।

निगम–वेद (१० । १६ । ४४), ज्ञापन (१० । ८७ । २१) ।

निग्रह–दण्ड (१० । १६ । ५८), (१० । २७ । ५), दमन, विनाश (१० । ८४ । १८) ।

निवृत्त–निषेधात्मक (१० । १६ । ४४), ज्ञान-काण्डकी उपासना, देवप्राप्तिके साधन (४ । २४ । ४१) ।

नियम–सुखदुःखादि साधनका नियम (१० । ८७ । ३०), तीर्थस्नानादि नियम (१० । ५२ । ४०) ।

निरोध–नाश, प्रलय (१० । २ । ३९), (१० । ५९ । २९) ।

(प)

पद–चरण, उद्गमस्थान (३।५।४२),

(ब)

(१०।४७।१२), भाई-बन्धु (१०।२९।३२)।

बल—देहशक्ति (७।८।४६), सेना, तथा हठ (१०।५२।४१), शरीरसामर्थ्य (८।५।३७), (१०।५६।२६), (१०।८५।८), प्रजापालनसामर्थ्य (८।५।४१)।

बलि—(१) भूम्यादिपूजा, (२) विरोचनका पुत्र, (३) पूजोपहार अन्नादि (१०।४७।१७), भाग (१०।५२।३९), राजकर, भगवत्-आज्ञा (१०।८७।२८), पूजा (१०।६०।३७)।

बहिष्—विषय (९।८।२३), कार्य (४।२४।४०), ममकारास्पद भोग्य वस्तु (८।१२।५), बाहर (१०।३।१७)।

बुध—विद्वान् (१०।३१।८)।

बुद्ध—अवतारविशेष (१०।४०।२२)।

बुद्धि—रूपादिविज्ञान (१०।३।१७), अन्तःकरण (४।९।१५), प्रज्ञा (७।९।९)।

बृहत्—विशाल (१०।३१।१७), ब्रह्म (७।३।३२), (१०।८७।१५), विश्वविधारक (१०।८५।३९)।

ब्रह्म—परब्रह्म (२।४।१४), (१०।६३।२५), परमात्मा (३।३३।८), (१०।१४।१८), (१०।८५।३९), (१०।१०।३३), व्यापक (१०।३।२४), ब्रह्मा (१०।१६।४०), निर्विकाररूप (१०।३।१९), ब्राह्मणजाति (१०।८४।१९), वेद (१।१।१), (८।५।४१), (१०।६३।२५)।

ब्रह्मण्य—ब्राह्मणोंका हित (५।१९।३), (८।१७।२५)।

(भ)

भग—ऐश्वर्यादिगुण (३।९।२२), ज्ञानैश्वर्यादि (१०।८७।३८)।

भव—क्षेम (१।११।७), संसार (१०।१४।२४), (३।९।२१), जन्म (१०।२।३९), (१०।१४।२८), (३।१५।४९), (१०।१०।३५), रुद्र, जन्म (४।३०।३८), शिव (७।९।२६), संसारप्राप्ति (१०।२।३७), क्षेम-विभूति (१०।२।४१), उत्पादक (४।९।१६), आविर्भाव (१०।१४।२५), शरीर (१०।१४।२८), अभ्युदय (१०।८७।२०), (१०।६३।३७), संसरण (१०।६३।४४)।

भाव—कर्ता (७।९।२०), पदार्थ (वस्तु) (८।१२।४), आशय (१०।२।३२), भगवदाकार वृत्ति (१०।८७।३२), घटपटादि (कार्य) (१०।८५।१३), सुख, दुःख (देहेन्द्रियविकार) (१०।८५।१४), परमार्थ वस्तु (आत्मा) (१०।१४।२६), भक्ति (३।९।११)

भारती—वेदरूप वाणी (१०।८७।३६)।

भिदा—भेदबुद्धि (१०।२।३५),

यज्ञक्रतु–भगवान् विष्णु (४ । ७ । ४६), (५ । १८ । ३५)।

यज्ञरेतस्–सोम (देवता, पितर दोनोंका आहार) (४ । २४ । ३८) ।

युक्त–सावधान (८ । ६ । ११)।

योग–उपासनाशास्त्र (६ । ४ । ३२), निरोधाभ्यास (७ । ८ । ४५), भक्तियोग (७ । ९ । ४७), (४ । २४ । ७१), उपाय (८ । ६ । १२), चित्तवृत्तिनिरोध (३ । २१ । १३), कर्मयोग (४ । २४ । ६२), भक्तिसे भिन्न अनेक उपाय (१० । १४ । ५), यमनियमादि अष्टाङ्ग साधनसे युक्त कर्म, (७ । ९ । ९), भगवद्धर्मरूप कर्म (८ । ३ । २७) ।

योगगुण–अणिमादि आठ ऐश्वर्य (८ । १७ । १०) ।

योगमाया–भगवान्‌की त्रिगुणात्मिका अघटितघटनापटीयसी शक्ति (१० । १४ । २१), (३ । १३ । ४६), (१० । ८५ । ४४), (३ । २१ । १९), अचिन्त्यशक्ति (१० । ८४ । २२)।

योगरथ–धारणा, ध्यान, समाधि आदि, भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय, भक्ति, श्रवणादि (८ । ५ । २९) ।

योनि–उत्पत्तिस्थान (४ । ६ । ४२), अभिव्यक्तिस्थान (१० । ८७ । १९) ।

(**र**)

रजस्–रजोगुण (१० । १४ । १०), (१० । ५१ । ५६), धूलि (१० । ८७ । ४१), तृष्णा (५ । १८ । १४) ।

राधस्–आनन्दरूप (४ । २४ । ३४)।

रूढयोग–सिद्धमुनि (३ । २१ । १३) ।

रूप–सौन्दर्य (१० । ५२ । ३८), आकार (स्वरूप) (५ । १९ । ४), नीलपीतादि (१० । ६३ । ३९) ।

(**ल**)

लोककल्प–विराट्‌रूप (भगवान्) (१० । ६३ । ३६) ।

(**व**)

वन–जल (३ । १३ । ४१), अरण्य (१० । ३१ । १८) ।

वयस्–अवस्था (५ । १८ । १३), काल (८ । ५ । ४३), (१० । ८७ । ४१), आयु (१० । ८५ । १६) ।

वयुन–ज्ञान (४ । ९ । ८) ।

वसु–भूतसूक्ष्म (वस्तु) (७ । ९ । ३१) ।

वस्तु–परम पुरुषार्थ (१० । ७३ । ११), परमार्थ वस्तु (१० । ३ । १७) ।

विकल्प–विरुद्ध कोटिका ज्ञान (६ । ९ । ३६), तत्तद्भेद (८ । १२ । ८), भ्रम, कार्य (घटादिरूप) (१० । ८७ । ३६) ।

विकल्पित–आरोपित (१० । ८५ । १४) ।

विकार–बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रिय, पृथिव्यादि (७ । ३ । २८), पाँच महाभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ (१० । ६३ । २६ और ३८), कार्य (देहादिका सुखादि भोग) (१० ।

(ह)





गीताप्रेस, गोरखपुरकी विविध गीताएँ

गीता—[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखा है। भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है, चित्र ३, पृ० ५१९, मू० साधारण जिल्द २॥) बढ़िया जिल्द ... ...२॥।)

गीता—मूल पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, ५७० पृष्ठ, ४ बहुरंगे चित्र, मू० ... ... १।)

गीता—प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मू० ॥≥) सजिल्द ॥।=)

गीता—(गुटका) १।) वाली गीताकी ठीक नकल, मूल्य ... ... ॥)

गीता—भाषाटीका सचित्र, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मूल्य =)॥ सजिल्द ≥)॥

गीता—साधारण भाषाटीकासहित मोटा टाइप मू० ॥) स० ... ॥≥)

गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र मूल्य ।—) सजिल्द ... ।≥)

गीता—केवल भाषा, इसमें श्लोक नहीं है। सचित्र मू० ।) सजिल्द ... ।=)

गीता—भाषा (गुटका) प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित मूल्य ... ।)

गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... ... —)॥

गीता—मूल, ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च सजिल्द ... ... =)

गीता—दो पन्नोंमें सम्पूर्ण १८ अध्याय ... ... —)

गीता—केवल दूसरी अध्याय मूल और अर्थसहित ... ...)।

गीताका सूक्ष्मविषय—गीताके प्रत्येक श्लोकोंका हिन्दीमें सारांश है, मू० ... —)।

श्रीकृष्ण-विज्ञान—गीताका श्लोकोंसहित हिन्दी पद्यमें अनुवाद सचित्र ॥।) स० १)

पञ्चरत्न गीता—मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृष्ठ ३२८ सजिल्द ... ।)

श्रीमद्भगवद्गीता गुजराती भाषामें

सभी विषय १।) वाली गीताके समान, मूल्य ... ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता मराठी भाषामें

सभी विषय १।) वाली गीताके समान, मूल्य ... ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता बंगला भाषामें

सभी विषय ॥≥) वाली गीताके समान, मूल्य ॥।) सजिल्द ... १)

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

भाषाटीका-सहित एवं मूल संस्कृत ग्रन्थ

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीके भाष्य हिन्दी अनुवादसहित (सचित्र)—
ईशावास्योपनिषद्–पृष्ठ ५०, मू० ≶)
केनोपनिषद्–पृष्ठ १४६, मू० ··· ॥)
कठोपनिषद्–पृष्ठ १७२, मू० ···॥–)
प्रश्नोपनिषद्–पृष्ठ १३०, मू० ··· ।≶)
मुण्डकोपनिषद्–पृष्ठ १३२, मू० ।≶)
उपर्युक्त पाँचों एक जिल्दमें खण्ड १, मू० ··· २।–)
माण्डूक्योपनिषद्–श्रीगौडपादीय कारिकासहित पृष्ठ ३००, मूल्य १)
तैत्तिरीयोपनिषद्–पृष्ठ २५२, मू०॥।–)
ऐतरेयोपनिषद्–पृष्ठ १०४, मू० ।=)
उपर्युक्त तीनों एक जिल्दमें खण्ड २, मू० ··· २।=)
छान्दोग्योपनिषद्–पृष्ठ ९८४, चित्र ९, खण्ड ३, मूल्य ३॥।)
श्रीमद्भगवद्गीता–३ चित्र, पृष्ठ ५१९, मू० २॥) सजिल्द २॥।)
विष्णुसहस्रनाम–पृ० २०५, मू० ॥=)
स्वामी श्रीशंकराचार्यजीके ग्रन्थ, भाषानुवादसहित (सचित्र)—
विवेक-चूडामणि–पृष्ठ २२४, मू० ।–) सजिल्द ··· ··· ॥)
प्रबोध-सुधाकर–पृष्ठ ८०, मू० ≶)॥
अपरोक्षानुभूति–पृष्ठ ४८, मू० =)॥
शतश्लोकी–पृष्ठ ६४, मू० ··· =)
प्रश्नोत्तरी–(गुटका) पृ० ३२, मू०)॥

श्रीविष्णुपुराण–सानुवाद, ८ चित्र, मू० सजिल्द २॥) बढ़िया जिल्द २॥।)
अध्यात्मरामायण–सानुवाद, ८ चित्र मू० सजिल्द १॥।) बढ़िया जिल्द २)
श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध–सचित्र सटीक, मू० ··· ॥।) स० १)
मुमुक्षुसर्वस्वसार–सानुवाद मू० ॥।–) सजिल्द ··· ··· १–)
सूक्तिसुधाकर ,, मू० ॥=)
स्तोत्ररत्नावली ,, मू० ॥)
श्रुतिरत्नावली ,, मू० ॥)
लघुसिद्धान्तकौमुदी मू० ।=)
गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला–(संस्कृत-हिन्दी) मू० ··· ··· ।–)
प्रेमदर्शन (नारदभक्तिसूत्र) विस्तृत टीकासहित मू० ··· ।–)
मनुस्मृति–केवल दूसरा अध्याय और उसका हिन्दी अनुवाद, मू० –)॥
मूलरामायण–सानुवाद मू० –)।
गोविन्ददामोदरस्तोत्र–सार्थ मू० –)
विष्णुसहस्रनाम–मू०)॥। सजिल्द –)॥
रामगीता–सानुवाद, मू० ···)॥।
शारीरकमीमांसादर्शनम् (मूल))॥।
सन्ध्या–विधिसहित, मू० ···)॥
बलिवैश्वदेवविधि–मू० ···)॥
पातञ्जलयोगदर्शन (मूल) मू०)।
नारदभक्तिसूत्र (सानुवाद) मू०)।
सप्तश्लोकी गीता–मू० आधा पैसा

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

जीवन-चरित्र

भागवतरत्न प्रह्लाद–पृष्ठ ३४०, ३ रंगीन और ५ सादे चित्र, -मू० १) स०१।)

देवर्षि नारद–पृष्ठ २४०, २ रंगीन, ३ सादे चित्र, मू० ।।।) सजिल्द ... १)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (सचित्र)–
खं० १, ६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।।=) सजिल्द १=)
,, खं० २, ९ चित्र, पृष्ठ ४५०, मू० १=) सजिल्द १।=)
,, खं० ३, ११ चित्र, पृष्ठ ३८४, मू० १) सजिल्द ... १।)
,, खं० ४, १४ चित्र, पृष्ठ २२४, मू० ।।=) स० ... ।।।=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (सचित्र)–
खं० ५, १० चित्र, पृष्ठ २८०, मू० ।।।) सजिल्द ... १)

श्रीतुकाराम-चरित्र–पृष्ठ ६९४ मू० १≡)

श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–पृष्ठ ३५६ मू० ।।।–)

श्रीएकनाथ-चरित्र (सचित्र)–मू० ।।)

श्रीरामकृष्ण परमहंस(सचित्र) मू० ।≡)

भक्त नरसिंह मेहता–सचित्र मू० ।=)

मूल गोसाईं-चरित्र–सचित्र, पृष्ठ ३६ मूल्य ... ... –)।

The story of Mira Bai—
Illustrated, pp. 150 As. 13

At the touch of the Philosopher's Stone -/9/-

सुन्दर सचित्र कविता और भजनोंकी पुस्तकें

गोस्वामी तुलसीदासजी—

विनय-पत्रिका–टी० श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, ६ चित्र, पृष्ठ ४६०, मू० १) सजिल्द ... १।)

गीतावली–हिन्दी-अर्थसहित, ८ चित्र, पृष्ठ २७५, मू० १) सजिल्द ... १।)

शतपञ्च चौपाई–(रामायणसे) सचित्र—मूल्य ... ... ।।=)

कवितावली–सानुवाद, ४ चित्र, मू० ।।–)

हनुमानबाहुक–हिन्दी-अर्थसहित, मूल्य ... ... –)।।

अन्य लेखकोंकी पुस्तकें–

श्रीकृष्णविज्ञान (श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी पद्यानुवाद)– २ चित्र, पृष्ठ २७५, मू० ।।।) स० १)

भक्त-भारती–७ भक्तोंकी कथाएँ मूल्य ... ... ।≡)

मननमाला–मूल्य ... ... =)।।

भजन-संग्रह पहला भाग–मू० ... =)
,, दूसरा भाग–मू० ... =)
,, तीसरा भाग–मू० ... =)
,, चौथा भाग–मू० ... =)

भजन-संग्रह पाँचवाँ भाग–(पत्र पुष्प) =)

हरेरामभजन ...)।।।

सीतारामभजन ...)।।

हरिसंकीर्तनकी धुन ...)।

कल्याणभावना ...)।

गजलगीता– मूल्य आधा पैसा

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकें

बिनय-पत्रिका–(सचित्र) गो०तुलसीदासजीके ग्रन्थकी टीका १)स०१।)

नैवेद्य–चुने हुए श्रेष्ठ निबन्धोंका सचित्र संग्रह। मू० ॥) स० ॥≶)

तुलसीदल–परमार्थ और साधनामय निबन्धोंका सचित्र संग्रह,॥), ॥≶)

उपनिषदोंके चौदह रत्न -१४कथाएँ, १४ चित्र, पृ० १००, मू० ।=)

प्रेमदर्शन–नारद-भक्ति-सूत्रकी विस्तृत टीका,३ चित्र,पृ० २००, मू० ।–)

भक्त बालक–(सचित्र) इसमें भक्त गोविन्द, मोहन, धन्ना जाट, चन्द्रहास और सुधन्वाकी सरस, भक्तिपूर्ण ५ कथाएँहैं, पृ०८०,।–)

भक्त नारी–(सचित्र) इसमें शबरी, मीराबाई,जनाबाई,करमैतीबाई और रबियाकी मीठी-मीठी जीवनियाँ हैं, ६ चित्र,पृ०८०,।–)

भक्त-पञ्चरत्न–(सचित्र) इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल चरवाहा, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी प्रेमभक्तिपूर्ण कथाएँ हैं, ६ चित्र, पृ० ८०, मू० ... ।–)

भक्त-चन्द्रिका–७ भगवत्-प्रेमियोंकी कथाएँ, ७ चित्र, पृष्ठ ९२, मू०।–)

आदर्श भक्त–७ भक्तोंकी कथाएँ, ७ चित्र, पृ० ११२, मू० ।–)

भक्त-सप्तरत्न–७ भागवतोंकी लीलाएँ, ७ चित्र, पृ० १०६, मू० ।–)

भक्त-कुसुम–६ भगवत्-अनुरागियोंकी वार्ताएँ, ६ चित्र, पृ० ९१, मू०।–)

प्रेमी भक्त–५प्रभु-भक्तोंकी जीवनियाँ, ९ चित्र, पृ० १०४, मू० ।–)

यूरोपकी भक्त-स्त्रियाँ–४ सेवापरायण महिलाओंके चरित्र,३ चित्र,मू० ।)

कल्याणकुञ्ज–उत्तमोत्तम वाक्योंका सचित्र संग्रह, पृ० १६४, मू० ।)

मानव-धर्म–धर्मके दश लक्षण सरल भाषामें समझाये हैं,पृ०११२,मू०≡)

साधन-पथ–सचित्र, पृ० ७२, मू० =)॥

भजन-संग्रह–भाग ५ वाँ (पत्र-पुष्प) सचित्र सुन्दर पद्यपुष्पोंका संग्रह,=)

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी–सचित्र, ७५००० छप चुकी, पृ० ५६, मू० –)॥

पता–**गीताप्रेस, गोरखपुर**

गोपी-प्रेम—सचित्र, पृष्ठ ५८, मू० –)॥
मनको वश करनेके कुछ उपाय –)।
आनन्दकी लहरें—सचित्र, मूल्य –)
ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं। मू० –)
समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नों-पर विचार, सुधारके साधन,मू०–)
वर्तमान शिक्षा—बच्चोंको कैसी शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? पृ०४५, –)

नारदभक्तिसूत्र—सटीक, मू० ···)।
दिव्य सन्देश—भगवत्प्राप्तिके उपाय)।
लोभमें पाप—मूल्य आधा पैसा
Way to God-Realization –/4/–
Our Present-Day Education –/3/–
The Divine Message –/–/9

तीर्थोंकी दिव्य झाँकी और माहात्म्य

ब्रजकी झाँकी—५६ चित्र, मूल्य ।)
बदरी-केदारकी झाँकी—सचित्र, मू० ।)
चित्रकूटकी झाँकी—२२ चित्र, मू० –)॥

प्रयागमाहात्म्य—१६ चित्र, मू० =)॥
माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य—सचित्र, मू० ··· =)॥

कुछ अन्य लेखकोंकी पुस्तकें

श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश—दो चित्र मूल्य ··· ··· ।=)
आचार्यके सदुपदेश—मूल्य ··· –)
सप्त-महाव्रत—मूल्य ··· –)
एक सन्तका अनुभव ··· –)
ईश्वर—मूल्य ··· ··· –)।
Immanence of God –/2/–
ज्ञानयोग—मूल्य ··· ··· ।)
Mind: Its Mysteries and Control –/8/–
पूजाके फूल—मूल्य ··· ।॥–)
दिनचर्या—मूल्य ··· ··· ॥)
भक्ति-योग—मूल्य ··· १=)
आनन्द-मार्ग—मूल्य ··· ॥–)

शरणागतिरहस्य—मूल्य ··· ॥≈)
धूपदीप—मूल्य ··· ··· ।≈)
तत्त्व-विचार—मूल्य ··· ।=)
प्रेम-योग—सजीव भाषा और दिव्य भावोंसे सना हुआ यह प्रेम-योग प्रेम-साहित्यका एक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है। दो खण्ड, पृष्ठ ४२०, मूल्य १।) सजिल्द ··· १॥)
गीतामें भक्ति-योग—गीताके बारहवें अध्यायकी सुन्दर भावपूर्ण सरल टीका है। पृष्ठ ११८, २ चित्र, मूल्य ··· ··· ।–)
सेवाके मन्त्र—मूल्य ···)॥

☞ विशेष जानकारीके लिये पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**



